नमोत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स

महोपाध्यायश्रीज्ञानसागरगणिशिष्यविरचितं

॥ श्रीधन्यचरित्रम् ॥

शान्तमूर्तिश्रीमद्मुनिमहाराजश्रीगुलाबविजयशिष्य–तपस्विमुनिमहाराजश्रीमंगलविजयोपदेशेन
पालिताणावास्तव्य 'मास्तर कुंवरजी दामजी' इत्यनेन प्रकाशितम्
वढवाणवास्तव्यसुश्रावकदेवचंद्रात्मजहीरालालेन संशोधितं च

वीर सं० २४६६ प्रतयः ५०० वि० सं० १९९६

पण्यम् रू. ६–०–०

श्रीशारदामुद्रणालये तदधिपतिना सुश्रावक
हर्षचंद्रात्मजेन पण्डितभगवानदासेन मुद्रितम्
खारुनगेट वीठ्ठलमंदिर, भद्र—अमदावाद

प्रस्तावना

वि. सं. १४९७ मां श्रीसोमसुन्दरसूरिना शिष्य जिनकीर्तिसूरिए दानकल्पद्रुमनी रचना करी छे अने तेमां सुपात्रदानना माहात्म्य विषे पद्यबद्ध धन्यकुमारनी कथा कहेवामां आवी छे. आ संस्कृत पद्यग्रन्थ उपरथी संस्कृत गद्यमां धन्यकुमारनी कथा रची छे.

आ गद्य रचनात्मक धन्यचरित्रना कर्ता कोण छे ? क्यारे थएला छे ? तेमणे आ सिवाय बीजा कया कया ग्रन्थनी रचना करी छे ? इत्यादि हकीकत संबन्धे आ ग्रन्थमां कंइ पण निर्देश कर्यो नथी. ग्रन्थना अन्ते प्रशस्ति पण आपवामां आवी नथी, जेथी तेमना संबन्धे विशेष हकीकत जाणी शकाय. परन्तु आ चरित्रना दरेक पल्लवने अन्ते समासिसूचक आवो उल्लेख मळे छे.

"इति श्रीमत्तपागच्छाधिराजसोमसुन्दरसूरिपट्टप्रभाकरविनेयश्रीजिनकीर्तिसूरिविरचितस्य पद्यबद्धश्रीधन्यचरित्रशालिनः श्रीदानकल्पद्रुमस्य महोपाध्यायश्रीधर्मसागरगणिनामन्वये महोपाध्यायश्रीहर्षसागरगणिप्रपौत्रमहोपाध्यायश्रीज्ञानसागरगणिशिष्यालपमतिग्रथितगद्यरचनाप्रबन्धे × × × × पल्लव समाप्तः" ॥

ते उपरथी एटलो निर्णय थाय छे के तपागच्छना अधिपति श्रीसोमसुन्दरसूरिना शिष्य जिनकीर्तिसूरिए रचेला पद्यबद्ध धन्यचरित्रयुक्त दानकल्पद्रुमनी महोपाध्याय श्रीधर्मसागरगणीना वंशमां थयेला महोपाध्याय श्रीहर्षसागरगणीना प्रशिष्यना शिष्य महोपाध्याय श्रीज्ञानसागरगणीना शिष्ये गद्य रचना करी छे. अहीं ग्रन्थकर्ताए पोतानुं नाम आप्युं नथी, पण उ० ज्ञानसागर गणीना शिष्य तरीके पोतानो निर्देश कर्यो छे. तेमज

पद्यबन्ध दानकल्पद्रुमना कर्ता जिनकीर्तिसूरि अने तेमना गुरु सोमसुन्दरसूरिनो उल्लेख पण कर्यो छे.

सोमसुन्दरसूरि—वि. सं. १४३७ मां सोमसुन्दरसूरिए तपागच्छना जयानन्दसूरि पासे दीक्षा लीधी, वि. सं. १४५० मां उपाध्याय थया, वि. सं. १४५७ मां श्रीदेवसुन्दरसूरिए तेमने आचार्यपदवी आपी पोतानी पाटे स्थापित कर्या. अने वि. सं. १४९९ मां तेमनो स्वर्गवास थयो. तेओ विद्वान हता अने तेमना विद्वान् शिष्योनो परिवार पण मोटो हतो.

जिनकीर्तिसूरि—श्रीसोमसुन्दरसूरिना विद्वान शिष्यो पैकी जिनकीर्तिसूरि थया. तेमणे वि. सं. १४९४ मां नमस्कारस्तव उपर स्वोपज्ञवृत्तिनी रचना करी छे. ते सिवाय शील विषे श्रीपालगोपालकथा, चंपकश्रेष्ठिकथा, पंचजिनस्तव अने वि. सं. १४९७ मां सुपात्रदानना माहात्म्य विषे धन्यकुमारनी कथायुक्त दानकल्पद्रुमनी रचना करी. तथा वि. सं. १४९८ मां श्राद्धगुणसंग्रहनी रचना करी.

प्रस्तुत ग्रन्थना कर्ता उपाध्याय धर्मसागर गणीना वंशमां तपागच्छीय सागरशाखामां थयेला उ० हर्षसागर गणीना प्रशिष्यना शिष्य उ० ज्ञानसागर गणीना शिष्य छे.

उ० धर्मसागरगणी—उ० धर्मसागरगणी विजयदानसूरिना शिष्य विजयहीरसूरिना गुरुभ्राता थाय. तेमणे विजयहीरसूरि साथे देवगिरि जईने न्यायादिशास्त्रनो अभ्यास कर्यो हतो. तेओ विद्वान अने प्रखर तार्किक हता. तेमणे वि. सं. १६२८ मां कल्पकिरणावली अने वि. सं. १६३९ मां जंबूद्वीप प्रज्ञप्तिनी प्रमेयमंजूषा नामनी वृत्ति इत्यादि अनेक ग्रन्थोनी रचना करी छे. तेओ छेवट सुधी हीरविजयसूरिनी आज्ञामां हता. तेथी कल्पकिरणावलीनी टीकामां पोतानो विजयहीरसूरिना शिष्य तरीके निर्देश कर्यो छे. तेओ खंभातमां १६५३ मां कार्तिक सुदि ९ ने दिवसे काळधर्म पाम्या

उ० ज्ञानसागरगणिशिष्य–उ० धर्मसागर गणीनी परंपरामां उ० हर्षसागर थया. तेमना संबन्धे कंइपण हकीकत मळी शकी नथी. तेमना प्रशिष्यना शिष्य उ० ज्ञानसागरगणी थया. तेमना शिष्ये २१ प्रकारी अने अष्टप्रकारी पूजानी रचना वि. सं. १७४३ मां करी छे, तेमां तेमणे पोताना गुरु तरीके उ० ज्ञानसागर गणीनो उल्लेख कर्यो छे.

अगणित गुणमणि आगर नागरवंदित पाय, श्रुतधारी उपगारी ज्ञानसागर उवझाय;
तासु चरणकज सेवक मधुकर परे लय लीन, श्रीजिन पूजा गाई जिनवाणी रस पीन.
संवत गुंण युंग अंचल इंन्दु हर्ष भरी गाइयो श्रीजिनेन्दु,
तास फल सुकृतथी सकल प्राणी लहे ज्ञानउद्योतनघन शिवनिशांनी.

आ ज प्रशस्ति अष्टप्रकारी पूजाना अन्ते पण आपवामां आवी छे. आ बन्ने प्रशस्तिओमां ग्रन्थकर्ताए पोताना नामनो स्पष्ट उल्लेख कर्यो नथी, पण उ० ज्ञानसागरगणीना शिष्य तरीके पोताने ओळखावेल छे. माटे प्रस्तुत धन्यचरित्रना कर्ता आ ज ज्ञानसागरगणीना शिष्य होवा जोइए अने आ चरित्रनी रचनानो काळ वि. सं. १७४३ लगभग होवो जोइए.

उपरनी प्रशस्तिमां ग्रन्थकर्ताए गुरुनुं गौरव बताववा अने पोतानी अल्पता बताववा माटे पोतानुं नाम बताव्युं नथी अने गुरुना नामनी साथे शिष्य तरीके पोतानो निर्देश कर्यो छे, छतां पण 'ज्ञानउद्योत' एवुं श्लिष्ट पद मूक्युं छे, तेथी तेमणे पोताना गुरुनुं नाम ज्ञानसागर अने पोतानुं नाम उद्योतसागर सूचित कर्युं होय एम संभवे छे. अन्यथा बन्ने प्रशस्तिमां 'ज्ञानउद्योत' एवुं श्लिष्ट पद मूकवानुं प्रयोजन जडतुं नथी. तेथी प्रस्तुत

1 जुओ मोहनलाल दलीचंद देसाई संपादित जैन गुर्जरकविओ भाग २जो.

धन्यचरित्रना कर्ता पण ज्ञानसागर गणीना शिष्य उद्योतसागर होय एम कल्पी शकाय छे.

भाषा–प्रस्तुत चरित्र संस्कृत गद्यमां छे अने तेनी भाषा तद्दन सादी छे. तेमणे पुष्कळ भाषाना रूढ शब्दोने संस्कृतमां परिवर्तित करीने उपयोग कर्यो छे. ज्यारे जिनकीर्तिसूरिना पद्यबद्ध धन्यचरित्रनी भाषा प्रासादिक अने मनोहर छे. ग्रन्थकर्ताए छेवटे आ ग्रन्थरचनानुं प्रयोजन बतावता जणाव्युं छे के "मैं धन्यमुनि अने शालिभद्रमुनिनुं संस्कृताभास जल्पमय चरित्र रच्युं छे ते पोतानी चतुराई बताववा, पांडित्य बताववा के कोई ईर्ष्यादि कारणथी नहि, तेम जे थोडा साधुओ बुद्धिमान अने शब्दादिशास्त्रमां कुशल छे अने सर्व शास्त्रनो निर्वाह करे छे तेमने माटे पण नहि, वळी जेओ कंइक भणीने, कंइक सांभळीने खंड पांडित्यना अभिमानथी ग्रस्त छे अने पूर्वाचार्योए करेला गद्य पद्यमय ग्रन्थोनो पोतानी बुद्धिने अनुसारे कष्टपूर्वक निर्वाह करे छे तेओने माटे पण नहि, परन्तु जेओ पद्यमय ग्रन्थोने जोवाने पण असमर्थ छे, तो तेने वांचवानी तो शी वात करवी ? वळी जेओ अभ्यासपूर्ण पूर्वाचार्यना गद्यमय ग्रन्थो छे तेओने वांचवामां असमर्थ छे अने लोकभाषामां रचेला बालावबोधने वांचवामां लज्जा पामे छे के 'अरे अमे एटला वृद्ध थइने लोकभाषा वांचीए' ? तेओना शिष्य, प्रशिष्य अने गुरुभ्राताओनी प्रार्थनाथी सरल रचनामय आ चरित्रनी रचना करी छे. 'बाल भद्रक जीवो जाणे के 'एओ व्याख्यानमां संस्कृत भाषामय शास्त्र वांचे छे' एओने माटे बालकनी चेष्टा करी छे. बीजो कोई हेतु नथी." ए उपरथी समजाय छे के तेमणे तद्दन सादी सरल भाषामां मात्र बाल जीवोने समजाववाना आशयथी आ ग्रन्थनी रचना करी छे, तेथी भाषानी प्रौढता के चमत्कार न होय ए स्वाभाविक छे.

विषय–आ चरित्रनो मुख्य विषय दाननुं माहात्म्य प्रतिपादन करवानो छे. ग्रन्थकर्ताए धर्मना चार प्रकारमां दाननी ज मुख्यता वर्णवी छे. चारे प्रकारना धर्ममां दाननो संबन्ध बताव्यो छे. दाननो मुख्य अर्थ त्यागनो परिणाम छे अने ते शील, तप अने भावनामां रहेलो छे. एटले चारे

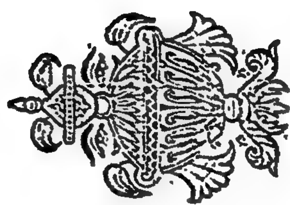
प्रकारना धर्ममां दान अनुगत छे. क्षायोपशमिक दानमां बीजाने आपवानुं होय छे, तो पण तेनी पाछळ रहेला भावनी ज विशेषता छे. सुपात्रदानमां गुणानुराग अथवा भक्तिनुं प्राधान्य छे अने अभयदानमां अनुकंपानी मुख्यता छे. सुपात्रमां भक्ति अने अनुकंपाने योग्य जीवोमां अनुकंपा करवानी छे, एटलो विवेक दाताए करवो आवश्यक छे. जो दातामां ए विवेक न होय एटले अनुकंपा करवा योग्य जीवोमां भक्ति अने सुपात्रमां अनुकंपा करे तो दान दूपित थाय छे. ते सिवाय उचित दान अने कीर्तिदानमां दानधर्म तरीकेनी योग्यता नथी. परन्तु एटलुं चोक्कस छे के दान ए तद्दन निष्फळ नथी. तेनुं लौकिक के लोकोत्तर एवुं फळ अवश्य होय छे. परन्तु आत्मानुं श्रेयःसाधक जे दान छे तेनी अहीं दानधर्ममां गणना करी छे, ते अनुकंपादान, अभयदान अने सुपात्रदान छे. धन्यकुमार अने शालिभद्रने सुपात्र दानना प्रभावथी पुष्कळ ऋद्धि अने भोगो प्राप्त थया, परन्तु ए दाननुं मुख्य फळ नथी. संपत्ति अने भोगोनो त्याग करी निर्वाणनी प्राप्ति थवी ए तेनुं मुख्य फळ छे. क्षायिक दान तो मोहनी परिणतिनो त्याग करवारूप छे अने ते दानान्तराय कर्मना सर्वथा क्षयथी केवलज्ञानीने होय छे. क्षायोपशमिक दान द्वारा क्षायिक दाननी प्राप्ति करवी ए छेवटनुं साध्य छे. ते बधुं आ धन्यकुमार अने शालिभद्रना चरित्र द्वारा ग्रन्थकर्ताए बताव्युं छे. ते सिवाय प्रसंगने उचित बीजी अनेक रसिक कथाओ द्वारा उपदेश आप्यो छे अने ग्रन्थकर्ताए पोतानो उद्देश पार पाड्यो छे.

आ ग्रन्थना संशोधनमां पं. अमृतलाल अमरचंदे छपावेला धन्यचरित्र तथा बीजी भावनगरना संघना भंडारना हस्तलिखित प्रतिनो उपयोग कर्यो छे. हस्तलिखित प्रति घणी अशुद्ध होवाथी संशोधनमां घणी मुश्केली पडी हती, पण बनता प्रयत्नथी संशोधन कर्युं छे. छतां अज्ञानथी, मतिमन्दताथी के अक्षर योजकना दोषथी भूलो रही होय तेने सुधारी वांचवा सुज्ञ वाचकोने विनंति छे.

कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा १९९६.

हीरालाल देवचंद शाह.

विषयानुक्रमः ।



॥ ॐ नमोऽर्हद्भ्यः ॥

॥ श्रीधन्यचरित्रम् ॥

से श्रेयस्त्रिजगद्ध्येयः, श्रीनाभेयस्तनोतु वः। यदुपज्ञा जयत्येषा धर्मकर्मव्यवस्थितिः ॥१॥

स्वतिश्रीसुखदं नाथं, युगादीशं जिनेश्वरम्। नत्वा धन्यचरित्रस्य, गद्यार्थो लिख्यते मया ॥२॥

तत्र श्रीपद्यबन्धधन्यचरित्रकारको मङ्गलार्थं प्रथमं श्रीऋषभदेवस्तुतिरूपमाशीर्वादं ददाति। तद्यथा—से श्रीनाभिराजपुत्रः वः—युष्माकं श्रेयः—मङ्गलं विस्तारयतु। कथंभूतः श्रीनाभिराजपुत्रः?, त्रिजगद्ध्येयः—स्वर्ग—मर्त्य—पातालरूपाणां जगत्त्रयवर्तिजीवानां ध्यातुं योग्यः। येन श्रीऋषभेण कृता धर्मकर्मव्यवहारपद्धतिः—इह—परलोकार्थसाधको विधिमार्गोऽद्यापि सर्वोत्कृष्टतया प्रवर्तते।

इत्येवं समुचितेष्टदेवतास्मरणाशीर्वादात्मकं मङ्गलं कृत्वा सप्रभेदं सर्वाऽभीष्टार्थसिद्धिकृद्धर्ममार्गं व्यनक्ति—

इहाऽपारावारसंसाराटव्यां परिभ्रमणं कुर्वतां प्राणिनां चुल्लकादिदशभिर्ज्ञातैरतिदुर्लभं मानुष्यम्, तत्रापि आर्यदेश—कुला—ऽऽयु—

१ श्रीजिनकीर्तिसूरिप्रणीत 'दानकल्पद्रुम' स्योऽयं मङ्गलश्लोकः। २ प्रथमश्लोकस्य व्याख्या। ३ दानकल्पद्रुमे—सर्वज्ञोपक्रमो धर्मः परमं मङ्गलं भवेत्।

रारोग्य—रूपादिसामग्रीसंयोगो दुर्लभतरः, तत्राप्यतिदुर्लभतमा श्रीजिनधर्मप्रवृत्तिः। तत्रेह जगति ईदृशः श्रीसर्वज्ञोक्तधर्मः परममङ्गलकारी समस्तदुःखोच्छेदकारी च भवति। असौ धर्मश्चतुर्द्धा—चतुष्प्रकारो भवति, दान—शील—तपो—भावभेदात्। तत्र चतुर्णां धर्मभेदानां मध्ये सर्वेभ्यो ज्येष्ठतरो दानधर्मः, सर्वेष्वपि धर्मभेदेष्वन्तश्चारित्वात्। तद्यथा—लौकिके लोकोत्तरे च सर्वत्र दानप्रवृत्तिर्ज्येष्ठतरा। श्रीमन्तस्तीर्थकरा अपि प्रथमं दानं दत्त्वा पश्चाद् व्रतं गृह्णन्ति। शीलधर्मेऽपि दानधर्मोऽविच्छिन्नः, यतो ब्रह्मव्रतग्रहणेऽसङ्ख्यातद्वीन्द्रियाणामसङ्ख्यातसंमूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियाणां नवलक्षगर्भजपञ्चेन्द्रियाणां च प्रतिदिनमभयदानं दत्तम्। स्वजीवस्याप्यभयदानं दत्तं, गर्भादिदुःखनाशकत्वात्। अतो शीलेष्वपि दानस्यैव मुख्यता। तथा तपोधर्मेष्वपि दानमन्तर्भवति, यतो षट्कायविराधनया रसवती निष्पाद्यते, उपवासादितपसि कृते तु तेषामभयदानं दत्तम्, तस्मात्तपस्स्वपि दानस्यैव मुख्यता। भावधर्मे तु सुतरामयमेव प्रभवति। यतः परमकरुणया जीवाऽजीवाऽहिंसनपरिणतिर्भावः, तत्राप्यभयमेव। मुनयोऽपि प्रतिदिनं देशनादानं ज्ञानशिक्षादानं च ददति। उत्कृष्टाऽभयसुपात्राभ्यां तीर्थङ्करनाम च बध्नन्ति। लौकिकेष्वपि दानं सर्वत्र सफलम्। यतः सुपात्रे दत्तं महापुण्यनिबन्धनम्, इतरस्मिन् दत्तमनुकम्पया प्रौढदयापोषकं भवति, राज्ञे दत्तं सन्मानादिमहत्त्वप्रापकम्, भृत्ये दत्तं भृत्यातिभक्तिमातनोति, स्वजने दत्तं प्रेमवृद्धिपोषकम्, दुर्जने दत्तं दुर्जनाः सानुकूला भवन्ति। अतो दानं सर्वत्र सफलं, न क्वापि निष्फलम्।

समस्तधर्मशास्त्रे दानफलं यथा—

असौ चतुर्द्धा तत्रापि पूर्वं दानं प्रशस्यते ॥२॥

1 हस्तलिखितपुस्तके तु सर्वत्र तपशब्दः प्रयुक्तोऽस्ति। २ इतरे लिखित पु०।

विभवो राज्यऋद्धिसमृद्धिरूपस्वेच्छया भोगभोक्तृत्वम् । भोगास्तु मनोऽनुकूलाः शब्द–रूप–रस–गन्ध–स्पर्शरूपाः । महिमा–यशः सर्वत्र स्वपरदेशादिषु विख्यातिरूपः । महोदयश्च स्वमनश्चिन्तितार्थप्राप्तिः । एतत्सर्वं पूर्वोक्तदानपुण्यरूपकल्पद्रुमस्य फलोदयो ज्ञेयः।

विना आगमोक्तशुचिदानधर्मसेवनया विभवादिप्राप्तिर्नास्ति । लोकेऽपि 'दिंधमान फले'[2] इति प्रसिद्धिः । कदापि मिथ्यात्वोदयेन मिथ्याज्ञानश्रद्धया अज्ञानकष्टकारकबालतपस्वी कष्टकृतपापाऽनुबन्धिपुण्यं संचिनोति परन्तु तस्योदये सुपात्रदानमतिर्न भवति। यदि आगमोक्तविधिना स्तोकमपि सुपात्रदानादिधर्मं श्रद्धया करोति तदा तस्य पुण्यानुबन्धिपुण्यं भवति। तस्योदये पुनर्दानपुण्यमभिजायते। यदि कदापि पूर्वं कस्यापि भवान्तरजन्मोपार्जितपापोदये धनं त्रुटयति तथापि दानादिमतिर्न त्रुटयति, पापोदयेऽपि यथावसरं दानादिबुद्धिः प्रबला भवति सा तस्य सद्यः फलवती भवत्येव। तद्यथा—

पुण्यानुबन्धिपुण्योपरि गुणसारश्रेष्ठिनो दृष्टान्तः

एकस्मिन् पुरे गुणसारव्यवहारी प्रबलधन–धान्यादियुक्त आढ्यो दीप्तोऽपरिभूतः परिवसति। तस्यैकदा प्रस्तावे सद्गुरुयोगो मिलितस्तदाऽनेन नमस्कारादिः कृतः। करुणाभृतेन गुरुणाऽपि धर्मलाभदानपूर्वकं जीवादिनवानामपि पदार्थानां तत्त्वोद्भासको धर्मो मर्मसंयुक्तो दर्शितः। तेनापि रसिकतया सोत्साहं स्वचित्तेऽवधारितः। अपूर्वलाभाद् हर्षितः सन् सम्यक्त्वग्रहणपूर्वकं गृहिधर्मोऽङ्गीकृतः। तत्र प्रतिदिनमेकान्तरोपवासकरणम्, संयोगे सति सुपात्रदानम्, अभिग्रहश्च गृहीतः। एवं कियद्भिर्दिनैर्गुरुयोगाद् धर्मे कुशलो जातः। परिणामप्रवरो धर्मं निर्वहति। एवं कियत्यपि काले तस्य पूर्वकृतचिक्कणपापोदयेन धनधान्यनाशे जातेऽपि धर्माभिग्रहं न

1 दानकल्पद्रुमे–विभवो भोगा महिमाऽथ महोदयः। दानपुण्यस्य कल्पद्रोरनल्पोऽयं फलोदयः ॥३॥ इत्यस्य व्याख्या। 2 दीयमानफलं दीयानुं फल इति भाषा।

मुञ्चति। बहुलपापोदयेन दरिद्री जातोऽतिकष्टेनोदरपूरणं करोति। गते धने न कोऽपि सहायीभवति। तदैकदा स्वभार्ययोक्तम्—स्वामिन्! सर्वस्वं गतम्, विना धनं चोद्यमो न भवति। दरिद्राऽवस्थायां धनं को ददाति? अतो मम पितृगृहे गम्यताम्। मम पिता ममोपरि स्नेहबहुलत्वेन दर्शनमात्रे धनं दास्यति, पुनस्तेन गृहं निर्वहिष्यति, नाऽन्य उपायोऽस्तीति प्रत्यहं स्त्रिया प्रेरितः स्त्रियं प्रत्याह—हे प्रिये! दुःखाऽवस्थायां तत्र गन्तुं न युक्तमपि त्वदुक्त्या प्रभाते गमिष्यामि। तदा तया चिन्तितम्—सार्द्धद्वयदिनो मार्गोऽस्ति। तत्रैकदिन उपोषितव्रतम्। द्वितीयदिनपारणायोग्यं पथ्यदनं सक्तुं गुडखण्डञ्च कोस्थलीकायां क्षिप्त्वाऽदत्त। प्रभाते निर्गतो भोजनं कृत्वा मार्गे याति। सन्ध्यायामेकस्मिन् ग्रामे रात्रिमतिक्रम्य प्रभाते उपवासं कृत्वाऽग्रे चलितः। सन्ध्यायां ग्रामे रात्रिमतिक्रम्य द्वितीयदिने मध्याह्ने जाते तटिन्या उपकण्ठे पारणकरणार्थं स्थितः, तदा ध्यातं चाऽनेन—धन्यास्ते ये प्रतिदिनं मुनिदानं विना न भुञ्जते। मम तु पापोदये कुतस्तद्योगः? कदापि तद्योगश्चेत्तदाऽतिभव्यं भवतीति ध्यायन् दिगालोकं कुर्वन् स्थितः। ईदृशेऽवसरे मासक्षपणो मुनिः पारणार्थं ग्रामान्तर्गतः; तत्र शुद्धं जलं तु मिलितं, आहारस्तु दूषणशङ्कया न गृहीतः। केवलं जलं गृहीत्वाऽऽगच्छन्तं दृष्ट्वा विधुदर्शने चकोर इव हर्षितः। अहो! मम भाग्यानि जाग्रति, धन्योऽहम्। यदि चाऽयं मुनिराड् इदं गृह्णाति तदाऽहं धन्यानां धन्यतमोऽस्मीति ध्यात्वा सहर्षं सम्मुखं गत्वा नमस्कारं कृत्वा चाऽऽह—भो कृपानिधे! इतः पादोऽवधार्यताम्, प्रसादं च कृत्वा मम दीनस्योद्धरणं कार्यम्, निर्दूषितोऽयमाहारो गृह्यतामिति सरोमाञ्चं गद्गदस्वरेण विज्ञप्तिं कृत्वा मुनिरानीतः। मुनिनापि त्रिधा शुद्धमाहारं दृष्ट्वा पात्रं धृतम्। तस्मिन्नवसरे तस्याऽसम्भविनः सम्भवं दृष्ट्वा चन्द्रोदये जलधिवेलेव भावधारोल्लासं प्राप्तः सन् विचारयति स—किमिदं स्वप्नं वा सत्यम्?। पापोदयिनो मम भवसमुद्रे निमज्जतो वडसफरियानपात्रं

कृतः ? इति ध्यायन् समग्रमपि तमाहारं पात्रे दत्त्वा नमस्कारं च कृत्वाऽऽह—स्वामिन् ! क्षमाश्रमणेन मम वराकस्योपरि महती कृपा कृता । निस्तारितो भवार्णवात् । सफलीभूतं मम जन्म जगदेकशरणानां भवतां सुदर्शनात् । इत्यादि स्तुत्वा सप्ताऽष्टपदान्यनुगत्य पुनर्नत्वा च स्वस्थानमागत्य वस्त्रादीनि लात्वा पुनर्मार्गे चलितो मनस्येवं भावयति—अहो ! अद्य मम शुभोदयवान् दिवसः, धन्या घटिका यत्सुविहितमुनिदर्शनं जातं, प्रतिलाभितश्च । तेन कामगवी स्वयमेवाऽऽगता ममाङ्गणे, अचिन्तितश्चिन्तामणिर्लब्धः, मानुष्यं सफलं संजातं, अक्षयपाथेयं मया प्राप्तम्, अतः परं द्रव्य—भावदारिद्र्यं गतं, लोकोत्तरलाभश्च प्राप्तः । इत्येवं सहर्षं पुनः पुनर्ध्यायन् मार्गे चलति । क्षुधा तृट् च विस्मृता । दत्तदानहर्षेणाऽऽपूरितहृदयो प्रतिक्षणं सपुलकः क्रमेण श्वसुरग्रामं यावद् गतः । तत्र ग्राम-प्रतोल्यां प्रविशतो मन्दाः शकुनाः संजाताः । तान् दृष्ट्वा ध्यातं चानेन—स्वस्त्रिया प्रेरितोऽत्रागतः, परं कार्यं भवन्न दृश्यते । पुनश्चिन्तितम्—अत्राऽऽगमनप्रयासफलं मया लब्धम्, इदं तु भवतु मा वा; यद् भाविना दृष्टं तद् भविष्यति, किमन्तर्गडुनाऽऽर्तिकरणेन ? । इत्येवं ध्यायन् चतुष्पथं यावद् गतस्तावद् हट्टस्थितेन श्वशुरेण शालकैश्च दृष्टः । परस्परं वार्त्तां कर्तुं प्रवृत्ताः—ज्ञातम् ? अयं दारिद्र्य-मूर्तिर्जामाताऽऽगच्छति रिक्तघटतुल्यः । परमस्य मुखं न देयं, मुखं च दीयते चेत्तदा गले पतित्वा द्रव्यं मार्गयिष्यति । अयं तु निर्धनो जातः, निर्धनस्य च का त्रपा ? । उक्तं च—"तेजो—लज्जा—मति—मानमेते यान्ति धनक्षये" इत्यादि । अनेन पुनस्तुच्छबुद्धिनाऽनुचितव्यवसायकरणेन कर्णसुखदकीर्त्यादिहेतोर्दानपुण्येन च द्रव्यं व्ययितं, परन्तु स्वगृहनिर्वाहचिन्ता न कृता, निःस्वीभूतोऽस्मद्गृहे लग्नः, किमत्र धनस्याऽऽकरोऽस्ति ? किं दत्त्वा विस्मृतं यदस्माकं नटयितुमागतः ? किमप्यधुना दीयते तत्सर्वं खानपाने व्ययं कृत्वा पुनरागमिष्यति । जामातुर्यमस्य च पूरणं न केनाऽपि कृतमभूत्, एतौ सर्वस्वदानेऽपि न तृप्यतः । अतोऽस्य मुखं न

देयं, यथाऽऽगतस्तथा गमिष्यति । इत्यामन्त्रणं कृत्वा सर्वेऽपि पराङ्मुखीभूय स्थिताः । अथ गुणसारेणाऽपि निपुणत्वेन सर्वं ज्ञातम् । चिन्तितं च–यदहं स्त्रिया वचसाऽत्रागतस्तन्न भव्यं कृतम्, पानीयं गमितम् । "अन्तरं नैव पश्यामि, निर्धनस्य शवस्य च" इति नीतिवाक्यं जानन्नपि यदागमनं कृतं तन्मूर्खत्वमाविष्कृतम् । श्वशुरकुले मानमालिन्यं तत्पुंसां महद्दुःखम् । परन्तु किं क्रियते ? यद् भवितव्यं तज्जातम् । पूर्वकृतकर्मणामीदृश एवोदयः । एवं संप्रधार्य न्यग्मुखं कृत्वा श्वशुरगृहे गतः । श्वश्रूरपि तथाऽवस्थां दृष्ट्वा तयाऽपि नाऽऽदरः कृतः । 'आगम्यताम्, अस्मत्तनुजायां कुशलमस्ति' ? इति सामान्यवचसाऽऽलापितो द्वारमण्डपिकायां पट्टिकायां स्थितो विचारयति–पूर्वं सधनाऽवस्थायामहमत्रागतोऽभूवं तदा स्वजनवृन्दं सम्मिल्य क्रोश–द्विक्रोशं च सम्मुखमागत्य मिलन–भेटनादिकं कुर्वद् महदाडम्बरपूर्वं गृहे लात्वा प्रतिक्षणं सेवाविषये प्रवणमासीत् । अधुनाऽपि स एवाऽहं, न कोऽप्यागमनक्षेमोदन्तमपि पृच्छति । अतो जिनेनोक्तं तदेव सत्यं प्रतिभाति–स्वार्थिनः सर्वे सम्बन्धिनः, विना स्वार्थमेको गुरुरेव । उत्कररूपोऽयं संसारस्तत्र सुगन्धवत्त्वं कुतः ? । यादृश उदयस्तादृशं भवत्येवेति जिनाज्ञा । उदयचिन्ताको हि मूर्खराड् ज्ञेयः । बन्धचिन्ताकारको हि साधकः सिद्धतामुपैतीति हेतोर्मौनमादाय स्थातव्यमिति मनः स्थिरं कृत्वा क्षुधितोऽपि मौनं कृत्वा स्थितः । सन्ध्यायां यदा गृहरसवती जाता तदा श्वशुरेणोक्तम्–उत्थीयतां, भोजनं क्रियताम् । भुक्त्वा पुनस्तत्रैव तथैव स्थितः । सपादप्रहररात्रौ गतायां पुनर्हट्टात् श्वशुर आगतः । आगत्य च घटिकामात्रं पार्श्वे स्थित्वाऽऽलापितः–भो अमुकश्रेष्ठिन् ! किमागमनप्रयोजनं भवताम् ? । श्रेष्ठिनोक्तं–भवतां मिलनार्थम् । । श्वशुरेणोक्तं–कियद्दिनानि स्थास्यति भवान् ? । श्रेष्ठिनोक्तम्–नहि नहि, प्रातरेव यास्यामि । तेनोक्तम्–एवं चेत्,

१ विचारम् ।

शीघ्रं रात्रिघटिकाद्वयाऽवशेषे उत्थाय गन्तव्यम्, यदधुना ग्रीष्मकालोऽस्ति। उत्सूरे गते महातापेन परिभूयते, अतः शीतलवेलायां गन्तव्यामिति वार्तां कृत्वा स्ववासगृहे गतः श्वशुरः। गुणसारेण चिन्तितं—हा! मयाऽत्रागत्य महत्त्वं हारितं स्त्रीवचसा, अतोऽत्रतः शीघ्रगमनमेव श्रेयः। रात्रिं पश्चात्तापेनाऽतिवाह्य रात्रिघटिकाद्वयाऽवशेषे उत्थाय 'कोऽपि जागर्ति? वयं यामः' इति सामान्यवचनमुक्त्वा निर्गतः। गृहेऽपि यो जागर्ति तेनोक्तम्—ओमिति। मार्गे गमनं कुर्वता यत्र सूर्योदयः, हस्तरेखा दृष्टिपथं प्राप्ता तत्र स्थित्वा पञ्चनमस्कारस्मरणपूर्वकमुपवासप्रत्याख्यानं कृतम्। चतुर्दश नियमाश्च धारिताः। ततो जिनपतेः स्तोत्रादीनि पठन् मार्गे चलितः, क्रमेण नद्यास्तटे साधुदानस्थानं प्राप्तः। चिन्तयितुं लग्नः—'अहो! इमा कल्याणवती लाभभूमिः, अत्र मया शिवसुखनिदानं साधुभ्यो दानं दत्तम्, पुनरीदृशोऽवसरः कदा समेष्यति'?। इति ध्यायन् सगद्गदं पुनः पुलकः सञ्जातः। अत्रागमने श्वशुरकुलाऽपमानादिदुःखं प्राप्तं तत्सर्वं विस्मृतम्। समस्तगुणघातकपातकशातकं[3] यन्मुनये दानं दत्तम्, अनेन जायाया अनुग्रहमहं मन्ये। इत्येवं तत्र क्षणं स्थित्वा पुण्यं चानुमोदयित्वा पुनरेको विकल्पो मनस्युत्पन्नः, यदत्र गमनाऽऽगमनं कुर्वतो मम त्रयश्चत्वारो वा वासरा लग्नाः। गृहे तु रूप्यकमर्धरूप्यकं वा ऋणं जातं भविष्यति तत् कुतो दास्यामि?। अतो नद्यन्तःस्थितानि पञ्चवर्णानि वर्तुलानि घुघटितानीव जातानि सुकुमारत्वं प्राप्तानि कान्यपि सेरकप्रमाणानि द्वित्रिचतुष्पञ्चकादिमापकर्तुं योग्यानि, अतो गृह्णामि एतानि पाषाणगोलकानि। चतुष्पथे तोलनार्थं ग्रहीष्यन्ति वणिग्वराः। गृहे च स्थितानि साधुदानस्मारकाणि भविष्यन्तीति ध्यात्वा गन्धुकोत्थलीकायां भृतानि। मुखं बद्ध्वा मस्तके चोत्पाट्य चलितः। सन्ध्यायां पुनः पूर्वस्थितग्रामे रात्रिमतिवाह्य प्रातश्चलितः।

१ [illegible] । २ गौरी [illegible] । ३ नाशकम् ।

क्रमेण क्षुत्तृषया पीडितः प्रहरैकदिनाऽवशेषे गृहं प्राप्तः । द्वारस्थिता प्रमदा स्वपतिमागच्छन्तं दृष्ट्वा 'अहो ! मम पतिर्द्रव्यमोटकं लात्वाऽऽगतः, मम पित्रा रोक्यं बहु धनं दत्तं यदुत्पाटयितुमपि न शक्नोति' इति ध्यायन्ती सम्मुखमागत्य पतेर्मस्तकान्मोटकमुत्तार्य स्वेनोत्पाटितः । धनं भारं कलयन्ती पतिं वक्तुं लग्ना-'स्वामिन् ! गते धने चातुर्यमपि गतम्, यतो मम पितृगेहादेतन्महद्धनमानीतं तद् भारवाहकवत् स्वयमेवोत्पाटितम् । लज्जाऽपि नागता । रूप्यकादि व्ययित्वा भारवाहकः कथं न कृतः ? । भवान् किं कुरुते, दुःखावस्थायां बुद्धिविनिमयो भवत्येव । एतावन्ति दिनानि वृथा गमितानि, यदि मदुक्तं पूर्वं प्रथमतरमकरिष्यत्तदेदृशं दुःखी नाऽभविष्यत् । श्रेष्ठी तु मौनं कृत्वा सर्वं शृणोति । चिन्तयति च-सत्यकथने निराशा भविष्यति । भोजनं कृत्वाऽवसरे कथयिष्यामि । भार्यया तां कोस्थलीकां मञ्जूषायां धृत्वा पार्श्ववर्तिवणिग्गृहे गत्वोक्तम्-भो ! भव्यभोजनसामग्रीं देहि । मम पत्या मम पितुर्गृहे गत्वा बहुतरं द्रव्यमानीतमस्ति, प्रभाते दास्यामि । वणिजाऽपि सर्वापि सामग्री दत्ता । तया त्वरितं रसवती निष्पादिता । श्रेष्ठ्यपि स्नानपूर्वकं भोजनायोपविष्टः । तया च भोज्यं परिवेषयित्वोक्तम्-स्वामिन् ! यूयं सुखेन भोजनं कुरुत, अहं तु पश्यामि मम पित्रा किं दत्तम् ? । तदा श्रेष्ठिना ध्यातम्-इमां कोस्थलीकां द्रक्ष्यति तदा नैराश्यं यास्यति, तदा ममापि भोजनं विरसं भविष्यति । अतस्तां प्रत्युक्तम्-प्रिये ! अधुना त्वमपि भोजनं कुरु, भोजनोत्तरं त्वां दर्शयिष्यामि । तयोक्तम्-मम तादृशी बुभुक्षा नास्ति अतोऽहं पश्यामि । पुनः पुनर्वारिता अपि स्त्रिया हठो दुर्वारः । श्रेष्ठिचित्ते तु महत्यधृतिरधुनेयं पूत्कारं करिष्यति । सा तु तस्याः कोस्थलीकाया मुखं छोटयित्वा यावत्पश्यति तावता तु दिग्दिश्युद्योतकानि रत्नान्यपरिमितमूल्यानि दृष्टानि । दृष्ट्वा च सा चमत्कृतिं प्राप्ता पत्ये वदितुं लग्ना-स्वामिन् ! पश्यतु पश्यतु मम पितुरौदार्यम्, मया पूर्वं भवन्तं प्रत्युक्तं यत्सत्यं यूयं यात यात, त्वद्गमनमात्रोऽन्तरायः,

तत्र गते किमपि मार्गणमपि न जातं भविष्यति; यस्मिन् दिने यूयं गतास्तस्मिन् दिने च मम पित्रा रत्नैः कोत्थलीकाऽऽपूर्य दत्ता दृश्यते। इत्येवं श्रुत्वा श्रेष्ठी भोजनं कुर्वाणश्चिन्तयति–इयं मुग्धा किं जानाति रत्नपाषाणयोर्विभेदम्?। पञ्चवर्णपाषाणानि दृष्ट्वाऽनया रत्नभ्रमणेन वर्तते। तया तु पुनः पुनर्मातापित्रादीनां वर्ण्यमाने श्रेष्ठिनोक्तम्–'किं मुधा प्रस्फुलनं करोषि?, तव पित्रा यद्दत्तं तन्मयैव जानाति, त्वमपि जानासि; अतो मौनं कुरु'। ततस्तया चिन्तितम्–'अहो! निष्ठुरो मम भर्त्ता, इदमनर्गलं धनं दत्तं तथापि न गुणग्रहणं करोति'। इति ध्यात्वा पुनर्वावदितुं लग्ना–"स्वामिन्! एतान्यमूल्यमूल्यानि रत्नानि विना प्रार्थनया दत्तानि तथापि यूयं वदथ 'किं दत्तं तव पित्रा?' एतावत्तु तुष्टो राजापि न दातुं शक्नोति। अतो लोकोक्त्या श्रूयते तत् सत्यं–'जामाता यमश्च न कदापि तृप्यति'। पश्यतु पश्यतु, रत्नैः स्वस्वकान्त्या गृहभूमिर्विनिर्मलीकृता"। ततोऽप्यस्य मनसि न किमप्यागच्छति। एवं पुनः पुनः गल्प्यमानः श्रेष्ठी विचारयति–अहो! अस्या मुग्धत्वम्! मुधैवं पूत्करोति। एवं विवदमानायां स्त्रियां श्रेष्ठी भोजनादुत्थाय प्रमदाऽभ्यर्णे गत्वोक्तम्–'अयि मुग्धे! किं वृथा प्रस्फुलनं करोषि?। कानि तव पित्रा दत्तानि रत्नान्यत्रोद्द्योतेन यद्दर्शयामि तव पितुरौदार्यम्'। तयोक्तम्–आगम्यताम् अपवर्गे, उद्द्योतं किं पूत्करोषि? उद्द्योतितं तु रत्नकान्त्या स्वयमेव गृहम्'। इत्युक्त्वा पतिहस्तं गृहीत्वाऽपवर्गे नीतः। 'पश्यतु भवान्, आवयोः कोऽन्तरः'?। इत्येवं जायावचः शृण्वन् अपवर्गे गत्वा पश्यति, तदा तु रत्नैः स्वस्वकान्त्या विभूषितं गृहं दृष्ट्वा चमत्कृतचित्तः श्रेष्ठी विचारयति–क्व इमानि अदृष्टपूर्वाणि रत्नानि?। किमिदं सत्यं वा स्वप्नं वा पश्यामि?।

१ [illegible] प्र०। २ [illegible] प्र०। ३ [illegible] प्र०। ४ [illegible] गर्भागारस्तम्भो, ननु अपवर्गः, परमत्र [illegible]पाठः। गर्भागारे[illegible] [illegible]। [illegible] पृ० ५. गो. ६१।

मया तु कोस्थलीकायां पाषाणाः क्षिप्ताः सन्ति, एते तु जगदुत्तमानि रत्नानि दृश्यन्ते। एतदाश्चर्ये पतितस्य श्रेष्ठिन ईहाऽपोहं कुर्वतो घटिकाद्वयमात्रेण साधुदानं स्मृतिपथमागतम्। हुं ज्ञातमिदमधुनाऽस्य हार्दम्। प्रिये! अत्र न मम तव पितुः नाऽन्यस्य कस्यापि महिमा; एतत्सर्वं मुनिदानविलसितम्। हे प्रिये! त्वया दत्तसक्तुककोस्थलीकां लात्वा निर्गतः, इत्यादिः पुनरागमनपर्यन्तः सर्वो व्यतिकरः प्रियाऽग्रे निवेदितः। मुग्धे! तस्मिन् दिने पारणावसरे यादृशो मुनिदर्शने जाते भावोल्लासो जातस्तादृश आजन्मपर्यन्तं प्रबलेऽपि निमित्तसंयोगे पूर्वं न कदाप्यनुभूतः। तमनुभवमहमेव जानामि, वा जिनो वेत्ति। द्वित्रिवेलायामीदृशो भावोल्लासो भवति चेत्तदा मुक्तिर्न दुर्लभा। प्रिये! पुनरभिलपामि तद्दिनं कदा समेष्यति। इति धवगिरं श्रुत्वा परमानन्दं धर्मे च प्राप्ता। तद्रत्नप्राप्त्या सर्वं सांसारिकसुखं धर्मश्च वृद्धिं प्राप्तौ, श्रेष्ठी भार्या चाऽऽजन्म धर्ममाराध्य श्रीमज्जैनशासनोन्नतिं च कृत्वाऽन्ते समाधिमरणेन मृतौ चतुर्थदेवलोके मित्रतयोत्पन्नौ। ततश्च्युत्वा विदेहे सेत्स्यतः।

एवमागमोक्तविधिना धर्माराधकस्य इह-परभवे सर्वप्रबलपुण्योदये धर्मे मतिरविच्छिन्ना भवति। कदापि 'विचित्रा कर्मणां गतिः' इत्युक्तेः पापोदये सांसारिकसुखं त्रुट्यति, परं धर्मे मतिर्न त्रुट्यति; प्रत्युत धर्मेच्छाऽधिकतरा भवति। अथ मिथ्यात्वश्रद्धया निदानकरणादिना वा विराधिता धर्मप्रवृत्तिः कर्मनिर्जरां न करोति। पापानुबन्धिपुण्यबन्धो भवति। स कीदृशः?, तस्योदये विषय-कषायाः प्रबला भवन्ति, तस्य धर्ममतिश्च न भवति। यथा यथा पापमाचरति तथा तथा लक्ष्म्यादिवृद्धिर्भवति। यदा पुनः सत्सङ्गत्यादिकारणेन धर्मं कर्तुं मतिरुत्पद्यते तथापि धर्मं कर्तुं न शक्नोति, प्रत्युत केनाऽप्यन्तराययोगेन सङ्कटे पतति, तद्दुःखेन जाताऽपि दानादिधर्ममतिर्नश्यति। यदि पुनरधर्मेहा भवति तदा तद्दुःखं नश्यति। विराधकस्य पुण्यं पापवृद्धिकारकं भवति, यथा विश्वभूते-

ब्राह्मणस्य । तद्यथा—

पापानुबन्धिपुण्योपरि विश्वभूतिब्राह्मणकथा ।

एकस्मिन् महापुरे विश्वभूतिर्ब्राह्मणः परिवसति । तस्य पुनः पूर्वकृताऽज्ञानकष्टरूपलौकिकधर्मफलपापाऽनुबन्धिपुण्योदयेन व्यवसाये महान् लाभो जायते । यत्र पञ्चरूप्यकलाभं चिन्तयति तत्र पञ्चविंशतिरूप्यकान् प्राप्नोति । किं बहुना ? चिन्तिता हानिर्लाभाय भवति । एवं स व्यवसायं कुर्वन्ननेकलक्षद्रव्यस्वामी जातः । परं प्रकृत्या महान् कृपणः, कस्यापि कपर्दिकामात्रं न ददाति दानवार्तयाऽपि कुप्यति, गृहेऽपि यत् समर्घं धान्यं तद्गृह्णाति, स्वल्पमूल्यं स्थूलं च वस्त्रं परिदधाति । प्रत्यहं तैलमत्ति, घृतं तु कस्मिंश्चित् पर्वदिने खादति, तदपि अतिस्तोकतरं स्पर्शमात्रम् । पुत्रपरिवारस्य भोजनं कुर्वतः कवलान् गणयति । तस्य चत्वारः पुत्राः सन्ति तानपि व्यापाराय हट्टे रक्षति, न कस्याप्यधिकारः, केवलं तदुक्तकार्यमात्रं कृत्वा तिष्ठन्ति, किमपि न्यूनाधिकं चेत्कुर्वन्ति तद् गृहान्निष्कासयति । रूप्यकस्य च कपर्दिकामात्रस्याऽर्थे शिरःस्फालनं कृत्वाऽपि गृह्णाति, परं कपर्दिकां न मुञ्चति । प्रभाते न कोऽप्यस्य नाम गृह्णाति । ईदृशः कृपणशिरोमणिः सहस्रसङ्ख्यान् व्यापारान् करोति, व्याजेन च द्रव्यं ददाति ।

अथ तस्मिन्नेव नगरे एको देवभद्रश्रेष्ठिवरः परिवसति । तस्यापि गृहे तेन विश्वभूतिना अनेकसहस्रसङ्ख्यया व्याजेन वित्तं स्थापितमस्ति । कियत्यपि गते काले एकस्मिन् दिने पाश्चात्यरात्रिसमये स ब्राह्मणो गतनिद्रोऽतिलोभाद् व्यवसायजागरिकां कुर्वन्नस्ति, तदा देवभद्रगृहस्थापितं द्रव्यं स्मृतिपथमागतम्, 'अहो ! देवभद्रश्रेष्ठिगृहेऽनेकसहस्रपरिमितं द्रव्यं मया स्थापितमस्ति, परं बहुतरकालो गतस्तथापि मया तस्य शुद्धिर्न कृता, वर्द्धितं व्याजमपि न गृहीतम्, अतोऽद्य प्रभाते तस्य गृहेऽवश्यं गन्तव्यम्, गत्वा न

चटितव्याजस्य लेख्यकं कृत्वा तद्द्रव्यं रोक्यं गृहीत्वा मूलद्रव्ये क्षिप्त्वा पुनर्द्रव्यपत्रीं कारयित्वा गृहमागत्य पश्चादन्यकार्ये प्रवर्तिष्ये'। इत्येवं लोभजागरिकया रात्रिमतिवाह्य प्रभाते संजाते वस्त्रं परिधाय निर्गतश्चतुष्पथे याति। तदा हट्टस्थिता लोकाः परस्परमुपकर्णे भूत्वा वार्तां कुर्वन्ति—'भो अमुक! ते कौतुकं दर्शयामि'। तेनोक्तम्—'किं कौतुकम्'?। स आह—'दृश्यताम्, योऽयं दारिद्र्यमूर्तिर्ब्राह्मणो याति, अस्य पार्श्वे किमपि धनं भविष्यति न वा? तदा तेनोक्तम्। अस्य वराकस्य पार्श्वे किं धनं भवति? भिक्षावृत्त्या किमपि निर्वाहकारको दृश्यते, कुतोऽस्य धनम्?। धनिकस्य मुखं किमाच्छादितं स्थीयते'?। तदा हट्टस्वामिना विहस्य प्रोक्तम्—'भो भ्रातः! ईदृशस्याऽस्य पार्श्वेऽनेकलक्षसङ्ख्यया धनमस्ति, अस्मिन्नगरे नाऽस्य समानो धनी। समस्ता अपि नगरवासिनो लोका अमुमुपलक्षन्ति, परं न कोऽप्यस्य शुभकार्ये नाम गृह्णाति; ईदृशोऽयं कृपणशेखरो वर्तते'। इति तस्य वार्तां श्रुत्वाऽज्ञा मुखेऽङ्गुलिं प्रक्षिप्य शिरो धुन्वन्ति।'अहो! अपरिमितधनस्वामिन् एतस्य स्वरूपं पश्यन्तु। किं करिष्यति धनम्?, धिगस्तु अस्यावतारम्, हारयति नरभवम्। पूर्णे आयुषि चायं यास्यति, धनं तत्रैव स्थास्यति। धनं पूर्वं केनापि सह न यातमभूत्, न च याति, न च यास्यति'। इत्येवं प्रतिहट्टं प्रतिजना विप्रं दृष्ट्वा वार्त्तां कुर्वन्ति। महानगरत्वादात्मध्याने देवभद्रश्रेष्ठिनो गृहं प्राप्तः। तस्य गृहद्वारे स्थितैः सेवकैः रुद्धः। 'भो विप्र! स्थीयतामत्र, मम स्वामिने ज्ञापयामि'। इत्युक्त्वा सेवकेनोपदेवभद्रं गत्वोक्तम्—'स्वामिन्! एको दारिद्र्यमूर्तिर्वराको विप्रः स्वामिनं द्रष्टुमीहते'। श्रेष्ठिनोक्तम्—'कोऽपि दानार्थी आशां धृत्वाऽऽगतो भविष्यति, तमागन्तुं ददस्व। सति सामर्थ्ये निराशवालने महत् प्रायश्चित्तम्। स्वशक्त्यनुरूपं दास्यामि, अतो मा वारय'। इति स्वामिनिर्देशं लब्ध्वा विप्रायोक्तम्—'सुखेन गच्छ'। विप्रेणाऽचिन्ति—'कीदृशोऽयं साधुकारको यद् राजद्वारवद् रोकयति?। एते सेवका द्वारस्थिताः किं कुर्वन्ति?. केवलं निरर्थकं धनव्ययं करोति। किमत्र चौरभयमस्ति?

किमत्र धाटी पतति यदनेनात्र स्थापिताः ? । नूनमयमनीतिप्रवर्तनेन स्तोकैरेव दिनैर्निर्धनो भवितुं दृश्यते' । इति ध्यायन्नंतराऽऽस्थाने प्रविष्टः । तत्र किदृशमास्थानम् ?—प्रतिचतुष्किकायां विविधविचित्रवल्लीलिखितैरनेकाश्चर्ययुक्तैर्बहुद्रव्यव्ययसाध्यैः चीनांशुकैर्निर्मितैश्चन्द्रोदयैरुपशोभितम्, अतिविचित्रप्रफुल्लितपुष्पकेदारप्रतिरूपकैर्दृष्टिव्यामोहकारकैरास्तीर्णकैरास्तीर्णम्, अतिमृदुगुणयुक्तैः शरीरावयवाश्रयस्तम्भकैः सुन्दरैर्गोन्दीपर्यंकैर्वर्ण्यभित्तिमूलोपशोभितम्, अनेकसुरा-ऽसुर-नर-किन्नर-विद्याधर-हस्त्यश्व-हंस-सारस-मयूर-चकोर-पारापत-वनलता-पद्मलताप्रमुखैर्विचित्रचित्रैश्चित्रितभित्तिदेशम्, स्वर्ण-रूप्यमयमषीभाजन-ताम्बूलभाजन प्रमुखैः शोभितभूप्रदेशं सार्वभौमभूपतिमन्दिरानुकारम् । तद् दृष्ट्वा विप्रभूतिश्चिन्तयितुं लग्नः-'अहो ! अयं कीदृशः साधुकारो निष्प्रयोजनद्रव्यव्ययकारकः? । कोऽपि कुशानिको दृश्यते । ईदृशाऽनर्थव्ययकरणेऽस्य गृहे लक्ष्मीः कियद्दिनानि स्थास्यति ? । अयं तु स्तोकदिनमध्येऽनर्थव्ययं कृत्वा निर्धनो भावी । किमयं लोकान् दास्यति ? । ईदृशी व्यवस्था तु राजद्वारे घटते यस्य सहजवृत्त्या लक्ष्मीर्निरन्तरं समागच्छति । साधुकारस्य तु नीत्या प्रवर्तनमेव वरम् । कोऽपि मम भाग्योदयो येनेदृशी मतिरुत्पन्ना । अतोऽस्य पार्श्वाद् मूलधनं व्याजधनं च लात्वाऽन्यत्र नीतिवादिनो गृहे दास्यामि' ।

एवमास्थानशालिनो यावदार्त्तिं करोति तावद् देवभद्रश्रेष्ठिना दृष्टः । श्रेष्ठ्यपि आसनादुत्थाय सम्मुखं गतः । 'आगम्यतां द्विजवर !, इतः पादौ अवधार्यताम्, अलंक्रियतामिदमासनम्' इत्यादिशिष्टाचारपूर्वकं निजासनसमं स्थापितः । द्विजो निर्गुणोऽपि कृशोऽपि धनी सर्वत्र मानमाप्नोति । उक्तं च—

१ [illegible]

सर्वत्र सेव्यते लोकैः, धनी च कृपणो यदि । स्वर्णाचलस्य परितो, भ्रमन्ति भास्करादयः" ॥१॥

सुखक्षेमवार्तां चाऽऽपृच्छय किमागमनप्रयोजनमिति पृष्टे द्विजः प्राह-'पूर्वं हि मया भवतां पार्श्वे धनं स्थापितमस्ति, अधुना तस्य किमपि कार्यमापतितम्, अतस्तद्ग्रहणायाऽहमागतः, अतः सव्याजं धनं ददतु मम । तदा श्रेष्ठिनोक्तम्-'वरम्, लेख्यकं कृत्वा सव्याजं सर्वमात्मीयं धनं गृहाण' । इत्युक्त्वा लेखकारकमहत्तमानाहूयोक्तम्-अस्य द्विजवरस्य धनस्य लेख्यकं कृत्वा सव्याजं धनं ददतु । एषां विशदरीत्या लेखः करणीयः, कपर्दिकामात्रस्यापि विनिमयो न भवति; यतोऽयं द्विजवरो दातुं योग्यो न लातुं योग्यः' । तैरपि विशदरीत्या लेख्यकं कृत्वा द्विजं श्रावयित्वा तस्याग्रे धनं ढौकितम् । द्विजोऽपि तद् ग्रहीतुं लग्नः । एतावता श्रेष्ठिनोक्तम्-द्विजवर ! पाश्चात्यदिनोऽतिस्तोकतरोऽस्ति, भवद्गृहं तु दूरेऽस्ति, धनं लात्वा गच्छतो रात्रिः पतिष्यति, रात्रौ च सधनस्य गमनं न युक्तम्, अतो रात्रौ अत्रैव स्थातव्यम्, प्रभाते तु जाते सुखेन गच्छतु भवान् । अतोऽद्य स्वेच्छया भोजनसामग्रीं गृह्णातु, अस्मद्गृहे वाटिकायां रसवतीं निष्पाद्य भोजनं कृत्वाऽस्मान् पवित्रयतु भवान् । इति श्रेष्ठिनोक्ते द्विजेनाप्यनुमतम् । हर्षितः, स्वधनमपि लब्धं; स्वेच्छया भोजनं च प्राप्तम् । ततः सेवकैर्गृहवाटिकायां नीतो द्विजः । इच्छातोऽप्यधिका पिष्ट-घृत-शर्करादिविविधव्यञ्जन-शालि-दालि-दुग्धादिसामग्री दत्ता । द्विजः स्नात्वा रसवतीं कर्तुं लग्नो विचारयति-'मम त्वेकाकिन एतावतीं परिसामग्रीं लात्वा ढौकिता । एवमनीत्या व्ययति, अतोऽयं स्वल्पदिनमध्ये धनरहितो भविष्यति । अतो यन्मया कृतं तद्भव्यं कृतम्' इति ध्यायन् रसवतीं कृत्वा यथेच्छया भुक्त्वा रात्रेश्चतुर्घटीसमये आगत्य श्रेष्ठिनः समीपे स्थितः । श्रेष्ठिनापि स्वसेवकायाऽऽज्ञा दत्ता-'गृहोपरितनभूमौ मम शयनावासे मम सन्निधौ भव्यपल्यङ्कः सज्जीकृत्य भट्टस्य स्वापाय दीयताम्' । तेन तथा कृते श्रेष्ठिना द्विजायोक्तम्-'दूरागमनात् श्रान्तोऽस्ति

भवान्, अत उपरितनभूमौ सुखेन स्वपितु भवान्, समयेऽहमपि तत्रैव शयनार्थमागमिष्यामि, तदा हृदयगतां वार्तामेकान्ते करि-
ष्यावः' । इति श्रुत्वा द्विज उपरितनभूमौ गत्वा शय्यायामुपविष्टः । इतस्ततो विलोकमानो देवविमानसदृशं शयनस्थानं दृष्ट्वा पुनरपि
विह्वलो जातः । शयनीयोपरि पुष्पमालिकाया जालिका ग्रथिताऽस्ति, तस्योपरि स्वर्णसूत्रनिष्पन्नवस्त्रस्य चन्द्रोदयो राजते, भित्तिप्र-
देशाः पुरुषप्रमाणादर्शाः परितः शोभां बिभ्रति, अवलेहिकायां विविधप्रदेशोत्पन्नान् आश्चर्यकारकान् राजगृहेऽपि न भवन्ति ईदृशान् स्व-
र्ण-रूप्यकाष्ठमयान् अतिनिपुणशिल्पिकृतान् ईदृशान् खेलकारकान् चित्तरञ्जकान् पश्यति । इतः परितः कृष्णागुरु-मृगमदा-ऽम्बर-तुरुष्क-
प्रमुखधूपद्रव्याणां रौप्यघटिकायामुत्क्षेपेण धूपधूमो महमहति । इतश्चूआ-चन्दना-अत्तरादिविचित्रीकृतवस्त्रादीनां परिमलः परिभ्रमति ।
यत्र तत्र स्वर्ण-रूप्यमयचङ्गेरिकाप्रमुखभाजनानि पतितानि दृष्ट्वा द्विजहृदये तु महत्यार्त्तिर्जाता । चिन्तयति च-'अहोऽस्य मूर्खत्वम्!।
किमिमं निरर्थकं सहस्रादिद्रव्यव्ययं कृत्वा ?। इयं रचना किं कार्ये आयाति ?। ग्रहणे यादृशं द्रव्यं लगति विक्रये तु चतुर्थांशोऽपि
नोत्पद्यते । बहुद्रव्यैः सेटकपरिमितोऽयमगुरुर्लभ्यते, तमग्नौ प्रक्षिप्य रक्षां करोति; अत्र किं हस्ते आयाति ?। एते पुष्पौघाः प्रभाते
परिष्ठापनयोग्या भविष्यन्ति । एते आदर्शाः सहस्रमूल्यलभ्याः सहजेन कस्यापि सङ्घट्टेन चूर्णीभवन्ति, कपर्दिकामात्रमपि नोत्पद्यते । ईदृशो
मूर्खः किं विकलतां करोति ?। एवमार्त्तिं कुर्वतः सपादयामरात्रौ गतायां श्रेष्ठ्यागतः । द्विजश्चाऽऽलापितः-द्विजवर! अद्यापि जागृथ ? कथं
निद्रा नाऽऽयाति' ?। द्विजेनोक्तम्-'चिन्तया' । श्रेष्ठी-'का चिन्ता' ?। विप्र आह-'भवदीया' । श्रेष्ठी-'अस्माकम्' ?। द्विजेनोक्तम्-'धन-
नाशकानि तवाऽऽचरणानि दृष्ट्वा । श्रेष्ठी-'तानि कानि' ?। द्विजो वदति-'यद्भवाननर्थकव्ययं कुरुते' । श्रेष्ठी-'कथम्' ?। द्विजः-

१ -प्रदेशे प्र० । २ इमा प्र० ।

इमानि पुष्पप्रकराणि प्रहरैकभोग्यानि, ततः परं निर्माल्यानि। इत्यादि पूर्वचिन्तितं सर्वमप्युक्तम्। अतो मम चिन्ता जायते। एवं कुर्वतः का गतिर्भाविनीति। श्रेष्ठी तदुक्तं श्रुत्वा विहस्य चाह–द्विजवर! भवादृशानां वृद्धानां शास्त्रज्ञानां हेयोपादेयज्ञानामीदृशी विपर्ययबुद्धिः कथं जाता?। विप्रः–'कथम्'?। श्रेष्ठिनोक्तम्, 'शृणुत–किं लक्ष्मीरात्मबलेन तिष्ठति उत धर्मबलेन?। यद्यात्मबलेन तिष्ठति तदा लोके सर्वेऽपि धनार्थिनः, बहुलाः कृपणाः सन्ति। प्रतिदिनं मितंपचरीत्या द्रव्यं न व्ययन्ति, तदा तु तेषां गृहे लक्ष्मीः स्थिरा युज्यते, तत्तु न दृश्यते। धर्मबलेन तु प्राप्ता लक्ष्मीः पुनर्धर्मे युज्यते तदा वृद्धिं याति, यथा जलेनोदितो वृक्षः पुनर्जलसिञ्चनेन वृद्धिं यात्येव। पूर्वजन्मनि कृतपुण्यबलेन प्राप्ता लक्ष्मीः पुनः पुण्येन वर्द्धते। ते भोगास्तु आनुषङ्गिकफलाः, यथा जलेन सिच्यमानो वृक्षोऽखण्डस्तिष्ठति, तत्र फलादि लभ्यते तदानुषङ्गिकं फलं, वृक्षस्तु अखण्ड एव, एवं धर्मेणापि। यथा कूपजलं निष्काश्यमानं क्षयं न याति, चेन्न निष्काश्यते तदा वृद्धिमपि नाप्नोति; एवं धर्मेण प्राप्ता लक्ष्मीर्दानभोगे युज्यमाना क्षयं न याति, प्रत्युत वृद्धिं याति; नात्र सन्देहः। सर्वेष्वपि दर्शनेषु सर्वशास्त्रेषु एकैव रीतिः, ततः शास्त्रकारकान्न वयमधिकाः। अतो धर्मो मुख्यवृत्त्या ज्ञेयः, भोगास्त्वानुषङ्गिकाः। अतो द्विजवर! विपर्यासबुद्धिं त्यक्त्वा धर्मे रतिं कुरुत'। इत्युक्त्वा श्रेष्ठी तु स्वशय्यायां सुप्तः, निद्रा च प्राप्ता।

द्विजस्तु सन्देहदोलायां पतितश्चिन्तयति–'धर्मपुण्येन लक्ष्मीर्वर्धते' इति सर्वशास्त्राणि वदन्ति, तदपि मिथ्या कथमुच्यते?। व्ययिते तु सर्वमपि धनं व्ययं याति, कोऽपि रक्षको न दृष्टः'?। एवं ध्यायताऽर्द्धरात्रिसमये एका वरतरुणी द्वारमुद्घाटय गृहमध्ये आगता समस्ताभरणैर्भूषिता दिव्यरूपा द्विजेन दृष्टा। चिन्तयति च–'अहो! अयं श्रेष्ठी मुखे तु धर्मपक्षमुद्गृह्णाति, कार्याणि त्वीदृशानि परस्त्रीगमनादीनि करोति। इयं परकीया काऽपि पूर्वसङ्केतिताऽऽगता। अस्य स्त्रियं त्वहमुपलक्षयामि, सा तु नास्ति, इयं तु

परदाराः। अयं श्रेष्ठी मासाहसपक्षितुल्यो दृश्यते, अस्य वचसि का प्रतीतिः ?। पश्यामि, कथमागता ? किं करोति ?। मदीयां मर्यादां कुरुते नवा, उभावपि निर्लज्जौ वा ?। पश्याम्यत्र कौतुकम्'। तदा सा स्त्री श्रेष्ठिनः पर्यङ्के विष्वक् परिभ्रम्य श्रेष्ठिन उत्तरीयकवस्त्रस्य पल्लवं धूपघटिकायां पतितं दृष्ट्वा शीघ्रं समुत्पाट्य हस्तेन मर्दयित्वा विधाप्य पर्यङ्के मुक्त्वा घटीं च किञ्चिद् दूरे धृत्वा सर्वं सुस्थं कृत्वा तस्माद् व्याघुट्य वलिता। विप्रेण चिन्तितम्—'केन कारणेनागता ?। श्रेष्ठ्यपि न बोधितः, केवलं पर्यङ्के परिभ्राम्यति। किं वा मां दृष्ट्वा लज्जिता' ?। एवं विचारयति यावत्तावत् तस्याः स्वपर्यङ्कासन्नीभूय गच्छन्त्या द्विजेन वस्त्राञ्चलं गृहीत्वा पृष्टम्—'का त्वम् ? केन कारणेनाऽऽगता ? किं यथाऽऽगता तथा गच्छसि ? किं वा मद्धेतुको तवान्तरायो जातः' ?। इति द्विजवाक्यानि श्रुत्वा किञ्चित्सरोषं सा प्राह—'भो मूर्खशेखर ! विकलवत् किमसम्बद्धं प्रलपसि ?। अस्य पुण्यवतः श्रेष्ठिनो गृहस्य लक्ष्मीरस्मि, श्रेष्ठिनः शुद्ध्यर्थमागता। अस्योत्तरीयकं धूपघटिकाया ज्वलद् दृष्ट्वाऽहमागत्य पल्लवं विधाप्य यामि। अतोऽत्र तव का तप्तिः' ?। द्विजेनोक्तम्—मम गृहेऽपि त्वं प्रचुराऽसि, कथं मम सेवां न करोषि ?। मम शुद्धिं कदापि न करोषि, केवलमस्यैवोपरि तव का भक्तिः' ?। लक्ष्मीराह—'भो निर्गुणशिरोमणे ! पूर्वजन्मनि आगमोक्तपूर्वकं त्रिधा शुद्ध्या दानपुण्यादिकृतः पुण्यानुबन्धिपुण्यवतोऽस्य श्रेष्ठिनश्चेटीरूपा परिचारिकाऽस्मि, निर्विवेकाऽज्ञानकष्टकृतः पापानुबन्धिपुण्यवतस्तव स्वामिन्यस्मि। त्वं तु मम दासानुदासोऽसि, किङ्करस्योपरि का भक्तिः ?। द्विजेनोक्तम्—'भो लक्ष्मि ! अस्य मम चोपरि इदृशः पङ्क्तिभेदः कथं [रक्षसि] ?। अयं तव किं ददाति मया च तव किं चोरितम् ?। ईदृशे मनुष्यत्वे समाने तव पङ्क्तिभेदो न घटत्येव। अहं तु त्वां यत्नेन रक्षामि, अयं त्वां यद्वा तद्वा यत्तत्स्थाने व्ययति; तथापि त्वमस्योपरि स्नेहवती दृश्यसे ममोपरि तु पराङ्मुखाऽसि कथं त्वं ब्रूहि'। लक्ष्म्योक्तम्—'भो अज्ञशिरोमणे पश्चाद्बुद्धिक ! शुद्धश्रद्धावताऽनेन सवि-

नयं सदयं सनयं सविवेकं सहर्षं सोल्लासं सरणरणकं विपाद्यनुष्ठानरहितमनिदानं श्रीमज्जिनधर्म आराधितस्तेनाऽतुलफललब्धिः। इहभवे पुनर्विशिष्टदानपुण्यादिष्वहर्निशं द्रव्यव्ययं करोति, अधिकाधिकधर्मेहां न मुञ्चति, भोगास्तु पूर्णकृतधर्मस्यानुषङ्गिका भुक्त्वा एव, यथा सौगन्धिकव्यवसाये वस्त्रादीनां सुवासनावत्त्वमानुषङ्गिकम्। अतोऽहं पूर्वजन्मनि निर्दूषणधर्मबलेनाऽऽत्मसात् कृता, पुन-रिहभवेऽपि दान–पुण्य–विनय–लज्जा–दाक्षिण्या–ऽऽर्जवादिगुणैर्नियन्त्रिताऽस्य सेवाभक्तिं करोमि। यदुक्तं च शास्त्रे—

"भोज्यं भोजनशक्तिश्च, रतिशक्तिर्वराः स्त्रियः। विभवो दानशक्तिश्च सदाज्ञातपसः फलम्" ॥१॥

त्वया च पूर्वजन्मनि केवलं निर्दय–निर्विवेकतयाऽज्ञानकष्टं कृत्वा पापानुबन्धिपुण्यमुपार्जितं, यस्योदयेन पापमतिरेव प्रसरति। यतः–सदोपकृतकष्टफलैः सदोपवैभवं प्राप्नोति। इह जन्मनि पुनर्लोभाभिभूतोऽसत्यादिभाषण–पापस्थानसेवनेन वैभवं प्राप्याऽदत्त्वाऽभुक्त्वा नरकादिषु गच्छति। कदापि सत्सङ्गादिकरणे दानादिमतिर्भवति तथापि कोऽप्यन्तराय आपतति येनोत्पन्नापि मतिर्विनश्यति, परं कर्तुं न शक्नोति। यथा—

कोऽपि कृपणनिर्दयः पुरुषो धनार्थी महत्त्वार्थी च नृपसेवां बहुकष्टसहनपूर्वकं करोति एकाग्रतया। बहुभिर्दिवसै राज्ञा ज्ञातोऽयं ममाऽहर्निशं सेवां करोति, मदर्थं कष्टं च सहते। अतोऽस्य सेवाफलं कमप्यधिकारं ददामि। पुना राज्ञा ध्यातम्–कोऽधिकारोऽस्य दीयते ?। तदा राज्ञा चातुर्यबुद्ध्या परीक्षितः। यतोऽयं सेवायां दृढः, परंतु कृपणो निर्दयश्चास्ति, अतोऽस्य भाण्डागारित्वं दीयते।

१ त्रिविधमसदनुष्ठानम्–विषं गरमन्योन्यानुष्ठानं च। इहलोकाशंसया कृतं विषानुष्ठानम्, परलोकाशंसया कृतं गरानुष्ठानम्, ओघसंज्ञया लोकसंज्ञया वा कृतमन्योन्यानुष्ठानम्। एतत्त्रिविधमसदनुष्ठानं परिहरणीयम्।

यतोऽयं कृपणत्वाद्द्रव्यं न व्ययति, निर्दयत्वाद् दापितेऽपि शीघ्रं न ददाति। अस्यैवाऽधिकारो देयो नाऽन्यस्याऽर्हतीति ध्यात्वा भा-
ण्डागारिकः कृतः। यस्मै राजा धनं दापयति निर्दयत्वाद् धनं न ददाति, कष्टं च ददाति। राज्ञोऽग्रे तस्य दूषणान्युक्त्वा राज्ञा कोपं
कारयति। ये पुना राज्ञः समीपे यान्ति तदा राज्ञो दृष्टिं कोपकलितां दृष्ट्वा सर्वेऽपि मौनमादाय तिष्ठन्ति, न किमपि जल्पन्ति।
केषाञ्चित् पुनः स्तोकं दत्त्वा पूर्णं वहिकायां लिखति। एवं बहुतरे काले गते सर्वेऽपि राजकीयास्तस्य शत्रवो जाताः।

एकदा पुना राज्ञोऽधिकारिणामश्वचारिकां दृष्ट्वा भाण्डागारिकश्चिन्तयति–अहमपि राज्याधिकारी, अतोऽहमप्यश्वचारिकां कृत्वा
महत्या विभूत्या चतुष्पथादौ व्रजामि। इति ध्यात्वाऽश्वचारिकायां सुखासनाऽधिरूढो महत्या विभूत्या व्रजति। अथ तस्याऽश्वचा-
रिकां दृष्ट्वा परं खेदिताः सर्वे राजकीयाः क्रुद्धाः। अवसरं लब्ध्वा राज्ञोऽग्रे कथितम्–युष्मदीयो द्रव्यं स्वेच्छया व्ययति। तत आहूतः;
कथितम्–'कथममुकस्य द्रव्यं न दत्तम्'?। तदा तस्य दूषणानि समुद्घाट्य वक्तुं लग्नः–'अयं तु बहुतरमत्ति, किमस्य देयम्'?।
इत्यादि श्रुत्वाऽहो! अयं दिष्टो दापयितुं न ददाति, प्रत्युत पैशुन्यं करोति; तदाऽन्यस्य तु सुतरां दुःखदायको भविष्यति। एवं
राज्ञोक्ते सभ्यैरपि खेदितैस्तथैवोक्तम्। तदा राज्ञा क्रुद्धेन सर्वस्वं गृहीत्वा देशान्निष्काशितः।

एवं भो द्विज! त्वयापि निर्दयनिर्विवेकदूषणसहितेन कष्टतरतपस्यादिकृते, कर्मपरिणामराज्ञा पापानुबन्धिपुण्यवतस्तव मद्रूपस्य
द्रव्यस्य रक्षकरूपो भाण्डागारिकः कृतः। अतस्त्वं यदि धनरक्षको भूत्वा दानभोगादिना द्रव्यव्ययं करोषि तदाऽहं कर्मपरिणामराजा
च कुप्यावः। अतस्त्वं द्रव्यरक्षको मम किंकरोऽसि। श्रेष्ठिनस्तुलना त्वया कथं भवति?। इति लक्ष्म्योक्तं श्रुत्वा द्विजः प्राह–'हुं,
ज्ञातं मया तव स्थिरीकरणहार्दम्, यदहं पापानुबन्धिपुण्यस्यापि स्वाम्यस्मि; तत्पुण्यं यावन्न व्येति तावत्तु त्वं मे गृहेऽसि तदा का

न्तिा ? । अत्रैव प्रभाते दानभोगाद्यवच्छिन्नं प्रवर्तयित्वाऽहमपि त्वां चेटीरूपां करिष्यामि' । लक्ष्म्योक्तम्–'पश्य तव मुखम् । भारवाहकस्योत्पाटनार्थं दत्ता धनग्रन्थी किं भारवाहकस्यापि जाता ? । भो मूर्खराट् ! पूर्वजन्मकृतशुद्धधर्मेणाऽस्मदादीनामनुकूलत्वेन न दानभोगादि कर्तुं शक्नोषि, नान्यथा । यदि त्वं समुच्छको भूत्वा दानभोगादि करिष्यसि तदाऽहं तव नवखण्डेषु डम्भान् दापयिष्यामि, तत्सत्यमेव ज्ञेयम्' । विप्रेणोक्तम्–'मयोपार्जितं द्रव्यमहमेव दानभोगादिषु व्ययं करोमि तदा मम को वारयिता ?, प्रत्युत यशःशोभा वृद्धिं यास्यति' । लक्ष्मीराह–'ईदृशीमिच्छां कदापि मा कुरु । यतः कर्मपरिणामराज्ञ आज्ञां त्रिजगति न कोऽप्युल्लङ्घते । ये त्रिजगदीश्वरा जगद्ध्वंसनरक्षणसमर्था अनन्तबलयुक्तास्तीर्थङ्करास्तेऽपि कर्मपरिणामानुकूलां प्रवृत्तिं कुर्वन्ति । तेऽपि भोगोदयं यावद् भुक्त्वा कर्मपरिणामानुकूलं दानं च दत्त्वा व्रतं गृह्णन्ति, तदा त्वं कियन्मात्रो यत् कर्मपरिणामराज्ञः प्रतिकूलो भूत्वा दानभोगान् करिष्यसि ? । चेत् करिष्यसि, ते नवखण्डेषु डम्भान् दापयिष्यामि' । विप्र आह–'याहि याहि, मया यत्कर्तव्यं भवति तत्सुखेन क्रियताम् । लक्ष्मीराह–'एवं तर्हि शीघ्रो भव, यद् रोचते तत् कुरु' । इत्युक्त्वा गता लक्ष्मीः ।

अथ पर्यङ्के सुप्तश्चिन्तयति–'प्रभाते कियत्परिमितं धनं लात्वा उदारवृत्त्या यादृशो अस्य श्रेष्ठिनस्त्यागभोगौ तस्मादप्यधिकतरं प्रवर्तयिष्यामि । धनं तु ममाऽमुष्मादप्यधिकतरं वर्तते । यथा देशान्तरं यावत् कीर्तिः प्रवर्तेत तथा करिष्यामि' । इत्येवं चिन्तयन् रात्रिमतिवाह्य प्रभाते श्रेष्ठिपार्श्वात् पञ्चसहस्ररूप्यकान् लात्वा, एकस्य कर्मकरस्य हस्ते दत्त्वा चतुष्पथे गत्वा, बहुद्रव्यव्ययेन भव्यानि नवीनानि वस्त्राणि गृहीत्वा, परिधाय, एवमङ्गोपाङ्गेषु भूषणानि द्रव्यव्ययेन संगृह्य, यथायोगमङ्गानि भूषयित्वा, मार्गे गच्छन् दीन-हीन-याचकेभ्यश्च मुष्टिं भृत्वाऽर्पयति । याचका अप्याश्चर्यं प्राप्ताः, अहो तु महदाश्चर्यं यद् विश्वभूतिर्दानं ददाति । लोकास्तु सह-

स्वसङ्ख्यया मिलित्वा वदन्ति—'भो अमुकसखे! धाव धाव, दर्शयामि कौतुकम्'। सोऽपि धावन्नागतः—'किं किम्'?। 'पश्य, अयं विश्वभूतिर्दानं ददाति'। एवं चतुष्पथे चतुष्पथे लोकानां वृन्दानि मिलितान्याश्चर्यमाप्नुवन्ति। 'किं जातं विश्वभूतेर्यदयं दाननाम्नाऽपि धूजति सोऽयमगणितद्रव्यं ददाति'। एवं स्तोके काले नगरे वार्ता विसृता। जनाः श्रुत्वा प्रथमं नैव मन्यन्ते, पश्चाद् दृष्ट्वाऽऽश्चर्यमाप्नुवन्ति। केऽप्यतिपरिचिताः पृच्छन्ति—'भो विश्वभूते! तव किं जातं यत्कदापि नाऽनुभूतं दानं दातुं कथं मनोरथो जातः'?। द्विजः प्राह—'भ्रातः! एतावन्ति दिनानि अविद्यया विपर्यासेन च न ज्ञातम्, अधुना तु शास्त्रपरिचयाद् हार्दं लब्धम्। दानभोगादिं विना लक्ष्मीर्नरकप्रदायिनी, उभयलोकाद् भ्रंशयति, अतो दानं ददामि'। एषा वार्त्ता क्षणेन द्विजपुत्रेभ्यः केनाप्युक्ता—'भोः! युष्माकं पिता बहु दानं ददाति'। तदा तस्य पुत्रा वदन्ति—'भ्रातः! किं हास्यं करोषि?, अस्माकं केनापि दुष्टकर्मणा सम्बन्धो जातः। किं क्रियते?, संपूर्णेऽपि त्यागभोगसंयोगे प्राप्ते दारिद्र्यभावेन वर्तामहे, त्वं पुनः किमुदरं ज्वालयसि'?। तेनोक्तम्—'नहि नहि, अहं दृष्ट्वाऽऽगतः'। एवमुक्ते द्वितीयः कोऽप्यागतस्तेनापि तथैवोक्तम्, एवं तृतीयेनापि। सदा सशङ्काः पुत्रादयः सम्मुखं प्राप्ताः। यथा श्रुतं तथैव दृष्ट्वा आश्चर्यं प्राप्तास्तातं प्रति वक्तुं लग्नाः—'भोस्तात! इमं किमनर्थव्ययं करोषि'?। विप्रेणोक्तम्—'भोः पुत्राः! अधुना मया ज्ञातं 'लक्ष्मीर्नरकप्रदायिनी'। तस्माद् यथेच्छं भोगान् भुङ्ग्ध्वम्, दानं दद्ध्वम्। एतावत्कालो मयाऽनर्थं हारितः, युष्माकमपि अन्तरायकारको जातः। तस्माद् द्रव्यं गृह्णीत, यथेच्छया सुखं विलसत'। एवं वदन्(न्तं) मुष्ट्या दानं ददानं दृष्ट्वा समस्तस्वजनैः पौरलोकैश्च गदितम्—'नूनमस्य भूतावेशो जातस्तेनाऽसम्बद्धं प्रलपति, द्रव्यं च विकिरति। इमं गृहे नीत्वा किमपि मन्त्रौषध्यादिकं कुरुत यथा स्वभावस्थो भवेत्'। ततः सर्वैरेकीभूय गृहं नीतोऽपि भार्यां प्रति तथैव ब्रूते—'हे मुग्धे! इमं दरिद्रवेषं

त्यज, सम्यग्वस्त्रभूषणादिकं परिधेहि'। सा चकिता, किमसम्भावनीयं वदति ?। केनापि विदुषोक्तम्—'अस्य प्रेतावेशो वा किमपि वायुविकृत्या कमलस्फुरितम्, अतोऽस्य प्रच्छन्नतया नवतप्तशलाकां कृत्वा नवखङ्गेषु एकयैव हेलया डम्भान् दत्त तदाऽयं स्वभावस्थो भविष्यति, अन्यथा विकृतिर्वृद्धिं यास्यति, असाध्यो भविष्यति, अतस्त्वरितं कुरुत'। पुत्रादिभिस्तथैव कृतम्। स्वजनैर्हस्ताभ्यां गाढं गृहीतः, अन्येन नवखङ्गेषु नव डम्भका दत्ताः। तदा केनाप्युक्तम्—'एवं कृते यदि स्वस्थो न स्यात् तदा किं करणीयम्' ?। तदैकेनोक्तम्—निगडे प्रक्षिप्य एकस्मिन्नन्धतमसेऽपवर्गे क्षिप्त्वा एकविंशतिदिनानि क्षुधितो रक्षणीय इति। विप्रेण ज्ञातम्—'कार्यं जातम्। यद्यहमाग्रहं न मोक्ष्ये तदा निगडे पतिष्यामि, देववचनं नाऽन्यथा भवति'। इति ध्यात्वा वाचालत्वं त्यक्त्वा कपटेन मूर्च्छां प्राप्तः। घटिकाचतुष्कं मौनं धृत्वा पश्चात् कपटेन जागरितो भूत्वा पुत्रान् पृच्छति—'पुत्राः! किमेते लोका मिलिताः ?, ममाङ्गुल्यादेर्भूषणानि कुतः' ? इति पप्रच्छ। पुत्रैरुक्तम्—'तात! युष्माकं तु कोऽपि भूतावेशो वातावेशो वा जातः। भवता तु सहस्रद्वयरूप्यका अनर्थं व्ययिताः'। इति श्रुत्वा कपटेन हाहारवं कर्तुं लग्नः। 'हाहा! किं जातम् ? एतावन्तो रूप्यकाः कुतो मिलिष्यन्ति' ? इति विषादं कर्तुं लग्नः। तदा सर्वैरप्युक्तम्—'अधुना स्वभावस्थो जातः'। पुनस्तेन पूर्ववदवस्था पालिता। तस्माद्दानमतिपालनं न सुलभम्। यदि पुण्यानुबन्धिपुण्यं भवति तदुदये पात्रदानमतिः, नान्यथा। अतः सुपात्रदाने आदरं कुर्वन्तु भव्याः।

अथ पात्रदानविधिर्यथा—

यः पुरुषः सोत्साहमुदारतया समस्तराजलक्ष्म्या निदानं-कारणं सुपात्रदानं ददाति स धन्यात्मा धन्यकुमार इव जगत्प्रशंसनीयसम्पदां पदं प्राप्नोति। तथा च ये पुरुषा निःसत्त्वा दानं दत्त्वाऽपि पश्चात् शोचन्ते-पश्चात्तापं कुर्वन्ति ते पुरुषाः परभवे

दुःखिनो भवन्ति-लक्ष्मीवियुक्ता भवन्ति। यथा यथा धन्यकुमाराऽग्रजास्त्रयो वृद्धभ्रातरः। अथ च तेषां त्रयाणां धन्यकुमारस्य च चरित्रं प्रारभ्यते। तथाहि-

धन्यकुमारस्य तदग्रजानां च चरित्रम्

इह भरतक्षेत्रे दक्षिणदिग्विभागे स्वस्ति-श्री-ऋद्धि-समृद्धिगुरुताया एकस्थानं नररत्नप्रतिष्ठानमेतादृशं श्रीप्रतिष्ठानपुरपत्तनमासीत्। यत्र तत्पुरपरिसरे गोदावरी नाम्ना नदी परिवहति। तत्र कविरुत्प्रेक्षां करोति-यतोऽहमेवं मन्ये गोदावरीनदीजले अनेकस्वर्णरत्नाऽलङ्कारयुता नार्यः स्नानार्थमागच्छन्ति। जलक्रीडां कुर्वतीनां तासां कण्ठाद्यङ्गात् परिच्युतैर्नदीप्रवाहवाहितैः रत्नैः कृत्वा समुद्रस्य 'रत्नाकर' इति प्रसिद्धिर्जाताऽस्ति। तत्र-तस्मिन्नगरे भीम-कान्तगुणैर्युक्तो जितशत्रुनामा राजा राज्यं करोति स्म। यस्याज्ञाभीत्या प्रीत्या च शत्रुभिर्मित्रैश्च प्रियकृतो निर्वहति। यस्य भूपतेः खड्गो अभिनवः कोऽपि धाराधरो-मेघः प्रकटितः, यद्धारायां तुङ्गा अपि क्षोणिभृतो निमग्नाः। एतावता क्षोणिभृत्सदृशाः-पर्वतसमाना अपि तस्य प्रतापसमुद्रे निमग्ना-ब्रूडिताः। अथ तं राजानं जगति चतुर्भी रूपैर्ददृशुः-मेनिरे। तत्र ये गुरवः-कुलवृद्धास्ते विनयादिगुणैर्बालं मेनिरे। तथा च ये शत्रवस्ते शौर्यादिगुणैः कालं-यमं मेनिरे। पौरजना न्यायनिष्ठतया रामं मेनिरे। तथा पौरयुवतयश्च अद्भुततया कन्दर्पं मेनिरे। तत्र यशोधवलितेषु पौरेषु दानादिगुणैः श्रेष्ठः धनसारश्रेष्ठीति यथार्थनामा श्रेष्ठी समभूत्। तस्य श्रेष्ठिनो दानादिगुणैर्वणिक्पुत्रगणैरिव यशोभिश्च स्पर्द्धावन्धादिव दिशो दिशः व्याप्ताः। यस्य चित्तस्य लज्जालुत्व-दयालुत्वप्रमुखैर्गुणैश्चारिमा-मनोहरता केनापि वक्तुं न शक्यते। यस्य हृदये त्रिजगन्नाथो जिनोऽपि नित्यस्थित्याऽधिस्थितः, एतावता नित्यं श्रीजिनध्यानतत्परोऽस्ति। अथ तस्य व्यवहारिणो दान-शीलादिगुणशालिनी शील-

वती प्रियाऽस्ति। स्वकुललज्जामर्यादया गृहभारं निर्वहति। अस्थिमज्जावत् श्रीजिनराजधर्मरागधुरां परिवहति। यस्या रूपसौन्दर्यशोभया अतिस्वच्छस्वभावतया च सुररमण्योऽपि नोपमां यान्ति। अथ तयोः सुखं गृहस्थाश्रमस्थितयोः क्रमेण त्रयोऽङ्गजाः समजायन्त। तेष्वाद्यो धनदत्त इति नाम्ना, अर्थिनां धनदत्तसुख ईदृशः। द्वितीयो धनदेवो नाम्ना, श्रिया धनदेन समः। तृतीयो धनचन्द्र इति नाम्ना, चन्द्रवद् गुणोज्ज्वलः। अमी त्रयोऽपि दान-मान-भोगादिगुणैः समन्विताः। अथ च तेषां त्रयाणां क्रमेण धनश्री-धनदेवी-धनचन्द्रकान्ताः कान्तागुणयुक्ताः समभवन्, सुखं चान्वभवन्। अथ धनसारः स्वपुत्रान् समर्थान् दृष्ट्वा स्वगृहभारं तेषु समारोप्य स्वयं धर्मकरणतत्परोऽभूत्। तत्र प्रतिदिनं ब्राह्मे मुहूर्ते समुत्थाय सकलश्रुतसारं पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारजापं पापविमुक्तये करोति। द्विसन्ध्यं प्रतिक्रमणं च करोति। त्रिसन्ध्यं जिनार्चनं च विधिपूर्वकं करोति। नित्यं दिनरात्रिमध्ये सप्तशश्चैत्यवन्दनं विधत्ते। सहर्षं प्रतिवर्षं श्रीतीर्थयात्रां रथयात्रां च महामहोत्सवेन करोति। यथाऽवसरं सुपात्रानुकम्पादिदानधर्मं पोषयति। अनुदिनं प्रवर्द्धमानश्रद्धया शास्त्रश्रवणं गुरूपासनं च करोति। इत्येवं धर्मैकतानो गृहिधर्मं निर्वहति। अथ तयोर्दम्पत्योः प्रवर्द्धमानसम्पदोर्यथेच्छं वैषयिकं सुखं भुञ्जानयोश्चतुर्थपुत्रसम्पत् समजनि। तदा बालस्य नाभिनालस्थापनार्थं खनितायां भूमौ सौवर्णनिधानं निर्ययौ। अथ धनसारस्तं निधानं दृष्ट्वा एवं विचिन्तितवान्—'अयं बालकः कोऽपि अतुलपुण्यनिधिर्दृश्यते, यतो जातमात्रोऽपि पूर्णनिधानलाभकारणमभूत्'। तेनाऽस्य बालस्य गुणनिष्पन्नं 'धन्यकुमार' इति नाम स्थापयामास। ततः पञ्चभिर्धात्रीभिर्लाल्यमानो द्वितीयाचन्द्रवत् सौभाग्येन वपुषा च ववृधे। पितुर्हृदयं नवनवमनोरथैकपूर्णं चकार। एवं प्रवर्द्धमानोऽष्टवर्षदेशीयो जातः। ततः पितृभ्यां समयं ज्ञात्वा शुभे दिवसे महोत्सवपूर्वकं कलाग्रहणार्थं लेखशालायां मुक्तः। ततोऽसौ कुमारः पूर्वपुण्यानुभावेन लीलया

सकलकलाग्रहणं चकार, अध्यापकस्तु साक्षिमात्रोऽभूत्। तद्यथा–समस्तशास्त्रपर्वताऽऽरोहणपद्याऽनुरूपं शब्दशास्त्रं कण्ठीकृतवान्। प्रमाणादिन्यायशास्त्रेषु प्रवीणधुरां वहति। शृङ्गाररसशास्त्रेषु तात्पर्यार्थवेत्ता समजनि। कवित्वकलासु[1] कुशलतया पूर्वकविकृतकाव्येषु दूषण-भूषणानि प्रकटयति। साहित्ये स्वच्छमतितयाऽवसरोचितं वाक्कुर्वन् न वञ्च्यते। पुराणशास्त्रेषु अपुराणबुद्धिरासीत्। गणकशास्त्रेषु द्योतितमतितया ग्रहचारादीन् विशदरीत्या प्रकाशयति। प्रश्नोत्तरविवादेषु कुशाग्रबुद्धितया सद्य उत्तरयति। प्रहेलिका-ऽन्तर्लापिका-बहिर्लापिका-ऽलङ्कारशास्त्रेषु केलिकुव्रतिर्जातः। समस्यासु श्रवणमात्रासु दत्तोत्तरः समजनि। नानालिपीनां वाचने न स्खलति। लीलावत्यादिसङ्ख्यावेदिष्वद्वितीयोऽभूत्। निघण्ट्वादिवैद्यके आदान-निदानादिवैद्यक्रियासु च अनवद्यमतिरिति ख्यातः। सर्वौषधयोगप्रयोगेषु प्राप्ताम्नायो जातः। जल्पनकेलिष्वनल्पबुद्धितयाऽबाध्योत्तरः। गूढश्लोकार्थमगूढमिव प्रकटयति। नाटकग्रन्थकषपट्टेषु मतिहाटकं घृष्ट्वा समुद्द्योतितम्। अन्तर्धानादिविद्यायां सावधानतया सर्वाम्नाय आत्मसात्कृतः। औषधि-रस-रसायन-मणिपरीक्षायां शीघ्रं गुण-दोषान् वक्ति। मन्त्र-तन्त्र-यन्त्रादीन् आमूलचूलतो वेत्ति। चूडामण्यादिनिमित्तशास्त्रेषु स्वोपज्ञशास्त्रमिवाऽस्खलितं वक्ति। उत्तालेन्द्रजालविद्याया हार्दं सहजमिव प्रकटयति। वसन्तराजादिशकुनशास्त्रेषु दृष्टिपथाऽवतीर्णमात्रेषु भूतभविष्यत्पदार्थभवनं साभिज्ञानपूर्वं कथयति। सङ्गीत-च्छन्दःशास्त्रार्थनिर्णयं सवर्ण-मान-ताल-मात्रानुभावं प्रस्तारादींश्च विशदरीत्या प्रकाशयति। समस्तरागार्णवपारीणः। अतिसुस्वरनामकर्मोदयात् सकलजनमनोवशकारकं लयं[2]-मूर्च्छना-रसयुक्तं गीतगानं विदधाति, येन वनस्थाः[3] करिहरिणादयोऽपि निःशङ्कतया बहुजनसङ्कुलितनगरे समागच्छन्ति। गजाऽश्वपरीक्षासु तेषां दमनशिक्षासु चाऽति-

१. कवित्तेषु प्र०। २ एतादृशं लय–प्र०। ३. वनस्थहरिणकरिण्यादि निः–प्र०।

कुशलो जातः। मल्लयुद्धक्रियासु मर्मज्ञतया कल-बलेन प्रतिमल्लपराजयकुशलो जातः। धनुरादिशस्त्रक्रियासु परिकर्मितमतितया बुद्धिप्रागल्भ्येन च हेलया प्रतिभटं जयति। चक्रव्यूह-गरुडव्यूह-सागरव्यूहादिस्कन्धावारनिवेशनैककुशलः, येन शत्रुः पराभवं कर्तुं न शक्नोति। व्यापारे गान्धिकवणिजां विविधक्रयाणके क्रयविक्रयकलासु दक्षो जातः। सौगन्धिकेऽतिचतुरतया गन्धपरिकर्मणि परस्परं संयोगादीन् जानाति। दूष्य[1]वाणिज्येऽदूषितमतिरभूत्। मणिरत्नवाणिज्ये गुणदोषज्ञतया समस्तरत्नवणिग्भिः प्रमाणितः। सुवर्ण-वाणिज्ये सुवर्णरूप्यवणिग्भिर्वर्णितः। मणिकारवाणिज्ये नानादेशोद्भवानि वस्तूनि गुण-दोषप्रकटनपूर्वं चोपलक्ष्य गृह्णाति, ददाति च। सार्थवाहकर्मणि सोत्साहः साहसः, नानादेशाऽऽचार-भाषा-मार्गकुशलतया सांयात्रिकान् सुखेन ईप्सितस्थानं प्रापयति। राज-सेवायां सर्वावसरसावधानतयाऽवसरोचितवाक्पटुत्वेन च राज्ञामतिवल्लभो भवति। देवताभक्तिषु दृढधैर्यः, समस्तदेवपूजनविधिकु-शलत्वेन स्वल्पकालेन देवानां प्रसत्तिकारकोऽभूत्। प्रधानमन्त्रिकर्मणि अत्युग्रबुद्धितया राज्ञश्चित्ताभिप्रायं वेत्ति, छल-बलेन राज्यं च रक्षति। योगक्रियासु यम-नियमा-ऽऽसनादीनि योगाङ्गानि सप्रभेदेन जानाति। औत्पत्तिक्यादिभिर्बुद्धिभिर्विबुधमनोरञ्जको जातः। समस्तनीतिषु विनीतश्च शोभते। किं बहुजल्पितेन? सर्वविज्ञानपारगो जातः। समस्तानां कलानां तेजसां यशसां विविधगुणानां धिषणानां च स कुमारः प्रियमेलकतीर्थरूपो ज्ञेयः। गुणैर्बालभावेऽपि वृद्ध इव भाति। क्रमेण बालत्वमतिक्रम्य तरुणीहरिणीक्रीडा-वनं यौवनं प्राप्तवान्। अथ जन्मसमयादारभ्य धनसारश्रेष्ठिगृहे धन्यकुमारभाग्यानुभावतः सर्वतो धनधान्यादिलक्ष्मीवृद्धिमगात्, तदा जनकः सर्वतो लक्ष्मीवृद्धिं दृष्ट्वा कोटिजनानां पुरतो धन्यकुमारवर्णनं करोति, नीतिषु निपिद्धमपि गुणैराकृष्टो जनकः प्रतिक्षणं

१ —वणिजा प्र०।

वर्णयति। यदुक्तम्—

"प्रत्यक्षे गुरवः स्तुत्याः, परोक्षे मित्रबान्धवाः। कर्मान्ते दासभृत्याश्च, पुत्रा नैव मृताः स्त्रियः" ॥१॥

"यद्दिनतोऽसौ पुत्रो जातस्तद्दिनतोऽस्मद्गृहे मन्त्राकर्षितेव लक्ष्मीः सर्वतो वृद्धिं प्राप्ता। समस्तपौरजनानां चित्तचौरा अस्य पुत्रस्य गुणाः केनापि निपुणेन न गणयितुं शक्याः। केनापि पूर्वजन्मकृतभाग्योदयेन मद्गृहे सुरद्रुणाऽमुना पुत्ररूपेणाऽवतारो जगृहे"। इत्यादिबहुभिः प्रकारैर्यथा यथा धन्यगुणवर्णनं करोति तथा तथा त्रयोऽग्रजा धन्यस्तुत्य(तिम)सहमाना ईर्ष्यया ज्वलन्ति। ततस्ते ज्वलितान्तःकरणाः प्रकोपवह्नौ स्नेहबहुलामाहुतिं विधायोत्तम्भितभुजा धनसारं पितरं समाहूय सगर्वमिति प्राहुः-हे तात! वयं नानापण्यैकपात्रं यानपात्रं भृत्वा सागरं मत्स्यजातीयग्राहा इव पुनः पुनरवगाहामहे। तथा पुनः पुनर्विविधदेशान् पर्यटामः। साहसं धृत्वा द्रविणपूर्णान् शकटान् भृत्वा दुस्तरामटवीमटामः, पथिगतशीतादिक्लेशान् सहामहे। तथा ग्रीष्मार्कतापितक्षेत्रे क्षेत्रारम्भान् कुर्महे, दारिद्र्यकणपिष्टिघरट्टकान् अरघट्टांश्च खेटामहे। चतुष्पथे विपणिवाणिज्यं कुर्महे। अनेकेषां वणिजामुद्धारके द्रव्यं द्रव्यक्रयाणकं वा दद्महे, अहर्निशं तेषां लेख्यककष्टं सहामहे, प्रतिदिनं तेषां गृहे लभ्यग्रहणार्थमुद्ग्राहिकां कुर्महे, विविधवचनरचनाप्रकारैर्लभ्यं लात्वा गृहभारनिर्वाहं कुर्महे। तथा सामन्त-भूपादिभ्यो दत्तं धनं विविधकलाकष्टेन लभामहे। राजद्वारे चतुरज्ञायां सभायां विविधाशयगर्भितानां वितर्ककर्कशानां वाचां प्रत्युत्तरं दत्त्वा चतुरजनमनांसि रञ्जयामः। दुर्जनरूपग्राहजीवैर्दुस्तरां पारवश्यरूपकल्लोलैर्दुर्धरां रेवानदीं मतङ्गजा इवा राजसेवां भजामः। एवमनेकान् अर्थोपायान् विधाय श्रियं कोटीमानयामः। इत्याद्यस्मत्कृतोद्यमं कष्टमवगणय्य एतादृशं धन्यकुमारं प्रशंससि। तथाहि-अद्यापि निर्लज्जः सन् बालक्रीडनान्न विरतोऽस्ति। व्यापारोद्यमस्तु दूरे, परन्तु

सुलभानि गृहकार्याणि स्वभाजन-वस्त्रादीनि स्थाने न करोति। लेखनादिक्रियास्वपि नाऽतिलालसः। स्वगृहागतानां सज्जनादीना-मुचितप्रतिपत्तिं कर्तुं न जानाति। तथापि काप्यनुत्तरा तव मूढता, यदेष धन्यः पुनः पुनः श्लाघ्यते, गृहभारोद्यमधुरां वहन्तो वयं च निन्द्यामहे। यः पुमान् सदसद्व्यक्तिं कर्तुं न जानाति स कस्य न हास्यो भवति?। यदुक्तं लोकेऽपि—

"काके कार्ष्ण्यमलौकिकं धवलिमा हंसे निसर्गस्थितिर्गाम्भीर्ये महदन्तरं वचसि यो भेदः स किं कथ्यते?।
एतावत्सु विशेषणेष्वपि सखे! यत्रेदमालोक्यते, के काकाः खलु के च हंसशिशवो? देशाय तस्मै नमः" ॥१॥

हे तात! त्वयैव वयं प्रौढपदे स्थापिताः, अधुना पुनर्महेभ्यानां पुरतो धन्यकुमारस्यैव गुणवर्णनाद् वयं विगोपिताः। धन्यस्य वर्णनेन गुरुंकुर्वन् अस्मान् लघयसि, यथा तुलायामेकं चेलं गुरूक्रियते तदाऽपरं लघु स्यात्। हे तात! सर्वेष्वपि पुत्रेषु तव तुल्यं वात्सल्यमुचितं, यथा सर्वेषु तटवृक्षेषु सरसः सलिलं भवति। पुत्राणां सम एव गुणाधाने पिता उचितज्ञानां पुरुषाणां रेखाप्राप्तो भवेत्, यथा महाव्रतानां सर्वेषां सविधिपूर्वकं समाने पालने व्रती रेखाप्राप्तो भवति। तथा च, हे तात! शास्त्रे पुत्रस्य गुणस्तु-तिर्निषिद्धा सा त्वया क्रियते, यतस्त्वमेव वद, निषिद्धसादृतिः कस्य यशसे भवति?। पित्रा यो बहुतरवर्णन-लालनादिनोच्छृ-ङ्खलितः पुत्रः स कुटुम्बक्षयकारी स्यात्। काष्ठजोग्निः किं काष्ठानि न दहति?। हे तात! त्वया धन्ये काऽधिकता दृष्टा? अस्मासु पुनः का न्यूनता दृष्टा येनाऽहर्निशं दैवतस्येव धन्यगुणवर्णनं करोषि?। हे तात! यदि मिथः स्नेहलता वर्द्धमाना इष्यते तदा त्वया धन्यप्रशंसाऽविरतः परं नोज्ज्वाल्यः, समदृशा च भाव्यम्। एवं पुत्राणां वचः श्रुत्वा कुपितान् पुत्रान् प्राह—हे वत्साः! यूयं गड्डुल-जलाशयवद् मलिनाशयाः, मत्सामकतकफलैः स्वच्छाः सम्प्रति भवत। भो पुत्राः! हंसस्येव शुचेर्विशुद्धोभयपक्षस्य मम कुत्रापि

सदसद्व्यक्तिमूढता किं दृष्टा ?। गोपादारभ्य भूपालं यावत् सर्वेष्वपि जनवृन्देषु मे-मम सुसमीक्षितकारिता विख्याताऽस्ति, अतः परीक्षणकुशलेन मयाऽस्य सन्तो गुणाः स्तूयन्ते। यदि गुणव्रति जने मौनं विधीयते तदा प्राप्ता गीर्निष्फला भवेत्, अतः कारणाद् गुणिनोऽस्य पुत्रस्य निषिद्धामपि स्तुतिं कुर्वे। भोः पुत्राः! प्राग् अस्मद्गृहे लक्ष्मीस्तथा नाऽभवत् यथा धन्ये जाते श्रीरस्ति, तस्मात् श्रीवर्द्धने एष धन्य एव हेतुरन्वय-व्यतिरेकतो ज्ञेयः। भोः पुत्राः! यथा चन्द्रोदय एवाऽम्भोधिवेलावृद्धिहेतुः, सूर्यादेवाऽम्बुजोल्लासः, वसन्त एव पुष्पोद्गमहेतुः, बीजादेवाऽङ्कुरोद्गमः, सुभिक्षं जलदादेव, धर्मादेव जयो नृणाम्, तथा एतन्निर्णीतं जानीत, नः-अस्माकं धन्यादेव श्रियो वृद्धाः। यादृशं भाग्यं सौभाग्यं च, यादृशी च बुद्धेर्विशुद्धता एकं तं धन्यपुत्रं मुक्त्वा किमु कुत्रापि दृष्टा? नान्यत्रेति भावः। भो पुत्राः! वः-युष्माकमसद्वचने यदि प्रत्ययो नास्ति तदा मदर्पितधनैर्वाणिज्यं कृत्वा स्वस्वभाग्यानि पश्यत। समानेऽप्युद्यमे यथाभाग्यं फलं भवति। पूर्णे भृतेऽपि तटाके घटे घटमात्रं जलमागच्छति। इत्युक्ताः श्रेष्ठिना आरोग्यार्थिन इष्टं वैद्योपदिष्टं चौषधमिव प्रतिपेदिरे। व्यवसायकृते चतुर्णामपि पुत्राणां त्रिंशतं त्रिंशतं स्वर्णमाषकान् दत्त्वा इत्युवाच-भोः पुत्राः! एतान् स्वर्णमाषकान् लात्वा पृथक् पृथग् दिने व्यवसायं कृत्वा स्वस्वभाग्यानुसारिलाभं लात्वा तेन लब्धधनेन कुटुम्बस्य भोजनं देयम्।

अथ प्रथमं वृद्धपुत्रस्तत् त्रिंशत्स्वर्णमाषकपरिमितं धनं लात्वा व्यवसायमसूत्रयत्। तेन महत्युपाये कृतेऽपि स्वल्प एव लाभोऽभूत्, यतः प्राणिनां कर्मोदयसदृशं फलं, न तु प्रक्रमानुरूपम्। अथ तेन व्यवसायप्राप्तधनेन बुभुक्षाभञ्जनमल्लान् वल्लान् तैलं च लात्वा स्वकुटुम्बमभोजयत्। अथ द्वितीयदिने द्वितीयो भ्राता स्वोपार्जितद्रव्येण चपलाख्यधान्येन कुटुम्बं पुपोष। एवं तृतीयदिने तृतीयो भ्राता तद्द्रव्यव्यवसायलब्धद्रव्येण यथाकथञ्चित् कुटुम्बं भोजयामास। अथ चतुर्थे दिने जनको धनकोट्यर्जनसज्जं धन्यकुमारं

प्रति त्रिंशतं स्वर्णमापकान् ददौ। धन्योऽपि च जनकदत्तं स्वर्णं गृहीत्वा आषाढमेघवद् धनजीवनमर्जितुं चतुष्पथाम्भोधिं गतः। तत्र शुभशकुनैः प्रेरितो महेभ्यस्य महेश्वरस्य हट्टे भाग्यवशाद् व्यवसायार्थं जग्मिवान्। तदा तत्र महेश्वरः स्वमित्रलेखं प्रेष्यकरागतं गोप्यं कृत्वा उन्मुद्र्य मौनेनैवमवाचयत्। पत्रलिखितं यथा—"स्वस्तिश्रीप्रतिष्ठानपत्तने परमसुहृदं महेश्वरं प्रति सार्थस्थानाद् मित्राभिधो वणिक् प्रीतिपात्रं क्षेमपात्रं च निशदीकृत्य लिखति प्रणामश्च वाच्यः, अपरं चाऽत्र सुखं वर्तते, भवदीयं सुखपत्रं प्रेष्यम्। तथा कार्यमथोच्यते—उत्तरापथतः पयोवाह इवोन्नतः सार्थवाहोऽगण्यपण्यभृतशकटादिभिः सहागच्छति। पुनस्तत्रैव जिगमिषुरस्ति। हे बान्धव! दत्तदारिद्र्यप्रयाणानि क्रयाणकानि बहुतराणि महेभ्यार्हाणि सन्ति। किञ्च, असौ सार्थवाहः स्वल्पलाभेऽपि स्वक्रयाणकं कुतोऽपि कारणाद् विक्रीय स्वस्थानं गन्तुमुत्सुकः। तस्मात् कारणाद् मित्र! त्वया सार्थवाहस्य सम्मुखं शीघ्रमागम्य क्रयाणकस्य सत्यङ्कारो विधेयः, तव मम च महान् लाभो भविष्यति। एवंविधव्यतिकरगर्भा लेखा बहवः पुरा मया त्वां प्रति लिखिताः सन्ति, परन्तु त्वया नैकमपि प्रतिपत्रं प्रेषितम्। अथवा मल्लिखितो लेख एकोऽपि त्वद्धस्ते स्वर्णनिधिवन्न प्राप्तो भवति, अतः शीघ्रमागन्तव्यमिति"। इत्येवं वाचयित्वा मनसि लेखार्थं चाऽवधार्य अनार्यवत् प्रभातेऽपि क्षुधार्तोऽसौ चेतस्येवं चिन्तयति—"भाग्यैकलभ्याऽगण्यपण्याढ्यः सार्थ आसन्न आगतः, परमद्यापि व्यवसायाग्रपरेण परेण नागरिकवणिजा केनापि न ज्ञातोऽस्ति तावत् क्षुधार्दितोऽहं गृहे गत्वा, भुक्त्वा, स्वस्थचित्तो भूत्वा, यतः 'स्वस्थे चित्ते बुद्धयः सम्भवन्ति' इति न्यायात् 'धीसाध्यं च क्रयाणकादिकं,' पश्चाद् दूरतरं गत्वा, सार्थवाहस्य जोत्कारादिशिष्टाचारं कृत्वा एकाक्येवाऽखिलानि क्रयाणकानि ग्रहीष्यामि। क्रीतैश्च क्रयाणकैरेतैर्महान्

१ सहागतः प्र०।

मानो भूयो भविष्यति, यतोऽत्र पुरे कस्यापि हट्टे ईदृशं क्रयाणकं नास्ति"। एवं विचिन्त्य महेश्वरो भोजनाय गृहं गतः। यस्माद् [illegible]त्वाद् इव सर्वं क्षुधा बाधते। अथ महेश्वरकट्टलिनो धन्योऽपि स्वच्छभूर्जपत्रे स्पष्टप्रतिबिम्बितां वर्णावलिं गोपिताकारस्तीक्ष्ण-बुद्धित्वात् वाचयित्वा इति विचिन्तयति—"अहो अस्य विचारमूढस्य मूर्खता!। यतो जयसेन रहो ज्ञापितोऽपि लेखं वाचयित्वा भोजनाय गतः। एतादृशी वणिजां गतिर्न भवति। अतो यावदसौ गृहाद् भुक्त्वा नागच्छति तावत् पूर्वं सार्थमध्ये गत्वा तत्पण्य-[illegible] कुर्वे, ततः [illegible] एव प्रोक्तः"। इति ध्यात्वा स गृहे गत्वा स्फारशृङ्गारं कृत्वा तुरङ्गममारुह्य स्वयोग्य-मित्र—सेवकैः सार्थसम्मुखं प्राचलत्। सोऽथ प्रथमयामार्धे चतुरायां भुवं गत्वा पथि सार्थस्य सार्थाधिपस्य चाऽमिलत्। तत्र कुश-लवार्तां विधाय धन्यः सार्थेशं पण्यस्य भाण्डस्वरूप—सङ्ख्यादि पप्रच्छ। तदा स सार्थेशोऽपि यथास्थितं कथितवान्। ततो धन्येन सार्थेशं प्रति पण्यक्रयाशयो ज्ञापितः। श्रेष्ठिनापि स्वकल्पसंज्ञाभिः सार्थिकैः समित्रैः सह परिभाव्य क्रयाणकमूल्यमुक्तम्, धन्येनापि स्वीकृतम्। धन्यकुमारः पण्यस्य भव्याभव्यपरीक्षणाय प्रतिक्रयाणकमल्पमल्पं दृष्टिगोचरं कृत्वा तत्सर्वं हस्ततालदानेनात्मसाच्चक्रे। सत्यङ्कारे स्वकीयां मणिमुद्रिकां दत्त्वा निश्चिन्तो बभूव।

अथ च महेश्वरश्रेष्ठी स्वगृहे भोजनं कृत्वा गमनोत्सुकः, तथा परेऽपि नैगमाः सार्थागमं ज्ञात्वा गन्तुमनसो महेश्वरेण सार्धं सार्थसम्मुखं चेलुः। मार्गे गच्छतां सार्थेशः सार्थवृतो मिलितः। परस्परं जोत्कारादिशिष्टाचारं कृत्वा सुखक्षेमवार्तां च संपृच्छ्याऽथ तेन नैगमेन महेश्वरेण सार्थनायकं प्रति क्रयाणकग्रहणाशयो ज्ञापितः। ततः स सार्थनायकः स्मित्वा महेश्वरादिनैगमानित्युवाच—

[illegible]

"वः—युष्माकं भद्राणि भवन्तु। परन्तु किं कुर्वे ?, पूर्वमेवैतत् क्रयाणकं धन्यस्याऽस्य मयाऽर्पितम्। मयाऽस्य सत्यङ्कारोऽपि नाऽग्राहि। इत्येवं विहितनिर्णयश्चेदन्यथा कुर्वे तदाऽपकीर्तिर्भवेत्"। महेश्वरमित्रेणाप्युक्तम्—"मया तु प्रागेव युष्माकं लेखो मोचितः, परं युष्माभिः प्रमादवशैरवसरो न ज्ञातः, तदा किमस्माकं दूषणम् ?। अधुना तु धन्यमेव साधयतु भवान्, कमपि उचितलाभं दत्त्वा क्रयाणकं गृह्णातु चेत्तदापि भवतो महान् लाभो भविष्यति"। इति श्रुत्वा स नैगममहेश्वरो धन्यकुमाराभ्यर्णं गत्वेत्युवाच—"भोः पुण्यनिधे ! भवता गृहीतं क्रयाणकमस्मानर्पय, लाभस्य च हेमलक्षं गृहाण, यथाऽस्मदागमनं सफलं भवति, तव चाऽनायासेन लक्षप्राप्तिर्भवति। तथाऽमीषां महेभ्यानां लज्जां रक्षतु भवान्, एवं कृते युष्माकं धन—यशसोर्लाभो भविता, वयं च चिरं त्वदुपकारं गणयिष्यामः"। अथ स्थूललक्ष्यशिरोमणिर्धन्यः पूर्णमनोरथोऽपि इत्यादीनि चाटुवचनानि श्रुत्वा सहर्षमेवमुक्तवान्—"गृह्णीत क्रयाणकम्। अस्मिन् क्रयाणके लाभस्तु महानस्ति, परन्तु लक्षमात्रमेव ददस्व। युष्मादृशानां वृद्धानां वाक्यं किमु विफलं करोमि ?। कुलजानां तु वृद्धानां विनय एवोचितः"। एवं सामवचनैः सर्वान् हर्षमुत्पाद्य तान् क्रयाणकपत्रं दत्त्वा लक्षधनं च लात्वा स्वगृहमागतः। पितुः प्रणामं कृत्वा तद्द्रव्यमग्रे मुमोच, व्यतिकरश्च निवेदितः।

अथ द्रव्यसहस्रव्ययेन भोज्यवस्तून्यमेलयत्, सूपकारैश्च विविधद्रव्यसंयोगेन विविधद्रव्यसंस्कारपूर्विकां विविधां रसवतीं कारयामास। ततो ज्ञाति-स्वजन-मित्रादींश्च निमन्त्रयामास, तेऽप्यायाता यथास्थानं सर्वे भोक्तुमुपाविशन्। तत्र प्रथमं कुलबालिकाः स्वादुफलानि नारङ्गादीनि खर्जूरद्राक्षादीनि च पर्यवेषयन्, तानि फलान्यास्वादयन्तो धन्यगुणवर्णनं कुर्वाणा विविधरसतृप्तिं गताः। ततः सुस्वाद्यान् चित्तमोदकारकान् मोदकान् विविधराजद्रव्ययुतान् पर्यवेषयन्। ततो घृताऽऽन्वितान् स्वगर्वितः स्वर्गात्

च्युतानिव विधुमण्डलसदृशान् शुभ्रान् आमोदपूरकान् घृतपूरान् पर्यवेषयन् । ततो माधुर्यरसातुरतामेटकान् नटनागरगोटकानिव गलरन्ध्रे प्रविश्य गटकेतिशब्दपाठकान् अत्युज्ज्वलान् पेटकान् पर्यवेषयन् । तत आहारशरीरोष्मोद्भूततृष्णातप्तखण्डकान् श्रीखण्डकान् मन्दाकिनीपुलिनगतसिकतोपमखण्डामण्डितमण्डकान् पर्यवेषयन् । ततो माधुर्यरसप्लाविताऽन्तःकरणानाम् आहारशक्तिमन्दताचूरिका लवण-हरिद्रा-मरिचकादिद्रव्यभूरिका अत्युष्णाः पूरिकाः, तथा समस्तरसमिश्रितानि खर्जूरादीनि पर्यवेषयन् । ततः सुरभि-शुभ्र-सुकुमार-सच्चिकण-सुक्षेत्रादिगुणयुतान् खण्ड-कलम-शालिजातीयान् तण्डुलान्, रोचकोत्पत्तिसमुद्रकान् मुद्गान्, तथा नागरजनप्रीत्यै पीततूवरीदालिं च पर्यवेषयन् । ततोऽतिपरिमलप्राज्यानि आज्यानि, तथाऽष्टादशसंस्कारभेदैर्विभिन्नानि व्यञ्जनानि च पर्यवेषयन् यथास्थाने । ततो भुक्तिसुभ्रुवो हास्यस्य संरम्भानिव करम्भान् पर्यवेषयन्[1] । एवंविधविविधभुक्तियुक्तिभिर्हृष्टा सर्वेऽपि स्वजना बुभुजिरे । ततो भोजनोत्तरकाले ताम्बूलैर्मुखशोभां च भेजिरे । ततः स्वजन-ज्ञातीयादिजना धन्यगुणवर्णनं कुर्वाणाः स्वस्वगृहं गताः ॥

ततः शेषद्रव्यव्ययेन भ्रातृजायानां विविधान्याभरणानि व्यधापयत् । तद्यथा—हारा-ऽर्धहार—त्रिसर-पञ्चसर—सप्तसर—नवसरा-ऽष्टादशसरादीनि, तथाऽपराणि कनकावलि-रत्नावलि-मुक्तावलिप्रमुखाणि कटिकण्ठ-कर्णकरादिषु च शोभनानि आभरणानि कारयित्वाऽर्पितानि । ततो भ्रातृजायाः समुदिता मुदिता देवरं प्रति जगुः—, 'हे देवर ! अस्मत्पूर्वकृतैः पुण्यैरेव त्वमवातरः । अहो भवतः सौभाग्यभङ्गी । कटरेऽद्भुतं भाग्यम् ! अहो तव लक्ष्मीणामवन्ध्यबीजं वाणिज्यकौशलम् ! अहो तव सर्वक्रियानिपुणत्वेऽपि मृदुता ! अहो तव लघुवयस्यापि वृद्धानुकारिणी गतिः ! । हे देवर ! त्वं चिरं जीव, चिरं नन्द, चिरं जय, चिरमस्मान् पालय, चिरं

१ ततोऽधिकसंरम्भारम्भानिव हास्यकरकरंभान् प्र० ।

स्वजनान् रञ्जय, चिरं स्वकीयसच्चरित्रेण पवित्रय निजवंशम्"। एवं स्वस्वकान्ताभिः अत्यद्भुतगुणस्तुतिं कृतां निशम्य धनदत्तादयो बान्धवा ईर्ष्यालवोऽभवन्। अथ पिता तेषां मत्सरितानि वाक्यानि श्रुत्वा पुत्रानित्युवाच—"हे वत्साः! न तत् साधुजनोचितं यद् गुणेषु मत्सरित्वम्। शास्त्रेऽप्युक्तम्—ज्वालामालाकुले वह्नौ निहितं स्वशरीरं वरम्—युक्तम्, परन्तु गुणसम्पन्ने पुरुषे स्वल्पमपि मात्सर्यकरणं न युक्तम्। यतो निष्पुण्याः पुरुषाः पुण्याढ्यस्य पुरुषस्य महोऽग्निना अतिशयेन दह्यमाना भाग्यहीनाः तत्पथं गन्तुमसमर्थाः पदे पदे विभाव्यन्ते, प्रस्खलन्तीत्यर्थः। आसतां दूरे गुणिनो यैरशेषभूतलं भूषितमस्ति पृथिवीतलं मण्डितमस्ति पुनर्येषां गुणानुरागोऽस्ति तेऽपि पुरुषा जगत्त्रये पूज्याः सन्ति। भोः पुत्राः! गुणद्वेषात् पूज्योऽपि अपूज्यः स्यात्, गुणरागी तेजोहीनोऽपि पूज्यो भवति। अत्र गुणराग-द्वेषविषये एको मुनियामलदृष्टान्तोऽस्ति; स श्रूयताम्। तथाहि—

गुणराग—द्वेषविषये पार्श्वस्थमुनियामलदृष्टान्तः

पुरा एकः कोऽपि गोपितेन्द्रियचापल्यः तपसा कृशशरीरो ज्ञानार्णवपारीण उद्भूतभवभीतिर्मुनिरभूत्। स मुनिरन्यदा कस्मिंश्चिद्दिने गोचरचर्यायां भिक्षार्थं नगरे भ्रमन् ईर्यासमितोऽक्षुब्धमानसो नित्यमप्रमत्तः कस्या अपि स्त्रियाः सद्मनि गतः। स्त्रीणामनेकहाव-भाव-विभ्रम-कटाक्षादिविलासदर्शनैरपि अक्षुब्धमनाः कूर्म इव गोपितेन्द्रियो गृहे प्रविष्टः सन् धर्षिताऽरातिर्महर्षिः जगति कल्पद्रुमाभां 'धर्मलाभ' इति गिरं वितरन् उचितदेशे स्थितः। ततो गृहमध्ये स्थिता युवतिस्तम् ऋषिराजमागतं दृष्ट्वा धर्मस्पृहावती निर्मायबुद्धिर्भैक्षं करे कृत्वा हर्म्याद् बहिर्यावता आययौ तावताऽसौ मुनिस्तं भैक्षम् अलाभवशादन्यतो गतः। ततः सा श्राद्धी अदत्तं मुनिं गतं दृष्ट्वा हताशा स्वं भाग्यं निन्दन्ती खेदं चकार। अथ तत्रैव क्षणान्तरे दैवयोगेन एको गुणरागवान् वेषमात्रधरः साधुरा-

गतः। पुनः सा श्राद्धी तमागतं दृष्ट्वा भैक्ष्यद्रव्यं करे कृत्वा मुनिं निमन्त्रयामास, मुनिरपि तद् भैक्षं कक्ष्यकरोत्। अथ सा श्राद्धी प्रथम-द्वितीययोर्मिथो विशेषं दृष्ट्वा एवमब्रवीत्–"भो ऋषे! यदि तव रोषोत्पत्तिर्न भवति तदा कमपि प्रश्नं प्रष्टुमिच्छामि"। ततो वेषमात्रधरो मुनिर्वाणीमभाणीत्–"हे कल्याणि स्वच्छमते! यथेच्छं पृच्छ, यतोऽहं रोषदोषशोषकरोऽस्मि, कस्यापि क्रोधोत्पादकं वचनं श्रुत्वा रोषं न करोमि"। अथ सा श्राद्धी अभ्यधात्–"त्वत्तः प्राग् एकस्त्वत्समः साधुरागतः, स मया दीयमानां भिक्षां दृष्ट्वा पश्चाद्गतः। पुनः क्षणान्तरे यूयमागताः, भिक्षा च गृहीता। एतस्मिन् युवयोर्वैषम्ये किं कारणम्"?। श्राद्ध्या एवमुक्ते सति स वेषमात्रधरः साधुः प्राह–"हे कल्याणि भद्रे! ते मुनयः प्राणिरक्षणपरायणा महात्मानः सनवब्रह्मगुप्तयः। ते च निर्ममा मुनय एतस्य धर्मगात्रस्य यात्रामात्रार्थं रूक्षं भैक्षमश्नन्ति। अन्ताहारं प्रान्ताहारं तुच्छाहारं उञ्छवृत्त्या समागतं इङ्गालधूमादिदोषरहितमश्नन्ति, न तु अतिस्निग्ध-मधुरादि। हे कल्याणि! नीचद्वारे अन्धकारेण गहने तव सदने अचक्षुर्विषये कृपालवो मुनयो भिक्षां न गृह्णन्ति, अतस्ते पश्चाद्गताः। 'अथ त्वया कुतो गृहीता'? हे भद्रे! यद्येवं पृच्छसि तदा शृणु–अहं पुनर्वेषमात्रोपजीवित्वात् श्रमणाभासः, न तु तात्त्विकः। हे कल्याणि! अग्रेतनसाधोर्धैर्यं क्व? यतः प्राणितेऽपि गतस्पृहः। ईदृग्गुणवतः सकाशाद् हीनसत्त्वो देहलालनलालसः पुनरहं कियन्मात्रः? कालहतद्विपस्य मृगाऽरातेरग्रे शृगालः कियन्मात्रः? मार्तण्डमण्डलस्याग्रे खद्योतोद्द्योतः कियन्मात्रः?। स तु तात्त्विकभावमुनिः सर्वगुणरत्नविभूषितः। हे भद्रे! अहं तु चञ्चापुरुषवद् नाममात्रधारको वेषाडम्बरेण उदरवृत्तिं करोमि, अतस्तस्य मम च मध्ये महदन्तरमस्ति"। एवमुक्त्वा सा श्राद्धी व्यचिन्तयत्–"अहो! धन्यौ इमौ द्वावपि वाचंयमौ। एकस्तावद् गुणरत्नरत्नाकरः, द्वितीयो हि गुणरागी, अतो द्वावपि श्लाघनीयौ। यत उक्तञ्च—

"नाऽगुणी गुणिनं वेत्ति, गुणी गुणिषु मत्सरी। गुणी च गुणरागी च, सरलो विरलो जनः" ॥१॥

"जगति प्रमादमोहितमतिर्लोकः पदे पदे स्वस्तुतेः परनिन्दायाश्च कर्ता दृश्यते, परन्तु परस्तुतेः स्वनिन्दायाश्च कर्ता कोऽपि न विद्यते"। एवं तयोर्गुणानुमोदनं कुर्वती स्थिता।

ईदृशेऽवसरेऽपर एकः कोऽपि विगोपितव्रतः पार्श्वस्थः श्रमणो भिक्षार्थमागतः। स कीदृशः?; गुणिषु प्रबलद्वेषः परच्छिद्रान्वेषी असूयाज्वलितहृदयः वेषमात्रोपजीवकः। तमागतं दृष्ट्वा तया श्राद्धया स्वगृहादन्नादिकमानीय स लिङ्गधारी प्रतिलाभितः। तदनन्तरं तया तथैव पूर्ववद् व्यतिकरं निवेद्य स पृष्टः। अथ स श्रमणधूर्तोऽब्रवीत्–"हे भद्रे! तौ महत्त्वार्थौ द्वावपि मया ज्ञातौ। तत्र प्रथमो मायाकार इव मायया जनमनांसि रञ्जयति, तथा चाऽपरो पटु–चाटुवचनपरो वनीपक इव मायया स्वदोषकथनादिरङ्ककलां कृत्वा सुखेन सदोदरं पूरयति, साधुत्वं च अन्यस्तुत्या प्रकटयति, परन्तु दम्भसमुद्रावेतौ। हे कल्याणि भद्रे! अहं तु दम्भसंरम्भवर्जितो निर्मायोऽस्मि, यथालब्धाऽन्नपानादिग्राही, परन्तु न प्रतिक्षणं प्रतिद्रव्यं दोषप्रच्छनादिकपटकदाग्रहकारी, सरलस्वभावेन प्रवर्ते। हे भद्रे! प्राग् मयाऽपि ईदृशी जनरञ्जनकारिणी मायां बहुशोभार्थं बहुशः कृता, भद्रकजनान् विप्रतार्य सोत्कर्षं संपूर्य भुक्ता च। तस्मादनयोर्वञ्चकत्वं मयाऽवधारितमस्ति। मया तु अस्मिन्न कश्चित् सारो दृष्टः, अतस्त्यक्तम्, सरलता चाऽङ्गीकृता"। एवमुक्त्वा गतो लिङ्गी। तदा स्फुरत्कोपा सा उपासिका हृदि एवं दध्यौ–"अहो! ईर्ष्यासङ्गी लिङ्गी कीदृशमसम्बद्धं वाक्यं प्रलपति? अतोऽनुत्सारितमात्सर्यं काञ्जिककुथितं श्रोतुमयोग्यम्। एकमेतस्य नैर्गुण्यं जगत्यपि न माति। अहो निष्कारणमस्येर्ष्यालुत्वं दृष्टम्!। यत आद्यो मुनिर्गुणिनामग्रणीः समस्तगुणरत्नानां भाण्डागारम्, द्वितीयः पुनर्गुणरागी गुणिनां गुणजल्पने शतमुखः, तथाऽशङ्कतया

स्वदोषप्रकटनपटुः, अतो लोके उभावपि शुभाशयौ, एतौ पूज्यतमौ ज्ञेयौ। तृतीयः पुनः पापीयान् दोषव्यापी गुणमत्सरी अदृष्टव्य-मुखः पूजादिकं नार्हति'। यथा तया श्राद्धया निर्गुणोऽपि गुणरागी गुणी च यथावत्पूजितौ नित्यं मत्सरिलिङ्गिनं च दूरतोऽत्यजत्, तथा वत्सा ! मात्सर्यदोषमुत्सार्य साधुवादकल्पलतां गुणरागितां भजध्वम्। एतादृशीं चारुगुणानुरागसम्बोधनीं धनसारवाचमाकर्ण्य त्रिभ्रातृवर्जस्वजना प्रमोदमधुः।

॥ इति श्रीतपागच्छाधिराजश्रीसोमसुन्दरसूरिपट्टप्रभाकरविनेयश्रीजिनकीर्तिसूरिविरचितस्य पद्यबन्धधन्यचरित्रशालिनः श्रीदानकल्पद्रुमस्य महोपाध्यायश्रीधर्मसागरगणिनामन्वये महोपा० श्रीहर्षसागरगणिप्रपौत्र–महोपा० श्रीज्ञानसागरगणिशिष्याल्पमतिग्रथितगद्य-रचनाप्रबन्धे भक्तदानाख्यप्रथमशाखायां स्वर्णलक्षोपार्जननामा प्रथमः पल्लवः ॥



ततः शुभलक्षणैः पूर्णं हुडं विज्ञाय पञ्चमाषकस्वर्णमूल्येन तं हुडं गृहीत्वा यावदायाति तावता राजमार्गे राजपुत्रः स्वर्णलक्षं पणीकृत्य स्वकीयं हुडमग्रे कृत्वा स्थितः। एवमन्येऽपि हुडयुद्धरसिकाः स्वस्वहुडं करे कृत्वा परितः स्थिताः सन्ति। अथ राजपुत्राऽग्रचारिपुरुषेणोक्तम्—'स्वामिन्! एष धनसारव्यवहारिपुत्रो हुडं गृहीत्वाऽऽगच्छति, अस्य पिता धनाढ्योऽस्ति, अत एनं सामवचनैस्तोषयित्वा अनेन सार्द्धं हुडहोडां कृत्वा लक्षधनं ग्रहीष्यामः'। इति मन्त्रणं कृत्वा सम्मुखं गच्छन्ति। धन्यकुमारं समाहूय भाषितः—'भो धन्यकुमार! अस्मदीयहुडेन स भवदीयो हुडो युद्धं कर्तुं समर्थश्चेद् लक्षद्रव्यपणेन युद्धं काराप्यते। यदि भवदीयहुडजयो भवेत् तदा लक्षस्वर्णं तव दास्यते, चेद् यद्यस्मदीयो जेष्यति तदा लक्षस्वर्णं भवत्पार्श्वाद् ग्रहीष्यामि'। इति राजकुमारोक्तं श्रुत्वा चिन्तितम्—'सर्वलक्षणसम्पूर्णो दुर्बलोऽपि मम हुडो युद्धे जेष्यति, अतो लक्षधनमागतं कथं मुञ्चामि'?। इति निश्चित्य राजहुडेन सह तं हुडं योधयामास। ततो भाग्याधिकस्य धन्यस्य सर्वाङ्गलक्षणपूर्णेन हुडेन जितम्, स्वर्णलक्षं च गृहीतम्, यतो द्यूते युद्धे रणे वादे यतो धर्मस्ततो जयः। अथ राजकुमारश्चिन्तयति—'अहो अस्य दुर्बलेन हुडेन मम हुडो जितः!। कस्मिन्नपि देशे उत्पन्नः सुलक्षणपूर्णोऽयं हुडश्चेद् यदि मया गृह्यते तदाऽन्यदीयान् हुडान् जित्वाऽनेकलक्षान् समुपार्जयामि'। इति विचिन्त्य राजपुत्रो धन्यं प्रति प्राह—'भवदीयोऽयं हुडोऽस्मद्योग्योऽस्ति। भवादृशां महेभ्यानामीदृशं पशुपालनं प्रशस्तं न। हुडखेलनादि राजपुत्राणामेव घटते न तु व्यापारिणाम्, अत इमं हुडं यथालग्नम् इच्छापूर्वकं वा मूल्यं गृहीत्वाऽस्मान् देहि'। ततो धन्येन राजकुमारोक्तं श्रुत्वा विचिन्तितम्—'यत इयं हुडयुद्धादिक्रिया महेभ्यपुत्राणां यशस्कृन्न भवति, अतो यदीप्सितं मूल्यं दत्त्वा गृह्णाति चेद्ददामि'। इति सम्प्रधार्य धन्यः स्मित्वा इत्युवाच—'हे स्वामिन्! अयं हुडः समस्तलक्षणैरन्यूनोऽस्ति, महत्या गवेषणया लब्धः, बहुतरधनव्ययेन गृहीतः स कथं

ततः सुवर्णैः एनं कुर्कुटं विलोक्य पञ्चमासकस्वर्णमूल्येन तं कुर्कुटं गृहीत्वा यावदायाति तावता राजमार्गे राजपुत्रः स्वर्णलक्षं पणीकृत्य स्वकीयं कुर्कुटं करे कृत्वा स्थितः । एवमन्येऽपि कुर्कुटयुद्धरसिकाः स्वस्वकुर्कुटं करे कृत्वा परितः स्थिताः सन्ति । अथ राजपुत्राऽग्रनारिपुरुषोऽकथयत्—'स्वामिन् ! एष धनसारश्रेष्ठिपुत्रो कुर्कुटं गृहीत्वाऽऽगच्छति, अस्य पिता धनाढ्योऽस्ति, अत एनं सामवचनैस्तोषयित्वा पणेन सार्धं कुर्कुटं कृत्वा लक्षधनं ग्रहीष्यामः' । इति मन्त्रणं कृत्वा सम्मुखं गच्छन्ति । धन्यकुमारं समाहूय भाषितः—'भो धन्यकुमार ! अस्मदीयकुर्कुटेन सह भवदीयो कुर्कुटो युद्धं कर्तुं समर्थोऽस्तु, लक्षद्रव्यपणेन युद्धं कार्यते । यदि भवदीयकुर्कुटजयो भवेत् तदा लक्षद्रव्यं तव अर्पये, चेद् मामकीनो जयति तदा लक्षस्वर्णं भवत्पार्श्वाद् ग्रहीष्यामि' । इति राजकुमारोक्तं श्रुत्वा चिन्तितम्—'सर्वलक्षणसम्पूर्णो कुर्कुटोऽपि मम कुर्कुटो युद्धे जेष्यति, अतो लक्षधनमागतं कथं मुञ्चामि' ? । इति निश्चित्य राजकुर्कुटेन सह तं कुर्कुटं योधयामास । ततो भाग्याधिक्येन धन्यस्य सर्वाङ्गलक्षणपूर्णेन कुर्कुटेन जितम्, स्वर्णलक्षं च गृहीतम्, यतो द्यूते युद्धे रणे वादे यतो धर्मस्ततो जयः । तत्र राजकुमारश्चिन्तयति—'अहो अस्य दुर्बलेन कुर्कुटेन मम कुर्कुटो जितः ! । कस्मिन्नपि देशे उत्पन्नः सुलक्षणपूर्णोऽयं कुर्कुटो यदि मया गृह्यते तदाऽन्यदीयान् कुर्कुटान् जित्वाऽनेकलक्षान् समुपार्जयामि' । इति विचिन्त्य राजपुत्रो धन्यं प्रति प्राह—'भवदीयोऽयं कुर्कुटोऽस्माकं योग्योऽस्ति । भवादृशां श्रेष्ठिनामीदृशं पशुपालनं प्रशस्तं न । कुर्कुटखेलनादि राजपुत्राणामेव घटते न तु श्रेष्ठिसुतानाम्, अत इमं कुर्कुटं यथारुचम् उल्लासंकं वा मूल्यं गृहीत्वाऽस्मभ्यं देहि' । ततो धन्येन राजकुमारोक्तं श्रुत्वा विचिन्तितम्—'यद् इमं कुर्कुटमर्पयिष्ये नरेन्द्रपुत्राणां चमत्कारो भवति, अतो यदीप्सितं मूल्यं दत्त्वा गृह्णाति चेद्दास्यामि' । इति सम्प्रधार्य धन्यः स्थितः प्राह—'हे स्वामिन् ! अयं कुर्कुटः समस्तलक्षणोपेतोऽस्ति, महता गवेषणया लब्धः, बहुतरधनव्ययेन गृहीतः स कथं

दीयते ?। परन्तु स्वामिवाक्यं दुर्लङ्घ्यं कथमन्तर्गडु क्रियते ? ततो लग्नं धनं दत्त्वा गृह्यताम्। भवदीये कार्ये चाऽधिकं पण्यं कर्तुं नोचितम्, अद्यदिनं यावद् लक्षाधिकं किञ्चिल्लग्नम्, अतो लक्षमात्रं दत्त्वा सुखेन स्वक्रीडापात्रं कुरुत'। राजपुत्रेणापि कुमारोक्तं पण्यं दत्त्वा हुडो जगृहे। यतो क्रायके सति वणिजोऽधिकं मूल्यं वर्धयन्ति, ग्राहकोऽपि स्वस्पृहातुरतया पीडावशतो लक्षेणापि तद् ग्राह्यं वस्तु अपेक्षते, न पुनः क्रयाणकरम्यताम्। स धन्योऽपि द्विलक्षलाभयुतो गृहं गतः। ततः प्रथमतो द्विगुणं लाभं दृष्ट्वा कीर्तिः प्रशस्तिश्च ववृधे। सर्वे स्वजनाः परां तुष्टिं जग्मुः, यतः अगेऽर्कवद् जगति उद्गत एव वन्द्यते। ततो बहुभिः प्रकारैः स्वजनैः परजनैश्च कृतां धन्यकुमारश्लाघां श्रुत्वा धन्याग्रजास्त्रयो मषिधानसमाऽऽनना बभूवुः। अथाऽसूयावतोऽपि तान् त्रीन् पुत्रान् पिता हितमेवं प्राह—'भोः पुत्राः! सौजन्यं संपदां बीजम्, दौर्जन्यं हि आपदां स्थानम्, अतो नयनिपुणैः सौजन्यमेव श्रयणीयम्। मूढोऽन्यसोदयं द्विषन् जने दौर्जन्यवादं लभते, चन्द्रद्रुहं राहुं किं बुधाः क्रूरं न कथयन्ति ?। कर्मैककर्तृके विश्वे विश्वेषां वाञ्छितं न स्यात्, भाग्यं फलति सर्वत्र, किमनया विडम्बनया ?। उक्तञ्च—

"मिलिते लोकलक्षेऽपि, येन लभ्यं लभेत सः। शरीरावयवाः सर्वे, भूष्यन्ते चिबुकं विना" ॥१॥

भाग्यं विना वरं वस्तु वृद्धेनापि न लभ्यते। यथा विष्णुनाऽब्धिमन्थने चतुर्दश रत्नानि लब्धानि, पुनर्वृद्धेनापि महेश्वरेण कालकूटं विषं लब्धम्। अतो भाग्यं विना शुभान्वयजातानामपि सौभाग्यं न भवति, अमृतादपि संजातः पङ्कः पादे लग्नः प्रमार्ज्य दूरतस्त्यज्यते। लोकेऽप्युक्तम्—

"अपि रत्नाकरान्तःस्थैर्भाग्योन्मानेन लभ्यते। पिबत्यौर्वोऽम्बुधेरम्बु ब्राह्मीवलयमध्यगम्" ॥१॥

भोः पुत्रा ! अत्युन्नतैः सहाऽसूया स्वविनाशाय भवति, मेघाऽसूयातः किमष्टापदजीवस्याऽङ्गभङ्गो न भवति ?। यः पुरुषोऽन्येषामुत्कर्षं दृष्ट्वा श्रुत्वा च मत्सरी भवेत् स दैवहतः पुरुषः पङ्कप्रिय इव दुःखभाजनं स्यात्। तथाहि—

ईर्ष्योपरि पङ्कप्रियकथा ।

जम्बूद्वीपे दक्षिणभरते शत्रुभिरयोध्या अयोध्या नाम नगरी प्रवसति स्म। तत्रेक्ष्वाकुवंशोद्भवो जितारिनामा राजा श्रीरामचन्द्रवद् नीतिमार्गेण राज्यं प्रतिपालयति। तत्रैकः पङ्कप्रियाभिधः कुम्भकारो वसति वदान्यो जनमूर्धन्यो लक्ष्मीवान् विनीतः खरप्रकृतिः। स ईर्ष्यालुतया परगुणान् श्रुत्वा न सहते। ईर्ष्याधिक्याच्चाऽस्य सर्वेऽपि गुणा अदूष्यन्त, यथाऽर्णवस्य क्षारत्वतः, चन्द्रमसश्च कलङ्कतः। यदि कस्यचिदुत्कर्षवार्ता प्रोच्यते तदा तस्य वार्तां श्रुत्वा ईर्ष्या जायते, ईर्ष्यया च दुर्निवारा शिरोव्यथा जायते। कदापि कानपि जनान् स्वकीयान् परकीयान् वा गुणान् प्रजल्पतो वीक्ष्य तान् निषेद्धुमशक्तः स्वशिर ईर्ष्यया कुट्टयति। अथ च निःस्वा अपि स्वविवाहोत्सवादीन् प्रशंसन्ति, आत्मोत्कर्षाय द्विगुण–त्रिगुणव्ययेन वर्द्धापयित्वा मिथ्यापि जल्पन्ति, अल्पव्ययं कृत्वा बहुतरं भाषन्ते, यतोऽनधिगतागमरहस्यानां सर्वसंसारिणामियमनादिका जगत्स्थितिः, स्वोत्कर्षं प्रबलतया भाषन्ते एव, तथाप्येष जडाशयो दोषतो न व्यरंसीत्। तदा तस्य कोपाच्छिरः कुट्टयतः शिरसि व्रणश्रेणिरभूत्, विषवल्लेरीर्ष्याया अरुणा पल्लवावलिः किमु ? यतो हीनपुण्यस्य कोपः स्वघाताय जायते। अथ हितकाङ्क्षिभिः स्वसुतादिभिर्युक्त्या प्रबोध्यमानोऽपि नोपरमते, धिगस्तु जडचेतसः, ये निष्कारणहठं वहन्ति, स्वोपघातेऽपि न त्यजन्ति।

१ —रयोध्यमाना प्र० ।

ततोऽन्यदा तस्य पुत्रा अभ्यधुः—'हे तात! त्वयाऽधुना विजने वने स्थातुं समीचीनतरं यत्रेर्ष्यालवमात्रोद्भवो नास्ति। तस्माद् यदि भवदीया चित्तप्रसत्तिर्भवति तदा वयं विजने वने एकमुटजं कृत्वा भवन्तं तत्र स्थापयामः'। इति पुत्रगिरं श्रुत्वा सहर्षं कुम्भकारोऽप्यमन्यत, यत उत्तरकालहितं को न मन्यते?। ततः पुत्राः क्वापि विजने वने सरस्तटे श्वापदाऽधृष्यां कुटीं विरचय्य भोजनाच्छादनादिसामग्रीपूर्णां कृत्वा पितरं तत्र स्थापयामासुः, यतः शास्त्रे पितरौ दुष्प्रतिकारौ कथितौ स्तः। अथ स कुम्भकारस्तत्र वने निरुपसर्गः सुखेन परिवसति। तत्रेर्ष्यायाः प्रेरको नास्ति तेन कारणेन स्वेच्छया सुखेन कालनिर्गमं करोति। अथ तस्यैव नगरस्य भूपतिः मृगयाव्यसनी नगरतो बहुसैन्यपरिवारयुतो गहनवने मृगयार्थं गतः। तत्र चैकं मृगयूथं दृष्ट्वा तद्धाय अश्वो वाहितः। ततो धावमानमश्वं पश्यद् मृगयूथं नष्टम्। राज्ञापि तत्पृष्ठे धावमानेन बहुतराऽवनिर्लङ्घिता, मृगयूथं च क्वापि गिरिगह्वरादौ अन्तर्गतम्। ततो मूढलक्ष्यो राजा इतस्ततः कानने भ्राम्यति। भ्रमन् भ्रमन् रविकिरणैस्तापितस्तृषाक्रान्तः क्षुधया प्रपीडितः कथमपि तत्र सरस्तीरे समागमत्। एकस्मिन् सघनतरुतले विश्राम्यन् स्थितः। ततः पङ्कप्रियेण तं राजानं दृष्ट्वोपलक्ष्य च खोटजस्थं करकस्थितं पाटलावासितं स्वादु सज्जनचित्तवत् स्वच्छं शीतलं जलं पायितः। राजापि हिमशीतलं जलं पीत्वाऽतिसुस्थो जातः। ततः पङ्कप्रियेण यथोपपन्नां रसवतीं निर्माय विधिवद् भोजितः। राजापि तां सद्य उत्पन्नां रसवतीं भुक्त्वा विगतश्रमो जातः। पङ्कप्रियोपरि बहुतरं स्नेहं दधौ, यतोऽवसरे कृता भोजनादिसेवा यद्वा तद्वापि महार्घ्या भवति। ततोऽतिस्नेहं दधानो राजा पङ्कप्रियमपृच्छत्—'भोः पङ्कप्रिय! त्वमेकाकी केन कारणेन विजने वने स्थितोऽसि?। यतो गृहिवेषो वने वास एतद्द्वयं सङ्गतं न भवति, अतो वनस्थितिकारणं ब्रूहि'। ततः पङ्कप्रियोऽवक्—"भोः स्वामिन्! जन्तवः स्वदोषैरेव क्लेशकष्टानि प्राप्नुवन्ति, नाऽत्र संशयः। आत्मोत्कर्ष-

करा नराः प्रायोऽसम्बद्धं प्रजल्पन्ति, वृथा प्रस्फूलन्ति, तच्छ्रुत्वा ममाऽत्यन्तदुःखकारिणीर्ष्या जायते। शिरोऽर्त्तिमिव दुःसहां तामीर्ष्यां निरोद्धुमहमशक्तः सन् व्रणघोरणिजर्जरं स्वमूर्द्धानमकुट्टयम्। ततोऽहं प्रतिदिनं लोकानां कूटवचनानि श्रुत्वा सहनाऽक्षमः स्वशिरःकुट्टनादतिदुःखितः पुत्रैर्भाषितः—'हे तात! परोत्कर्षवचनश्रवणाऽक्षमस्य तव जनसङ्कुले नगरे वसनमयुक्तम्, अतस्त्वं वनगहने स्थितिं कुरुष्व। यतो वनगहने मनुजाऽभावाद् ईर्ष्यासम्भवो न भवति, कारणानामभावे जातु कार्यं जायते किमु'?। एवं पुत्रवचनं श्रुत्वा मयाप्यनुमतम्। ततः पुत्रैरस्मिन् वने खाद्यादिसामग्रीयुतां कुटीरचनां कृत्वा वासितः, अतोऽहमत्र सुखेन तिष्ठामि"। इति पङ्कप्रियवचो निशम्य कृपाकूपारमानसो दिव्यविक्रमोऽपि तदीयदुःखसङ्क्रान्त्या विव्यथे। ये बहुश्रुतास्ते परदुःखवार्ताश्रवणेन मनागार्त्ता भवन्ति, यथा समाश्रयवृत्ती कर्णौ दुष्यता अक्ष्णा समं पट्टकव्यथां सहेते। इति तद्दुःखेन दुःखितो राजा मनसि तदुपकारं स्मरन् कृतज्ञजनशेखरः 'उद्धरिष्यामि' इति व्यचिन्तयत्। हि—यस्माद् येन मस्तकात् तृणमुत्तारितं तस्यापि प्रत्युपकारकरणं महत्यप्युपायकरणे सुदुष्करं, तर्हि सर्वोपकारिणः प्रत्युपकारकरणं कथं भवति?। यतः शास्त्रे बहूनि दानानि सन्ति। तद्यथा—स्वर्णदानं धरादानं कन्यादानं रत्नदानमिति अनेकानि दानानि पृथिव्यां दीयन्ते, परन्तु वेलादत्तस्यान्नदानस्य कोट्यंशेनापि नाऽर्घन्ति। यत उक्तञ्च—

"क्षुधाक्लीबस्य जीवस्य, पञ्च नश्यन्त्यसंशयम्। सुवासनेन्द्रियबलं, धर्मकृत्यं रतिः स्मृतिः" ॥१॥

अतः कृतभुक्त्युपकाराय कुम्भकाराय अनर्गलां लक्ष्मीं दत्त्वा कृतज्ञभावं ज्ञापयामि, कथञ्चिदनृणीभावतां च यामि। इति ध्यात्वा नृपतिः कुम्भकारं प्रति प्राह—'भो भद्र! त्वं सुखेन मया सार्धं नगरान्तरमेहि, मद्दत्तावासे स्थित्वा मत्समीपस्थो दिष्ट्या मदर्पितान्

भोगान् भुङ्क्ष्व। अथ तत्र निवसतस्तव यः कश्चिद् वुधोऽपि पौरजनस्तव शृण्वतोऽसम्बद्धं वक्ष्यति स मया चौरदंण्डेन दण्डनीयः'। इत्युक्त्वा विरते भूपतौ पृष्ठे सामन्त-सचिवादयश्चतुरङ्गचमूयुता दक्षिणावर्त्तशङ्खस्य पृष्ठे सामान्यशङ्खा इवागमन्। राजानं च दृष्ट्वा हर्षितहृदया वभूवुः। ततश्च पङ्कप्रियेण सहाऽश्वारूढो नृपश्चतुरङ्गचमूवृतः स्वपुरं प्रति प्रस्थितः। मार्गे गच्छन् राजा नगरोपवनेऽतिरूपवतीमेकां कन्यकां कुब्जबदरीवृक्षेभ्यो बदरावलिं चिन्वतीं दृष्ट्वा तां प्रति इत्युवाच—'हे सुभ्रु! त्वं कस्य सुता? किं तव नाम? का जातिस्तव'?। इति राज्ञोक्तं श्रुत्वा साऽऽह—'हे स्वामिन्! अहं खक्खाऽभिधाना कुपिकारकस्य पुत्र्यस्मि'। इति सुधामुचं तस्या वाचं कर्णपुटेन पीत्वा तद्रूपमोहितहृदयो भूपस्तामेव मनसि स्मरन् स्वसौधमगमत्। ततो मन्त्रिमुखेन तस्याः पितरं प्रज्ञाप्य स्वानुकूलं च कुलं कृत्वा तां कन्यां परिणीतवान्। तां च पट्टराज्ञीपदमदात्, यतः प्रियाजने किमप्यदेयं न भवति। अथ पङ्कप्रियोऽपि राज्ञा दत्तां सम्पदं निःशङ्कतया बुभुजे, यतः सम्पत्फलं हि त्याग-भोगादि।

अथ राज्ञा स्वनगरे इत्युद्घोषणा कारिता—'यः पङ्कप्रियकुम्भकारस्याग्रेऽसम्बद्धं वक्ष्यति स चौरदण्डेन मया दण्ड्यो भविष्यति, अतः स्वमनसि सम्प्रधार्य सरलं वक्तव्यम्'। ततः प्रभृति पङ्कप्रियः सुखेन परिवसति। एवं सुखेन कालनिर्गमे वर्षान्ते एकस्मिन् दिने राजा पङ्कप्रियेण खक्खया पट्टदेव्या च सह नगराद् बही राजपाट्यां परिभ्रमति। पदे पदे विविधान् वृक्षान् निरीक्षमाणो एकस्मिन् स्थले बदरीवनं ददर्श। ततो राजा राज्ञीमिति पप्रच्छ—'हे देवि! अमी द्रुमाः के? एषामभिधानं ब्रूहि'। ततः सा राज्ञी अतीव सुखमग्नतया पूर्वावस्थां न स्मरति। राज्यलीलाऽवगाढा राजानं प्रत्यूचे—'नाऽहं जानामि को वृक्षः, किं वाऽस्याऽभिधानं भविष्यति'?। इति राज्युक्तं वाक्यं श्रुत्वा ईर्ष्याग्निसंस्थुलः पङ्कप्रियः शत्रुवद् दृढमुष्टिभिर्निजं मस्तकं कुट्टयामास। ततो राजा तं तथा-

विधं दृष्ट्वा परिजनं प्रति इत्युवाच—'अरे! ममाज्ञाध्वंसिना मरणेच्छुना केन ईर्ष्यापोषि वचोऽश्राव्यत' ?। इति राज्ञोक्तं श्रुत्वा परिजनेनोक्तम्—'हे स्वामिन्! त्वदीयाज्ञाध्वंसिवचनं न केनाप्युक्तम्'। तदा राज्ञा पङ्कप्रियः पृष्टः—'केन तव शिरःस्फालनहेतुकं वाक्यमुक्तम्' ?। तदा पङ्कप्रियेण लोकभाषया एकश्चतुश्चरणात्मको दोधक उक्तः। तद्यथा—

"कालिं जि बोरां विंणती, आज न जाणे खक्ख। पुणरवि अडवि करिसुं घर, पिं न सहुं एह अणक्ख" ॥१॥

इति श्रुत्वा नृपो दध्यौ—'मया दत्ताधिपत्याऽसौ प्रिया विस्मृतपूर्वदशा यद्येवंविधां सौख्यलीलां न सृजेत् तदा मम प्रसन्नताया वस्तुतः किं फलं लब्धम् ?। वर्षति मेघे चेद् वसुमती अङ्कुरपूरवती न जाता तदा पर्जन्यस्य को महिमा ?। इयं लीलाधारिणी देवी सर्वथा दण्डं नार्हति। एष पङ्कप्रियस्य व्याधिस्तु अप्रतिकारः, अत एव पङ्कप्रियः सुखेनैव वने यातु परन्तु एतद्वचनमात्रापराधेन राज्ञी तिरस्करणीया न भवति'। इति विचिन्त्य राज्ञा पङ्कप्रियो विसृष्टः सन् पुनः कान्तारमागमत्। प्राग्वत् सरस्तीरे कुटिरं कृत्वा चिरं स्थितः।

एवं कियत्यपि काले गतेऽन्यदा तस्मिन् वने रात्रौ भूरिभयङ्करान् व्याघ्रबूत्कारान् श्रुत्वा भयभ्रान्तशरीरः सङ्कुचिताङ्गोऽनन्यगतिकः पङ्कप्रियो नरकोत्पत्तिस्थानसदृश्यां खातभूमिसमुत्थायामश्मनः कुम्भिकायां शीघ्रं शीघ्रं प्रविश्य मरणभयाद् यद्वा तद्वा अङ्गानि इतस्ततः प्रक्षिप्य तत्र रात्रिमजीगमत्। प्रभाते संबाधवक्त्रतया आकुञ्चनप्रसारणरहितानि जडत्वं प्राप्तान्यङ्गानि वालयितुमक्षमो गर्तातो निर्यातुं न शक्नोति। अङ्गप्रत्यङ्गमोटनात् तीव्रतरवेदनवशाद् मरणदशां प्राप्तः सन् इमे गाथे द्वयोः पार्श्वयोर्लिखित्वा मृतः। अथ च

१ कल्ये या बदराणि चिन्वती, अद्य न जानाति खक्खा। पुनरप्यटव्यां करिष्ये गृहं, अपि न सहेऽदोऽनाख्येयम् ॥१॥ २ 'प्रभाते यद्वा

वनगमनप्राप्तोदन्ताः पुत्रास्तत्र वने प्राप्ता मुहुरन्विष्यन्तो मृतं पितरं ददृशुः, इमे च द्वे गाथे अवीवचन् ।

"वग्घभएण पविट्ठो, छुहाहओ निग्गमम्मि असमत्थो । अट्टवसट्टोवगओ, पुत्तय ! पत्तो अहं निहणं" ॥१॥

"इह लोगम्मि दुरंते, परलोगविबाहगे दुहविवागे । मह वयणेणं पावे, वज्जेज्जा पुत्तय ! अणक्खे" ॥२॥

इति हितोपदेशरहस्यभूतां भूतपदार्थसाक्षिणीं गाथाद्वयीं वाचयित्वा मनसि संप्रधार्य ते पङ्कप्रियपुत्रा नीतिधर्मतत्परा अभवन् । धनसारः पुत्रत्रयाणामग्रे दृष्टान्तद्वारेणैवं शिक्षामशिक्षयत्—'यथा स पङ्कप्रियकुम्भकारो ईर्ष्यादोषवशाद् ऐहिकामुष्मिकान् रोषदोषद्रुमफलोपमान् दुःखसहस्रौघान् मुहुर्मुहुर्बहुधा संप्राप्तः, एवं सहेतुका निर्हेतुका वेर्ष्या सुखाय न भवति । प्रथमत ईर्ष्याऽऽवेशमात्रादेव हृदयं ज्वलति, तच्चिन्तया रसधातवोऽपि । कपिकच्छुलताऽऽलिङ्गनं क्वापि सौख्याय भवति किमु ? अपि तु न भवत्येव । तस्माद् हे वत्साः ! अतिपापोदयजनितानि दुस्सहानि दुःखानि स्फोटयितुं वः—युष्माकं मनो भवति चेत् तदा ईर्ष्यादोषं विमुच्य सद्गुणपक्षपातं भजध्वम् । इत्येवं बहुभिः प्रकारैः पुत्राः शिक्षिताः किञ्चिद् बाह्यतः सरलतां दर्शयन्ति ।

॥ इति श्रीतपागच्छाधिराजश्रीसोमसुन्दरसूरिपट्टप्रभाकरविनेय—श्रीजिनकीर्तिसूरिविरचितस्य पद्यबन्धधन्यचरित्रशालिनः श्रीदानकल्पद्रुमस्य महोपाध्यायश्रीधर्मसागरगणिनामन्वये महोपाध्यायश्रीहर्षसागरगणिनामन्वये महोपाध्यायश्रीहर्षसागरगणिप्रपौत्र—महोपाध्यायश्रीज्ञानसागरगणिशिष्याल्पमतिग्रथितगद्यरचनाप्रबन्धे लक्षद्वयार्जनो नाम द्वितीयः पल्लवः ॥

तद्वा रक्षितानि' इत्यधिकः प्र० । १ व्याघ्रभयेन प्रविष्टः, क्षुधाहतो निर्गमेऽसमर्थः । आर्त(ध्यान)वशार्तोपगतः, पुत्रकाः ! प्राप्तोऽहं निधनम् ॥ इह लोके दुरन्ते, परलोकविबाधके दुःखविपाके मम वचनेन पापे, वर्जयेयुः पुत्रका अनक्षम् ! (ईर्ष्याम्) ॥ २ कण्डुरा, भाषायाम्—'कौवच' ॥

अथ तृतीयः पल्लवः

अथ धनसारेण शिक्षिता अपि नीतिमार्गयुक्तियुक्ताभिः शिक्षितोक्तिज्वालाभिर्ज्वलितान्तःकरणा मेघधाराभिर्मुद्गशैलवद् वर्धितजडताग्रहाः पुनरेकदा पितरं प्रत्यूचुः—"हे तात ! यूयमस्माकं शिक्षां दातुमभ्युद्यताः, परं स्वचेतसि विचारयथ येन होडां कृत्वा द्विलक्षद्रव्यमुपार्जितं तद् द्यूतम्, परं वणिक्कला न। वयं द्यूतव्यसनकुशलस्य धन्यस्य गुणश्लाघां कथं सहामहे ?। वयं तु व्यापारक्रियया यो द्रव्यमुपार्जयति तस्य प्रशंसां कुर्महे। द्यूतकलया लाभस्तु कादाचित्कः, हानिस्तु सार्वकालिकी। कुलीनानामनुचितो द्यूतव्यवसायः। कदाचिद् भिल्लशरः सरलगतिप्राप्तस्तदा किं जातम् ?। व्यापारक्रियया परीक्षा सुभगा भवति न तु च्छलातिक्रियया"। एवं तैः पुत्रैः कृतानि वक्रोक्तिगर्भितवचनानि श्रुत्वा पुनर्भाग्यपरीक्षार्थं धनसारो वाणिज्याय स्वर्णमापकाणां शतं शतं चतुर्भ्योऽपि दत्तवान्। ततस्त्रयो वृद्धभ्रातरः स्वकृताऽन्तरायोदयाद् मन्दभाग्ययोगात् स्वर्णशतमापकव्यापारे मूलद्रविणमप्याशु निर्गमयामासुः। ततो विलक्षमुखा गृहमागताः। ततोऽन्यदिने धन्यो वाणिज्यार्थं निर्गतः, पाटकद्वारमागत्य शकुनानि मार्गयति। स्वर्णादिवाणिज्यचतुष्पथदिशायां शकुना न भवन्ति, एवमन्यवाणिज्यदिशि शकुनानि गवेषयति, परमीप्सितार्थसिद्धिकराणि शकुनानि न भवन्ति। ततः कियद्वेलानन्तरं काष्ठपीठीचतुष्पथं प्रति अतिलाभकराणि शकुनानि संजातानि। अथ धन्यकुमारस्तान्यभिवन्द्य तस्मिन् चतुष्पथे गतः।

इतश्च तत्रैव पुरे धनप्रियो नाम्ना श्रेष्ठ्यभूत्। स च कीदृशः?, 'दान'इति नाम्नापि त्रासमाप्नोति, कस्यापि दानवार्ताश्रवणे ज्वरश्चटति। तस्य ग्रन्थौ षट्षष्टिकोटिवित्तमस्ति, परन्तु कृपणात्मनां कोटीरः स जीर्णे, शतशः स्थाने शीर्णे, परैस्त्यक्तमेतादृशे गृहे परिवसति स दासवद्। शुभमन्नं कदापि नाश्नाति, न च जलव्ययभीरुतया स्नानं करोति। तथा चीनक-चनक-वल्ल-चपलप्रमुखानसारान् समर्घानश्नाति। सङ्ख्याऽतिगधनोऽप्येष सतैलमपि अन्नमश्नतां दूरस्थोऽपि कवलान् सङ्ख्याति। स ताम्बूलाऽदनस्थाने बब्बूलछल्लिचर्वणं करोति। गृहस्थोऽपि प्रायस्तपस्विवत् कन्द-मूल-फलाशनः, सदा व्ययभीरुतया कदापि देवभवने न याति। क्वचिदपि न गीते नृत्ये, न च सङ्गीते क्षणमात्रमत्यासङ्ग्यभूत्। तृणकाष्ठव्ययभीरुप्रायो विहितकौपीनः पीनतृष्णो निशायां वने भ्राम्यति, तृणकाष्ठानि च संग्रहयति। भिक्षाकाले भिक्षुकान् वीक्ष्य पुरा धाम्नः कपाटयुगलं सार्गलमदात्, कदापि काकतालीयन्यायेन उद्घाटितकपाटमात्रे कोऽपि भिक्षुरागतस्ततस्तस्याऽनर्गला गालीर्गलहस्तं च ददाति, न तु कणमेकमपि। एकं तु महदाश्चर्यं यो मार्गणेभ्य एवं पञ्चवस्तुप्रदोऽपि जनेऽदाता इत्येव विख्यातोऽजनि, यतः पुण्यैर्विना यशो न भवति। तथाऽस्य कदापि स्वजनैर्बलात्कारेण कपर्दिकामात्रव्यये कारिते सप्तभिर्मुखैः प्राणहरो ज्वरश्चटति। एतस्य पश्यतः केनापि दानं दीयते चेत् तदाप्यस्य शिरसि कृतजनव्रीडा तीव्रपीडा प्रादुर्भवति। गुणैरमुख्यस्य धनिमुख्यस्याऽस्य विवाहेष्वपि स्निग्धे भुक्तेऽतीसाररोगिवद् द्रुतमुदरं दुष्यति। माल्य-चन्दनादीनां भोगं रोगमिवाऽत्यजत्। ततः स्वजनकुटुम्बवर्गेण चाण्डालकूपवत् तस्यालापसंलापोऽपि त्यक्तः।

अथैकदा तेन कृपणेन मनसि विचारितम्—'मम पुत्राः प्राप्तयौवनाः संजाताः, जातुचिद् अवसरं प्राप्य धनं मा ग्रहीषुः' इति परिभाव्य षट्षष्टिकोटिद्रव्याणां मणिगणान् अक्रीणात्। तत एकां महतीं खट्वामजीघटत्। तस्याः चतुरः पादान् इस-उपलादीनि

च सर्वाणि शुषिरीकृत्य, तानि च सर्वाङ्गाणि अनर्घरत्नौघैर्भृतान्तराणि कृत्वा, तदुपरि डगलानि दत्त्वा, लेपादिना च लेपयित्वा रत्नानि दुर्लक्ष्याणि कृतानि। एवंविधां रत्नगर्भां न केनापि ज्ञातुं शक्यां खट्वां प्रच्छन्नवृत्त्या निर्माय तस्यां नवयोषिति रागीव सदा लीनोऽभूत्। न कस्यापि गृहे याति, खान-पानादिकं च तत्र स्थित एव करोति, अज्ञानवशगो घटिकामात्रमपि तस्याः खट्वाया न दूरं याति, रात्रिंदिवं खट्वास्थितः कालं निर्गमयति। ये केचन धनलुब्धास्ते धनेष्वेवासक्तिं दधानाः प्राणेभ्योऽपि अधिकतरं धनं जानन्ति, परमेवं न विदन्ति सुरक्षिताऽपि लक्ष्मीः केनापि सार्द्धं न याति। यदुक्तम्–'अभक्ष्यभक्षणेन शरीररक्षणतत्परं पुरुषं मृत्युर्हसति। कथम्? पश्यतु संसारिणो मूर्खत्वम्, मृत्युसमागते शरीरपोषणं व्यर्थं ज्ञेयम्। तथाऽनेकपापव्यापारेणाऽर्जितधनस्य क्षितौ क्षेपपरं पुरुषं धरा हसति। कथम्? पश्यत्वस्य मूढत्वम्, मनसि जानाति इदं धनं कार्यकाले मम भोगाय भविष्यति, परं न वेत्ति लक्ष्मीर्भाग्यवतां भोगाय। न ज्ञायतेऽग्रे किं भावि? कस्यायत्ता भविष्यति, विचित्रा कर्मणां गतिः, अतो हसति। तथा कुलटा वनिता पुत्रलालनतत्परं स्वपतिं हसति। कथम्?, अयं मूढो धवो मनसि हर्षति यदहमात्मजं पुत्रं लालयामि, परं न जानाति कस्य वीर्येणोत्पन्नोऽयं पुत्रः। स्वयं तु षण्ढतुल्यः स्ववीर्योत्पन्नपुत्रगर्वेण गर्जतीति हसनाभिप्रायः। पापानुबन्धिपुण्यान्विताः पुरुषाः स्वकृताऽन्तरायकुकर्मभिः प्राप्तामपि श्रियं भोक्तुं समर्था न भवन्ति, काकाः द्राक्षापाकाऽशनकाले किं चञ्चुपाकाऽन्विता न भवन्ति? अपितु भवन्त्येव। एवंविधः स कृपणराट् वृद्धावस्थाऽन्त्यदशां प्राप्तोऽपि, अहो! मोहाद् ज्वररज्ज्वावलम्ब्यपि व्ययभयाद् भेषजद्वेषजम्बालेऽपतत्, किमुक्तं भवति?–ज्वरबाधाविधुरोऽपि द्रव्यव्ययभिया औषधं न करोत्येव। अथ व्याप्तरोगं तं मृत्युसमये-

१ "मृत्युः शरीरगोप्तारं, रक्षितारं धनं धरा। दुश्चारिणीव हसति, स्वपतिं पुत्रवत्सलम्" ॥१॥ २ जम्बालः पङ्कः।

ऽमुत्र सुखहेतवे पुण्यं ग्राहयितुं पुत्राः पितरं पप्रच्छुः—'हे तात ! धनं क्वास्ति, यद् धर्मस्थाने उप्तं तव भवान्तरसहायि भवति। ततः स कृपणो मरणसमये पुत्रान् प्रति भणति स्म—'हे पुत्राः ! मया पुरा कोटिसङ्ख्यं द्रव्यं धर्मरीत्या व्ययितमस्ति, अतोऽहं पूर्वकृतैः सुकृतैर्भृतोऽस्मि। ततोऽधुना ह्येकं पाथेयं याचे तद् मह्यं तदेव देयम्'। पुत्रैरुक्तम्—'यत्तव प्रियं तद् मार्ग्यताम्'। तेनोक्तम्—हे वत्साः ! मम प्रिययाऽखण्डयाऽनया खट्वया सार्धमग्निसंस्कारः कार्यः। इदमेव मम प्रियं पाथेयम्, अपरैः पाथेयैः सृतम्'। इत्येवं वदन् सपद्येव मूर्च्छितस्तां खट्वां प्रियामिव निबिडमालिङ्ग्य स्थितः। ततः क्षमापीठे उत्तारणाशयैः पुत्रैरुत्पाट्यमानोऽपि यथाऽऽत्मा स्वकर्मोदयजनितां प्रकृतिं न मुञ्चति तथाऽसौ मूर्च्छितो मरणदशां प्राप्तोऽपि मृतकग्रन्थिपतनाद् महतापि कष्टेन तां खट्वां न मुमोच। अथ तस्य कृपणस्य पत्नी पुत्रान् प्राह—'हे वत्साः ! यदि यूयं जनकवत्सलाः, पितुर्भक्त्या प्राणेभ्योऽतिप्रियां खट्वां संप्रति मा मोचयत'। ततो मातुर्वचनात् पुत्रैर्भूमौ नाऽवतारितः, खट्वास्थितो मृतः। पश्चात् पित्राज्ञापालकैः पुत्रैः खट्वासहितः प्रेतवनं निन्ये, क्षिप्तश्च तथैव खट्वासहितश्चितायाम्। यावताऽग्निसंस्काराय प्रवर्तन्ते तावता श्मशानपालकश्चाण्डालस्तां खट्वामयाचत, कृपणपुत्रा नार्पयन्ति। ततस्तेन चाण्डालेन सह कलहो जातः। चाण्डालोऽग्निसंस्कारं कर्तुं न ददाति। एवं परस्परं कलहं जायमानं दृष्ट्वा स्वजनैः कृपणपुत्रा वारिताः—"अन्त्यजजात्या सह कलहकरणं न श्रेयसे भवति। यतोऽत्र श्मशाने मृतकोपरिस्थं भव्यवस्त्रादिकं चाण्डाल एव गृह्णाति, अतोऽस्मै दीयतां खट्वा। भवद्भिस्तु तातवचनमपि प्रमाणितं, श्मशानं यावत् खट्वाऽऽनीता, अतः परं चाण्डालाय दीयताम्"। ततः स्वजनवचसा पर्यङ्को दत्तः। चाण्डालेन स पर्यङ्को विक्रेतुं चतुष्पथे धृतः। ततो नगरलोका मृतक-

१ भवान्तरे।

खट्वेति कृत्वा केऽपि न गृह्णन्ति। निपुणा अपि मृतकशय्याऽशुभां खट्वाम् अमाङ्गल्यभयाद् मर्माऽनभिज्ञत्वाच्चोपेक्षन्ते।

तस्मिन्नवसरे धन्यकुमारोऽपि स्वभाग्यपरीक्षार्थं व्यापाराय तत्रागत इतस्ततो निरीक्षते, एतावता स मृतकपर्यङ्को दृष्टः। धन्यकुमारः स्वबुद्ध्या लेपादिना रालसन्ध्यवगुण्ठनया गुरुभारतया चरणाद्यङ्गानां स्थूलतया च रत्नगर्भां तां खट्वां मत्वा स्वर्णसप्तमाषकमूल्येन क्रीतवान्। सेवकैर्ग्राहयित्वा गृहं गत्वा गुणोदारः स पित्रादीनदर्शयत्। ततः पित्रा मोहेन न किमपि पृष्टम्। प्रत्युत पित्रादिष्टाः स्नुषा अमूं यावदुत्पाट्य रभसवशाद् गृहान्तर्गृह्णन्ति तावत् समविषममोटनाद् विघट्टिताङ्गायाः खट्वाया रत्नवृष्टयः धन्यमहःश्रियो विश्वमिव गृहमपूरयन्। ततो लक्षकोटिमिताऽर्घाणां रत्नानां धोरणीर्वीक्ष्य सर्वे स्वजना धन्यकुमारमिति स्तुवन्ति—

"अहो भाग्यमहो भाग्यम्, अहो बुद्धिविशालता। अहो दक्षत्वं धीरत्वं पुत्रोऽयं कुलदीपकः" ॥१॥

'अनेन धन्यकुमारेणाऽर्थिस्पृहा दानैर्भृता, द्रव्यैर्गृहं भृतम्, कीर्त्या जगत्त्रयं भृतम्, मित्रजना हर्षेण भृताः, तथा सोदरा अमर्षेण भृताः'। एवं स्तुवन्तो लोकाः श्रितोदयं भास्वन्तमिव धन्यं बहुमन्यन्त, किन्तु तमःप्रकृतयो घूका इवाऽग्रजा नैवाऽमन्यन्त। समस्तस्वजनाद् धन्यवर्णनं श्रुत्वा अग्रजास्त्रयोऽपि ईर्ष्यया ज्वलन्ति स्म। ततोऽसूयां कुर्वाणान् पुत्रान् पुनर्धनसारश्रेष्ठयन्वशिषत्—मधुरया वाण्या उपदिशति स्म—"हे वत्साः! निर्मुक्तमत्सरा गुणग्रहं भजध्वम्। यतः—

"पङ्कजान्यपि धार्यन्ते, गुणादानाज्जनैर्हृदि। राजाऽपि पद्मसाद्गुण्यद्वेषी न क्षीयते कथम्?" ॥१॥

पङ्कात्—कचवराद् उत्पन्नान्यपि पद्मानि गुणादानाज्जनैर्हृदि धार्यन्ते, तथा ग्रहराजा—चन्द्रोऽपि पद्मसाद्गुणद्वेषात् क्षयमाप्नोत्येवेत्यर्थः। ये नरा गुणवतां गुणान् ईर्ष्यादोषान्न प्रशंसन्ति ते क्षुद्रा नरा रुद्राचार्यवत् परभवेऽतिदुःखिता भवन्ति। तद्यथा—

रुद्राचार्यकथा

"कस्मिंश्चिद् देशे पुरा प्रभूतगुणगणाऽलङ्कृततनुः बहुश्रुतो बहुपरिवारः पञ्चाचारपालनतत्परो रुद्रनामा आचार्योऽभूत्। अथ तस्य गच्छे सर्वत्र विदितकीर्तयश्चत्वारः साधवोऽभवन्, ते दानादिमूर्त्तिधराश्चत्वारोऽत्युज्ज्वला धर्मभेदा इव शोभन्ते। तेषां चतुर्णां मध्ये आद्यो बन्धुदत्तनामा मुनिर्वादलब्धिसमन्वितः। यः सर्वेषां स्व-परतीर्थिकतर्कग्रन्थानां वेत्ता, अत्युत्कटविकटतर्ककर्कशयुक्त्या सर्वान् वादिनः पराजयति। यः पण्डितलोकैरेवमुत्प्रेक्ष्यते-'येन मुनिना वादे जितौ सम्प्राप्तबहुलाघवौ गुरु-भार्गवौ तूलवद् गगने भ्राम्यतः'। यो मुनिर्गद्यबन्धे तथा पद्यबन्धे निर्दूषणभूषणान्विते कवित्वशक्तियुक्तः। तथा निरोष्ठ्यवाद-निर्दन्त्यवादादौ वर्गादिनियमान्वितोऽनल्पजल्पं रचयन् यो वर्षेणापि न हार्यते, एवंविधः प्रथमो बन्धुदत्तो मुनिः। द्वितीयः प्रभाकराभिधानः, योऽर्हच्छासनाऽरविन्दविकाशनतरणितुल्यः सदा मासोपवासाद्यतिदुष्करतपस्तत्परः। यः कृत्ययेव तपःश्रिया मांसरक्ते आदाय योग-कार्मणयोगेन वशीकृत्य कृशीकृतः। यो मुनिः कनकावलीं रत्नावलीं मुक्तावलीं लघु-बृहत्सिंहनिष्क्रीडितम् आचामाम्लवर्द्धमानं भिक्षुप्रतिमा भद्र-महाभद्रप्रतिमाश्चाऽनेकशश्चक्रे। एवंविधः शासनोद्द्योतकारी महातपस्वी वर्तते, एवं द्वितीयः। तृतीयो मुनिः सोमिलो नाम्ना नैमित्तिकानामग्रणीः अष्टाङ्गनिमित्तशास्त्रकुशलो हस्तरेखात्रयमिव अमोघं त्रिकालस्वरूपं वेत्ति। तद्यथा-आन्तरिक्षम्-आकाशगतभाविशुभाशुभज्ञापकचेष्टाकपिहसित-गन्धर्वनगर-उल्कापात-ग्रहादिकम्। भौमम्-भूकम्पादि। अङ्गविद्या-दक्षिणेतरलोचनाद्यङ्गस्फुरणम्, यद्वा यदङ्गं स्पृशन् प्रश्नं पृच्छति तस्य फलाफलम्। स्वरोदयम्-सूर्य-चन्द्रोभयस्वरविपुवेण वहनादेः सत्तत्त्वस्वरूपनिरूपणादि। चूडामणिम्-पूर्वजन्मकृतपापपुण्यविज्ञानम्। शकुनम्-दुर्गादिपक्षिस्वर-गति-चेष्टादि। ज्योतिष्कम्-ग्रहचारादि। सामुद्रिकम्-पुरुष-स्त्रीगतशुभाऽशुभानि लक्ष-

णानि। तथा आयान् धूम-ध्वज-सिंहादीन् अष्टावपि। स्वप्नम्-शुभाशुभसूचकानि स्वप्नानि। एवमष्टाङ्गनिमित्तशास्त्रेषु सर्वत्राऽमोघजिह्वः, नृपाऽमात्यादिबोधकृच्च, ईदृशस्तृतीयः सोमिलमुनिरस्ति। चतुर्थः कालकाभिधानो मुनिः, येनाऽतिगाढदुष्करक्रियया कृत्वा त्रिजगत्कण्टकः प्रमादचरटो जितः। यः पुनः ईर्यासमित्या युगमात्रां भुवं पश्यन् सोपयोगं नरकगतजीवोद्धरणचिन्तयेव न्यग्मुखो मन्दं मन्दं विचरति। तथा यो बहुकालं यावद् विनयाद्युपक्रमविधिनाऽभ्यस्ताया आकण्ठभूताया विद्याया निर्गमभीत्येव उद्घाटितवदनो न वदति। यो बाह्याभ्यन्तररजःशङ्कयेव अप्रत्युपेक्षितं भाण्डादि न गृह्णाति, न च क्षिपति। तथा यो दृष्ट्वा पवित्रितभूतले पादन्यासं करोति। सत्यभाषया प्रथम-चतुर्थभङ्गयुक्तया मधुर-निपुणाद्यष्टगुणपवित्रितं जिनाज्ञायुक्तं वाक्यं वदति। सम्यक्छास्त्रानुकूलमनोयोगपूर्वकं तमाचारमाचरति। किं बहूक्तेन? सर्वपावित्र्यमयः स मुनिः सर्वजनश्लाघनीयः। किञ्च, तिस्रोऽपि गुप्तयः पञ्चापि समितयश्च एवमष्टौ प्रवचनमातॄरनिशमाराधयामास। एतादृशः कालमुनिः शासनं शोभयति। तत्र गुणरागिणो ये लोकास्ते तस्य मुनेर्यदा विशेषेण पूजासत्कारादि कुर्वन्ति तदा तदुत्कर्षमसहमानो रुद्राचार्यो हृदि खेदमावहति। यतो इर्ष्यालुनरः स्फुरद्गुणं दीप्तिमन्तमन्यजनं द्रष्टुं क्षमो न भवति, प्रत्युत तदपकारचिन्तनपरो भवति। शलभो दुर्जनो दीप्तिमतीं प्रदीपशिखां दृष्ट्वा स्वकीयप्राणं दत्त्वाऽपि प्रदीपार्चिः किं नाऽपहरति? अपहरत्येव।

अन्यदा तत्र रुद्राचार्यसमीपे कुसुमपुरतः श्रीसङ्घप्रहितं मुनियुगलं समागतम्। रुद्राचार्यं वन्दित्वा स्थितम्। तदा रुद्राचार्येणागमनकारणं पृष्टम्। तावाहतुः–"स्वामिन्! सम्प्रतिकाले एकः षट्तर्की विद्वान् भिदुरनामा वादी प्रतिग्रामं बहून् वादिनो जित्वा पाटलिपुत्रकं समागतोऽस्ति। अथ स तार्किको जितकाशितया जैनमुनीनपि जेतुमिच्छति, यतो दग्धभूरीन्धनोऽग्निः पाषाणमपि

दग्धुं प्रवणयति। अत्र न कोऽपि तादृशो नास्ति यो तेन सह वादं कृत्वा निर्घाटनं कुर्यात्, अतो तं दुर्वादिनं जेतुं भवद्भिस्त्वरितमागन्तव्यम्। इत्येवं वचः श्रीसङ्घ आज्ञापयति, अतोऽनुल्लङ्घ्यं सङ्घशासनं कर्तव्यं भवति"। एवमागन्तुकमुनिमुखाच्छ्रुत्वा उन्मुद्रविद्यासमुद्रो रुद्राचार्यः पाटलिपुत्रगमनाय प्रगुणोऽभूत्, यतो विबुधा मल्ला नृपाश्च विजिगिषुं स्वजातिविपक्षं श्रुत्वा तस्य निर्घाटने विलम्बं न कुर्वन्ति, शीघ्रं गत्वा निरुत्तरं कुर्वन्ति। ततो यावता रुद्राचार्यस्तत्र गमनाय प्रवृत्तस्तावताऽपशकुनैः क्षुतादिभिर्बाढं वारितः। तेन रुद्राचार्यस्तु तत्रैव स्थितः, यतो बहुश्रुता निमित्तद्वेषिणो न भवन्ति। ततो वादिवृन्ददमनसमर्थं बन्धुदत्तं तं दुर्वादिनं जेतुमादिशत्, यथा सहस्रकिरणः प्रभाते ध्वान्तरिपुहननायाऽरुणमादिशति। ततो बन्धुदत्तमुनी रुद्राचार्यादेशं प्राप्य पाटलिपुत्रं प्रति प्रस्थितः। अविच्छिन्नप्रयाणैः पाटलिपुरं गत्वा परवादिनाऽधिष्ठितां राजसभामासदत्। अथ तत्र राजसभायां मुनिमभ्यागतं श्रुत्वा दृष्ट्वा च वादवदनकौतुकावलोकनाय सहस्रशो लोका मिलिताः। तथा भाग्यैकलभ्याः सत्तत्त्वविवेकच्छेकबुद्धय उभयाऽभिमतगुणदोषतत्त्वज्ञाः सभ्यजना अपि बहुतराः सभायामभ्यागताः। प्रास्तदुर्नयोऽतिनिपुणो गुणानुरागी भूपतिः सिंहासनमध्यस्थः।

अथ मिलितायां चतुरङ्गायां सभायां प्रथमतः सौगतमतमालम्ब्य भिदुरवादी सगर्वं युक्तिजालमलपत्। तद्यथा—"यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकमिति, यथा दीपज्वालाकुलम्; सन्तश्च निखिला भावाः, तस्मात् क्षणविनश्वराः"। अथ भिदुरवादिना स्वपक्षस्थापनाय कृतप्रतिज्ञादिविरते च सति स्याद्वादवदनकोविदो बुद्धिनिधिर्बन्धुदत्तमुनिर्बलीयसीं तदुत्तरन्यायपटलीमवादीत्—"यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकं न भवति, यतः 'स एवाऽयम्' इति स्थैर्यबलोद्भवा—सत्तामात्रबलोद्भवा अविसंवादिनी प्रत्यभिज्ञा भवतोऽनुमानं बाधते। 'तत्' शब्दः पूर्वपरामर्शकारी पूर्वाऽनुभूतस्वरूपसत्ताग्राहक इत्यर्थः, यत्र सत्ताग्राहकत्वं न भवति तत्र 'स एवायम्' इति प्रत्यभिज्ञाऽपि न भ-

वति"। इत्युत्तरं श्रुत्वा पुनर्भिदुर उवाच—"ननु स्वकेशादयः छिन्नाः सन्तः पुनरङ्कुरादिभावेन उद्गता दृष्टाः, अथ तेषु 'स एवायम्' इति प्रत्यभिज्ञानं भवति; तद् भानं विसंवादि यथा दृष्टं तथा स्तम्भ-कुम्भा-ऽम्भोरुह-सभा-भूभृद्-भवनादिषु अन्यथासिद्धमेवेदं प्रत्यभिज्ञानमिष्यते, न पुनः पूर्वानुभूतसत्ताग्राहकमिति"। इत्येवमुत्तराभासं श्रुत्वा पुनराह बन्धुदत्तमुनिः—"भोः प्रतिवादिन्! चेद् यदि अध्यक्षदृष्टमम्भो मृगतृष्णासु यथा, तथाऽध्यक्षमपि घटादिकं मिथ्या किं न भवेत्?। एवं च सकलप्रत्यक्षपदार्थेषु अप्रामाण्यप्रसङ्गात् तवाऽनुमाऽपि न प्रमाणमर्हति, यस्मात् सा अनुमाऽपि प्रत्यक्षपूर्विका भवति, प्रत्यक्षं तु त्वयाऽसत् परिकल्प्यते। अर्थस्य चैकान्तक्षणनाशित्वे न कोऽपि मातृघाती स्यात्, यस्माद्, यया जातः सा तु विनष्टा, या चाऽघाति सा परैव त्वन्मते। तथा स्त्रिया न कश्चित् स्वपतिः, पुरुषस्य च न काचन भार्या स्यात्, यदा स्त्री-पुरुषयोर्विवाहः संजातस्तौ तु तदैव विनष्टौ। तथा च सति न कापि स्त्री पतिव्रता, यस्य पुरुषस्य पाणिग्रहणं कृतं स तु तदैव विनष्टः। एवं सति व्रतग्राहकोऽन्यः, अन्यस्तु पालकः। तथा व्रतविराधको न कोऽपि भवति, यतो व्रतपतिर्व्रतग्रहणाऽनन्तरमेव विनष्टः, उत्तरकाले तु अन्य एव, तेनाऽप्रतिज्ञातत्वाद् विराधकपापं कथं लगति?। भो वादिन्! तव मते न्यासीकृतं चैकेन, पश्चाद् मार्गितमन्येन; अर्पकग्राहकौ नष्टौ, धनमपि नष्टम्; तदा कः कस्य ददाति मार्गयति च?। तथा भोजनस्य याचिताऽन्यः, भोक्ता त्वपरः, भुक्तं चान्येन, तृप्तस्तु अन्य एव। एवं हि तव मते सर्वव्यवस्थाविलोपो भवति, तस्माद् हे भद्र! भद्रंकरं जैनशासनं भज"। इत्येवं बन्धुदत्तमुनिर्न्यायवाचा प्रतिवादिनं जिगाय, जयश्रीर्लब्धा। पुरे तु 'जितं जैनैर्जितं जैनैः' इत्युद्घोषणा प्रवृत्ता। राज्ञा बहु सन्मानितो बन्धुदत्तमुनिः। राजा धर्मरुचिश्च जातः।

ततो महामहोत्सवपुरस्सरमाचार्यं प्रति चलितः। कियद्भिर्दिनै रुद्राचार्यमुपागात्। तत्र जैनमार्गकुशलैर्भट्टैर्बहुधा बिरुदैः स्तूय-

मानं उपाश्रयं प्रविष्टः। तद्यथा—वादिगरुडगोविन्द! निर्जितवादिवृन्द, षड्भाषावल्लिमूल, परवादिमस्तकशूल, वादिकन्दकुद्दाल, वादिवृन्दभूपाल, वादिसमुद्रागस्ति वादिगगनगभस्ति, वादिगोधूमघरट्ट, वादिमानमरट्ट, वाचालसरस्वती, शिष्यीकृतबृहस्पति, सरस्वतीभाण्डागार, चतुर्दशविद्यालङ्कार, सरस्वतीकण्ठाभरण, वादिविजयलक्ष्मीशरण! । इत्याद्यनेकैस्तदेकोत्कर्षवर्षिभिर्बिरुदव्रातैर्विद्धकर्णः सकर्णो—नीतिनिपुणोऽपि रुद्राचार्यो रोषमुद्रितोऽभूत्। यतः—

"महतोऽपि भवेद् द्वेषः सेवके तुङ्गतेजसि। कामदेवं महादेवः किं सेहेऽधिकविक्रमम्" ?॥१॥

महतामपि सेवकमधिकतेजसं दृष्ट्वा द्वेष उदेति, यथा कामदेवमधिकविक्रमं दृष्ट्वा महादेवो रोषोदयाद् न सेहे इति हार्दम्। अथ ससत्त्वेन बन्धुदत्तेन वन्दितो बहुभिः स्तुतिभिः स्तुतोऽपि स रुद्रः सासूयं वचोऽलपत्, दग्धपाषाणो जलसिक्तोऽपि किमनलं नोद्वमति ? उद्वमत्येव। ततो रुद्राचार्यो बन्धुदत्तस्य गुणश्लाघाकरणं तु दूरेऽस्तु परन्तु सम्भाषणम्, आगमनोदन्तमपि नाऽपृच्छत्, यस्माद् महतामपि असूयावशाद् मौढ्यं भवति। धिक् कषायं यद्वशाद् बहुश्रुता अपि विपर्यासमासादयन्ति। येऽन्तर्मलिनाः स्युस्ते आसन्नसेवकेऽपि निरादरा भवन्ति, यथा अन्तर्मलिनं लोचनं पार्श्वस्थानपि पक्ष्मान्तान् न पश्यति। अथ गुरुणाऽसत्कृतो बन्धुदत्तः पठने मन्दादरो जातः, पठनाभ्यासोऽनेन त्यक्तः। क्रमेणाऽनभ्यासाज्जडोऽभवत्। यथा बाल आरामोऽसिञ्चितः पत्र-पुष्प-फलोज्झितो भवति तथा बन्धुदत्तो ज्ञान-क्रियादिषु शिथिलः संजातः।

इतश्च साकेतपत्तने निष्कृपः कृपणः क्रूरः सर्पस्यानुज इवाऽदर्शनीयः कृपनामा नृपोऽस्ति। स राजा कुशास्त्रश्रवणाद् विभ्रान्तचित्तो न कदापि पापात् श्रान्तो भवति। आखेटकादिहिंसां करोति, मृषां वदति, स्तैन्या—ऽब्रह्मादिमहापातकानि च प्रत्यहं करोति।

तथा अजमेधमश्वमेधं नृमेधं गोमेधमपि च दुर्बुद्धिप्रेरितः पुरोधसाऽनेकशो व्यधापयत्। अनुद्विग्नः सन् द्विजेभ्यो बहुतरसुवर्ण-भूमि-लवण-तिलादि अदात्। सगर्व सोत्साहं सर्वपर्वसु सुवर्णादिद्रव्येण गोरूपं कृत्वा तिलगुडादिभिः सह ददाति। ब्राह्मणकुगुरुदत्तवासनाप्रेरितो जैनाऽनगाराणां दुष्टोऽसौ बाधां व्यधात्। ततो जैनमुनिभिः ससर्पगृहवत् साकेतपुरं त्यक्तम्। ईदृशीं साकेतपुरवार्तां श्रुत्वा निमित्तज्ञानकुशलः सोमिलर्षी रुद्राचार्यं प्रति इत्युवाच-'हे स्वामिन्! यदि भवताऽऽदेशः क्रियते तदाऽहं निमित्तभाषणकलया साकेतपुराधीशं कृपनृपं प्रतिबोधयामि'। इति श्रुत्वा गुरुणापि तस्य दुष्टराज्ञः प्रतिबोधनायाऽऽज्ञा दत्ता। अथ करुणासमुद्रः सोमिलर्षिः साकेतपुरं गतः। तत्र च राज्ञो मुख्यमन्त्रिणो गृहे स्थितः। तस्मिन्नेव दिवसे राज्ञा कारिते नव्यावासे प्रवेशाय द्विजैर्लग्ने समर्पिते नृपो गृहप्रवेशाय सामग्रीं कारयामास। तदा निमित्तज्ञानकुशलः सोमिलर्षिर्निमित्तबलेन भाव्यशुभोदयनिर्णयं कृत्वा सचिवाय इत्युवाच-'भो मन्त्रीश्वर! त्वयाऽद्य प्रविशन् राजा वार्यः, यतोऽकाले विद्युत्पातयोगेन तत् पतिष्यति। अद्य निशीथसमये विद्युत्पातो भविष्यति, तस्य निवारयिता न कोऽप्यस्ति, यतः-'अवश्यंभाविभावानां, प्रतिकारो न विद्यते' इति। तच्च साभिज्ञानं ते कथयामि यतो मदुक्तमिदं सत्यमेव बुध्येत, यद् अद्य रात्रौ मूर्तिमत्काल इव व्यालः स्वप्ने दृष्टोऽस्ति, अस्मादभिज्ञानाद् मदुक्तं सत्यं मन्यताम्। अतो निर्णयं कृत्वा पश्चाद् यथास्वहितमाचरणीयम्'। एतादृशं मुनिवाक्यं श्रुत्वा मन्त्रिणा सर्वं मुनिभाषितं भूभुजे निवेदितम्। राजापि तत् श्रुत्वा विस्मितचित्तो विचारयति स्म-'अहो मुनेर्ज्ञानं दृश्यताम्! रात्रौ मया दृष्टं स्वप्नं कथं ज्ञातवान्! अतः कारणाद् अग्रेतनमपि विद्युत्पातादिकं सर्वं सत्यमेव भविष्यति, ततो मया नवमन्दिरे प्रवेशो न करणीयः'। एवं मनसि निर्धार्य मुहूर्तकाले संजाते सभयो राजा नवं धाम न जगाम। तस्मिन्नेव रात्रौ विद्युत्पातात् प्रासादः पपात। ततो राज्ञा प्रासादपतनाद् मुनेर्ज्ञानातिशयं

वीक्ष्य हृदि निर्णीतं यद् जैनात् परः कोऽपि ज्ञाता नास्ति। अथ प्रभाते संजाते दूरीकृतमिथ्यात्वकदाग्रहो राजा सात्मप्राप्ततपस्क्रियं सोमिलं मुनिमाहूय भूमिमिलन्मौलिस्त्रिकरणशुद्ध्या वन्दितवान्, मुनिनोक्तं जैनधर्ममूरीचकार, परमार्हतमार्गाराधकश्च जातः। ततो महीपतिना धर्माङ्गीकरणे श्रीजिनधर्मोन्नतिर्महती ववृधे, बहुना लोकेनापि मिथ्याभिनिवेशं त्यक्त्वा श्रीजिनधर्मोऽङ्गीकृतः। ततो भूपतिना शासनोन्नतिवृद्ध्यर्थं स्वकीयभक्तिदर्शनार्थं च कृतन्युञ्छन-दान-मान-गीत-नृत्य-वादित्रा-ऽमात्यादिसंप्रेषणाद्यनेकविधोत्सवेन तथा च भक्तिभरनिभृतहृदयप्रणतलोकेन च सह सोमिलमुनी रुद्राचार्यसमीपमागतः। ततो भक्त्या विधिपूर्वकं द्वादशावर्त-वन्दनादिविहिते सहागतेन अमात्यादिराजपुरुषेण आचार्यस्य नवाङ्गपूजन-प्रभावनादि कृतम्। सर्वेणापि च लोकेन सोमिलर्षिः प्रशंसितः। बहुमानपूर्वकं दुर्वादिनिराकरणव्यतिकरो निवेदितः। भक्त्युत्सेकेन कृतां पुनः पुनः श्लाघां श्रुत्वा रुद्राचार्यो हृदयेऽसूयादोषात् प्रज्वलति, लोकलज्जया च वदितुं न प्रभवति, परन्तु मनसि द्वेषेण परिणमति। यथा यथा सोमिलर्षिकृतशासनोन्नतिं शृणोति तथा तथा तुषारहतपद्मवद् मुखम्लानिमाप्नोति। ततो द्वेषवशाद् लौकिकव्यवहारेणापि क्षेमागमनवार्तामपि न पृच्छति। तदा स प्रभाकरादयः पूर्वोक्ताश्चत्वारो मुनिवरा अन्येऽपि च गच्छगताः सुविहितसाधवो रुद्राचार्यस्य निरादरमसूयाक(ज्व)लनं च दृष्ट्वा योग्या अपि अकृतयथार्थश्लाघया हतोत्साहाः स्वस्वगुणेषु शैथिल्यमाप्ताः। तदा रणेऽश्लाघितभटं सैन्यमिव समग्रोऽपि गच्छोऽसीदत्, भग्नपालिप्रबन्धस्तटाकः किं न शुष्यति ?। ततोऽसौ रुद्रो गुणिदोषोत्पन्नकिल्बिषत्वेन अनालोचिततत्पापो मृत्वा किल्बिषसुरेष्वगात्। देवजातिषु चण्डालतुल्य उत्पन्नस्तेन देवसभायां प्रवेशमपि न प्रापत्। चिरं देवेषु जातिहीनतया तिरस्कारदुःखं भुक्त्वा ततश्च्युत्वा द्विजगृहे जन्ममूकः पुत्रोऽजनि। पूर्वकृतकर्मोदयाद् रोगाक्रान्तो दरिद्रश्च अनेकदुःखाभिभूतो मृत्वा भवे चिरतरं

भ्रान्तः। यद्येवमागमतत्त्वज्ञः समस्तश्रुतवेत्ता आचार्यगुणधार्यपि च रुद्राचार्य एकयैव गुणेर्ष्यया घोरं दुःखं प्राप्तस्तदा ध्माताऽयोगोलककल्पानां तु का कथा?। इत्थं धनसारो वदति–हे पुत्राः! सम्यगालोच्य गुणरागिणो भवेत"।

इति पितुर्वचनं श्रुत्वा त्रयोऽपि ते बान्धवा अन्तः सेर्ष्या बहिः शान्ता भस्मच्छन्नाग्नय इव कियतोऽपि वासरान् मौनमाधाय तस्थुः। असौ धनसारश्रेष्ठी धन्यकुमारपुण्यैः षट्षष्टिकोटिद्रव्यनायकोऽभूत्, पृथिव्यां जनानां दौस्थ्यं भङ्क्तुं धनद इवावतीर्णः। इत्येवं रुद्रमुनीन्द्रेण कृतां बहुलोपद्रवकारिकां गुणिषु द्वेषितामवगम्य, तथा धन्यकुमारवत् सकलेप्सितपूरणकामदुघां गुणरागितां निशम्य, या इहामुत्र च भवे श्रेयस्करी भवेद् बुधाः! तामेवाऽऽश्रयत, येनाऽविघ्नं संसारदुःखोत्तारणाय भवति।

॥ इति श्रीतपागच्छाधिराजश्रीसोमसुन्दरसूरिपट्टप्रभाकरविनेय–श्रीजिनकीर्तिसूरिविरचितस्य पद्यबन्धधन्यचरित्रशालिनः श्रीदानकल्पद्रुमस्य महोपाध्यायश्रीधर्मसागरगणिनामन्वये महोपाध्यायश्रीहर्षसागरगणिनामन्वये महोपाध्यायश्रीहर्षसागरगणिप्रपौत्र–महोपाध्याय-श्रीज्ञानसागरगणिशिष्याल्पमतिग्रथितगद्यरचनाप्रबन्धे षट्षष्टिकोटिद्रव्यार्जनो नाम तृतीयः पल्लवः ॥

अथ चतुर्थः पल्लवः

अथ धन्यकुमारस्य त्रयोऽपि सहोदराः श्रीमता धन्येन सह तातनिचानुग्रहगा लोकलज्जया च कतिचिद्दिनान् सौभ्रात्रमदर्शयन्, परस्परं शिष्टाचारपूर्वकं गृहकार्यं यथोचितं निर्वहन्ति स्म। इतश्च प्रतिष्ठानपुरस्वामिनो राज्यदेशे समुद्रोपकण्ठवर्तिबिन्दरेऽन्यदाऽवसरे वातेनाऽतिप्रेरितं मृतस्वामिकमेकं महत् प्रवहणं समागतम्। तदा तदन्तर्वर्तिलोकैः प्रतिष्ठानपुरेशो विज्ञप्तः—'स्वामिन्! अस्य प्रवहणस्य स्वामी तु पोतमार्गे पञ्चत्वमापन्नः, तस्य परिजनस्तु कोऽपि नास्ति; अतो निःस्वामिकं द्रव्यं भूपतेर्भवति, तस्मादिदं द्रव्यं भवद्भिर्ग्राह्यम्। यच्चाऽस्मदीयं तत् पोतगतमनुजेभ्यो निर्णयं कृत्वाऽस्मभ्यं देयम्'। ततो राज्ञा तन्निर्णयं कृत्वा यानपात्रवणिजो वसनादिभिः सत्कृत्य स्वस्वसम्बन्धिधनं च दत्त्वा विसृष्टाः। ततो गृहीतशम्बलास्ते स्वं स्वं स्थानं गताः। अथ नाविकैः सागरप्रवाहात् स्रोतसा पोतः पोतवद् मन्दं मन्दं समाकृष्य नगरान्तिकमानीतः। ततो भूपाज्ञया प्रवहणगतक्रयाणकभाण्डानि नाविकैरुत्तारितानि; अपराण्यपि प्रवहणोपकरणानि निष्काश्य भूमौ स्थापितानि। पुनस्तस्यैव प्रवहणस्याधोभागात् क्षारमृद्भृताः कलशा अनेकसङ्ख्या निःसृताः। तांश्च दृष्ट्वा भूपालप्रमुखैर्जनैरिति हृद्यवधारितम्—'नूनं पोतपतेर्नगरे लवणं दुष्प्राप्यं दृश्यते, तेन कस्मादपि बिन्दरतः क्षारमृत्कलशाः संगृहीताः सम्भाव्यन्ते'। ततो भूपतिः प्रतिष्ठानवास्तव्येभ्यानाकार्य सर्वं तत् क्रयाणकं सन्दर्श्य प्राह—'भो व्यापारिणः! एतत्प्रवहणगतं क्रयाणकं सकलव्यापारिजनप्रसिद्धमूल्यं दत्त्वा गृह्यताम्, यथा कस्यापि द्रव्यं न त्रुट्यति, लाभस्तु स्वस्वभाग्यानुमा-

नयोग्यः प्राप्यतां तत्राऽस्मदीयो लागो भागो नास्ति'। इति भूपोक्तं श्रुत्वा तैः सर्वैः परस्परमामन्त्रितम्—'राज्ञा दत्तं क्रयाणकं नगरगतसर्वव्यापारिण आहूय तान् विभज्य विभज्य देयम्। यतो राजदेयं लभ्यं वा सर्वैः संमील्य कर्तव्यम्, एकेन पुनर्निर्वोढुं न शक्यम्, अत आगतदिने सर्वान् वणिज आहूय विभज्य यथायोग्यं ग्रहीष्यामः'। इति सूत्रयित्वा स्वस्वगृहं गताः। प्रभाते पुनर्मिलितास्तैरेकेनोक्तम्—'धनसारस्य कोऽपि नागतः, अतस्तस्याप्यामन्त्रणं कार्यम्'। ततस्तैर्धनसारगृहे आकारणाय मनुष्यः प्रेषितः। धनसारेणापि तदुक्तं श्रुत्वा वृद्धेभ्यः पुत्रेभ्यस्तत्र गमनार्थमनुज्ञापितम्। तदा अन्तर्मत्सरिणस्ते पुत्रा एवमूचुः—'भोस्तात! किमस्मान् प्रेषयसि? स्वकीयं दक्षपुत्रं किं न प्रेषयसि?। यतोऽस्य दक्षत्वमपि ज्ञास्यते कीदृशं वस्तुग्रहणकौशल्यम्!। नित्यं त्वं यस्य प्रशंसां करोषि तस्य परीक्षाकषपट्टस्थानं समागतम्, अतस्तमेव प्रेषयित्वा लाभं गृहाण'। ईदृशं पुत्रोक्तं श्रुत्वा धनसारेण धन्यः प्रहितः।

पावित्र्यनिधिर्धन्योऽपि पितुरादेशं लब्ध्वा सपरिकरः शुभशकुनैरुत्साहितस्तत्र गतः। ततः सर्वेऽपि महेभ्याः स्वस्ववाणिज्यानुकूलवस्तुक्रयाणकं विभज्य जगृहुः। परीक्षकशिरोरत्नं धन्यस्तु तत्र स्थितः सर्वेषां क्रयाणकानां दृष्टिपथाऽवतीर्णानां स्वबुद्ध्या परीक्षां कृत्वा मौनमाधाय स्थितः। तावता क्षारमृद्भृतकलशविभजनाऽवसरो जातः, परन्तु तद्ग्रहणाय न कोऽपि करं प्रसारयति। ततः सर्वैः सम्भूयाऽऽमन्त्रितम्—'अयं बालो धन्यकुमारक एव वञ्च्यताम्, यतोऽयं बालत्वात् सव्याऽपसव्यं किमपि न ज्ञास्यति। अतो वचनरचनां कृत्वा बालस्य योग्यं वस्तु बालस्यैव दीयताम्'। 'भो धन्यकुमार! त्वं प्रथमवयसि प्रथमव्यापारायागतः, अत इदं मङ्गलरूपं मृद्द्रव्यं गृहाण। यतः प्रथमं स्तोकायासं स्तोकव्ययं च कार्यं क्रियते, पश्चाद् बहुबहुतरं क्रियते, ततो अधिकाऽधिकतरा बुद्धिः सम्भवति, मतिविभ्रमश्च न भवति, 'अल्पारम्भाः क्षेमकरा भवन्ति' इति वचनात्। किञ्च, राजदेयं द्रव्यमपि अस्य स्वल्पं भवि-

ष्यति, लभ्यग्रहणे च राजा त्वरितो भवति, वस्तुविक्रयश्च यथावसरे भवति, ततश्च यदि स्वल्पं देयं तदा शीघ्रं दातुं शक्यते। तत्र पिताऽपि अस्मदुपरि प्रसन्नचित्तो भविष्यति, यद् मम बालपुत्रं भद्रकं ज्ञात्वा स्वल्पद्रव्यव्ययप्रयासं वस्तु दत्तम्। अतो मृदं गृहीत्वा सिद्धिं कुरु, भव्यं भविष्यति'। तदा धन्यकुमारेणापि शिष्टाचाररीत्या प्रतिवचो दत्तम्—'महान्तो वृद्धा ईदृशा एव भवन्ति, बाला-दीनां वृद्धा हितकरा भवन्ति। महाजनानामयं प्रसादः सर्वकामदो भविष्यति'। इति मिष्टवचनैः सन्तर्प्य विसृष्टाः। धन्यश्चिन्तयति—दृश्यतां स्वार्थपूरणार्थं दम्भकौशल्यम्!। मम बालभावं ज्ञात्वा कीदृशीं वञ्चनां कृत्वा परीक्षाज्ञानविकलाः 'कुत्सितवस्तु' इति धिया मम शिरसि ढौकयित्वा गताः?। संसारे स्वार्थं विना न कस्यापि कोऽपि वल्लभो भवति। मया तु श्रीदेव-गुरुपादप्रसत्तेः सहजेनाऽपरिमितिलाभो लब्धः'। इत्येवं परीक्षकशिरोरत्नं धन्यः स्वल्पमूल्येन तां मृदं लात्वा स्वगृहं निन्ये। ततो धन्याग्रजास्त्रयः क्षारधूलिभृतान् कलशान् वीक्ष्य ईर्ष्यादोषवशाद् हस्ततालिदानपूर्वकं हसन्तः पितुरग्रे धन्यस्य मूर्खत्वमारोपयन्ति स्म। "भोस्तात! पश्य तव दक्षपुत्रस्य वस्तुग्रहणकौशल्यम्!। यतो विविधदेशोत्पन्नानि विचित्रप्रभावाणि दुर्लभानि इहदेशेऽपूर्वाणि महामूल्यानि श्रुतपूर्वाणि परमदृष्टपूर्वाणि भाग्यैकलभ्यानि वस्तूनि अस्मिन् प्रवहणे बहुतराण्यासन्। तन्मध्याद् ये ये व्यापारेषु क्रय-विक्र-यकर्मकुशलाः क्रयाणकानामुत्पत्ति-गुण-संयोजनभेदेषु दक्षास्ते ते सर्वे स्वस्वाऽभीष्टसाधकं समुपलक्ष्य तदेव गृहीत्वा स्वकीया-र्थप्रयोजनमपूपुरन्, युष्मदीयेष्टपुत्रस्तु तैर्ग्रहणं कुर्वद्भिर्यदुद्गीर्णं, न केनापि चाऽङ्गीकृतं, निकुत्सितधूलिपुञ्जरूपं लवणं हीनज-नोचितं लात्वाऽऽगतः। यस्मिन् शुद्धलवणत्वमपि न विद्यते। लवणग्राहकस्तु एनद् हस्तस्पर्शमपि न करोति, केवलधूल्या गृहं पूरितम्। अथ लवणस्य कया रीत्या क्रय-विक्रयौ भविष्यतः?। पूर्वं यैः सुवर्णरत्नवस्त्रादिभव्यजनोचिता व्यापाराः कृतास्तेषां

लवणापणं कुर्वतां पूर्वोपार्जितप्रतिष्ठा विनश्यति । येन तेनापि बाल–मूर्खादिना यदि व्यापारक्रियया गृहनिर्वाहो भवेत् तदा निपुणानां को गवेषणां कुर्यात् ? । गुणवतामवसरे परीक्षा जायते । कदापि काकतालीयन्यायेन एक-द्विकादिवारं मूर्खस्य साहसकार्यं प्रध्वरमागतं तेन हे तात ! मनसि हर्षौत्सुक्यात् तस्यैव प्रशंसनं प्रस्फूलनं च न कर्तव्यम् । शिष्टजनाचीर्णव्यवहारावसरे तु तदेव प्रस्फूलनं जनगर्हणीयभावं प्रापयति । अनेन बालेन लवणधूल्यानयनेन अस्मद्गृहस्य महत्त्वं निर्नाशितम् । राजदेयं द्रव्यं तु शीघ्रं दातव्यं भविष्यति, वस्तुविक्रयस्तु निर्लवणा मही भविष्यति तदैव ज्ञेयः । यथा लोकोक्तिः–लङ्कालुण्टनकाले निर्भाग्येन स्वहस्तेन तापनं लब्धम्' । अतो यूयं पुत्रश्च मिलित्वा विचारयत अस्मिन् व्यापारे कियत्परिमितो लाभो भविष्यति" ! इत्येवं हास्यं कुर्वतो दृष्ट्वा ईषत्साशङ्को धनसारो धन्यमामन्त्र्य पृच्छति स–पुत्र ! प्रवहणे बहुषु क्रयाणकेषु सत्सु त्वया किमिदं धूलीपुञ्जरूपं क्षारमृन्मयं वस्त्वानीतम्' ? । इति पित्रोक्तं श्रुत्वा धन्यः सविनयं पितरं प्रत्युवाच–"हे तात ! तव चरणप्रसत्तेर्दारिद्र्यवनदाहकं वस्तु हस्ते चटितम् । सर्वैर्महेभ्यैस्तु वस्तुप्रभावाऽविज्ञतया यत्किञ्चिदिति ज्ञात्वा कपटरचनां कृत्वा मे शिरसि ढौकितम्, मया तु श्रीमद्गुरुचरणप्रसादतः समुपलक्ष्य चाऽङ्गीकृतम् । तत्प्रभावश्च श्रूयताम्–एषा मृत् सामान्या न ज्ञेया, यस्याः स्पर्शवशाद् लोहं स्वर्णरूपं भवति । पारसपाषाणखान्यन्तर्वर्तिनी इयं धूली नाम्ना 'तेजमतूरी' विश्वदारिद्र्यहारिका । यस्या रतिमात्रमात्रया विद्धं पलाऽष्टकमितं ताम्रं हेमीभवेत्" । इति पितुरग्रे निवेद्य तस्यामेव वेलायामुक्तक्रियया ताम्रस्य लोहस्य च स्वर्णं कृत्वा दर्शितम् । एवं पुनः पुनः क्रियया अनेकस्वर्णकोटिद्रव्यं निर्मापितम् । मातर-पितरौ त्वत्यन्तं हर्षितौ । अग्रजत्रिकमन्तरा समस्तपरिजनाः प्रतिक्षणं प्रशंसन्ति । ते तु ज्वलितान्तःकरणास्तिष्ठन्ति ।

अथ केनापि धन्योदयाऽसहमानेन पिशुनेन राज्ञोऽग्रे निवेदितम्—'स्वामिन्! धनसारपुत्रो धन्यः सर्वान् महेभ्यान् भवन्तं च वञ्चयित्वा स्वल्पमात्रं मूल्यं दत्त्वा तेजमतूरिकाभृतान् अनेककलशान् लात्वा गतः, कस्याऽप्यग्रे न निवेदितम्। अतः सा तेजमतूरिका राज्ञो भाण्डागारयोग्याऽस्ति, साऽऽनाय्य कोष्ठागारे ध्रियताम्। तथा तस्य धूर्तस्य शिक्षा भवेत्'। इत्युक्त्वा पिशुनो गतः। तदा नीतिप्रियेण राज्ञाऽवधारितम्—'मया तु प्रवहणगतं क्रयाणकं समस्तमहाजनसमुदायेभ्यो दत्तम्। कथितं च—'येन मूल्येन ग्रामे क्रय-विक्रयौ भवतस्तन्मूल्यमस्मभ्यो देयम्। ततः परं तु भवद्भाग्योदयो यादृशो भविष्यति तादृशो लाभोऽपि भविष्यति'। इत्युक्त्वा मया दत्तम्। अतः परं मम विरुद्धजल्पनमयुक्तम्। एकं तु महदाश्चर्यम्—येऽतिनिपुणा बहुबहुतरक्रयाणकानां गुण-दोषपरीक्षणकुशला विविधदेशोद्भववस्तूत्पत्तिनिष्पत्तिविज्ञाः क्रयविक्रयकरणप्रवणा एवमनेके परिणतवयसः, तेषां मध्ये धन्यस्तु कियन्मात्रः! कियती वयःपरिणतिः! येन एते सर्वेऽपि परिणतवयसो महेभ्या वञ्चिताः। अतः पिशुनवचने को विश्वासः? । ततो धन्य आहूय पृच्छ्यते। तदा राज्ञा धन्यानयनाय स्वसेवकाः प्रेपिताः। तैरपि गत्वा धनसारायोक्तम्—'तव पुत्रस्य धन्यस्य राजाऽऽकारयति'। तदा सशङ्को धनसारो धन्यं ज्ञापितः—'राजा त्वामामन्त्रयति'। धन्येनोक्तम्—'महान् भाग्योदयः, अतिशोभनं जातम्। यतोऽतिपुण्योदयेन राजप्रसङ्गो भवति। केचित्तु राज्ञे मिलनाय अतिकल्मपं कुर्वन्ति, अहं तु महाराजेन स्वयमेवाहूतः, अतो युष्मद्भाग्योदयेन भव्यं भविष्यति, न काप्यत्र शङ्का विधेया'। इत्युक्त्वा वस्त्रालङ्कारविभूपितः सेवकादिपरिजनैः परिकरितः किमपि अत्यद्भुतोपायनं लात्वा राजसमीपे गतः। पश्चात्तु धन्याग्रजास्त्रयो राजामन्त्रणं श्रुत्वा कर्णेजपत्वमकुर्वन्—'अहो! लोकोक्तिः सत्या जाता कीटिकासञ्चितं धान्यं तित्तिरिर्भक्षयति। एवमस्मदनुजेन मायाकुशलेन कृष्णधवलं कृत्वा इतस्ततो धनमेलनं कृतम्, परन्तु अद्याऽग्रगतं पृष्ठगतं

सर्वमेकहेलया राजा ग्रहीष्यति। अस्य पापेन पुरातनमपि धनं यास्यति। पिता तु अद्यापि धन्यगुणवर्णनमेव करोति। इति श्रुत्वा मध्यमो वक्ति–'अन्धः शिरःस्फालनं विना सरलो न भवति, यतोऽस्मत्पिता रागान्धत्वात् किमपि न वेत्ति, अतः परं सर्वं ज्ञास्यति'। एवं वार्ता कुर्वाणास्तिष्ठन्ति।

अथ धन्यो राज्ञोऽग्रे उपायनं धृत्वा नमस्कारं कृत्वा राजादेशेन च यथास्थानं निविष्टः। राजापि तं भाग्याधिकं रूप-वय-श्चातुर्यभूषितं धन्यं दृष्ट्वाऽतिप्रसन्नचित्तो वदति स्म–'भो धन्य! तव सुखसमाधिर्वर्तते'?। धन्येनोक्तम्–'भवतां चरणप्रसत्तेः। यतः प्रकृतीनां सुखैककारणं भूपतिः, पितरौ तु केवलं जन्मदायकौ, ततः परं सर्वसांसारिकसुखानुभवस्तु राजसाद् भवति। अद्य पुनर्मम महान् भाग्योदयः, यतो महाराजेन महतीं कृपां कृत्वाऽहं स्मारितः, तेन मम सुखोपरि सुखं सञ्जातं, न काऽपि न्यूनता स्थिता'। इति धन्यस्य प्रतिवचः श्रुत्वा सन्तुष्टो जातः। पुनर्धन्यमादिशति–'धन्य! अस्मत्प्रवहणगतक्रयाणकभागः किमपि गृहीतो नवा'?। तदा धन्येनोक्तम्–'महाराजस्य यादृशी शिशोरुपरि कृपा समस्ति तादृशो भागोऽपि मया लब्धः'। राज्ञोक्तम्–'कथम्'?। तदा धन्येन सर्वो व्यतिकर आमूलचूलतो निवेदितः। वस्तु अनुपलक्ष्य 'कुत्सितमिदम्' इति स्थापयित्वा मां बालं च ज्ञात्वा मम शिरसि ढौकितम्। मूल्यमपि तैरेव कथितम्। मया तु तद् वस्तु गुरुकृपया समुपलक्ष्य मौनमाधाय स्थितेन तैर्यद् दत्तं तत् प्रमाणीकृतमस्ति। अनया रीत्या प्रवहणगतभागो लब्धः। तद्भागागता तेजमतूरी मम गृहे भूरी वर्तते। अतः परं तु भवदाज्ञा प्रमाणम्'। इत्येवं धन्यस्याऽवितथव्यतिकरं श्रुत्वा राजा विहस्य सभ्यजनेभ्य इति कथयितुं प्रवृत्तः–दृश्यताम् अहो सांसारिकलोकानां परसुखेर्ष्यादोषप्राबल्यम्!, यतः स्वस्याऽज्ञानवशाद् वस्तु गुणतोऽनुपलक्ष्य 'स्वार्थाऽसाधकम्' इति ज्ञात्वा कापट्यरचनां कृत्वा धन्य-

शिरसि ढौकितम् । तस्मिन् समये तु तैः सर्वैर्निश्चितं भविष्यति यद् 'इदं कुत्सितं वस्तु अज्ञत्वादयं बालो ग्रहीष्यति । यद्यस्य तात
आगतोऽभविष्यत् तदा नाऽग्रहीष्यत् । भव्यं जातं यदयं बालः प्रेषितः । तस्मात् शिरस उत्तीर्णं कस्यापि शिरसि निपततु' इति
कुटिलबुद्ध्या धन्याय दत्त्वाऽऽत्मानं विचक्षणं मन्यमानाः स्वस्वेष्टं क्रयाणकं गृहीत्वा गताः । सर्वैरपि स्वार्थ एव वल्लभः कृतः, न
केनाप्यस्य दया विचारिता । ततोऽनेन सर्वेषां दौर्जन्यविलसितं दृष्ट्वा विचक्षणत्वाद् मौनमाधाय स्वेष्टं चाङ्गीकृतम् । यतो दुर्जनानां मर्म-
कथने स्वस्यैव दुःखाय भवतीति नीतिवाक्यं स्मृत्वा तद् लात्वा गतः । धन्यस्य तु स्वभाग्योदयतोऽनुपमं क्रयाणकं हस्ते चटितम्,
नाऽत्र कस्याप्युपकारोऽस्ति । यद् दुर्जनैरुद्वेगाय कृतं तत् स्वभाग्योदयेन परमसुखाय जातम् । तं सुखोदयं दृष्ट्वा दुर्जना अस्योदयम-
सहमाना मां प्रति दुर्बुद्धिं दातुमागताः । परं ममाऽनीत्या प्रवर्तनं सङ्गतं न, यतोऽनीत्या इहलोकराज्यमपि नश्यति, परभवे च दुर्ग-
तिभाग् भवति । यदि पूर्वं सर्वैर्महाजनैर्मयाऽपि च 'तेजमतूरी' इति ज्ञातमासीत् तदा कस्यपि दातुं प्रवृत्तिर्नाऽभविष्यत् । अतो धन्येन
स्वभाग्योदयतो लब्धं धनं धन्यस्यैव भोक्तुं योग्यं, नापरस्य । ततो मयापि चाऽऽज्ञा दत्ता–सुखेन स्वैरं भोक्तव्यम्" । इति सभासमक्षं
प्रसादीचकार । धन्येन चोत्थाय 'महती महाराजस्य बालोपरि कृपा' इत्युक्त्वा प्रणामो विहितः । पुनस्तद्गुणरञ्जितो राजा सभ्यज-
नाग्रे धन्यस्य सौभाग्यादिगुणान् वर्णयति स्म–"भो जनाः ! दृश्यतामस्य धन्यस्य बालत्वेऽपि वार्द्धक्यमिव पक्वबुद्धित्वम् । पुनर्दक्षत्वं
च दृश्यतां यैर्नित्यं क्रयाणकक्रय-विक्रयकुशलैर्नानादेशपरिभ्रमणेनाऽनेकपाशुत्पत्तिनिर्णयविज्ञाननिपुणैः परिणतैकवयोभिर्महेभ्यैरपि
न ज्ञातं तत्सर्वमनेन सर्वप्रकारैरुपलक्षितम् ! । अतो मम नगरवास्तव्यजनानां मध्येऽयं धन्य एव धन्योऽस्ति । एतादृशैरेव पुरुषैः
'पृथ्वी रत्नगर्भा' इति कथ्यते" । एवं बहुधा वर्णनं कृत्वा वस्त्राभरणादिना सत्कृतः । भाषितश्च–'भो धन्य ! नित्यं मम सभाया-

मागन्तव्यम्। त्वत्सदृशेन सत्पुरुषेण सभा शोभना भवति। सर्वेषां च मन्त्रि-सामन्तादीनामाज्ञा दत्ता यदस्मत्सभायां शिष्टाशिष्टगतं न्यायादिकरणमत्रणं तत्सर्वमस्य बुद्धिनिधेरग्रे निवेद्य अस्यानुकूलं विधेयं, नान्यथा'। इत्युक्त्वा धन्यो विसृष्टः। धन्योऽपि च राजदत्तवस्त्रालङ्कारं परिधाय राजदत्तवाहनमारुह्य राजानं प्रणम्य च निर्गतः। तदा राज्ञा आतोद्यवादक-ध्वजकारक-विरुदपाठकादीनामाज्ञा दत्ता—'नित्यं महाडम्बरपूर्वकं धन्यो गमनागमनसमये सावधानतया गृहं यावद् नेयः'। ततो राजदत्तमहाडम्बरपूर्वकं नगरचतुष्पथे भूत्वा स्वगृहमागत्य पितरं ननाम। पितापि तस्य महद् राज्यमानं दृष्ट्वा परमहर्षितो बभूव। ते त्रयोऽप्यग्रजा विषमविषमूर्च्छिता बभूवुः। ततः सकलेऽपि च नगरे धन्यस्य सर्वन्यायविदां मान्यतया स्वकीयपुण्यतपस्तेजस्तया यशःकीर्त्तिप्रौढतया सुहृज्जनपोषितया च अमित्राः शोपमगमन्। राज्ञः प्रसत्तिपात्रं, सामन्तादीनां च पूज्यो धन्यः सभायामासीनो जनैरपरभूपतिरूपं जगे।

एवं कियत्यपि काले गते एकदा राजसभातो राज्ञः प्रणामं कृत्वा उत्थितो दिव्यवस्त्राभरणभूषितो नानामणि-मुक्ताफल-झुम्बनकादिविचित्ररचनारचितसुखासनाधिरूढो नानादेशागतभट्टोद्गीर्णयशःप्रसरो, अनेकसामन्त-श्रेष्ठि-महेभ्यैः सविनयं प्रणतो, मार्गे दीन-हीनजनेभ्यो दारिद्र्योच्छेदकं दानं ददानो, अनेककरि-तुरग-भट-चमूपरिकरितो, नानादेशोत्पन्नाऽनारोहितरत्नाभरणभूषिताऽग्रीकृतहयनृत्ययुतः पञ्चविधवादित्रनिर्घोषपुरस्सरं राजमार्गमुल्लङ्घ्य स्वकीयगृहासन्नं यावदागच्छति तावत् ते धन्याग्रजाः स्वस्वगवाक्षस्थिताः पूर्णाश्चर्याः पश्यन्ति। तदवसरे पौराः प्रवदन्ति—"भो जनाः! दृश्यतां दृश्यतां पूर्वजन्मकृतपुण्यबलम्! यदयं लघुकोऽपि स्वतेजसा वृद्धानामपि माननीयोऽस्ति। तेजस्वित्वमेव महत्त्वनिदानं, परन्तु न वार्द्धक्यम्। यतः 'तेजस्विनां हि न वयः समीक्ष्यते' इति वचनात्। तेजस्वान् लघुरपि प्रशंसनीयः, न तु स्थूलः। यदुक्तम्—

"हस्ती स्थूलतनुः स चाऽङ्कुशवशः किं हस्तिमात्रोऽङ्कुशः?, दीपे प्रज्वलिते प्रणश्यति तमः किं दीपमात्रं तमः?।
वज्रेणापि हताः पतन्ति गिरयः किं वज्रमात्रो गिरिः, तेजो यस्य विराजते स बलवान् स्थूलेषु कः प्रत्ययः ?" ॥

"अतोऽयं धन्यो लघुरपि कुलदीपकः। अस्यैव चाऽग्रजास्त्रयः शरीरादिना स्थूला अप्यकिञ्चित्कराः, केवलमस्य पृष्ठे निजोदरपूरणं कुर्वन्ति"। इति पौरजनानां वचांसि श्रुत्वा त्रयोऽप्यग्रजाः प्रभूतमात्सर्यहिमानीपाततो दग्धसद्बुद्ध्यङ्कुरपुराः क्रूराशया इति परस्परं मन्त्रयन्ति स्म–"आः! अस्मिन् धन्ये जीवति सति किमस्माकं प्रौढतावृद्धिर्भवति? अपितु न भवत्येव। स्फुरद्भानौ भानूदये किमु तारकाः स्फारकान्तियुक्ता भवन्ति?। अतोऽयं 'स्वकीयाऽनुज' इति सम्बन्धं सम्प्रधार्य नोपेक्षणीयः। स्वाङ्गजो व्याधिरुपेक्षितः किमाधिं न करोति? तस्मात् सदयभावं परित्यज्य अयं विनाशयिष्यते तदाऽस्माकं तेजोवृद्धिर्भविता। दीपोऽपि दीपवर्तिकां दग्ध्वैव दीप्यते नान्यथा"। इति परस्परं मन्त्रयित्वा धन्यविनाशनाऽऽर्त्तौ पतिताः। अथ तेषां सुगुप्तोऽपि मन्त्रो बुद्धिप्रागल्भ्येन कथञ्चन इङ्गितादिविज्ञानेन च धन्येन ज्ञातः, यतः पातालगतमपि जलं बुधा बुद्ध्या न जानन्ति किमु?।

उक्तञ्च–"आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च। भ्रू-नेत्रा-ऽऽस्यविकारेण लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः" ॥१॥ पुनः–

"उदीरितोऽर्थः पशुनाऽपि गृह्यते, हयाश्च नागाश्च वहन्ति नोदिताः[1]।
अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः, परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः" ॥१॥

तथा धन्यगुणैराकृष्टचित्ता भ्रातृपत्न्योऽपि भक्त्या रहसि स्वभर्तॄणामाकूतं धन्यं प्रति कथयामासुः–'अतो हे देवर! भवता

१ प्रेरिताः।

सावधानत्वेन स्थेयम्। अस्मदीयस्वामिनस्तु दुर्जनस्वभावत्वाद् असूयादृग्दोषेण सन्मतिमूढा जाताः सन्ति। यतः—

'सर्पः क्रूरः खलः क्रूरः, सर्पात् क्रूरतरः खलः। मन्त्रेण शाम्यते सर्पः, खलः केन न शाम्यते" ॥१॥

तस्माद् न विश्वसनीयाः। एवं भ्रातृपत्न्युक्तं श्रुत्वा धन्यो विचिन्तयति–'धिगस्तु तं पुरुषं, यो विवेकसरसि तत्त्वाऽतत्त्वविज्ञानगुणेन कलहंससदृशोऽपि स्वानुषङ्गतः कलहं प्रदीपयेत्, कलहकारणान्न विरमतीत्यर्थः। अत्रस्थितेन मयाऽऽमयेनेव[1] गुणसिन्धूनां बन्धूनां सौख्यं न भवति। कारणयोगात् कार्यं प्रबलयति, तद्विरहे तदपि न, अतोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां ममात्र स्थातव्यं न युक्तम्, कस्मिंश्चिद् देशान्तरे यामि। यतो देशान्तरगमनं हि चातुर्यमूलम्। यतः—

"देशाटनं पण्डितमित्रता च, वाराङ्गना राजसभाप्रवेशः।
अनेकशास्त्रार्थविलोकनं च, चातुर्यमूलानि भवन्ति पञ्च" ॥१॥

"[2]दीसइ विविहचरिअं, जाणिज्जइ सज्जण-दुज्जणविसेसो। अप्पा णं च कलिज्जइ हिंडिज्जइ तेण पुहवीए" ॥१॥

तथा सकलासु कौशलं भाग्यं बलं स्थैर्यं बुद्धिविभवश्च, एषां पञ्चानां देशभ्रमणकषोपलेन परीक्षा क्रियते। ते नरा धन्या ये मनोविनोदकारीणि निधानानीव कौतुकानि पदे पदे पश्यन्ति। धर्मशास्त्रेऽप्युक्तम्–'संकिलेसकरं[3] ठाणं, दूरओ पडिवज्जए' इत्यादि। तथा नीतिशास्त्रेऽप्युक्तम्—

---

१ मद्दर्पादुत्पन्नरोगेण प्र०। २ दृश्यते विविधचरितं ज्ञायते सज्जन-दुर्जनविशेषः। आत्मा च कल्यते हिण्ड्यते तेन पृथ्व्याम् ॥१॥
३ 'संक्लेशकरं स्थानं, दूरतः प्रतिवर्जयेत्'।

"गजं हस्तसहस्रेण, शतहस्तेन वाजिनम्। शृङ्गिणं दशहस्तेन, देशत्यागेन दुर्जनम्" ॥१॥

इत्यादि मनसि सम्प्रधार्य धनसारतनयो देशाऽवलोकनक्रीडानीडोन्मुखपक्षिरूपो जातः।

इत्येवं वर्तमाने कस्यचित् सम्बन्धिमहेभ्यस्य गृहे महोत्सवो जातः। तदाऽस्य पित्रादिस्वगृहमनुष्या महोत्सवव्यग्रचित्ता गमनाऽऽगमन–धावन–वल्गनादितत्कार्यप्रयासेन खेदखिन्नाः श्रान्ताः सुखनिद्रया सुप्ता घोरनिद्रावशीभूता जाताः। तस्मिन् रात्रौ समस्तपौरजने प्रसुप्ते सति एकाक्येव धन्यो गृहान्निर्गतः, नमस्कारमहामन्त्रं स्मरन् मालवदेशोन्मुखं प्रस्थितः। रमाकेलिक्रियापदं मालवजनपदमभिव्रजन् अनेकग्राम–नगर–वनानि विलोकयन् मध्याह्ने क्षुधितो जातः। तस्मिन् समये क्षेत्रमेकं मार्गस्थितं ददर्श, तस्य क्षेत्रस्योपकण्ठे वटवृक्षस्याऽधस्तले क्षुधया बाधितः क्षणं विश्रान्तः। अथ तस्मिन् क्षेत्रे कश्चिद् हालिकः क्षेत्रं खेटयति; एतावता तस्य हालिकस्य पत्न्या किञ्चित् पर्वदिनं ज्ञात्वा शालि–दालि–घृताकुललपनश्रीप्रमुखमिष्टान्नयुक्तं भक्तमानीतम्। तदा हालिकेन सुन्दराकारं क्षुधा–तापादिपरिम्लानमुखं धन्यकुमारं दृष्ट्वा इति विचिन्तितम्–'अहो! अयं सुन्दराकारः कश्चित् सत्पुरुषस्तापादिबाधितोऽत्र वटे विश्रान्तो दृश्यते। अथैनं भोजनार्थं निमन्त्रयामि'। इति निश्चित्य धन्यसमीपमागत्य सादरं भोजनाय न्यमन्त्रयत्। धन्योऽपि तदुक्तं श्रुत्वा ससाहसमित्युवाच–'भोः चित्तज्ञशिरोमणे! अहं स्वभुजार्जितं भुञ्जे। यतः सिंहाः सत्पुरुषाश्च क्षुधिता अपि परोपार्जितं भक्ष्यं न भुञ्जते। अतः शिष्टसमयप्रतिपालनाय यदि तवाज्ञा भवति तदा क्षणं हलेन क्षेत्रं कृषामि, ततोऽहममृतं भोक्ष्ये। यतः गुरुवंशस्य स्वभुजार्जिता भुक्तिः गौरवं–महत्त्वं दत्ते'। इति धन्योक्तिं श्रुत्वा तेन हालिकेनाऽप्यनुमतम्–'भोः सज्जन! यथेप्सितं कृत्वा

१ क्रीडारूपपक्षिगृहोन्मुखो प्र०। २ एकस्मिन् दिने प्रबलतापमध्या–प्र०।

भोजनानुग्रहं कुरु'। एवं हालिकादेशं प्राप्य स्वयमेवोत्थाय हलं गृहीत्वा खेटयितुं लग्नः, तावता हलं स्खलितम्। तदा धन्येन स्वभुजबलेन हलाकर्षणं कुर्वता भूमिगतदृषद्भङ्गेन भूमिगृहगतम् अपरिमितद्रव्यसङ्कुलं निधानं प्रकटितम्। यतो भाग्यवतां सर्वत्राऽनीप्सिताऽपि संपद् आविर्भवति। यदुक्तं च—

"निरीहस्य निधानानि प्रकाशयति काश्यपी। बालकस्य निजाङ्गानि न गोपयति कामिनी ॥१॥

स्वर्णपूर्णं निधिं दृष्ट्वा उदारचित्तेन धन्येन हालिकाय समर्पितः। यथा सम्यग्ज्ञानवतां योगिनां किमज्ञेयम्? तथोदाराणां सत्पुरुषाणां किमदेयं भवति?। ततो हालिकेनोक्तम्—'भोः सज्जनशिरोमणे! तव भाग्यनिधित्वहेतोरयं निरवधिः सेवधिः प्रादुरभूत्, अत इमं त्वमेव गृहाण'। तदा धन्येनोक्तम्—'भ्रातः! मम परकीयधनग्रहणे नियमोऽस्ति, भूमी च भवदीया; तेनेदं भवदीयं धनं, यद् रोचते तत् कुरु'। ततोऽतिविस्मय-भक्तियुक्तेन हालिकेनोक्तम्—'भो महाभाग! त्वयाऽनर्गलं धनं दत्त्वा मम दारिद्र्योच्छेदः कृतः। अधुना तु भोजनं कुरु'। ततोऽत्याग्रहवशेन धन्येन हालिकोपढौकितं भोजनं कृत्वा हालिकं चापृच्छयाऽग्रतोऽगमत्, यतो विश्वोपकारकारकाः सज्जनाः सूर्यवद् नैकत्रस्था भवन्ति। अथ धन्यगमनानन्तरं हालिको विचिन्तयति—'सत्पुरुषधन्याल्लब्धं महाधनं निःशङ्कतया यदि भुज्यते तदा परगृहभञ्जका लोका अनेकैः प्रकारैर्वार्तां करिष्यन्ति। एवं परस्परं विवदमानाः कदापि काले राजद्वारे विदिता भविष्यन्ति, तदा दुर्बलकर्णो राजा पिशुनैः प्रेरितो मां कारागारे क्षिप्त्वा मम सर्वस्वं ग्रहीष्यति, तदाऽहमतिदुःखी भविष्यामि। अतः प्रथमतोऽहं राजानं यथास्थितं समनुज्ञाप्य पश्चाद् यथादेशं करोमि, तदा मम आयतिसुखं भविष्यति'। इति ध्यात्वा हालिको राजानं गत्वा यथास्थितं धन्यवृत्तान्तमाचष्ट। राजापि हालिकोक्तां धन्यकथां श्रुत्वा विस्मितचित्तो हालिकमुवाच—'भो

हालिक! यत् क्षेत्रतो निधानं लब्धं न तद् महदाश्चर्यम्, यतः पृथिव्यां पदे पदे निधानानि सन्ति। परन्तु यद् निधानं लब्ध्वा त्यक्तं तद् महदाश्चर्यम्। तेन पुरुषेण पृथ्वी 'रत्नगर्भा' इति सत्योक्तिः। तथा त्वमपि भाग्यनिधिर्येनैतादृशपुरुषस्य दर्शनं कृतं, भोजनं च कारापितम्, तेन दत्तः प्रसादस्त्वया लब्धोऽतस्त्वमपि धन्योऽसि। अथ यदि तेन पुरुषसिंहेन निधानं तुभ्यं दत्तं तदा मयापि सुतरां तुभ्यं दत्तम्!, महापुरुषस्यादेशं कः स्फेटयति?। परं तस्य महापुरुषस्याभिधानं विख्यातं भवेत् तथा कर्तव्यम्'। इति राजादेशं प्राप्य हालिकेन धन्यस्य ख्यातिविस्तारणाय तस्यामेव क्षेत्रभूमौ धन्यनाम्ना ग्रामो निवेशितः। राज्ञे च निवेदितम्। राज्ञापि तद्ग्रामाधिपत्यं हालिकस्यैव समर्पितम्। हालिकोऽपि राज्ञा प्रदत्तमधिपत्यं प्राप्य सुखमनुभवन् धन्यस्योपकारं न विस्मरति।

अथ धन्योऽपि अग्रतो गच्छन् विविधानि नगर-वनानि पश्यन् दिनात्यये कस्यापि ग्रामस्योपकण्ठं प्राप्तः, यथा तापाऽत्यये हंसो मानसं प्राप्नोति। तत्र च सन्ध्यायां सरित्तीरेऽनाकुलमना वालुकां समादाय स्वहस्तेन निम्नोन्नतां स्फोटयित्वा समतया विरच्य, निःशङ्कवृत्त्या रतितुल्यपर्यङ्क इव स्थित्वा स्वकीयहृदयकमले श्रीसिद्धचक्रकमलं संस्थाप्य यथानुवृत्त्याऽर्हदादिपदं मनसि ध्यायन्, प्रहरं यावज्जपक्रियां कृत्वा, चतुरशीतिलक्षजीवयोनिगतजीवान् क्षमयित्वा, अष्टादश पापस्थानानि व्युत्सार्य, चतुःशरणानि कृत्वा, शुभभावनां भावयन् निद्रावशीभूतो निद्रां प्राप्तः। अथ याममात्राऽपररात्रेऽसौ पुनः बुबुधे। पञ्चपरमेष्ठिपदानि संस्मरन्नुत्थितः, यत उत्तमानां निद्रा-ऽऽहार-कलह-क्रोध-कामा एते पञ्चापि दोषा प्रबला न भवन्ति, मन्दा भवन्तीत्यर्थः। अथ चास्मिन् समये धन्यः किञ्चित् शुभसूचकं शिवाशब्दं शुश्राव, यतः पुण्यवतां पुरुषाणां प्रायो निमित्तानि शुभानि सानुकूलान्येव भवन्ति। धन्येनापि तं शब्दं श्रुत्वा पूर्वाऽभ्यस्तशकुनशास्त्रं विचिन्त्य निर्धारितम् यद् 'दिवा दुर्गाशकुनफलं रात्रौ च शिवाशकुनफलं निष्फलं न भवति'।

चतुर्थः पल्लवः
धन्यकुमारस्य तद्ग्रजानां च चरित्रम्
तत्र धन्यस्य विदेशगमनं

ततः सूक्ष्मबुद्ध्याऽस्यं फलं विचारितं तदा शिवा एवं वदति–'कोऽपि धीरपुरुष एतत्सरित्प्रवाहतः शवं निष्काशयति, तत्कटिस्थानानि रत्नानि गृह्णाति शवं च मम भक्षयितुं ददाति तदा भव्यं भवति'। एवं शिवाशब्दार्थं विचार्य ततः स्थानाद् धन्य उत्थितः। शिवाशब्दानुसारेण नदीतटं जगाम, यतो धनार्थी भोजनार्थी कौतुकी चाऽलसो न भवति। ततः सरित्तीरे यावता विलोकयति तावता स्वकृतपुण्येनाकृष्टमिव स्वयमेव जलप्रवाहे तरङ् नद्यास्तटमागतं मृतकमपश्यत्। ततो जलप्रवाहान्निष्काश्य तत्कटिगतानि रत्नानि लात्वा तद् मृतकं शिवायै चाऽऽर्पयत्, येन शकुनाऽर्चनं शुभाय भवति। पुनरपि शयनस्थानमागत्य देव–गुरुस्तवनेन शेषरात्रिमतिक्रम्य प्रभाते संजातेऽग्रतश्चचाल। क्रमेणाऽवन्ध्यधीः स धन्यो दुर्गमं संसारमिव विन्ध्याद्रिमुल्लङ्घ्य सुखेन मुनीन्द्रो निर्वृतिसिवोज्जयिनीमाप। तत्र प्रद्योतनप्रतापः प्रद्योतनामा भूपती राज्यं करोति। षोडशमहाराजानामीश्वरोऽस्ति। यस्य खड्गग्रहणसमकमेवाऽरिवर्गः कम्पते। स राजा बुद्ध्याऽभयकुमारसदृशं स्वकीयराज्यचिन्ताकारममात्यं गवेषयन् निजपुर्यां धीमत्परीक्षायै पटहवादनपूर्वकमिति घोषणामकारयत्–'यो बुद्धिमान् पुरुषः समुद्राख्यसरोमध्यस्थस्य स्तम्भस्य स्वयं पालिस्थितो रज्ज्वा ग्रन्थिं बध्नाति तस्मै नृपो मन्त्रिपदं दत्ते'। इति पटहोद्घोषणां निशम्य बहवो लोकास्तं स्तम्भबन्धनोपायं विचारयन्ति, परन्तु न कोऽपि बन्धयितुं प्रवणो भवति। एतादृशे वर्तमाने धन्येनागतमात्रेण तां पटहोद्घोषणां निवार्य स्तम्भबन्धनमङ्गीकृतम्। तदा राजपुरुषैरुक्तम्–'राजसभायामागम्यताम्'। तदा निर्मलबुद्धिर्धनसारसूनुर्बहुजनवृतः सेवकैः सह उपभूपं जगाम। गत्वा च राजानं नमस्कृतवान्। राज्ञापि तमुदाररूपादिगुणयुतं धन्यं दृष्ट्वा स्वमनसीति निर्णीतम्–'नूनमेष पुरुषवरो ममादेशनिर्वाहं करिष्यति। अस्मत्कृतोद्यमः फलवान् भवन् दृश्यते'। इति संप्रधार्य राजा धन्यं प्रत्येवमुवाच–'भो बुद्धिनिधे! ममादेशं सफलं कृत्वा स्वबुद्धेः फलं प्रापय, लोकानां च कौतुकेप्सितानि पूरय'।

ततः सुधीर्धन्यश्चण्डप्रद्योतभूपस्यादेशं प्राप्य तस्य सरसः सालौघशालिन्यां पालौ जग्मिवान्। तत्र पालिस्थसालाङ्घ्रिवद्धयाऽतिप्रलम्बया रज्ज्वा परितोऽम्बुभ्रमितया स्तम्भमवेष्टयत्। रज्जुप्रान्तबन्धस्थानमागत्य उभयप्रान्तसंयोजनेन ग्रन्थीं दत्त्वा यन्त्रविधीयमेकैकं प्रान्तं गृहीत्वा पूर्वापरदिशि यथा यथा गच्छति तथा तथा ग्रन्थी उपस्तम्भं याति, यावद् ग्रन्थी स्तम्भं स्पृशति। अनया रीत्या स्तम्भे ग्रन्थीं दत्त्वा राजादेशं सफलीचकार। एतत्सर्वं राजा नगरलोकाश्च दृष्ट्वा तद्गुणरज्जुबद्धस्वान्ताः प्रशंसन्ति स्म–'अहो अस्य बुद्धिप्रदुलम्! अहो अस्य प्रतिभाप्रागल्भ्यम्! अदृष्टमश्रुतं च कृतपूर्वमिव कृतम्'। इति तद्गुणरञ्जितो राजा आलोकमुदितो लोको बालभास्वतेऽर्घमिव धन्याय मन्त्रिपदं दत्तवान्। अथासौ धन्यमन्त्रीन्दुर्भूपतेः प्रसादं सकलाधिकशुचिपक्षं समासाद्य समस्तभूवलयमतिशुद्धनीतिज्योत्स्नाभिः सोल्लासितं चक्रे। एवं प्रतिदिनमधिकाधिककीर्त्या लक्ष्म्या च प्रवर्द्धमानो धन्यो मन्त्रिपदं कुर्वाणोऽन्यदा स्वसौधवातायनस्थितश्चतुष्पथैश्वर्यं विलोकयति स्म, तावताऽमावास्यायां विधुमिव दुर्दशं विगलद्वसु दारिद्र्योपद्रुतम् अतिदीनदशाप्राप्तं क्षुत्तृपावाधितवपुं(पुषं) सकुटुम्बं स्वपितरमितस्ततस्तत्पुरे भ्रमन्तं ददर्श। दृष्ट्वा सविस्मयं चोपलक्ष्येति दध्यौ–'विचित्रा कर्मणां गतिः' यतोऽनेककोटिधनविभवयुतं गृहं मुक्त्वाऽहमत्रागतः, तत्सर्वमतिस्तोकदिनमध्ये क्वापि गतम्, एतादृशीं च दशां प्राप्तं मम कुटुम्बं प्रत्यक्षमेव दृश्यते।। श्रीजिनागमोक्तं नान्यथा भवति 'कडाण कम्माण न मोक्खमत्थि' इत्यादि। तथा–

"अघटितघटितानि घटयति, सुघटितघटितानि जर्जरीकुरुते।
विधिरेव तानि घटयति, यानि पुमान् नैव चिन्तयति" ॥१॥

१ धन्याय मन्त्रिपदं ददौ। आलोकमुदितो लोकश्च बालभास्वते प्रणामार्घं दत्तवान्। प्र०।

चतुर्थः पल्लवः
धन्यकुमारस्य तद्प्रजानां च चरित्रम्
तत्र धन्यस्य विदेशगमनं

इति ध्यात्वा आदरपूर्वकं स्वकुटुम्बं गृहे नीत्वा पितरं भ्रातॄंश्च नमस्कृतिं कृत्वा स्नान-वसना-ऽशनादिभिः सत्कृत्य यथावसरं प्राप्येति पृच्छति स्म–तात! बहुधन-यशः क्षेमभृतां भवतां कथमीदृश्यवस्था संजाता तद्व्यतिकरः कथ्यताम्। तदा धनसारोऽपि धन्योक्तिं श्रुत्वाऽवोचत्–'हे वत्स! श्रीजिनागमतत्त्वकुशलो भूत्वा किमु विभवधननाशप्रश्नं पृच्छसि?। लक्ष्म्यादिविभवो न ममायत्तः, किन्तु कर्मोदयायत्तः। यतः कर्मोदयस्य तु द्वे रूपे–पुण्योदयः[1] पापोदयश्च। यदा तु पुण्योदयो वर्तते तदाऽनीप्सितेनापि बलात्कारेण धन-सम्पदादिना गृहं पूरयति। यदा तु पापोदयो[2] वर्तते तदा सुसञ्चितं सुरक्षितमपि गजभुक्तकपित्थवद् गृहं निस्सारं करोति। यतः–

"कृतकर्मक्षयो नास्ति कल्पकोटिशतैरपि। अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" ॥१॥

"इत्यादिहेतोः पुरा पुण्योदयेन सर्वमनुकूलमभवत्। अधुना तु पापोदयेन सर्वं नष्टम्। किं बहुजल्पितेन?। अपरं च, 'गृहे-पुत्र-कलत्रादिबहुजनानां मध्ये एकः कोऽपि भाग्यशाली भवति, तस्य भाग्येन सर्वमपि कुटुम्बं सुखमनुभवति; तद्गमने तु स एव स्वजनवर्गो दुःखमनुभवति' इति शास्त्रोक्तेः प्रत्यक्षतया दृष्ट्वा चाऽनुभूतम्, यतो हे वत्स! कलावति भाग्यनिधौ त्वयि गते सति केनापि पिशुनेन प्रेरितो राजापि प्रतिकूलोऽभवत्, तेन कारागारे क्षिप्त्वा बहुतरं दण्डं कृत्वा धनं गृहीतम्, कियच्चौरैर्मुषितम्, किञ्चिद् वह्निना भस्मसात् कृतम्, कियद् मूढतया व्यापारक्रियया नष्टम्, कियच्च भूमिगतनिधानादि दुष्टसुरैर्हृतं मृत्तिकारूपं संजातम्, तावन्नष्टं यावदेकदिननिर्वाहमात्रमन्नमपि न स्थितम्। ततः कृष्णपक्षेन्दुवद् निष्कलानां[3] सर्वेषां हे जगन्मित्र! महता कष्टेन

१ पुण्यरूपेण प्र०। २ पापोदयरूपेण प्र०। ३ निर्वतुत्वेन (?) निष्कलमिति ज्ञात्वा सर्वमपि कुटुम्बं वादाय। हे–प्र०।

धन्यकुमारस्य तदग्रजानां च चरित्रम् त्र धन्यस्य विदेशगमनं

भवद्गवेषणां कुर्वतां केनापि पुराकृतभाग्योदयेन त्वद्दर्शनं संजातम्। त्वद्दर्शनमात्रेण सर्वतोऽभ्युदयेन च मम दुःखं नष्टं, चित्तं च आनन्दमेदुरमभवत्"। इति पित्रोक्तं श्रुत्वा धन्यः सविनयं प्रणम्याह—'हे तात! मम सेवकस्यापि प्रचुरपुण्योदयो जातो येन तातपादानां दर्शनं संजातम्। इयं च राज्यमानादिसम्पत्प्राप्तिरद्यैव सफला जाता। अतः परं दुःखवार्तां विसार्य सुखानन्दमग्नतया स्थेयम्। अहं तवादेशकारी किङ्करोऽस्मि, काचिदप्यधृतिर्न विधेया'। एवं मातरं ज्येष्ठभ्रातॄन् भ्रातृजायादींश्च मधुरवचनैः संतर्प्य वस्त्र-धनाऽऽभरणादिभिः सत्करोति स्म। सज्जनानामियं रीतिर्युक्तिमत्येव। आश्रितोदयः सोम इव कलावतां मुख्यो धन्यो बान्धवेभ्यः श्रियं ददौ—यथा कलावतां मुख्यः सोमः श्रितोदयः सन् कुमुदेभ्यः श्रियं ददाति, एवं च अन्तःकरणप्रीतियुक्तो धन्यः समस्तमपि कुटुम्बं विविधसुखप्रकारैः पोषयति स्म। तथाप्यस्य प्रभाकरद्युतेर्धन्यस्य धाम तैस्तामसप्रकृतिभिरग्रजैर्न सेहे, तद्युक्तम्, यतस्तामसा दिवा भीता इव अन्यस्य च तेजो न सहन्ते।

अथान्यदा धन्यो राजसभायां गत्वा राजानं नत्वा राज्यकार्यचिन्तां कृत्वा पुनरपि राजादेशं प्राप्य उचितवेलायां सुखासनारूढो विविधहय-गज-रथ-भटादिचमूपरिवृतो विविधदेशागतवन्दिभिर्विचित्ररचनामयरूपकगीतकैः संस्तुतोऽनेकवादित्रवादनपुरस्सरं स्वगृहमायाति। तदा चतुष्पथस्था जना धन्यगुणवर्णनं कुर्वन्ति—दृश्यतां दृश्यतां मनुष्यभवे देवत्वम्, यस्माद् औदार्य-धैर्य-गाम्भीर्य-शौर्यरूपा गुणा अस्मिन् गतोपमाना वर्तन्ते। चतुर्णां भ्रातॄणां मध्येऽनुजोऽपि परोपकारकरण-दीनहीनोद्धरण-स्वकुटुम्बादिपरिपोषण-निःशोन्नततदुक्तिसहनादिविविधगुणैः कृत्वा वृद्ध इव लक्ष्यते'। तदाऽपरो वक्ति—'गुणवतां वयसि किं प्रयोजनम्?'। एतेऽस्य पुण्य-

१ संजातदर्शन—प्र०।

निधेर्धन्यस्याग्रजाः किम्पाकफलसदृशाकारा अस्य प्रसादेन यथेप्सितं सुखमनुभवन्ति। यदा पूर्वमागता अभूवन् तदा द्रम्मकतोऽपि दुर्दशां प्राप्ताः सर्वैरपि जनैर्दृष्टा आसन्। अधुना तु गर्वपूरिताः कृतवक्रकटाक्षाः प्रतिनमस्काराद्युचितप्रवृत्तमपि न कुर्वन्ति, ततः किं जातम्? एतद्व्रकत्वं तु गुणनिधेर्धन्यस्य प्रभावेण निर्वहति, न त्वेषां प्रभावः'। इति ते त्रयोऽप्यग्रजा धन्यगुणवर्णनं स्थाने स्थाने श्रुत्वा यवासकवृक्ष इव दह्यमाना लोभाभिभूता जनकाऽन्तिकमागत्येति प्राहुः—'हे तात! वयं सर्वे पृथक्पृथग्गृहे स्थास्यामः। अतः परं धन्येन सह न वत्स्यामः। तेनास्माकं श्रीणां भागं प्रत्येकं समर्पय'। ततो धनसारस्तेषां वचनं श्रुत्वा ईषद् विहस्य तान् प्रत्युत्तरं प्राह— 'वत्साः! साम्प्रतं भवद्भिर्धनं याच्यते तत् किं प्राग् अस्य धनस्य अर्पितमस्ति यद्ग्रहणाय समुत्सुका जाताः?[1]। अपि च, यूयं तत्सर्वं किं न स्मरथ यत् स्वपुराद् गात्रमात्रेण अतिदीनावस्थां प्राप्ता अत्राऽऽगमिष्यथ[2], ततो धन्येन सज्जनस्वभावतया विनयादिगुणगौरवतयाऽकृत्रिमस्नेहतया च युष्मत्कृतदोषान् विस्मृत्य[3] कामं धन-वस्त्रादिराशिभिः सत्करिष्यध्वे[3], तत् किं न स्मरथ'? । इति पितुर्मुखात् श्रुत्वा द्वेपितसौजन्या वावदूका घूका इव वाण्या घोरास्ते त्रयोऽपिधन्याग्रजा इत्यवदन्—'भोस्तात! त्वं तु दृष्टिरागेणान्धः कमप्यस्य दोषं न पश्यसि, इमं गुणनिधिमेव मन्यसे!। अयं यत् करोति तत् सर्वं त्वच्चित्तेऽत्यन्तश्रेयस्तया प्रतिभाति। परमस्य चरितानि तु वयमेव जानीमः, न कोऽपि वेत्ति। यतः स्नेहहीनोऽसौ अस्मद्गेहतस्तस्कर इव बहुतराणि रत्नान्यादाय नष्टः। अत्र चागत्य तेन धनेन राजवर्गीयजनानां किमपि लञ्चादिकं दत्त्वा ईदृशीं महत्त्वाऽवस्थां गृहीत्वा स्थितोऽस्ति। लक्ष्म्या किं न भवति?, 'सर्वे गुणाः

१ परन्तु युष्माकं तत्सर्वं विस्मृतं यत्—प्र०। २ वा काङ्क्षायाम्। सिद्ध०।५।२।१०। इत्यनेन स्मृत्यर्थधातौ भूतार्थे भविष्यत्प्रयोगः।
३ विस्मार्य—प्र०।

धन्यस्य मुनि-दर्शनम्।

काञ्चनमाश्रयन्ति'। यतः श्रिया कृताऽतिक्षारस्याप्यपेयस्यापि अम्बुधे 'रत्नाकर' इति प्रसिद्धिः संजाता। तस्माद् हे तात ! हृदयाद् वक्रतां विमुच्य श्रीणां भागमस्माकं समर्पय'।

इति पितृ-पुत्राणां परस्परं स्वमूलं कलहोद्भेदं मत्वा सत्त्वाधिकः सुधीर्धन्यो लक्ष्म्या भृतं गृहादिकं त्यक्त्वा पुनरपि निर्ययौ। ततः प्रयाणसमये शोभनैः शकुनैर्दिव्यन्नाप-ध्वाङ्क्षखरादिभिः सुशब्द-चेष्टादिभिश्च प्रेरितस्तान्यभिवन्द्य मगधदेशोन्मुखं प्रस्थितः। विविधानि ग्राम-नगर-वनो-पवनानि निरीक्षमाण एकाक्येव सिंह इव निर्भयं याति। अथाऽस्मिन्नवसरे मन्दाकिन्युपकण्ठेऽशोकतरोरधः शान्तं दान्तं समग्रगुणराशीनां खानिद्वयमिव धर्मस्य मूर्तिमद्रूपमिव धर्मस्य मुनियुगलं ददर्श। धन्यस्तन्मुनियुगलं दृष्ट्वा चन्द्रोद्द्योते चकोर इव, मेघदर्शने मयूर इव, स्वस्वामिदर्शने सतीव, हर्षभरनिभृतहृदयश्चिन्तयति-'अहो ! मम भाग्यानि जाग्रति, यदस्मिन् वनगह्वने विजनप्रदेशेऽचिन्तितचिन्तारत्नलाभाऽधिकं मुनिदर्शनं जातम्। सफलोऽद्य दिवसोदयः, अद्य कान्यपि शकुनानि संजातानि दृश्यन्ते यद् ग्रीष्मघर्मपीडातृषितस्य मानससर इव मुनिमिलनम् !। इह-परभवद्रव्य-भावतृड्विध्यापको मुनि-मम शुभयोगोऽतिदुष्करः, स संजातः'। इत्येवं ध्यायन् हर्षेण पुलकितहृदयः पश्चाऽभिगमादिविधिपूर्वकं प्रदक्षिणात्रयं दत्त्वा पञ्चाङ्गप्रणिपातेन वन्दित्वा—

"गोयम सोहम्म जंबु, पभवो सिज्जंभवाइया। सव्वे ते जुगप्पहाणा पइ दिट्ठे ते सवि दिट्ठा ॥१॥

अहो ! ते निज्जियकोहो, अहो ! माणपराजओ। अहो ते अज्जवं साहु ! अहो। ते मुत्तिमत्तपो ॥२॥

॥३९॥

१ गौतमः सौधर्मः जम्बूः प्रभवः शय्यम्भवादिकाः। सर्वे ते युगप्रधानाः त्वयि दृष्टे ते सर्वे दृष्टाः ॥१॥ अहो। ते निर्जितक्रोधः, अहो। मान-

अज्ज कयत्थो जम्मो"

इत्यादिपद्येन स्तुत्वा संयमशरीरयोश्च सुखप्रश्नं कृत्वा यथाऽवग्रहस्थानमाश्रित्य मुनेः सम्मुखं स्थितः। मुनिरपि धर्मश्रवणपिपासितं ज्ञात्वा श्रीजिनागमतत्त्वं दर्शयितुं प्रवृत्तः-"भो भव्य! इह-अस्मिन्नपारसंसारे मिथ्यात्वा-ऽविरति-कषाय-योगरूपैश्चतुर्भिः कारणैरर्दिता जीवा विविधजाति-कुलस्थान-योनिषु परिभ्रमन्ति। जन्म-जरा-रोग-मरणरूपैश्चतुर्भिर्दुःखैर्दुःखितास्तिष्ठन्ति। तत्र मोहनृपतेः कुराज्यनिर्वाहकमिथ्यादर्शनाऽभिधो मन्त्री सर्वजीवान् निजाज्ञाप्रवर्तनार्थम् अविरति-कषाय-योगविपर्यासमदिरायाः पानगोष्ठिं कारयित्वा उन्मत्तान् करोति। ते चोन्मत्ताः सन्तो न देवं न गुरुं न धर्मं न हितं न कृत्यं नाऽकृत्यं न स्वं न परं न इहलोकं न च परलोकं किमपि वेदितुमिच्छन्ति, केवलं महानिद्रा-भय-मैथुनादिसंज्ञासु गाढमासक्ताः संसारं वर्द्धयन्ति। तत्र ये विषयास्ते कषायाणां साहाय्येन किं किं कुकर्म-कुचेष्टितं च न कारयन्ति?। यद् आजन्मतः सर्वे संसारिणो जीवाः केनाप्यशिक्षिता अपि स्वस्वशक्तिग्राह्यविषयेष्वासक्तास्तिष्ठन्ति। आगमे हि विषादपि अधिकतरा विषया उक्ताः। यतः—

"विषयाणां विषाणां च दृश्यते महदन्तरम्। उपभुक्तं विषं हन्ति, विषयाः स्मरणादपि"

विषादेकाक्षरमात्रेणाऽधिका विषयाः कीदृशं दुश्चेष्टितं कुर्वन्ति?। ये च रसनेन्द्रियासक्तास्ते उत्कृष्टतो नवाऽङ्गुलमात्रविषयपूरणार्थमेकेन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियजीवं यावद् निर्दयपरिणत्याकुट्टिहिंसा कुर्वन्ति, कृत्वा चाऽन्तर्मुहूर्तमात्रेण मृत्वा सप्तमं नरकं यावद् गच्छन्ति; तन्दूलमत्स्यवत्, राजगृहे उद्यानिकायां निजाऽन्तरायकर्मोदयाऽप्राप्तभिक्षुद्रम्मकवद् वा अकामं दुर्गतिगता घनकर्मविपाक-

---

पराजयः। अहो ते आर्जवं साधो! अहो! ते मूर्तिमत्तपः ॥२॥ अद्य कृतार्थं जन्म"।

मनुभवन्तः परिभ्रमन्ति। चक्षुरिन्द्रियासक्ता अनुकूल–प्रतिकूलवर्णादिपर्यायप्राप्त्या अप्राप्त्या च रागद्वेषयोः प्रबलपरिणत्या पापकर्मणाम् उत्कृष्टस्थिति–रसबन्धान् रचयन्तोऽनन्तभवान् परिभ्रमन्ति। एवं शब्दविषयासक्ता जीवाः श्रवणसुख–दुःखमात्रेण दुर्गतिकूपे पतिताः क्लेशमनुभवन्ति, सङ्गरे बन्दिजनोक्तकुल–जातिशंसनश्रवणात् शूरसुभटवत्, सनत्कुमारवच्च। एवं गन्धविषयानुकूलप्राप्त्या दुष्कर्मपोषणं कुर्वन्ति, मलमलीनशरीराणां मुनीनां दुगञ्छनमात्रेण च दुर्गतिं परिभ्रमन्ति, दुर्गन्धाराजपत्नीवत्, सुगन्धासक्तभ्रमरवद् वा। स्पर्शनेन्द्रियसक्तानां तु किं कथ्यते ?। यतः पञ्चानामपि विषयाणां प्रियमेलकतीर्थवद् एकत्र मिलनेनाऽतिकठोरपापप्रवृत्तिं कुर्वन्ति। यतः परदारासक्ता जीवा अष्टादश पापस्थानानि अतितीव्रसंक्लेशेन समाचरन्ति, तेन इहलोके राज्य–धन–यशो–भोगा–ऽऽयुःप्रभृतीनि हारयन्ति, परत्र च अनन्तकालं यावद् नरक–निगोदेषु परिभ्रमणं कुर्वन्त्येव, ब्रह्मदत्तचक्रिवत्। अत्रैकं महदाश्चर्यं, ये जीवा यान् विषयान् अत्यादरेण सेवन्ते ते चैवाऽन्यजन्मनि अन्याऽन्यशरीरेन्द्रियाणां जघन्यतो दशगुणं, शतगुणं वा सहस्रगुणं वा लक्षगुणं वा कोटीगुणं वा ततोऽप्यधिकतरं वा उत्कृष्टाकुद्र्यासेवने बीजपरम्परयाऽनन्तगुणं यावत् प्रतिकूलमसहनीयमकथनीयं केवलिगम्यम् ईदृशं दुःखं ददति। यत् केवली ज्ञातुं समर्थः, न तु सर्वं वक्तुम्। ईदृशान् खलु खलान् विषयान् कियन्तो जानन्तोऽपि पुनः पुनस्तदर्थं धावन्ति, क्लेशं च प्राप्नुवन्ति। तेषां प्राप्तौ महान् हर्षः, तदप्राप्तौ चिन्तामणितोऽप्यधिकं नरभवं व्यर्थं गणयन्ति। तथा विषयास्तान् दुःखमेव ददति। यतः—

"निर्दयः कामचाण्डालः पण्डितानपि पीडयेत्। अङ्गपीडने किं चित्रं विषयान् सेवते स तु" ॥१॥

"विषयसेवको भवसङ्कटे पतति तत्तु घटत्येव, यादृक् करोति तादृक् प्राप्नोति। परन्तु विषयेच्छामात्रेणापि असेवितविषयोऽपि

दुर्गतिपातमाप्नोति। अत्रार्थे कथानकमेकं शृणु सावधानमनसा"। धन्येनोक्तम्–'महान् प्रसादः, कथयतु भवान्'। मुनिराह—

॥ सुनन्दा–रूपसेनयोः कथा ॥

पृथ्वीभूषणनाम्नि पुरे कनकध्वजराजा राज्यं करोति स्म। तस्य यशोमत्यभिधा राज्ञी। तयोर्द्वौ पुत्रौ स्तः गुणचन्द्र–कीर्तिचन्द्रनामानौ। एका पुनः पुत्री सुनन्दाऽभिधा रूप–यौवन–गुणभृता चतुःषष्टिकलासु कुशला। सा बालभावेऽनुदयकामावस्था सखीभिः परिवृता सप्तभूम्यावासोपरि स्थिता नगरस्वरूपं पश्यति स्म। अत्युन्नतप्रासादोपरि स्थिताया दृष्टिश्चाऽतिदूरतरं याति। एतस्मिन्नवसरे एकस्य महेभ्यस्य गृहे एका वरतरुणी रूप–सौन्दर्यगुणेन विजिताऽमरसुन्दरी, यस्या विनयादिगुणेन माधुर्यवचनेन दर्शनमात्रेण च क्रोधिनामपि क्रोध उपशाम्यति। ईदृश्याः कामिन्या धवः किमपि सत्याऽसत्याऽभ्याख्यानं दत्त्वा कम्बया निर्दयं हन्ति। सा पुनः पुनर्भर्तुः पादयोः शिरो धृत्वा चाटुवचनेन विज्ञप्तिं करोति–"स्वामिन्! प्राणाधार! मया कोऽप्यपराधो न कृतः। केनापि दुष्टचेतसाऽलीकश्रावणेन किं मां निरर्थकं मारयति भवान्?। सुकुलप्रसूताऽहम्। त्वदाज्ञाविरुद्धमद्य यावद् न कदापि कृतम्, अग्रेऽपि न करिष्यामि। यदाऽस्य शुद्धिकरणेन यथार्थनिर्णयो भविष्यति तदा तवैव पश्चात्तापो भविष्यति। अतो हे प्राणनाथ! अस्याऽलीकदूषणस्य शुद्धिं कुरु। यदा मयि एतद्दूषणं सत्यं भवति तदा भवतो यद् रोचते तत् करोतु। निरर्थकमारणे किं हस्ते आयाति"?। इत्येवं सविनयं पुनः पुनः प्रणामपूर्वकं प्रार्थनां विज्ञप्तिं च करोति, तथापि स पुरुषस्ताडनान्न विरमति। एतत् सर्वं सुनन्दा दृष्ट्वा सखीं प्रत्याह–"हले! पश्य त्वमस्य पुरुषस्य निर्दयत्वम्। ईदृशीं रूप–यौवनविनयादिगुणवतीं प्रति किमप्यलीकमुद्भाव्य श्वपचवत् ताडनं करोति। किञ्चिदपि दयोदयो न जायते। एतां दृष्ट्वा मम हृदयं करुणया भिद्यते, परन्तु अस्य स्वकीयप्राणप्रियोपरि दया-

लेशो नोदेति । तस्मात् स्त्रीणां पुरुषाधीनत्वे महद्दुःखम्। यद्यपि 'पुरुषो गृहनायकः' इति लोकोक्तिः, साऽपि यत्किञ्चित्, यतः प्रियां विना गृहं न भवति। विना प्रियां पुरुषः पथिकतुल्यो जनैरुच्यते। प्रियैव गृहमण्डनम्। एकोदरपूरणकरणमात्रोपकारेण स्त्री यावज्जीवं पुरुषाज्ञया प्रवर्तते। प्रतिदिनं प्रातरुत्थाय जलाहरणादि करोति। गृहपूजन-प्रमार्जन-कचवरशोधन-गृहगतगवादिपशुकृतगोमयव्यवस्थापनादिकर्मकरक्रियां करोति। ततो धान्यशोधन-खण्डन-पेषण-दालिचुणनादीन् करोति। ततो रन्धनविधिना रसवतीं निष्पादयति, ततः पत्यादीनां भोजनं कारयति, ततः पश्चात् स्वयं भोजनं करोति। ततो रसवतीभाजनशुद्धिं करोति। गृहागतमनुष्याणामादरसत्कारं करोति, श्वश्रू-ननान्दॄणां यथोचितविनयप्रतिपत्तिं च करोति। पत्युर्ज्येष्ठभ्रात्रादीनां लज्जां करोति। मन्दगति-मन्दभाषण-मन्दहसनादिविधिना भर्तुर्गृहशोभां वर्द्धयति। गृहागतमुनीनां भक्त्या प्रतिलाभनेन पुण्यवृद्धिं करोति। दीनहीनप्राणिनामशेषभिक्षुकाणां च अनुकम्पादानेन भर्तुर्यशः पुण्यं च पोषयति। पुनर्द्वितीयवेलायां रसवतीकरणादिना दिनसमाप्तिं यावत् कार्यग्रथिता भवति। ततो भर्तुः प्रसत्त्यर्थं स्नानमज्जन-शृङ्गारकरणम्। सन्ध्यायां दीपकरणेन गृहमुज्ज्वलयति। ततो शय्यासमारण-रचनादीन् करोति। यावद् भर्तुरागमनं न भवति तावद् न स्वपिति, भोगं च ददाति, कुलवृद्धिकारणं सन्ततिं च ददाति। प्रगे भर्तुर्जागरणात् पूर्वं जागर्ति, उत्थाय च पुनर्गृहकार्ये प्रवर्तते। अतिदुःखाऽवस्थायां माता-पितृ-भ्रातृ-भगिनीप्रमुखाः स्वजना भक्त्वा दूरतो यान्ति, न भार्या। कैश्चिद् वीरपुरुषैः प्रमदा त्यक्ता श्रूयते, परन्तु कुलवत्या प्रमदया कुत्रापि भर्ता त्यक्तो न श्रूयते। तथापि हे प्रियसखि! यावज्जीवं गृहस्थाऽऽश्रमनिर्वहणेऽपि कठोरहृदयाः पुरुषा ईदृशीनामुत्पलकोमलानां स्त्रीणां निर्दयताडनं कुर्वन्ति!। किञ्च, यानि इह जगति निन्दनीय-गर्हणीय-क्रूरकर्माणि तेषां कर्तारः पुरुषा एव दृश्यन्ते। तथाहि-समस्तव्यसनबीजरूपं

द्यूतं पुरुषैरेव क्रियते। आखेटकेन वनस्थपशूनां घातकाः पुरुषा एव। अत्युग्रपापकरणंमूलमांसाद्यभक्ष्यभक्षणासक्ताः पुरुषा एव, यतः पुरुषैरानीतं स्त्रियः पचन्ति। चेतनान्यप्रकारकं समस्तसद्बुद्धिवारकम् अतिदुर्लभसंप्राप्तनरभवहारकं मदिरापानकं पुरुषा एव कुर्वन्ति। जाति-कुल-धर्ममर्यादामवगणय्य अनेकविटोपभुक्तपूर्वायां वेश्यायां पुरुषा एव गमनं कुर्वन्ति। तथा स्वकीयान् विनयादिगुणान्वितान् सुतप्रसुतान् रूप-यौवनयुक्तान् पतिव्रताधर्मपरायणान् स्वदारान् त्यक्त्वा राज-धर्म-हपरभव-चौरभययुक्तान् परदारान् पुरुषा एव सेवन्ते। प्राणव्ययसत्वरं दुर्गतिमार्गगत्वरं सर्वेषामप्रियं मार्ग-गृह-ग्रामलुण्टनादिचौर्यं पुरुषा एव कुर्वन्ति। तथा निरपराधानां तृण-जल-वायुविहितप्राणवृत्तीनां वननिवासिजीवानां हिंसां मुधैव पुरुषा एव कुर्वन्ति। परदेशं गत्वा, कष्टसहनरूपां परसेवां कृत्वा, अतिसङ्कोचेन प्राणवृत्तिं च कृत्वा, प्राणव्ययमगणयित्वा समुद्रमुल्लङ्घ्य द्वीपान्तरे बहुभिः क्लेशैर्धनमर्जयित्वा, स्वगृहगमन-स्वकीयकुटुम्बपोषण-मिलन-विवाहादिकरणमनोरथैर्भृतान् पथिकान् विविधजाति-वेषभाषाविनिमय-प्रियभाषणादिदम्भविलासेन विश्वास्य 'फांसी' प्रमुखाधिकरणैस्तान् हत्वा सर्वस्वं पुरुषा एव हरन्ति। तथा विषयलुब्धाः पुरुषाः केऽपि शतसहस्रसङ्ख्याकानां स्त्रीणां परिग्रहं कुर्वन्ति, परं कुलप्रसूता तु स्वकर्मोदयप्राप्तभर्तुः सेवनेन गृहं निर्वहति, न कुलमेरां त्यजति। ततो हे प्रियसखि! पुरुषाधीनानां स्त्रीणां धिग् जीवितं ज्ञेयम्। अतोऽहं तु पाणिग्रहणसङ्कटे न पतिष्यामि। ह्यो दिने मातापित्रोरालापने मया श्रुतम्—'अधुना सुनन्दाया विवाहादि कर्म'। अतस्त्वं मातुरुपकण्ठं गत्वा निवेदय 'अधुना सुनन्दा पाणिग्रहणं न करिष्यति, त्वरया न भवितव्यम्'।

१—भुक्तपूर्वं वेश्यागमनं पुरुषा एव—प्र०। २ तां सुतप्रसूतां—प्र०। ३—युक्तां प्र०। ४—परायणां प्र० ५—स्वदारां प्र० ६—युक्तां परदारां प्र०। ७—स्तेषां प्र०। ८—मेरा=मर्यादा।

इत्येवं श्रुत्वा सखी प्राह—"स्वामिनि! त्वं तु बालभावेऽसि, परन्तु प्राप्ते यौवनवयसि स्त्रीणां पुरुष एव जीवितव्यम्। यौवने पतिविहीना युवतिर्धूलीतोऽपि निस्सारा ज्ञेया। इह जगति द्वे सुखे वर्तेते। तत्रैकं पौद्गलिकं, द्वितीयमात्मीयम्। तत्र पौद्गलिकं द्विविधम्, कारणसुखं स्पर्शसुखं च। तत्र कारणं रूप्यकादि, स्पर्शश्च खान-पानादिः। पौद्गलिकयोर्द्वयो रहस्यं स्त्रीणां पुरुष एव, पुरुषाणां च स्त्री एव। यतः सत्यपि धन-धान्यादिसमग्रेन्द्रियसुखभृते गृहे एकेनैव भर्तृवियोगेन विधुरा स्त्री अग्नौ प्रविशति, अतो ज्ञायते संसारेऽग्नितोऽपि विरहो दुःसहः। द्वितीयसुखस्य हार्दं समतैव, तां विना तपो-जप-दानादिकं वृथैव। यतो व्यवहारराशिगतानां जीवानां संसारे परिभ्रमणां कुर्वतामनन्ताः पुद्गलपरावर्ताः व्यतीताः। तत्रैकेन केनचिद् जीवेन अनेकेषु भवेषु किं किं धर्मकृत्यं न कृतम्?, सर्वाण्यपि धर्मकृत्यानि कृतानि, परन्तु एकां तां समतां विनैव। तां विना नाऽनन्तगुणजातानि। अतो हे स्वामिनि! सहसा किमपि न वक्तव्यम्, यस्य निर्वाहशक्तिस्तद् वक्तव्यम्। यदा यौवनोदयो भविष्यति तदा ज्ञास्यसि। आगमेऽपि समस्तव्रतानां मध्ये अतीव दुष्करम्। ब्रह्मचर्यरक्षणे नवराज्ञा युक्तिरुक्ता। अतो धीरा भव, अज्ञत्वेन किमपि न वक्तव्यम्"। तदा सुनन्दयोक्तम्—"त्वया यदुक्तं तद् मयाऽवधारितं, परन्तु अधुना तु नास्त्येव, अतस्त्वं मातुः समीपं गत्वा ब्रूहि—'सुनन्दाया विवाहकृत्यमधुना न कर्तव्यम्, यदा ममेच्छा भविष्यति तदा ज्ञापयिष्ये। ममावासे कस्मिंश्चिदपि कार्योद्देशे पुरुषो न प्रेष्यः, सखीभिः दासीभिर्वा ज्ञाप्यम्"। सख्याऽपि गत्वा जनन्यग्रे तस्या आशयो ज्ञापितः। मात्रा पृष्टम्—'किमर्थमिति वदति'?। सख्योक्तम्—'केनापि कारणेन उदासीना जाताऽस्ति तेन 'न' इति वदति। परन्तु यौवनोदये स्वयमेव प्रार्थयिष्यति। चिन्ता न विधेया'। मात्रोक्तम्—'यथा रुचिः, एवमस्तु'। सख्यापि पुनरागत्य सुनन्दायै सर्वमुक्तम्। सुनन्दापि तच्छ्रुत्वा शान्तचित्ता स्वावासे सखीपरिवृता सुखेन

कालानेगमन करोति।

अत्रान्तरे तस्मिन्नेव पुरे आढ्यो दीप्तो धन-धान्य-भृतगृहो वसुद[illegible]
तेषामाद्यो धर्मदत्तः, द्वितीयो देवदत्तः, तृतीयो जयसेनः, चतुर्थो रूपसेन इति। चत्वारोऽपि निपुणा गतोपमानरूपाः सर्वेषु व्यापारादिकार्येषु कुशलाः स्वाङ्गीकृतकार्यनिर्वाहकरणैकदक्षाः। एषां मध्ये चतुर्थो रूपसेनाभिधो वात्स्यायनशास्त्रेष्व[1]तिनिपुणश्चतुरपुरुषाणामग्रणीः पितुर्ज्येष्ठभ्रातॄणां च अतीव वल्लभो निश्चिन्तः। तस्य न कोपि कष्टसाध्यं कार्यं ददाति। वस्त्राभरणभूषितोऽश्वगन्तृप्रमुखाधिरूढः पादचारी वा यथेच्छं नगरे चतुष्पथे राजपथे वनोपवनादिषु च गीत-नृत्या-ऽऽतोद्य-पुष्पादीनामाश्चर्याणि पश्यन् सुखेन कालं निर्वहति। नित्यं कौतुकप्रियस्तिष्ठति। अथ कियत्यपि काले गते सा सुनन्दा प्राप्तयौवना संजाता। एकदा सखीभिः परिवृता स्वावासस्य उपरि वलभ्यां क्रीडति, समस्तकामोद्दीपनकारणम् आम्रप्रस्फूलन-परभृता[2]रावप्रमुखसैन्ययुतो वसन्तसमयोऽप्यस्ति। अथाऽस्मिन्नवसरे कस्यापि महेभ्यस्याऽऽवासे उपरितनभूम्यां सुगन्धिजलाऽऽच्छोटनपूर्वकं स्थाने स्थाने पुष्पप्रचुरा रचना कृताऽस्ति, घनसार-मृगमदा-ऽम्बरामिश्रितकृष्णागुरुः घटिकायां निर्दहति, तेन समस्तमपि भुवनं सुगन्धेनाऽऽपूरितमस्ति। चतुर्दिक्षु बहुतरसुगन्धिपुष्पाणां जालिका जवनिका[3] च रचिताऽस्ति। उपरितनप्रदेशे घनझुम्बनक-विविधभक्तिमयजालिकायुक्तश्चन्द्रोदयोऽतीव शोभां ददाति। तदधो विचित्रसुकुमालतूलिको-त्सीर्षका-ऽऽच्छादनपटादिकृतरचनपूर्वकसुवर्णमयपल्यङ्के सुकुमारोज्ज्वलौ, स्नान-मज्जना-ऽऽत्तरचन्दनविलेपनौ परिहिताभूषणौ, तीव्रपक्ष्मलकाश्मीरजाऽऽच्छोटनरचनारचितवस्त्रादिना कृतभृङ्गारौ, परस्परं ग्रथिता-

१ कामशास्त्रेषु। २ परभृतः कोकिलः। ३ भाषायाम् 'पडदो'।

ऽभिनवस्नेहबन्धनाविव बाहुभ्यां कृतकण्ठपाशौ, अत्यद्भुतसुखविलसितशय्यायाः परित आलिवृन्देन सेवितौ, विषयोद्दीपकवर्णक-कवित्त-पद्यमयपञ्चमराग-गीतानि गायन्तौ, कटाक्षविक्षेप-हास्य-विलास-तालीदानादिना सोत्साहौ दम्पती स्थितौ। तत्सर्वं महोन्न-ताऽऽवासोपरि स्थितया सुनन्दया दृष्टम्। दृष्ट्वा च अवस्थोदयबलेन कामोद्दीपनं किमपि संजातम्। तेन च प्रीत्या अनिमेषदृष्ट्या विलोकयितुं लग्ना। यथा यथा निरीक्षते तथा तथा कामोद्दीप्तिर्जायते। चिन्तयति च-'ईदृशं सुखं ममापि चेद् भवेत् तदा वरं भवेत्'?। सात्त्विकभावोदयेन शरीरे जडीभूता सती पश्यति; न च जल्पति। पुनस्तयोरनुमोदनं कुर्वती पुलकोद्गमेन शृङ्गाररसं रसयितुं रसिका संजाता। तदा प्रियसख्या चिन्तितम्-'किमियं स्थिरीभूता पश्यति'?। इति ध्यात्वा समीपमागत्य सुकुमारवाक्येन पृष्टम्-'स्वामिनि! किम् अनिमेषं पश्यसि'?। एवं पृच्छा कृता, परन्तु सा न जल्पति। तदा सख्या स्वचातुर्येण तद्दृष्टिपथाऽनुकूलं पश्यन्त्या तदेव दृष्टम्। दृष्ट्वा च तस्या आकूतमवगतम्-'एषा दम्पतिविलसितं दृष्ट्वा यौवनप्राग्भावोदयेन सविकृतिचित्ता संजाता दृश्यते, स्वस्यापि ईदृशसुखाऽनुभववार्तिषु पतिताऽस्ति'। तदा ईषत् स्मित्वा नर्मवचनेनालापिता-'हे विदुषि स्वामिनि! यत् त्वं पश्यसि तत् तुभ्यं किमपि रोचते नवा'?। एवं द्वि-त्रिवारमालापिते साऽपि ईषद् विहस्य अतिदीर्घनिःश्वासं मुक्त्वाऽऽह-'हे सखि! ममेदृशं कुतः'?। प्रियसख्याह-'स्वामिनि! एवं दीनवचनं मा वद, अधुनैव मातुः सन्निधौ गत्वा तवाशयमुक्त्वा स्तोकदिनान्तरे तव दुःखं स्फेटयामि, सुखाऽब्धौ च स्थापयामि, किमन्तर्गडुमार्तिं करोषि?, भव्यं भविष्यति'। इत्युक्ते सुनन्दयोक्तम्-'सखि! सांप्रतं तु मातुरग्रे नैव वक्तव्यम्, मम बहुतरा लज्जा लगति, अतः शनैः शनैरुपायान्तै र्ज्ञापयिष्यावः, परम् अधुना नैव'। इत्युक्ते सख्याह-'स्वामिनि! इतोऽपसर, अत्र यथा यथा त्वं द्रक्ष्यसि तथा तथा तव विरहजाऽऽर्त्तिः वृद्धिमेष्यति, अतश्चल,

अधस्तनप्रस्तरे स्थित्वा तवार्तिभञ्जनोपायं कुर्मः'। इत्युक्त्वा तस्या हस्तं गृहीत्वा अधःप्रस्तरे चतुष्पथगवाक्षमागत्य चतुष्पथं विलोकयन्त्यः स्थिताः।

अथाऽस्मिन्नवसरे स रूपसेनः सायंकालीनं भोजनं कृत्वा दिनघटिकाद्वयशेषे भव्यवस्त्रा–ऽऽभरणानि परिधाय कौतुकप्रियः सुनन्दाया आवासस्य सम्मुखे ताम्बूलिकस्यापणे आगतः। ताम्बूलिकेनापि अत्यादरपूर्वकम् उच्चासने स्थापितः, 'धनी सर्वत्र मानमाप्नोति'। ताम्बूलिको हि भव्यवीटकानि ददाति, रूपसेनोऽपि तानि भक्षयन् नगरस्याश्चर्यं पश्यन् स्थितः। अत्रान्तरे गवाक्षस्थितायाः सुनन्दाया निर्जितकामरूपो रूपसेनो दृष्टिपथमागतः। अत्यद्भुतरूपं गताऽऽमयं तं कुमारं दृष्ट्वा संजातगाढानुरागा सती सखीं प्रत्याह-'हे सखि! पश्य त्वं ताम्बूलिकहट्टस्थितं पुरुषवरम्। कीदृशं चास्य रूपम्!, कीदृशं वयः!, कीदृशे अक्षिणी!, कीदृशं वस्त्रा-ऽऽभरणपरिधानचातुर्यम्!, कीदृशाश्च मुख–नेत्र–हस्तादीनां हावभावाः!। अङ्गं धृत्वा अनङ्ग एवागतो न किम्?। एवं दृष्ट्वा अनेन सह पूर्वदृष्टदम्पतिविलासमनोरथः प्रवर्तते'। ततो हसित्वा सख्याह-'हे स्वामिनि! पूर्वं पुरुषनाममात्रग्रहणे रुषा अरुणलोचने अभूताम्, अधुना त्वम् अपरिचितदर्शनमात्रेण कथं आतुरा भवसि?। मम वाक्यम् अग्रमागतं यत् 'पूर्वापरं विचार्य वक्तव्यम्'। सुनन्दा प्राह-'हे सखि! मम मूर्खत्वं मयि एवागतं, परन्तु अधुना त्वं दग्धोपरि क्षारतुल्यं किं वदसि?। केनाप्युपायेन मम मनोरथपूरणे कौशल्यं तवास्तीति हार्दम्'। सख्याह-'हे स्वामिनि! तव मनोरथं तु सांप्रतमेव पूरयामि ईदृक् कौशल्यं मय्यस्ति परन्तु पूर्वं त्वया पुरुषाऽऽगमननिषेधच्छलेन मनोरथभुवनद्वारे झङ्गरकाणि दत्तानि। तथापि धीरा भव, पूर्वमनेन सह परिचयं कृत्वा मनोरथं पूर्णं करिष्यामि। प्रथमं दृष्टिमिलनं प्रीतिलताया बीजम्, ततोऽन्योन्यदर्शनजलेन सिच्यमाना फलवती भवति। अतस्त्वं

स्वाशयगर्भं पद्यार्धं लिखित्वा मम हस्ते समर्पय। तद् लात्वा तत्र गत्वाऽस्य हस्ते दास्यामि, यदि चतुरो भविष्यति सद्य उत्तरं दास्यति, न चेद् मूर्खमिलनेन किं सुखम्?। शास्त्रेऽपि कथितम्-'सज्जनस्य घटिकामिलनतुल्यो मूर्खस्य समग्रावतारोऽपि नागच्छति'। ततः सुनन्दया पत्रिकायां स्वाशयगर्भं पद्यार्धं लिखित्वा दत्ता। प्रियसखी तां लात्वा किमपि च्छलं कृत्वा उपरूपसेनं गत्वा प्रच्छन्नवृत्त्या तेन सा वाचिता। यथा—

"निरर्थकं जन्म गतं नलिन्या, यया न दृष्टं तुहिनांशुबिम्बम्"।

इति वाचयित्वा स्वचातुर्यदर्शनार्थं प्रत्युत्तरं लिखित्वा दत्ता। तां लात्वा गृहमागत्य सुनन्दाया हस्ते अर्पिता, तयापि वाचिता। यथा—

"उत्पत्तिरिन्दोरपि निष्फलैव, दृष्टा विनिद्रा नलिनी न येन"

इति साऽभिप्रायोत्तरं मत्वा गाढानुरागा जाता। सखीं प्रत्याह-'यादृशश्चिन्तितस्तादृग् एव निपुणः प्रतिभाति, अतः पुनस्त्वं तत्र गत्वा प्रीतिलताबीजकं बीटकं दत्त्वा 'प्रत्यहं दर्शनं देयम्, न चेद् भोजनं न करिष्यामि' इति विज्ञप्तिं च कृत्वाऽऽगन्तव्यं त्वया'। सख्या पुनः कुमारसमीपं गत्वा, भ्रूसंज्ञया एकान्तं नीत्वा, यथा न कोऽपि जानाति शृणोति च तथा कथनार्हव्यतिकर उक्तः। सोऽपि तम् आश्चर्यकरमुदन्तं श्रुत्वा तां प्रत्याह-'हे सुभ्रु! सा तु 'पुरुषद्वेषिणी' इति लोके श्रूयते!, तत् कथं तस्या अस्मदुपरि गाढानुरागित्वं सम्भाव्यते'?। साऽऽह-'श्रेष्ठिन्! सा तु तव दर्शनमात्रेण प्रेमपङ्के निमग्ना जलविरहे मीनीव त्वद्विरहदुःखेन

१ रूपसेनसमीपम्। २ गुप्तरीत्या। ३ चन्द्रबिम्बम्। ४ पत्रिकाम्।

दुःखिता त्वामेकं ध्यायन्ती जल्पन्ती च स्थिताऽस्ति, नाऽपरं किञ्चिद् जानाति। अतस्तया हस्तदत्तमिदं बीटकं गृह्णातु, अद्यप्रभृति प्रतिदिनम् एकवारमपि दर्शनदानप्रत्यायकं हस्ततालरूपं सत्यङ्कारं च ददातु'। कुमारोऽपि रूप–धन–यौवन–चातुर्यगर्वगर्वितः सख्युक्तवाक्यानि श्रुत्वा प्रेमपाशे बद्धश्चिन्तयति–'अहो! या पुरुषनाममात्रेण अतिकुप्यति साऽस्मदुपरि स्वत एव गाढानुरागरक्ता ईदृशं दुःखं वहति, सा कथं त्यक्तुं शक्यते?। अबलायाः प्रार्थना बलात् कथं छुब्यते'?। इति ध्यात्वा तां प्रत्युक्तम्–'हे सुभ्रु! यदि साऽस्मदुपरि सत्यां प्रीतिं वहति, तदा मयाऽपि अद्यप्रभृति सत्यमनसा प्रीतिर्निर्वाह्या, यादृशी तस्या आतुरता तादृशी ममापि विज्ञेया। प्रत्यहं जघन्यत एकवारमपि अत्रागन्तव्यम्, दृष्टिमेलापकश्च कर्तव्यः' इत्युक्त्वा बीटकग्रहणपूर्वकं हस्ततालदानेन सत्यङ्कारः कृतः। सख्या कुमारस्य वचनं लात्वा सहर्षं स व्यतिकरः सुनन्दायै प्रोक्तः। सा हर्षभरे निमग्ना। तद्दिनप्रभृति प्रत्यहं कुमारस्तत्रागत्य दृष्टिमेलापकं करोति, सुनन्दाऽपि रागशाणोल्लिखितैः अतितीक्ष्णकटाक्षविशिखैः कुमारस्य उत्पलदलकोमलं देहं व्यथयति। मोहात् सोऽपि तदेव च अतिसुखं मन्यमानो गाढानुरागरक्तोऽहर्निशं तामेव स्मरन् दिनानि निर्गमयति।

अत्रान्तरे स्तोकदिनमध्ये 'कौमुदीमहोत्सवदिन आगतः' इति ज्ञात्वा राज्ञा सकलेऽपि नगरे पटहो वादितः-'भो लोकाः! अमुकदिने कौमुदीमहोत्सवोऽस्ति, तस्मिन् दिने प्रतिगृहस्थितैः दुःखित–व्याधित–जराजर्जरितवर्जितैः सर्वैरपि जनैः सह नगराद् बहिः प्रतिवर्षमहोत्सवस्थानोद्याने आगन्तव्यम्। चेद् यो नागमिष्यति स राज्ञोऽपराधभाजनं भविष्यति'। इति पटहं श्रुत्वा सर्वेऽपि नागरा महोत्सवसामग्रीं कर्तुं प्रवृत्ताः। सुनन्दाऽपि स्वपरिजनमुखात् तं श्रुत्वा मनसि चिन्तयितुं लग्ना–'अहो! मया मनोरथसफलकरणादि-वसो लब्धः। तस्मिन् दिने मम वल्लभसंयोगावसरोऽस्ति चेत् कर्तुं शक्यते'। सखीं प्रत्याह–"कयाऽपि रीत्या रूपसेनं गत्वा महोत्स-

वव्यतिकरं चोक्त्वा मिलनाऽवसरो ज्ञापनीयः 'यतस्तस्यां रात्रौ न कोऽपि मनुष्यो नगरे स्थास्यति, अतो युष्माभिः किमपि शरीराऽऽर्तिप्रमुखं मिषं कृत्वा गृहे स्थातव्यम्, अहमपि किमपि च्छलं कृत्वा गृहे स्थास्यामि। पश्चाद् याममात्ररजन्यामतिक्रान्तायां ममाऽऽवासपश्चाद्भागे गवाक्षे विजनप्रदेशे स्थूलदवरकमयनाडिकां लम्बयिष्यामि। भवता तत्र निःश्रेण्यालम्बनेन आवासोऽलङ्करणीयः। बहुदिनाऽऽतुरयोरावयोः संयोगो भविष्यति। लक्षैरपि सुवर्णैरतिदुर्लभो दिवसोऽस्ति, अतो न विस्मरणीयः'। इति सङ्केतनिर्णयं कृत्वाऽऽगच्छ"। सख्याऽपि यथावसरं रूपसेनाय तं व्यतिकरमुक्त्वा सङ्केतनिर्णयः कृतः। सोऽपि चिरेप्सितसंयोगनिर्णयं श्रुत्वा, हर्षेण पुलकितहृदयो भूत्वा, 'ओम्' इत्युक्त्वा, स्वगृहे गतः। प्रियसख्यापि स व्यतिकरः सुनन्दायै निवेदितः। साऽपि तं श्रुत्वा सहर्षं मनोरथमालां ग्रन्थयितुं लग्ना। अतिदुःखेन पञ्च दिनानि अतिक्रान्तानि। महोत्सवदिनाऽऽगते तु सपरिकरो भूपतिर्नगराद् बहिर्निर्गतः, समस्ता प्रजाऽपि च। अथ सुनन्दाऽऽमन्त्रणार्थं माता स्वयमागच्छति तावता पूर्वं कपाले औषधलेपं कृत्वा सुपर्यङ्केऽधोमुखं कृत्वा सुप्ता। मात्रा च दृष्ट्वा सुनन्दाऽऽलापिता-'पुत्रि! किमस्ति तव दुःखम्?'। इति मात्रोक्तं श्रुत्वा मन्द-ग्लानस्वरेण प्रत्युक्तम्-'मातः! अद्य पड्घटिकादिनशेषे काऽपि अकथनीया शिरोऽर्तिः संजाताऽस्ति, तया ऊर्ध्वमुखं कर्तुं न शक्नोमि'। मात्रोक्तम्-'तदा तु अहं वने न गमिष्यामि, तवैव पार्श्वे स्थास्यामि'। पुत्र्योक्तम्-'मातः! एतत्तु न युक्तं प्रतिभाति। यतस्त्वं राज्ञोऽग्रमहिषी, सर्वासां मानुषीणां श्रेष्ठतमा, अतस्तव अगमने देवता प्रसन्नचित्ता न भवेत्, प्रत्युत कोऽपि महाविघ्नकृद् देवकोप उत्तिष्ठेत्। अतस्त्वया सपरिकरया तत्र गन्तव्यम्, सविशेषं महोत्सवः करणीयः। अहमपि द्वित्रचतुर्घटिकानामन्तः शिरोऽर्तिर्यास्यति तदा अविलम्बेनागमिष्यामि, न चेद् नहि। अतो मम प्रियसखीद्वयं मुक्त्वा अन्याः सर्वाः सहकृत्वा गन्तव्यम्। ममार्तिर्न कर्तव्या, यतोऽन्तराऽन्तरा कस्मिंश्चिद् दिने

शिरोऽर्तिरुत्तिष्ठति, दिनमेकादिकं च स्थित्वा गच्छति, अतो विषादो न कर्तव्यः, स्वेच्छया सहर्षं महोत्सवः कार्यः'। इत्युक्त्वा माता विसर्जिता। प्रियसखीद्वन्द्वं च मुक्त्वा सर्वोऽपि दासी-दास-सौविदल्लादिपरिकरः पट्टराज्ञ्या समं गतः। सुनन्दयापि सङ्केतिताऽवसरे जाते पाश्चात्यगवाक्षे रज्जुमयी दृढनिःश्रेणी प्रलम्बायमाना मुक्ता। प्रियसखी क्षणे क्षणे तत्रागत्य रूपसेनागमनं विलोकयति, सुनन्दातल्प-गवाक्षयोरन्तरा च भ्रमति।

इतश्च अस्मिन्नेव पुरे महाबलनामा एको दुरोदरो[1]ऽस्ति, प्रत्यहं द्यूतव्यसनासक्तो द्यूतक्रीडां कुर्वाणः कालक्षेपं करोति। तेन चाऽन्यदा द्यूतक्रीडारसेन बहु धनं हारितं, मस्तकेऽतिऋणं संजातम्, अन्ये च दुरोदरा धनार्थं तं पीडयन्ति। तदा महाबलेन चिन्तितम्-'ऋणं तु बहु संजातं, कुतो दातुं शक्नोमि ?। परन्तु अद्यैवाऽवसरोऽस्ति, यतः सर्वे जनाः सबाल-वृद्धा अद्य महोत्सवार्थं बहिर्निर्गमिष्यन्ति, सकलमपि नगरं विजनं[2] भविष्यति। ततोऽहं मध्यरात्रौ नगरान्तः प्रविश्य कस्यापि धनिकस्य गृह-हट्टयोः प्रतिकीलकादिप्रयोगेण तालकोद्घाटनं कृत्वा धनं च लात्वा देयं दास्यामि, नाऽन्य उपायोऽस्ति'। इति संप्रधार्य तस्यामेव रात्रौ धनार्थं त्रिपथं चतुष्पथं गलिकुञ्चिकादिकं च परिभ्रमति। एवं च भ्रमणं कुर्वन् दैवात् तस्मिन्नेव सङ्केतस्थाने आगतः। तत्र च गवाक्षस्याऽधो निःश्रेण्यादिसङ्केतचिह्नं दृष्ट्वा तेन कुबुद्धिनिधिना धूर्तेन चिन्तितम्-'अद्य कयाचित् स्त्रिया केनाऽपि यूना सह सङ्केतः कृतो दृश्यते!। स चाधुना यावद् नागत इति विज्ञायते, तस्मात् 'चौराणां मध्ये मयूरः' इति न्यायेन अहमेवाऽत्र यामि, दृश्यते च किं भवति'। इति विचिन्त्य गवाक्षस्याऽधःप्रदेशे गत्वा निःश्रेणी संचालिता। तां च प्रकम्पितां मत्वा सद्यः प्रियसखी आगत्य गवाक्षस्याऽधःप्रदेशे

१ द्यूतकारः। २ मनुष्यरहितम्।

विलोकयितुं लग्ना। तत्र च तं पुरुषं स्थितं दृष्ट्वा तया ज्ञातम्–'नूनं रूपसेनागमनं जातम्'। इति मत्वा तत्र स्थितया तया चैवं सुनन्दायै ज्ञापितम्–'आगतस्तव प्राणप्रियः'। तया च सहर्षमुक्तम्–'आनयाऽस्मदीयगृहान्तः'। तदा च प्रियसख्या 'यूयमागताः'? इत्यालापितः। धूर्तेन च 'ओम्' इत्युक्तम्। तदा प्रियसख्या रूपसेनभ्रमेणोक्तम्–'आगम्यतामत्र पूज्यपादैः, अलंक्रियतामिदं मन्दिरं, निजागमनेन सम्पूर्यन्तामसत्स्वामिनीमनोरथाः'। इति शिष्टाचारवचनानि श्रुत्वा धूर्तेन ज्ञातम्–'यद् मयाऽनुमितं तदेवास्ति, अतो यामि सुखेन'। इति संप्रधार्य निःश्रेणीमार्गेण चटता यावता गवाक्षान्तः पादो धृतस्तावता-महोत्सवार्थम् उपवनस्थितया पुत्र्यां गाढाऽनुरागरक्तया राज्ञ्या स्वसखीवृन्दायाऽऽज्ञा दत्ता यद् 'यूयं राजकीयान् भटान् लात्वा राजमन्दिरं गच्छत, गत्वा च मम प्राणाऽधिकायाः सुनन्दायाः शुद्धिर्विशदरीत्या ज्ञातव्या, सुखप्रश्नश्च वक्तव्यः, ततः परम् अमुकमञ्जूषास्थितम् अमुकपूजाद्रव्यं सावधानत्वेन निष्काश्य, पुनः पुत्र्याः शुद्धिं लात्वा भटैः सह त्वरितमागन्तव्यम्,' इति राज्ञ्या नियुक्तं सखीवृन्दं भटैः सह तस्मिन्नवसरे मन्दिरान्तः प्रविश्यमानं दूरताद् दृष्ट्वा 'हा! किं जातम्?, इदमन्तरायकर्म कुतः समागतम्?, मा जानातु रूपसेनागमनम्' इति ध्यात्वा प्रियसख्या शीघ्रं हस्तेन दीपो निर्वापितः। धूर्तं च हस्ते गृहीत्वाऽन्धतमसि सुनन्दायास्तल्पे मुक्त्वा 'किमपि वक्तव्यं नैव' इत्युक्त्वा च प्रियसखी प्रविश्यमानं सखीवृन्दं प्रति सम्मुखं गता। ताभिरुक्तम्–'सुनन्दा कुत्राऽस्ति?, सुनन्दायाः कीदृगवस्थाऽस्ति तां कथय। पुनः, सुनन्दा कुत्र सुप्ताऽस्तीति दर्शय। तथा च, किमद्य राजमन्दिरेऽन्धकारो दृश्यते'?। इति तासां वचांसि श्रुत्वा प्रियसख्योक्तम्–"भगिन्यः! सुनन्दा तु शिरोऽर्त्यां प्रभूतां पीडां प्राप्ता, ईदृशी तु शत्रोरपि मा भूत्!। सा यादृशीं पीडां प्राप्ता तां द्रष्टुमपि न शक्यते। तया तल्पे तप्यमानयोक्तम्–'अहमिमं दीपपरितापं क्षमितुं न शक्नोमि, अतो निर्वापय दीपम्'। ततो मया दीपो निर्वापितः। ततो घटिकाऽर्धघटिका

संजाताऽस्ति, किमपि नेत्रे मिलिते स्तः, ततोऽधुना सुखप्रश्नाऽवसरो नाऽस्ति। साम्प्रतं तु उच्चैर्वक्तव्यं नैव, यावता सुखनिद्रां प्राप्ता स्थिता तावता तु गृहान्तरमपि नाऽऽगन्तव्यम्। यदा स्वयं जागर्ति तदा सुखप्रश्नः कार्यः"। तदा एकया सख्योक्तम्—'चलामो राज्या मन्दिरम्, यावतां सुनन्दा सुखनिद्रया सुप्ताऽस्ति तावता राज्योक्तं कार्यं कुर्मः, पुनर्वलमानाः सुनन्दायाः शुद्धिं लास्यामः'। इत्युक्त्वा सखीवृन्दं तु गृहान्तरं गतम्।

अथ स धूर्तः प्रियसख्या मुक्तः सुनन्दायास्तल्पे स्थितः कामातुरः करस्पर्शादिना उद्दीप्तकामः प्रथममेव सुरतक्रियां कर्तुं लग्नः। सुनन्दया ज्ञातम्—'बहुदिनसंयोगातुरोऽयं मे वल्लभः कथं निवार्यते ?, सुखेन स्वेच्छां पूरयतु, ममापि विरहाऽग्निः शाम्यतु। वार्तादिकं पुनः संयोगे करिष्यामि, कदाचित् सखीवृन्दागमनं भविष्यति चेत् तदाऽन्तरायोऽस्य मा भूत्'। इति ज्ञात्वा सुनन्दया किमपि नोक्तम्। स दृढकायो धूर्तो यथेच्छं सुरतक्रीडां कृत्वा यावता निवृत्तस्तावता तु दीपहस्तं सखीवृन्दं पुनः समागच्छत् शुद्ध्यर्थं स्थितया प्रियसख्या दूरतो दृष्ट्वा धावन्त्या गृहान्तरागत्योक्तम्—"निर्वासयतु त्वरितं वल्लभम्। किं क्रियते आत्मनां कर्मणां दोषस्य ?, यद् बहुदिनैरीप्सितसंयोगे एका वार्ताऽपि स्वेच्छया न कृता। अधुना तु त्वरितं यातु, पुनर्भाग्योदये मिलनं भविष्यति तदा हृद्गतां सर्वां वार्तां करिष्यामः'। धूर्तेनाऽपि चिन्तितम्—'अधुना स्थिते को लाभः ?, अज्ञातमेव वरम्' इति ध्यात्वा सुरतक्रीडाच्युतहारादिभूषणं लात्वा त्वरितं तेनैव मार्गेणोत्तीर्णः। मनसि सहर्षं ध्यातवान्—'अद्य मम शुभशकुनैर्निर्गमनं संजातम्, यद् राजकुमार्या सह प्रथमं सुरतसुखं धनं च लब्धम्'। इति चित्तप्रसत्त्या स्वस्थानं गतः। प्रियसख्यापि निःश्रेण्यादि त्वरितं गुप्तं कृत्वा सुनन्दायाः पादसंवाहनादि कर्तुं लग्ना, तावता सदीपं सखीवृन्दमप्यागतम्। सुनन्दायै राज्योक्तं सुखप्रश्नं कर्तुं प्रवृत्तम्। सुनन्दयापि स्वाऽङ्गादिकं सङ्कोच्य

मन्दस्वरेणोक्तम्—"सख्यः ! पुरा तु मया प्रभूता वेदना प्राप्ता, यादृशी कस्यापि मा भवतु, अधुना तु द्वि-त्रिघटिकातः शान्ताऽस्ति। पुनश्चेतनाऽऽगमिष्यति तदा तु वरम्। अतो मातुर्मम प्रणतिर्वक्तव्या, यथादृष्टं च वक्तव्यम्। पूर्वबहुतरवेदनापराभूता बहु जल्पितुं न शक्नोमि, परन्तु ज्ञायतेऽधुना मातुः शुभचिन्तनयाऽऽर्तिर्गता। 'मात्रा ममार्तिर्न कर्तव्या' इति वाच्यम्"। इति सुनन्दायाः शुद्धिं लात्वा पूजादिद्रव्यं च गृहीत्वा सखीवृन्देन भटैः सहोपवनं गत्वा राज्यै सर्वं निवेदितम्। राज्यपि स्वस्थचित्ता संजाता राती महोत्सवे प्रवणाऽभूत्।

अथ विषयाकुलरूपसेनप्रबन्धं शृणु—रूपसेनो हि शरीराऽपाटवमिषं कृत्वा पित्रादिकं विप्रतार्य एकाकी एव गृहे स्थितः। सुनन्दामिलनमनोरथैर्निभृतहृदयो रात्रिप्रथमयामे गते सर्वां भोगसामग्रीं लात्वा गृहकपाटादिकं तालकादिप्रयोगेण दृढतरं कृत्वा निर्गतः। मार्गे मनसि विचिन्तयन् याति विविधान् मनोरथान्। तद्यथा—'धन्या अद्य मे रात्रिः, यद् मनो-वचन-कायैकतानप्रेमाऽन्विताया राजकुमार्या मिलनं भविष्यति। मूर्खस्य समग्रजन्मसङ्गत्या यत् सुखं न भवति तत् चतुरजनघटिकामात्रसंयोगे सुखमनुभूयते, तद् वक्तुं नैव पार्यते। अथाऽहं तत्र गत्वा वियोगजं दुःखं भङ्क्त्वा विविध सूक्त-सुभाषित-प्रहेलिका-छन्द-छप्पया-ऽन्तर्लापिका-बहिर्लापिका-समस्या-गाथा-गूढदोधकादिनिपुणोक्तिभिः तस्याश्चित्तं रञ्जयिष्यामि। साऽपि अतिविदुषी विविधाशयगर्भितहाव-भाव-कटाक्षविक्षेप-वक्रोक्तिभिर्मम हृदयं प्रह्लादयिष्यति। आवां परस्परं चित्तविरहजं दुःखं निवेदयिष्यावः। तथा चाटुवचनामृतैः सिञ्चितो मनोरथतरुर्नवपल्लवितो भविष्यति। मम चातुर्येण आह्लादितहृदया कल्पवल्लीव मनोरथफलदा भविष्यति। विविधाऽऽसन-

कामनिवासस्थानसंमर्देना ऽऽलिङ्गनादिसुरतक्रियाभिः अभंगमरयोरिव सुरतक्रीडां करिष्यामः'। इत्यादिमनोरथास्वादनानिमग्नहृदयो रात्रि-रागयोरन्यतमादि यामेन सरन् मार्गे याति, तावता एका महती निःस्वामिका ऽऽवासस्य वर्षाजलप्लावैः शिथिलीकृता अपरिकर्षिता भित्तिर्दैवात् तस्योपरि पतिता। तस्याः पतनघातेन चूर्णीभूताङ्गोपाङ्गो रूपसेनः पञ्चत्वं प्राप्य एकादिनप्रसूतायाः सुनन्दायाः कुक्षौ दुरोदरीकृतसंभोगजन्यवीर्यरक्ते गर्भत्वेन उत्पन्नः। विचित्रा हि अध्यवसायानां गतिः, शतशो वैरयुक्तो वैरी यद् दुःखं न ददाति तद् विषया ददति।

यतः—"विषयाणां विषाणां च दृश्यते महदन्तरम्। उपभुक्तं विषं हन्ति विषयाः स्मरणादपि" ॥१॥

अथ सुनन्दा सखीवृन्दे गते सुरतक्रियान्युत्तानि भूषणानि गवेषयति, कियन्ति लब्धानि कियन्ति च न लब्धानि। तदा तया ज्ञातम् 'वल्लभः शुचितानीति ज्ञात्वा गृहीत्वा गतो भविष्यति, सज्जीकृत्य प्रेषयिष्यति'। पुनर्विचारितम्—'सर्वाणि कथं न गृहीतानि'?। सख्योक्तम्—'सखीवृन्दागमनेन सम्भ्रान्तचित्तत्वाद् यद् हस्ते चागतं तद् लात्वा गतः। श्वो दिने तच्छुद्धिं करिष्यामः' इति वार्तां कुर्वत्यौ ते निद्रावशङ्गते।

अथ प्रभाते संजाते सर्वे जना राजा च स्वस्वगृहमागताः। रूपसेनस्य पिताऽपि सपरिकरो गृहमागतः। गृहद्वारे सातङ्कं सञ्चिन्तितम्—'कस्मिन्नपि अवश्यकार्योद्देशे देहचिन्तार्थं वा गतो भविष्यति'। घटिकाद्वयमात्रं द्वारे स्थितास्तथापि नागतस्तदा तु किञ्चित् चिन्तां कुर्वन्तः सर्वेषु परिचितस्थानेषु आत्मीयोऽन्योऽपि च राजकीय-सेवकजना गवेषणार्थे धाविताः। परं कुत्रापि न लब्धः। तदा

१ देवी-देवयोरिव। अपरिष्कृता। २ मृत्युम्। ३ दुरोदरो द्यूतकारः।

तु पितृ-भ्रातृप्रमुखाः सर्वेऽपि सम्बन्धिनो महतीमार्तिं कुर्वाणाः समस्तं नगरं उपवनादि च तच्छुद्ध्यर्थं परिभ्रमन्तः परिश्रान्ताः, परं कुत्रापि वार्तालेशमात्रमपि न श्रुतम्। तदा रूपसेनपिता लोहकारपार्श्वात् तालकोद्घाटनं कारयित्वा शोकाकुलो भार्यादिपरिकरं गृहे स्थापयित्वा तदार्तिव्याकुलो राजद्वारे गतः। दीर्घनिःश्वासान् अश्रूणि च मुञ्चन् राजानं नत्वाऽग्रे स्थितः। राज्ञाऽपि तं दृष्ट्वा प्रोक्तम्–'भो इभ्यवर! किं तवाऽनिर्वाह्यं दुःखं समुत्पन्नं तद् धीरो भूत्वा निवेदय, यथाऽहं तव दुःखं स्फेटयामि। त्वं मम नगर-मण्डनोऽसि, ममातिप्रियोऽस्ति तव दुखं दृष्ट्वा तद्दुःखं मच्चित्ते सङ्क्रान्तम्'। तदा हृदयस्फोटजायमानेन पित्रा किमपि निवेदितम्। राजाऽपि तच्छ्रुत्वा महदाश्चर्य-शोकं प्राप्तः। श्रेष्ठिनं धीरयित्वा शतशः सेवकानाहूय तच्छुद्ध्यर्थं समग्रे पुरे पुरवने ग्रामान्तरे वापी-कूपादिषु पण्याङ्गनागृहेषु[1] च शतक्रोशं यावद् गवेषणा उष्ट्रादिप्रयोगेण कारिता, परं यथा गतास्तथैव व्याघुट्याऽऽगताः, तस्य वार्ताया गन्धलेशोऽपि न लब्धः। राजापि तच्छ्रुत्वा महाश्चर्यसङ्कटे पतितः। परं कर्मणां विचित्रा गतिः, अतिशयज्ञानिनं मुनिं विना को जानाति?। श्रेष्ठी निराशो भूत्वा गृहमागतः। षण्मासं यावद् बहुद्रव्यव्ययं कृत्वा गवेषणा कारिता, परं वार्ताया गन्धलेशोपि न लब्धः। दैवगतिं को वारयति? महत् तद्वियोगशल्यदुःखं वहन् कालं दुःखेन निर्गमयति। अथाऽन्यदिने सुनन्दायाः प्रिय-सख्या जनमुखात् श्रुत्वा तद्वार्ता सुनन्दायै निवेदिता। साऽपि श्रुत्वा महद्दुःखं प्राप्ता सखीं प्रति वक्तुं लग्ना–'किमत्राऽऽगत्य केनापि दुष्टेन आभरणादिलोभेन मारितः प्रहृतो वा,?। तयापि तच्छुद्ध्यर्थं महद्गवेषणं कृतं, कुत्रापि काऽपि शुद्धिर्न प्राप्ता। अथ च मासाधिके दिने संजाते गर्भस्य चिह्नानि छर्दि[2]-अङ्गभङ्गादीनि प्रादुर्भूतानि। तया च सख्यग्रे तत्स्वरूपं निवेदितम्। तयाऽपि

१ वेश्यागृहेषु। २ छर्दिः–वमनम्।

उड्डाहकारणं मत्वा जन्मादिकारिकाणां कुट्टिन्यादीनां बहु द्रव्यं दत्त्वा क्षारौषध्यादिप्रयोगेण गर्भस्य पातनं कारितम्। ततो रूपसेनजीवश्च्युत्वा सर्पिणीकुक्षौ तृतीयभवे नागतयोत्पन्नः। सुनन्दयाऽपि सखीद्वारा मातुरग्रे ज्ञापितम्–'अधुना मम विवाहं कुरु'। तच्छ्रुत्वा मात्राऽपि राजानं निवेद्य सहर्षं क्षितिप्रतिष्ठितपुराधीशेन सह पाणिग्रहणं कारितम्। बहुसुवर्णरत्न–गज–तुरगादिकं दत्त्वा जामातरं प्रसन्नं कृत्वा सभर्तृका सुनन्दा विसृष्टा। क्षितिप्रतिष्ठितपुराधीशोऽपि तां गृहीत्वा सोत्साहं स्वपुरमागतः। तया सह पञ्चविधान् मानुष्यकान् कामभोगान् भोक्तुं प्रवृत्तः सुखेन कालनिर्गमनं करोति। अथ रूपसेनजीवः सर्पिणीगर्भाज्जातोऽपि आयुर्योगेन मातुर्भक्षणविघ्नाद् उद्गीर्णो वृद्धिं प्राप्तः। पृथिव्याम् आहाराद्यर्थं परिभ्रमणं कुर्वन् कदापि कर्मोदययोगे राजमन्दिरं गतः।

अथ तत्र निदाघसमये तौ दम्पती स्वावासवाटिकायां जलयन्त्रादिकृतशीतलप्रदेशे स्वेच्छया रमेते। नागोऽपि दैवात् तत्रागत्य सुनन्दां च दृष्ट्वा पूर्वनिबद्धरागोदयात् स्तम्भितः फणाटोपं कृत्वा सम्मुखं स्थितः, घूर्णयति च। सुनन्दाऽपि तं दृष्ट्वा भीता। पूत्कारं च कृत्वा पलायनं कृतम्, तदा स सर्पोऽपि पृष्ठे लग्नः परिभ्रमति। ततः सुनन्दया सविशेषं पूत्कृतम्–'अरे! धावत धावत, एष सर्पो मम दशनार्थं मम पृष्ठे लग्नो धावति'। राज्ञा च तच्छ्रुत्वा सेवकैः शस्त्रेण मारितः। मृतश्चतुर्थभवे ध्वाङ्क्षजातिषु ध्वाङ्क्षतयोत्पन्नः। क्रमेण जातो वृद्धिं प्राप्तो नगरे परिभ्रमति। एकदा परिभ्रमणं कुर्वन् राजवाटिकायां महति वृक्षे शाखायां तस्य फलादिभक्षणं करोति। तस्मिन्नवसरे तौ दम्पती पुष्पादिप्रकरशोभां द्रष्टुं तत्र वाटिकायां बहुपरिकरयुतौ चतुर्मुखाऽऽवासे स्थितौ विलासं कुरुतः। मुखाऽग्रे गायकजनाः समयोचितं दिव्यम् अतिमधुरम् अनेकाऽऽतोद्यध्वनिमिश्रितं सङ्गीतगानं कुर्वन्ति, तौ च गानरसमग्नौ एकचित्तेन शृणुतः, कोऽप्यन्यो न च वदति। ईदृशेऽवसरे स वायसो भ्रमन् तत्रागतः। आवाससम्मुखवृक्षशाखायां स्थितस्य इतस्ततः पश्यतः सुनन्दा

दृष्टिपथमागता। पुना रागोदयो जातः, तेन रागोदयेन स हर्म्ये प्राप्त इतस्ततो भ्रमति, गाढस्वरेण पूत्करोति। अथ तस्य अशुभनामकर्मोदयजनिताऽतिकर्कशकर्णकटुकशब्दोच्चारणेन गीतगानभङ्गो भवितुं लग्नः। तदा राज्ञा सेवकजनेभ्यः प्रोक्तम्—'भो भो मूर्खजनाः! ईदृशेऽप्यवसरे गीतरसविघ्नकृत्पक्षिणं कथं नोड्डाययथ' ?। तं राजादेशं श्रुत्वा सेवकैर्वायस उड्डायितोऽपि पुनः क्षणान्तरे तत्रैवागत्य तथैव पूत्करोति स्म। एवं द्वि-त्रि-चतुर्वारम् उड्डाय्यमानोऽपि मोहोदयाद् न विरमति। तदा क्रुद्धेन राज्ञा गोलिकाप्रयोगेण हतो भूमौ पपात। मृत्वा च तत्रैव नगरोपवने कलहंसतयोत्पन्नः। पूर्णगर्भस्थितौ[1] जातायां जातो हंसः। क्रमेण प्रवर्धमान आहाराद्यर्थं सरस्सु वृक्षान्तरेषु च भ्रमन् स्वेच्छया कालं निर्वहन् परिवसति। अथाऽन्यदा ग्रीष्मर्तौ दम्पती सघनवृक्षाणां कुञ्जप्रदेशे जलयन्त्रसिक्तशीतलभूप्रदेशे सघनच्छायानिवारिताऽऽतापपीडस्य वटस्याऽधः स्थितौ, अग्रतो गायकजना अनेकरसोक्तिगर्भितगीतगानं कुर्वन्ति। ईदृशे समये रूपसेनजीवो हंसः परिभ्रमणं कुर्वन् तस्यैव वटस्य शाखायामागत्य यावत् तिष्ठति, तावता सुनन्दा दृष्टिपथमागता। पुनर्मोहोदयो जातः, पुनः पुनस्तस्या मुखं पश्यन् मधुरस्वरेण कूजति[2], एकदृष्ट्या लीनो भूत्वा पश्यन् स्थितः। तस्मिन्नवसरे कोऽपि काक उड्डीयमानस्तत्रागत्य तत्रैव हंसासभ्यर्णे[3] स्थितः। अथ तेन काकेन राज्ञः शुभ्राणि वस्त्राणि दृष्ट्वा तेषामुपरि विड्विसर्जनं[4] कृतम्। तद् दृष्ट्वा कुपितो राजा गोलिकायन्त्रं धनुष्कं हस्ते गृहीत्वा यावद् गोलिकां विसृजति तावताऽवसरज्ञः कुटिलः काकः पलायितः, गोलिका तु मोहमूर्च्छितस्य हंसस्य लग्ना। तस्या घातेन हंसः तडफडायमानो राज्ञोऽग्रे निपतितः। सभ्यजनैरुक्तम्—'स्वामिन्! काककृतं पापं वराकस्य हंसस्य लग्नम्' !। तदाऽन्येनोक्तम्—'सङ्गतिफलमीदृशमेव भवति'। तं दृष्ट्वा राजाऽपि सकरुणो जातः, परं

१ गर्भस्थितिपूर्णे। २ शब्दं करोति। ३ हंससमीपे। ४ विड् विष्ठा।

किं करोति ?, लग्नं न लग्नं न भवति ।

हंसस्तु क्षणान्तरे मृत्वा तस्य देशस्याऽरण्ये हरिण्याः कुक्षौ हरिणतयोत्पन्नः । पूर्णगर्भस्थितौ जातो हरिणः, मातुः पयःपानं कुर्वन् तया सह परिभ्रमति क्रमेण प्रवर्द्धमानो यौवनं प्राप्तो हरिणयूथेन सह वने परिभ्रमति । तृण–जलवृत्या सन्तुष्टः सुखेन कालं निर्गमयति । अथ चैकदा सुनन्दया राज्ञे पृष्टम्–'यूयं यदा आखेटकक्रीडां कर्तुं विपिने गच्छथ तदा तत्र कथम् अतिचपलगतिकान् मनुष्याणां दर्शनमात्रेण पलायमानान् हरिणान् स्वायत्तीकृत्य मारयथ' ?। राजा प्राह–'प्रिये ! गानेष्वतिकुशलान् स्वसेवकान् सहादाय वनगहने यामः । तत्र सेवका वृक्षाधः स्थित्वा अतिमधुरस्वरेण गानं कुर्वन्ति । तस्मिन् रागाणां ग्राम–मूर्च्छनां श्रुत्वा रागान्धा हरिणाः शनैः शनैरागच्छन्ति । टोडि–सारङ्ग–सिन्धुप्रमुखरागध्वनिषु मूर्च्छितास्तदेकचित्ता गायकसमीपमागता निर्भया हस्तग्राह्याः सुखेन तिष्ठन्ति । तदा च अन्ये सेवका दूरं गत्वा स्थूलदवरकमयया महत्या जालिकया परितो वनं बन्धयन्ति । ततो गानाद् विरमन्ति । पश्चात् ते पलायनं कुर्वन्ति, परं वनबन्धात् कुत्र यान्ति ?। ततो वयं धावमानान् तान् हन्मः, अथो जीवतोऽपि गृह्णीमः'। सुनन्दा प्राह–'निरपराधान् तृणभृतमुखान् वराकान् एतावत्या महत्या कष्टक्रियया हनने को लाभः' ?। राज्ञोक्तम्–'अस्माकं राजधर्मोऽस्ति । अस्मत्पृथिव्याम् अस्मदीयानि तृणानि चरन्ति, पानीयं पिबन्ति, न च किमपि ददति, तेन अस्मदपराधेन वयं कियतो हरिणान् हन्मः । न च तत्र दोषोऽस्ति । लाभश्च, यत उक्तमस्ति–'परिचयश्चललक्षनिपातने' इत्यादि । सुनन्दया तच्छ्रुत्वा सर्वं सत्यमिवाऽवधारितम् 'एवमेव भविष्यति' । श्रीजिनवाण्या अविद्धकर्णानां कुतस्तत्त्वप्राप्तिर्भवति ?। ततः सुनन्दया प्रोक्तम्–'प्राणनाथ !

---

१ गर्भस्थितिपूर्णे । २ मृगयाक्रीडाम् ।

महाश्चर्यकारिणीमेनां क्रीडां मह्यं दर्शयतु'। राज्ञोक्तम्—'वरम्, अथ यदि गमिष्यामस्तदा त्वां सहादाय गमिष्यामः'। अथ कियत्यपि दिने गते राज्ञोक्तम्—'श्वोदिने आखेटकक्रीडां कर्तुं गमिष्यामः, तव द्रष्टुमिच्छा चेद् सहाऽऽगन्तव्यम्'। द्वितीयदिने राज्ञीं सहादाय ससैन्यो भूपतिर्महावनगहने गत्वा महातरुतले स्थित्वा सेवकेभ्य आदिष्टम्—'गीतगानादिप्रयोगेण हरिणयूथमानयत'। सेवकैरपि पूर्वोक्तव्यतिकरेण गीतकलया हरिणयूथमानीतम्। तदा राजा राज्ञी च तुरङ्गमाणामश्ववारिकां कृत्वा तत्र गतौ। तत्र हरिणयूथं रागाकृष्टचित्तं चित्रलिखितमूर्तिरिव एकध्यानेन स्थितं शृणोति। अथ तन्मध्ये रूपसेनजीवोऽपि संजातहरिणः समस्ति। इतस्ततो भ्रमणं कुर्वती तुरङ्गमारूढा सुनन्दा तेन हरिणेन दृष्टा। पुनर्मोहोदयो जातः। अथ स हरिणो रागान्धस्तां दृष्ट्वा मोहान्धश्च जातः। स च सहर्षं नरीनृत्यति; पुनः पुनस्ताम् एकदृष्ट्याऽवलोकयति, हर्षति च। तावता सेवकै रागविसर्जनं कृतम्, तदा सर्वे हरिणा दिशो दिशं पलायितुं लग्नाः। रूपसेनजीवो हरिणस्तु तत्रैव प्रमोदभृत् स्थितः। राजा च तं तदवस्थं दृष्ट्वा राज्ञीं प्रत्युवाच—'प्रिये! पूर्णरागासक्तोऽयमेव मृगः; यतोऽन्ये मृगा रागविरामे नष्टाः, अयं पुना रागाऽऽशया स्थित एव। एष मृगो भरयौवन-उपचितमांसश्रोणिर्[1]दृश्यते,अस्य मांसमतिभव्यं भविष्यति'। इत्युक्त्वा कर्णाकृष्टबाणेन हतो भूमौ पातितः। क्षणेन मुक्तप्राणो विन्ध्याद्रौ करिणीकुक्षौ हस्तित्वेनोत्पन्नः।

अथ राजा तन्मृतहरिणशरीरं सेवकैर्ग्राहयित्वा अतिशोभने आत्मीयवाटिकावासे उत्तीर्णः। ततः सूपकारेभ्य आदिष्टम्-'अस्य पलं[2] भव्यरीत्या पचन्तु,विविधशुभमेलापकद्रव्यैः संस्कारं कुर्वन्तु'। सेवकै राजादेशं लब्ध्वा विविधैर्मेलापकराजद्रव्यैः संयोज्य घृतेन

१ श्रोणिः कटी। २ मांसम्।

मांसपाकं कृत्वा स्वर्णमयभाजने भृत्वा राज्ञोऽग्रे धृतम्। राजाऽपि यथार्हमन्येभ्यो दापयित्वा, राजा राज्ञी च उभौ भक्षयितुं प्रवृत्तौ। स्वादं च लब्ध्वा पुनः पुनः प्रशंसयितुं लग्नौ–'इदं मृगमांसमतिभव्यतरम्, पूर्वं बहुशोऽपि भुक्तं परमस्य तुल्यतां न करोति'। अथे-दृशे समये सातिशयज्ञानयुक्तं मुनियुगलं भाग्येन तत्र समागतम्। मार्गे गमनं कुर्वता असमञ्जसं दृष्ट्वा एकेन मुनिना ज्ञानोपयोगेन तत्सर्वं भूतपूर्वं वर्तमानं च ज्ञात्वा अन्यमुनये प्रोक्तम्–'पश्यतु निरर्थककर्मणां विपाकबलम्!। अयं केवलमनोयोगविकल्पकल्प-नामात्रकृतकर्मबन्धः कया रीत्या भवे भवे योगत्रिकैर्विरूपरूपैः वेद्यमानोऽपि न निर्जीर्यति, अकाले मरणं च प्राप्नोति!। यस्याः कृतेऽयं जीवो भवे भवे वक्तुमशक्यं कर्मक्लेशजं दुःखं वेदयति सा तु सहर्षं तस्य मांसमत्ति!। अतो धिगस्तु असारसंसारगतसांयो-गिकभावप्रतिबन्धम्'। इत्युक्त्वा शिरो धुन्वन् मुनिरग्रतश्चलितः। तत्सर्वमास्थानद्वारस्थिताभ्यां दम्पतिभ्यां दृष्टम्। दृष्ट्वा च तच्छुद्ध्यर्थं राज्ञा मुनिरालापितः–'भो मुने! भवता यत् शिरोधूननं कृतं तत् किम् अस्माकं पलभक्षणक्रियया दुगञ्छाहेतोः, किं वा कोऽप्यन्य-हेतोः?। यतः पलभक्षणस्य तु परम्परयाऽस्मत्कुले प्रवृत्तिरेवाऽस्ति। युष्मादृशां महापुरुषाणां तु निर्निमित्तं शिरोधूननं जुगुप्सा च न भवति। अतः पृच्छामि केन हेतुना शिरोधूननं कृतम्?। ततो मुनिराह–'राजन्! यद् भवतोक्तम् 'मांसभक्षणस्य तु अस्मत्कु-लप्रवृत्तिरेव' तत्तु वयमपि जानीमः। अनादिविभावस्वभावोऽयं जिनवाण्याऽविद्धकर्णो जीव इन्द्रियैर्वशीकृतस्तदर्थं किं किं न क-रोति?। यतः–

१ रूपसेनजीवः। २ निर्जरणां करोति॥

"आत्मभूपतिरयं सनातनः, पीतमोहमदिराविमोहितः।
किङ्करस्य मनसोऽपि किङ्करैरिन्द्रियैरहह! किङ्करीकृतः" ॥१॥

संसारविज्ञानविकलो जीवो मिथ्यात्वा-ऽविरति-कषाय-योगादिभिः प्रेरित इन्द्रियसुखप्रतिबन्धबद्धोऽष्टादश पापस्थानानि समाचरति। मार्गविज्ञानविकलो हठेनाऽनिर्गमो भ्रमति तत्र किमाश्चर्यम्?। अन्यच्च, यो यादृशं करोति स तादृशं फलमाप्नोति, परन्तु कुकर्मचिन्तनमात्रकृतकुकर्मोऽपि कृतकुकर्मतोऽपि अधिकं क्लेशमाप्नोति; ज्ञानेन तद् दृष्ट्वा शिरोधूननं कृतं, नान्यः कोऽपि हेतुरत्राऽस्ति'। इत्युक्त्वा विरते मुनौ राजाऽऽह–"भवता ज्ञानेन यद् दृष्टम् 'मनोरथमात्रेण कृताऽपराधः कृतापराधादपि अधिकतरं दुःखमाप्तः' स को जीवः?, कया रीत्या कुकर्मचिन्तनमात्रेण अतिकष्टमनुभवति?। तत् करुणां कृत्वा निवेदयतु भवान्, येन मादृशानामज्ञानिनां किमप्युपकारो जायेत"। मुनिराह–'राजन्! विषय-कषायवशगा जीवा जगति यद् न दृश्यते न श्रूयते नाऽनुभूयते, तच्चिन्तयित्वा दुर्ध्यानेन नरकनिगोदमहादुःखसमुद्रे पतन्ति। तत्र स्वरूपेण तु किमपि कृतं नास्ति, परम् अतिविषय-कषायगर्भितं निरर्थकं विकल्पं कृत्वा परम्परया अनन्तकालं यावद् वध-बन्धन-ताडन-ताप-च्छेद-भेदनादिबहुलं दुःखमाप्नुवन्ति, यद् वक्तुमपि न समर्था ज्ञानिनः'। राजाऽऽह–'स्वामिन्! भवता यदुक्तं नरक-निगोदादि, तत्स्वरूपं कृपां कृत्वा अस्मिन् आसने स्थित्वा चोपदिश्यताम्। स्वामिनां मार्गे स्खलनं न युक्तम्, परं सज्जनानां स्खलने गुणो भवत्येव। अतो ममोपकारं कर्तुं समर्था यूयम्, तेन प्रार्थनां करोमि'। ततो मुनिनाऽपि लाभं ज्ञात्वा तत्र स्थित्वा आगमशैल्या नरक-निगोदविपाकाः सहेतुका उपदेशद्वारेण दर्शिताः। राजा तत् श्रुत्वा चमत्कृतो भीतश्च मुनिं नत्वा प्राह–'यदि अनर्थबहुलः संसारस्तदा मादृशानां प्रतिक्षणं कुकर्मकारिणां का गतिर्भविष्यति?।

साधुराह—'राजन्! अद्यापि किञ्चिद्गतं नास्ति, यदि जागरितो भूत्वा भवान् त्रिशुद्ध्या धर्ममाराधयिष्यति तदा स्तोकेनैव कालेन दृढप्रहार-कालकुमार-चिलातिपुत्र-चुलिन्यादीनाम् अतीव कुकर्मकारिणामिव सकलकर्मक्षयं कृत्वा मुक्तिसुखमाप्स्यति, यत्तुलायां त्रिजगति न कोऽप्यायाति। अतो सावधानो भूत्वा यथाशक्त्या धर्ममाचरतु'। राजाऽऽह—'स्वामिन्! यन्निमित्तं वार्तायाम् अश्रुत-पूर्वा सुखासिका प्राप्ता तत्तु नोक्तं भवता ?। अधुना तु दयां कृत्वा तदेवोच्यताम्'। साधुराह—"राजन्! विचित्रा कर्मणां गतिः'। कर्मोदयो हि महाबलवत्तरः, तस्याग्रे कस्यापि बलं न प्रभवति। यतो ये भव्यकुले जातास्ते कुकर्मप्रवृत्तिं मनसाऽपि नेच्छन्ति। करणं तु दूरे, कुकर्मवार्तयापि दुन्वन्ति। ईदृशानामपि प्रबलविषय-कषायोदयबलेन पूर्वनिबद्धकर्मणामुदयोदर्केण च मतिविपर्यासोऽ-निर्वचनीयो भवति। तत् श्रुत्वाऽन्ये जीवाः सत्यं न मन्यन्ते, प्रत्युत भाषकस्योपालम्भं ददते, कर्मोदयैरीदृशानां कुकर्मणां करणाय मतिः प्रेरयति। ततः केनापि जन्तुना पूर्वनिबद्धकर्मोदयबलेन कुकर्मप्रवृत्तिः कृता, परं पुण्यबलेन केनापि न ज्ञाता, सा गुरुचरण-प्रसत्तेरस्माभिर्ज्ञाता। परं स जीवः स्वकृतकुकर्मवार्तां श्रुत्वा मनसा दूयेत, लज्जेत च। सम्बन्धिनश्च तां श्रुत्वा गतस्नेहा भवेयुः, द्वेषं वा परिवहेयुः, अतिनिकटसम्बन्धे ताडनादिकमपि कुर्युः। तद्दुःखेन पीडितः स जीवः शत्रुवद् द्वेषी भवेत्, तन्निमित्तं बहुतरं कर्म उपचिनुयात्, किं बहुना ? त्यक्तसम्बन्धोऽपि भवेत्। अतः कथनाद् अकथनमेव श्रेयः"। इत्युक्त्वा विरते मुनौ सुनन्दा प्राह—"भगवन्! युष्मदीयोपदेशेन 'कर्माधीनं सर्वम्, भुक्तिं विना कृतकर्मणां मोक्षो नास्ति' इति श्रद्धा स्थिरतरा चित्ते संनिविष्टा। पूर्व-कृतकर्मोदयबलेन जीवाः कर्तव्यम् अकर्तव्यं च कुर्वन्ति, साधकैस्तत्र विस्मयो न कर्तव्यः, प्रत्युत अकर्तव्यस्य पश्चात्तापः कर्तव्यो यथाऽग्रे वृद्धिं न याति'। भवद्वचनोपकारेण इति ज्ञातम्। अतः सुखेन तत्कर्मोदयजनितविपाकः प्रोच्यताम्"। साधुराह—'किमपि

युष्मत्सक्तं भविष्यति तदा तच्छ्रुत्वाऽप्रीतेरुत्पादस्तु न भविष्यति ?, न भवेत् चेत्तदा तु कथयामि, नान्यथा'। राज्ञी चाह—'भगवन्! सुखेन तदुच्यताम्। अस्माकं तु तत् स्वाऽज्ञानविलसितं दुष्कृतं श्रुत्वा भवतः पार्श्वात् तद्दुष्कृतनाशनोपायोऽपि मिलिष्यति'। राजाऽप्याह—'स्वामिन्! भवदुपदेशेन 'अमुकेन सुखं दुःखं वा दत्तम्' इति भ्रमस्खलना चिरकालपरिचिताऽपि गता। यद् जीवो दुष्कृतं करोति तत् कर्मोदया-ऽज्ञानवशात्, कर्मोदया-ज्ञानयोश्च गौण-मुख्यभावेन यथावसरं प्रवर्तते। तस्माद् रागद्वेषवृद्धिर्भवदुपकारान्न भविष्यति, अतः सुखेनोच्यताम्"। तदा साधुराह—'हे सुनन्दे! पूर्वं हि बालभावे महावासोपरि सख्या सह स्थितया त्वया कस्याऽपि इभ्यस्य गृहे दूरतः तां काञ्चिद् रूप-यौवन-विनयादिगुणाऽन्वितां भर्त्रा किमप्यलीकाऽभ्याख्यानं दत्त्वा कम्बया ताड्यमानां दृष्ट्वा तव पुरुषे द्वेष उत्पन्न इति सत्यमसत्यं वा' ?। इति मुनेरुक्तं श्रुत्वा चमत्कृता सुनन्दा प्राह— 'स्वामिन्! सत्यं भवद्वचनम्, असत्यं न भवत्येव'। "तद्द्वेषेण दूना पाणिग्रहणाऽकरणप्रतिज्ञां कर्तुं लग्ना सखीभिः वारिता स्थिता। पुनः कालान्तरे यौवनवयसि प्राप्ते पुनस्तथैव आवासोपरिस्थितायास्तवाऽपि कस्मिंश्चिद् महेभ्यावासाऽभ्यन्तरे दम्पत्योर्विलसनं दृष्ट्वा तीव्रकामोदयो जातः। सख्या शिक्षां दत्त्वाऽऽवासोपरितनभूम्या उत्तार्य गवाक्षे स्थापिता, तदवसरेऽमुकमहेभ्यपुत्रम् अतिरूप-यौवन-चातुर्य-वस्त्राभरणभूषितं चतुष्पथे ताम्बूलिकहट्टे स्थितं दृष्ट्वा तव तदुपरि कामरागेण व्यामोहो जातः। सखीहस्तदत्तपत्रिकाप्रमुखप्रयोगेण पूर्वोक्तव्यतिकरेण युवयोर्गाढस्नेहो जातः, परं मिलनाऽवसरस्तु दुष्करः। एवं मिलनार्तध्यानभृताभ्यां युवाभ्यां कियत्यपि गते काले कौमुदीमहोत्सवावसरं लब्ध्वा दवरकनिःश्रेण्याः प्रयोगेण आगमनसङ्केतः कृतः। त्वया तेन च शरीराऽपाटवमिषेण गृहाभ्यन्तरे स्थिते, त्रियामाया एकयामे गते सख्या निःश्रेणीप्रयोगः कृतः। तदवसरे त्वयाऽज्ञातं यज्जातं तच्छृणु—

"तन्नगरे एको महाबलो नाम्ना दौरोदरिकोऽस्ति। तेन द्यूतक्रीडायां बहु धनं हारितम्, तद्दुःखेन पीडितः परिभ्रमति। अस्मिन्नवसरे महोत्सवागमनं ज्ञात्वा चिन्तयितुं लग्नः—'अद्य रात्रौ समस्तनगरजनाः सपरिकरा बहिर्यास्यन्ति, नगरं च विजनं भविष्यति। तदवसरेऽहं नगरमध्ये कस्यापि धनिकगृहस्य प्रतिकुञ्चिकादिप्रयोगेण तालकोद्घाटनं कृत्वा धनं लास्यामि। एवं मम दुःखोद्धरणं भविष्यति'। इति ध्यात्वाऽवसरे एकप्रहररात्रिगमनसमये धनार्थं निर्गतः स परिभ्रमन् दैवात् त्वत्कृतसङ्केतस्थानमागतः। तच्च दृष्ट्वा कुबुद्धिभाण्डागारिकेण ज्ञातम्—'अत्र कस्यापि सङ्केतो दृश्यते, अतोऽत्राहमपि स्वां कलां करोमि'। इति ध्यात्वा निःश्रेणी चालिता। अथ तां कम्पमानां दृष्ट्वा सख्या तत्रागत्याऽऽलापितो धूर्तः—आगता यूयम्' १। तदा धूर्तेन 'ओम्' इत्युक्तम्। सख्या ज्ञातम्—'सैवाऽऽगतः'। तत्र स्थितया तया तुभ्यं वर्द्धापनिका दत्ता। तव चित्तमपि प्रसक्तिपात्रमभूत्। तदा सख्योक्तम्—'आगम्यतां स्वामिन्' १। तदा धृष्टहृदयो धूर्तस्तयोक्तमात्रे चटितः। यावता गवाक्षान्तः पादो मुक्तस्तावता तस्मिन्नेव अवसरे सखीवृन्दागमनं दृष्ट्वा सख्या हस्तेन दीपो निर्वापितः। तद्धस्तं च गृहीत्वा तव पर्यङ्के मुक्त्वा सखीवृन्दायोत्तरं दातुं गता। सखीवृन्दायोक्तम्—'तापभयाद् दीपो निर्वापितः। अधुनैव शिरोऽर्तिपीडा किञ्चिद् मन्दीभूता, तेन नेत्रे मिलिते, अतो गृहान्तरं गत्वा कार्यं कृत्वाऽऽगच्छतु'। इत्युक्तं श्रुत्वा सखीवृन्दं गृहान्तरं गतम्। तत्र पुनरन्धतमसि रूपसेनभ्रान्त्या तेन सह तव संयोगो जातः। सखीवृन्दभयाद् लज्जया च कोऽपि वार्तालापो न कृतः। संयोगविरामे तु पुनः सखीवृन्दमागतं दृष्ट्वा सख्योक्तम्—अधुना तु त्वरितं गच्छतु भवान्'। तच्छ्रुत्वा सुरतक्रियया त्रुटितहारादीन् गृहीत्वा गतः। इति सत्यं वाऽसत्यम्" १। मुनिना इत्युक्ते स्वचिन्ति-

१ द्यूतकारेण।

ताद् विपरीतं ज्ञात्वा दीर्घं निःश्वस्योक्तम्—'स्वामिन्! भवदुक्तौ को विश्लेपः ?, निःसन्देह एव। परं रूपसेनस्य का गतिर्जाता' ?। मुनिराह—"अधुना तद्व्यतिकरं शृणु—रूपसेनोऽपि यथावसरे भोगसामग्रीमादाय स्वगृहान्निर्गतः। मिलनौत्सुक्याद् हर्षभरनिभृतहृदयोऽनेकवार्ताकरण—निरन्तरमिलन—अनेकहास्यविलासादिकरण—सूक्तसुभाषितसमस्यादिस्वचातुर्यप्रकटन—विविधासनादिप्रयोगपूर्वकसुरतक्रियाकरणाद्यनेकमनोरथान् कुर्वन् 'अहो! इयं राजपुत्री ममोपरि निर्व्याजं[1] कृमिजरङ्गवत् स्नेहं बिभर्ति, तस्मादहमपि 'यद् भावि तद् भवतु' परम् अनया सह आजीवितं स्नेहविरमणं न करिष्यामि' इत्याद्यनेकमनोरथार्तिसंभृतहृदयो यावदर्धमार्गमागतस्तावता एका निःस्वामिकाऽऽवासभित्तिः परिकर्मरहिता जलवृष्ट्या शिथिलीकृता दैवात् तस्योपरि पतिता। तस्या घातेन तस्य शरीरं खण्डशो जातम्। भित्तिपतनपुञ्जाधश्च आगतं, तेन तच्छरीरं तथा गुप्तं जातं यथा कोऽपि न जानाति। मृत्वा च दुरोदरकृतसंभोगे त्वत्कुक्षौ गर्भतयोत्पन्नः। 'विचित्राहि कर्मणां गतिः', ध्यातमन्यत्, जातं चाऽन्यद्। ततो मासद्वयानन्तरं गर्भचिह्नानि प्रादुर्भूतानि। तदा सख्या औषधप्रयोगेण गर्भशातनं[2] कृतम्। ततश्च्युत्वाऽस्मिन्नगरे राजमन्दिरासन्नभूमौ सर्पतयोत्पन्नः। ततः परं मात्रा त्वदाशयं ज्ञात्वा पाणिग्रहणं कारितम्। बहुदानपूर्वकं विसर्जनं कृतम्। अनेन राज्ञा सहाऽत्रागता। एकदा स सर्पः परिभ्रमन् राजमन्दिरं प्रविष्टः सन् भ्रमति। दैवाद् युवां दम्पती आवासवाटिकायां क्रीडां कुरुथस्तत्रागतः। त्वद्दर्शनं जातं, दर्शनाच्च मोहोदय आविर्भूतः, तेन जडीभूत एकत्र स्थितोऽनिमेषं पश्यति, हर्षं च प्राप्नोति। अस्मिन्नवसरे भयविह्वला त्वं गृहान्तर्गमनायोत्थिता, तदा स सर्पोऽपि पृष्ठे लग्नो भ्रमति। तदा भीतया त्वया पूत्कारः कृतः, तदा राज्ञा सेवकैर्मारितः। मृत्वा च अस्मिन्नेव नगरे ध्वाङ्क्षो जातः। सोऽपि नाटकाव-

१ निष्कपटम्। २ नाशनम्। ३ भद्रासनो पविष्टो वार्ता। ४ किमपि कार्यार्थे।

सरे त्वां दृष्ट्वा हर्षितः कूजति, रसभङ्गं च करोति, तेन राज्ञा मारितः। ततश्च्युत्वा हंसो जातः। सोऽपि वटवृक्षोर्ध्वस्थितस्त्वां दृष्ट्वा विह्वलो वायसाऽपराधस्थानेऽयं मारितः। मृत्वा च हरिणतयोत्पन्नः। सोऽपि आखेटके त्वां दृष्ट्वा मोहोदयेन गन्तुं न शक्नोति, नृत्यति च। राज्ञा हतः, तस्य मांसं पाचयित्वा सहर्षं युवां भक्षणं कुरुथः। ईदृशी कर्मणां गतिः। तद् ज्ञात्वाऽस्माभिः शिरोधूननं कृतम्, नाऽन्यत् किमपि कारणम्"।

इत्येवं राजा राज्ञी च श्रुत्वा संसारवासाद् विरक्तौ जातौ। 'हा! किमीदृशं संसारस्वरूपम्'?, इत्युक्त्वा राज्ञा पृष्टम्—'मुने! किं रामाऽऽसक्तानाम् इयमेव गतिर्भवति'?। मुनिराह—'राजन्! कया निद्रया सुप्तोऽसि?। हिंसा—मृषा—चौर्य—मैथुन—परिग्रह—क्रोध—मान—माया—लोभ—प्रेम—द्वेष—कलहा—ऽभ्याख्यान—पैशुन्य—रत्यरति—परपरिवाद—मायामृषा—मिथ्यात्वानाम् एतेषामष्टादशदोषाणां मध्ये एकैकोऽपि दोष एकस्मिन्नेव भवे समाचरितोऽनन्तकालं यावद् अनन्तेषु भवेषु नरक—निगोदादिषु भ्रमयति, अनेकान् विरूपरूपान् विपाकान् प्रापयति, तत्स्वरूपं सर्वज्ञकेवली जानाति, परम् एकमुखेन वक्तुं न शक्नोति। विपाकाश्चास्य विचित्राः—देवो मृत्वा पशुर्भवति, पशुरपि देवः। माता पुत्री, पुत्री च माता, स्त्र्यपि माता। पिता पुत्रोऽपि, पुत्रः पिता सेवको वा श्वा वा अश्वो वा बान्धवो वा दासो वा भवति। शत्रुर्मृत्वा मित्रं वा प्रिया वा पुत्रो वा, एवं मित्रमपि शत्रुर्वा दासो वा सुभगो वा दुर्भगो वाऽनिष्टो वा इष्टो वा। एवं राजाऽपि मृत्वा दासो वा ब्राह्मणो वा श्वपचो[1] वा सार्वभौमो[2] वा रोरो[3] वा रासभो वा तरुर्वा कीटपतङ्गो वा वेश्या वा व्याघ्रो वा हरिणो वा मत्स्यो वा भवति। एवं सर्वजातीयैर्जीवैः सह सम्बन्धा जायन्ते, न कस्यापि नियमो यदयं सम्बन्धो न

१ चाण्डालः। २ चक्रवर्ती ३। रङ्कः।

भवति। पूर्वकाले एकैकजीवेन सह सर्वेऽपि सम्बन्धा आत्मीयजीवेन अनन्तशः प्राप्ताः, तैरपि आत्मीयजीवेन सह प्राप्ताः, कोऽपि तन्नियमो नास्ति। चतुरशीतिलक्षयोनीनां मध्ये सर्वासु योनिषु अनन्तश उत्पन्नः, एवं सर्वासु जातिषु, सर्वासु कुलकोटिषु, सर्वेषु च स्थानेषु अनन्तशो जन्म मरणं च पूर्वं प्राप्तमस्ति, न किञ्चिद् अनाप्तं विद्यते। अग्रेऽपि यावद् भागवतीं दीक्षां नाप्स्यति तावदिह परिभ्रमिष्यति। राज्यादिसुखं तु शरदभ्रवद् अस्थिरम्, आयतिबहुदुःखप्रदायकं च। ईदृशं संसारस्वरूपं श्रीमद्भिर्जिनेश्वरैर्भाषितमस्ति, तस्माद् यद् रम्यं भासते तत् कुरुष्व"। एवं मुनिराजोक्तं श्रुत्वा राजा राज्ञी सर्वेऽपि च निकटस्थाः सभ्या वैराग्यं प्राप्ताः राजा स्वयं समुत्थाय मुनिचरणयोर्निपत्य इत्युवाच–'हे निष्कारणजगदेकबन्धो ! हे दयानिधे ! हे अनाथनाथ ! हे अशरणशरण ! हे समतासरिताम्पते ! अपारसंसारकूपारमध्यनिमग्ना वयं समुद्धृता निजागमनेन शिरोधूननमात्रेण, तानि चाऽस्माकं समस्तदुष्कृतानि समुद्धृतानि। भवदागमनं चेद् नाऽभविष्यत् तदऽस्माकं का गतिरभविष्यत्' ?। सुनन्दाऽपि बदरस्थूलानि अश्रूणि मुञ्चन्ती साधूनभिवन्द्य विज्ञप्तिं कर्तुं लग्ना–'हे दयानिधे ! दुर्भाग्याया दुःशीलायाः कुकर्मकरणैकतत्पराया बहुलपापभरभारिताया मम का गतिर्भविष्यति ?। कथम् ईदृशं प्रायश्चित्तं केनोपायेन स्फेटयिष्यामि ?। कृपां कृत्वा तदुपायं प्रसादीकरोतु भवान्'। मुनिराह–'भद्रे ! भवदीयपापसंभारादपि अधिकतराणि पापानि चारित्रग्रहणात् श्रीमज्जिनाज्ञाऽनुकूलपालनाच्च च्छुट्यन्ते, शिवं च प्राप्यते'। ततः सुनन्दया पृष्टम्–'स्वामिन् ! अयं मदर्थं क्लेशं सहमानो रूपसेनजीवो मृगभवाच्च्युतः कुत्रोत्पन्नः' ?। साधुराह–'विन्ध्याऽटव्यां सुग्रामनाम्नि ग्रामे सीमासमीपवनगहने करिण्याः कुक्षौ हस्तित्वेनोत्पन्नोऽस्ति'। पुनः सुनन्दा प्राह–'भगवन् ! कदाप्यस्योद्धारो भविष्यति' ?। मुनिराह–'तव मुखाद् निजभवसप्तकविडम्बनां श्रुत्वा जातिस्मरणमं भविष्यति। त्वत्तो धर्मं लब्ध्वा तपांसि कृत्वा समाधिना मृत्वा सहस्रारे देवो

भविष्यति, ततश्च्युत्वा सेत्स्यति। अतस्त्वं दीक्षाऽङ्गीकरणेन भवं सफलं कुरु'। ततः सुनन्दा राजानं प्राह--स्वामिन्! जाति--कुल--धर्म--नीतिविरुद्धाचरणेन पापभरभारितां कुलटां कुकर्मकरणपरायणां निर्लज्जां मां यदि कृपां कृत्वा आज्ञां ददातु तदाऽहं दीक्षां लात्वा भवं निस्तरामि'। राजाऽऽह--सुभ्रु! सर्वेऽपि जीवाः कर्मायत्ता उदयबलेन यदकर्तव्यं तत् कुर्वन्ति। अकृत्यं च कृत्वा जन्म--जरा--मरण--रोगसङ्कुले नरक--तिर्यश्चादिचतुर्गतिगहने संसारे परिभ्रमन्ति। सर्वेषामियं भित्तिरग्रत एवास्ति, यावद् गृहवाहे स्थितिरस्ति, तावद् निर्दोषत्वं कुतः। अतोऽहमपि नरकफलं राज्यं त्यक्त्वा संयमं लातुमुत्सुकोऽस्मि। ततो 'येषां केषामपि संसाराद् भयं भवति, ते सुखेन भागवतीं दीक्षामङ्गीकुर्वन्तु। ते सर्वे मम आत्मीयाः श्लाघनीया धन्याः शूरतमाः सान्वर्थसम्बन्धा ज्ञेयाः'। इति राज्ञोक्तं श्रुत्वा सर्वेऽपि सभ्या उत्थाय राज्ञोऽग्रे निवेदयन्ति--'स्वामिना सह वयमपि चारित्रं ग्रहीष्यामः। 'सेवकानां हि स्वाम्यनुशरणम्'इति सेवकधर्मं च सफलीकरिष्यामः'। इति तेषां गिरं श्रुत्वा राज्ञा सहर्षं मुनये विज्ञप्तम्--'स्वामिन्! मम लोकव्यवहारेण राज्यं पुत्राधीनं कर्तव्यमस्ति, तत् कृत्वा युष्मत्पार्श्वे चारित्रं ग्रहीष्यामि। अतो दयां कृत्वाऽस्मिन् नगरोद्याने दिनद्वयमात्रं स्थातव्यम्, येन मे मनोरथतरुः सफलो भवेत्।' मुनिराह-'राजन्! यदि तवेदृशो मनोरथोऽस्ति तदा गव्यूतिपरिमाणमार्गासन्नग्रामेऽस्मद्गुरवः समवसृताः सन्ति तत्रागन्तव्यम्, चिन्तितार्थश्च कर्तव्यः। वयं तु गुरोराज्ञां विना स्थातुं न शक्नुमः। धर्मलाभोऽस्तु तवाऽधुना, वयं यामः'। इत्युक्त्वा मुनिद्वन्द्वं गुर्वन्तिके गतम्। राजापि स्वगृहमागत्य राज्यं सूनवे ददौ। सर्वान् चाऽऽज्ञाप्य महर्द्ध्या गुर्वन्तिकं गत्वा गुरुं चाऽभिनम्य सपरिकरेण राज्ञा सुनन्दया च सविनयं दीक्षाप्रार्थनं कृतम्। मुनियुगलोक्तविज्ञातव्यतिकरेण गुरुणाऽपि श्लाघयित्वा

१ गस्य कस्याऽपि। २ दत्त्वा।

सपरिकरस्य राज्ञो भवोद्विग्नायाः सुनन्दायाश्च दीक्षा शिक्षापूर्वकं दत्ता। अथ राजर्षिरपि अत्युत्कटभावेन सहर्षं ग्रहणा-सेवनाऽभ्यासं करोति। सुनन्दा तु महत्तरायांप्रवर्तिनीसमीपे स्थापिता। साऽपि तत्र श्रुताऽभ्यासं शक्त्यनुरूपं तपश्च करोति। अथ राजर्षिर्द्वादशवर्ष-पर्यायमुत्कटं निरतिचारं च संयममाराध्य कर्म क्षपयित्वा केवलज्ञानमासाद्य अन्ते योगनिरोधं कृत्वा मोक्षं जगाम। राज्ञः परिकरजना अपि केऽपि मोक्षं, केऽपि च स्वर्गं गताः। केऽपि ततो मनुजत्वं प्राप्य मोक्षं यास्यन्ति। अथ सुनन्दा साध्वी अतिवैराग्यरङ्गरञ्जित-हृदयाऽत्युत्कटतपोबलेन अवधिज्ञानमुत्पाद्य महताऽऽह्लादेन संयमं निरतिचारं निर्वहति। एकदा प्रवर्तिन्यग्रे व्यतिकरं ज्ञापयित्वोक्तम्-'मातः! तस्य जीवस्य मदर्थं सप्त भवाः संजाताः, निरर्थकं क्लेशमनुभवन् अनिर्वचनीयदुःखाकरे पतितोऽस्ति। अतो यदि भवदीयाऽऽज्ञा भवेत् तदाऽहं तत्र गत्वा तं प्रतिबोध्य दुःखाकरात् समुद्धरामि[1]'। प्रवर्तिन्योक्तम्-'वत्से! त्वं ज्ञानकुशलाऽसि। यदि तत्र ज्ञाने लाभः प्रतिभासते तदा तत्र गत्वा सुखेन तं प्रतिबोध्य धर्मं प्रापय, येनाऽऽराधको भवेत्'। तदा सुनन्दया महत्तराया आज्ञां लात्वा चतसृभिः साध्वीभिः सह विहारः कृतः। क्रमेण सुग्रामग्रामं प्राप्ता। गृहस्थानां पार्श्वाद् वसतिं याचित्वा तत्र चातुर्मासिकं स्थिता। प्रत्यहं भव्यश्राविकाणां धर्मोपदेशेन धर्मवृद्धिं प्रापयति।

अथ तत्र ग्रामासन्नपर्वतवनगहनेषु स रूपसेनजीवो हस्तित्वेनोत्पन्नो निवसति। स यदा परिभ्रमन् ग्रामसीमायामागच्छति तदा सीमागतलोकानामुपद्रवं करोति, जनानां पृष्ठे धावति, केचिद् वृक्षे चटन्ति, केचित् पलायिता ग्रामं प्रविशन्ति, केचिद् अन्यस्थान-मलभमानास्तस्य दृष्टिं वञ्चयित्वा लतान्तरे सङ्कीर्णे जालान्तरे वा अदृश्यतया तिष्ठन्ति। काँश्चित्तु स्वविषयमागतान् शुण्डेन गृहीत्वा

१ समुद्धरणं करोमि।

गगने उच्छालयति, ततः परं यथा आयुर्बलम्, केऽपि पीडां संप्राप्य जीवन्ति, केऽपि मरणमाप्नुवन्ति। कमपि तुण्डेन गृहीत्वा भूमौ आस्फाल्य मारयति, कमपि जीर्णवस्त्रवद् विदारयति। एवं लोकानामुपद्रवं कृत्वा पुनर्वनगहने याति। यस्य कस्याऽपि सीमायाम् अवश्यकार्यार्थं गन्तव्यं भवति तस्य चित्ताद् भयशल्यं न निवर्तते। तस्मिन् नगरे सर्वेऽपि लोका हस्तिभयेन त्रस्यमानास्तिष्ठन्ति। अथाऽन्यदा सुनन्दाऽऽर्यया ज्ञानबलेन ज्ञातम्—'कल्ये प्रभाते सीमायां ग्रामनिकटे हस्त्यागमनं भविष्यति'। इति सम्प्रधार्य प्राभातिकप्रतिलेखनां कृत्वा विचारभूमिगमनमिषेण एकया अन्यसाध्व्या सह निर्गता। यावता गोपुरासन्नमागता तावता तु हस्तिभयात् त्रासमापन्ना भयेन वेपमाना धावन्त आगताः पुराद् बहिर्गच्छन्तीं साध्वीं दृष्ट्वा वक्तुं लग्नाः—'मातः! आर्यिके! मा बहिर्गच्छतु, यद् यमसोदरो हस्ती ग्रामासन्ने परिभ्रमति, मनुष्यं दृष्ट्वाऽवश्यं धावति, हस्ते चटितं च मारयत्येव। अत इतो निवृत्य स्थानं गच्छतु, अधुना गमनाऽवसरो नैवाऽस्ति'। इति तेषां वचः श्रुत्वा सहाऽऽयाताम् आर्यिकां प्रत्युक्तम्—भो अमुकाऽऽर्यिके! यूयं त्वत्रैव तिष्ठत'। तयोक्तम्—'तहत्ति, परन्तु एते भयेन कम्पमाना आगच्छन्तो बहिर्गमनस्य निषेधं कुर्वन्ति, तत् कथं भगवत्या गमनं क्रियते'?। सुनन्दार्यिकयोक्तम्—'मम किमपि भयं नास्ति; यतोऽस्यैव प्रतिबोधनार्थं यामि। अयं हस्त्यपि प्रतिबोधं यास्यति, ग्रामलोकानामपि भयं निवर्तिष्यति, शासनोन्नतिश्च भविष्यति। अतश्चिन्तालेशोऽपि न कर्तव्यः, सर्वं भव्यं भविष्यति'। इति शिक्षां दत्त्वा एकाक्येव सुनन्दार्या बहिर्गन्तुं प्रवृत्ता। तदा दूरनिकटस्थैर्लोकैः पूत्कृतम्—'भो आर्यिके! बहिर्मा गच्छ, हस्ती तव पराभवं करिष्यति, किमर्थं निष्कारणम् अनर्थे पतसि'?। सुनन्दा तु मौनमाधाय मार्गे गच्छति। गोपुराद् बहिर्निर्गता तदा वटादिमहावृक्षोपरि स्थिता लोका बहिर्गच्छन्तीं साध्वीं दृष्ट्वा महता शब्देन वारयन्ति—'मा याहि, मा याहि'। इति पुनः पुनर्वारयन्ति।

सुनन्दा तु किमप्युत्तरं न ददाति, निर्भयं गच्छति। तदा पुनर्लोकाः परस्परं विवदन्तो-'किमियं साध्वी बधिराऽस्ति!, किमियं ग्रथिलाऽस्ति? किमियं भूताविष्टचित्ताऽस्ति?। यत एतेषु वारयत्सु लोकेषु न निवर्तते। पश्यन्त्वस्याः कठोरहृदयत्वम्'!। ततः केनाप्युक्तम्—'इयमार्या सर्वासामार्यिकाणां महत्तराऽस्ति, न कठोरहृदया, नाऽपि कर्णाभ्यां बधिराऽस्ति, न च ग्रथिलाऽस्ति। इयं तु गुणवती, बहुश्रुतधरा, देशनामृतदानेन बहूनां विषय-कषायज्वलनं विध्यापयति। अस्या दर्शनमात्रेण महत्पुण्यं भवति। एतत्तु जानामि-इयं यत् करिष्यति तद् वरमेव करिष्यति'। पुनरेकेनोक्तम्—'यत् त्वयोक्तं तत्तु सत्यम्, परं किं ज्ञायते, साध्व्य-स्ति मरणभयविप्रमुक्ता निःस्पृहा हस्त्युपसर्गसहनार्थं तु न गच्छति?। पूर्वमपि श्रूयते—अनेकैर्मुनिभिः सम्मुखं गत्वा उपसर्गसहनं कृतम्। मुनिस्तु उपसर्गसहनेन कार्यसिद्धिं करोत्येव, परन्तु यदा ग्रामसीमायां मुनेरुपसर्गो जायते तदा तस्य ग्रामस्याऽशुभं भवति, अतो विषादश्चित्तमावहति'। एवं वदतां लोकानां एकपथं हस्त्यागतः। हस्तिनाऽपि आर्यां दृष्ट्वा, सामान्यमनुष्यभ्रान्त्या धावितः। यावता निकटमागतः, उभयोर्दृग्मिलनं संजातं, तावता तु पुनर्मोहोदयो जातः। कोपस्तु शान्तिमापन्नः। तत्र स्थितो घूमयति, मनसि चाह्लादमाप्नोति। तदा साध्व्योक्तम्—'भो रूपसेन! बुध्यस्व बुध्यस्व, कथं मोहमूढो दुःखं प्राप्नुवन्नपि ममोपरि स्नेहं न त्यजसि?। मदर्थं क्लेशं परिवहतः सप्त भवाः संजाताः। निरर्थकं मन्निमित्तं पञ्चसु भवेषु पञ्च वारान् मृतः, अयं सप्तमो भवः संजातः। अद्याऽपि समस्तदुःखैककारणं प्रेमबन्धनं कथं न मुञ्चसि?। प्रतिभवमनर्थदण्डेन दण्ड्यसे। यतः—

रूपसेनो गर्भगतः सर्पो ध्वाङ्क्षोऽथ हंसकः। मृगोऽपि मारितो जातो हस्तित्वं सप्तमे भवे ॥१॥

अतः स्नेहबन्धनं त्यक्त्वा वैराग्यं भज"। अथ हस्ती इति साध्व्योक्तं श्रुत्वा ऊहापोहं कर्तुं लग्नः—'मया ईदृश्यवस्था पूर्वाऽ-

प्यनुभूता सम्भाव्यते' । इत्येवं चिन्तनं कुर्वतस्तदा ज्ञानावरणीयकर्मणां क्षयोपशमगुणेन जातिस्मरणं संजातम्। संज्ञिपर्याप्तकपञ्चेन्द्रियत्वात् सप्ताऽपि भवा दृष्टाः, सर्वमप्यनुभूतं सुख–दुःखं स्मृतिपथमागतम्। तदा वज्राहत इव क्षणं जड इव निश्चेष्टितो भूत्वा पुनः सावधानो भूत्वा दीर्घनिःश्वासं विमुच्य हस्तगतं चिन्तामणिमिव शोचयितुं लग्नः–'हा! मया स्नेहान्धेन कामान्धेन दृष्टिरागान्धेन च किं कृतम् ?। कोटिचिन्तारत्नाधिकः प्राप्तो मनुजभवो हारितः, दुर्गतिगहनभूषणं भ्रमणं चाऽङ्गीकृतम्। स्वाऽज्ञानवशो[1] अकृतकुकर्माऽपि कृतकुकर्मणोऽपि अधिकतरं दण्डसङ्कटे पतितः, येन मया साधनविकलं दुर्गतिकारागारं प्राप्तम्। अस्मात् कारागाराद् मां को निष्काशयति ?। हा! मम का गतिर्भविता ?। अस्मिन् हस्तिभवेऽपि बहूनि पञ्चेन्द्रियतिर्यग्–मनुष्यघातादीनि पापानि कृतानि, अतो मम दुर्गतिनिस्तरणं कुतो भविष्यति ?। धन्येयं भाग्यवती, यत् कर्म बद्ध्वा, बुद्ध्वा चोद्धृता। यया दुष्कर्म कृत्वा समस्तदुःखनिवारणैककुशलः साधुधर्मोऽङ्गीकृतः, अतोऽस्याः का भीतिः ?। पुनर्धन्येयम्, यया यादृशः स्नेहः कृतस्तादृशो निर्वाहितः, यथा च स्वयं स्नेहनिगडान्निर्गता[2] तथा मामपि स्नेहबन्धनाद् मोचयितुमागता। यतोऽस्मिन् स्वार्थिकसंसारे महारौरवदशायां को दुःखनिवारणोपायकरणाय प्रेरयेत्। अतः शास्त्रोक्तिः सत्याऽऽस्ते, यत् स्वार्थिकाः संसारिणः, पारमार्थिका मुनयः। जगति विना मुनिं न कोऽपि निष्कारणोपकारकारकोऽस्ति। ममाऽप्यधुना अस्याः शरणावलम्बनेन आयतिशुभं भविता, नान्यं कमप्युपायं पश्यामि। अत इयं यमुपायं वक्ति स मयाऽङ्गीकर्तव्य इति निश्चयः। यतो मम पापिनो दर्शनमात्रेण पुण्यवतामपि पुण्यं विफलं भवति। अस्याश्च दर्शनमात्रेण सर्वथा ऐहिक–पारलौकिकसिद्धिर्भवति, पापीयानपि[3] पापान्मुच्यते, सर्वगुणरत्नखानिः"। इति विचार्य बदर-

१ –वशेन। २ न्निर्गत्यमां यति। ३ पापी।

स्थूलानि स्वाऽज्ञानाऽश्रूणि विमुञ्चन् साध्व्या निकटमागत्य शुण्डेन पुनः पुनः प्रणामं कृत्वा तारस्वरेण विज्ञप्तिं कर्तुं प्रवृत्तः—'भगवति ! यूयं भवसमुद्रतारणाऽमोघप्रवहणे चारित्रयानपात्रे चटिताः स्तोकेनैव कालेन पारं प्राप्स्यथ, परन्तु मम का गतिः ?। प्रथमं तु भगवत्या महत्युपकृतिः कृता, अन्धस्य नयनदानमिव, यन्मया युष्मच्छक्त्या जातिं स्मृत्वा भवविपाको दृष्टः। दृष्ट्वा च साधनाऽसमर्थतिर्यग्भववेदनाद् भयव्याकुलो युष्मच्छरणमागतोऽस्मि। यत् शुभं भवति तत् कुरुत'। साध्व्या ज्ञानेन तदाशयं ज्ञात्वोक्तम्—'भो रूपसेन ! कामपि चिन्तां मा कुरु। यत् त्वं पर्याप्तकपञ्चेन्द्रियोऽसि, स्फुटक्षयोपशमवानसि, पञ्चमगुणस्थानप्रापणाऽर्होऽसि। जिनमार्गानुसारिरसद्दृशोऽपि दुर्गतिपाताद् मुच्यते तदा शुद्धश्रद्धावतः किं कथनम् ?। अतः श्रीजिनाज्ञायां दृढतां कृत्वा यथाशक्त्या तपः कुरुष्व। यतस्तपोबलेनाऽनेके तिर्यग्गतौ जीवास्तीर्णाः। अतो विषय-कषायवासनां विमुच्य तपस्यायां प्रवणो भव। तेन त्वं दुर्गतिपाताद् निस्तरिष्यसि'। इति हस्त्यार्यिकयोरुत्तर-प्रत्युत्तरं श्रुत्वा वृक्षोपरि स्थिता लोकाश्चमत्कारं प्राप्ता वदन्ति—'अहो! ज्ञान-गुणभाण्डागारिकेयमार्या, पश्यन्तु पश्यन्तु, दर्शनमात्रेण हस्ती बोधितः सेवकवत् सविनयं मुखाग्रे स्थित उत्तर-प्रत्युत्तरं करोति!। अतिकोपनशीलोऽपि समशीलो भूत्वाऽग्रे स्थितः। इयं साध्वी तीर्थरूपा परमोपकारिणी। अतश्चलन्तु भवन्तः, अस्या अभिवन्दनं कुर्मः। भयं तु नाऽस्त्येव, सुखेनागम्यताम्। एवं वदन्तो लोका वृक्षेभ्य उत्तीर्य आर्यिकां नत्वा स्तुत्वा च स्थिताः। परित एवं दृष्ट्वा दुर्गगृहमालोपरि स्थिता अपि आगताः सहस्रशो मिलिताः। अथ प्रतिमुखं वार्तां विस्तृण्वती राज्ञोऽग्रे केनाप्युक्ता—'अद्य तु आत्मीयग्रामसीमायां महदाश्चर्यं जातमस्ति'। राज्ञोक्तम्—'किमाश्चर्यम्' ?। ततः सर्वो व्यतिकरः कथितः। 'स्वामिन् ! अद्यप्रभृति ग्रामे हस्तिभयं निवृत्तम्'। राजाऽपि तदाश्चर्यं श्रुत्वा बहुसैन्ययुक्तस्तत्रागतः। आर्यिकां नत्वा पृष्टम्—'भगवति ! कोऽयमाश्चर्यकारको

व्यतिकरः ?। प्रसादं कृत्वाऽनुग्रहं करोतु'। तदा साध्व्या सर्वोऽपि विषयासक्तविपाको यावद् हस्तिना विज्ञप्तिः कृता, आत्मना च तदुपायो दर्शितस्तावत्पर्यन्तो वृत्तान्तः कथितः। तत् श्रुत्वा सर्वेऽपि चमत्कारं वैराग्यधर्मं च प्राप्ताः। 'राजन्! अयं सर्वगुणान्वितो भद्रजातिको हस्त्यस्ति। यस्य गृहे तिष्ठति तस्य गृहे ऋद्धिः प्रतापश्च वर्द्धते। ईदृशसुलक्षणः पुनर्धर्मवान् धर्मरुचिः क्व मिलति ?। अतो भवन्तोऽस्य प्रतिपालनं कुर्वन्तु। भवतां तु जीवदया गुणिसङ्गः साधर्मिकवात्सल्यं तपस्विसेवा इति चत्वारोऽपि लाभा भविष्यन्ति'। इति आर्यिकयोक्तं श्रुत्वा सहर्षं राज्ञोक्तम्—'यद्ययं ममाऽऽलाने स्वयमागच्छति, तत्र सुखेन तिष्ठति, तदाऽहमायुःपर्यन्तं यादृशं विधिं साध्वी समुपदिशति तत्पूर्विकामस्य शुश्रूषां प्रत्यहं कारयामि। धन्योऽयं येन तिर्यग्भवेऽपि धर्मोऽङ्गीकृतः। अतो हस्तिराज! सुखेनागच्छतु ममाऽऽलाने'। इति श्रुत्वा हस्ती स्वयमेव चलितो ग्रामाभिमुखम्, यावद् हस्तिनिवासशालायां गत्वा स्वयमेव स्थितः। राजापि साध्व्या दर्शितमार्गेण हस्तिनं पालयति। तद्यथा–हस्ती दिनद्वयं षष्ठतपः करोति, राजा तृतीयदिने निर्दूषणाहारेण पारणकं कारयति, पुनः षष्ठतपः। इत्येवं यावज्जीवं तपोधर्मं ब्रह्मचर्यधर्मं चाराधयन्, सकलश्रुतसारं नमस्कारमहामन्त्रं च स्मरन्, निर्विघ्नायुः समाप्य, समाधिं कृत्वा सहस्रारेऽष्टादशाऽब्ध्यायुष्को[2] देवः समुत्पन्नः। ततश्च्युत्वा विदेहे सेत्स्यति। सुनन्दार्याऽपि राजप्रभृतीन् बहून् भव्यजीवान् प्रतिबोध्य जिनशासनोन्नतिं च कृत्वा, पुनः प्रवर्तिनीसमीपं गता। प्रवर्तिन्याऽपि श्लाघिता संयममाराध्य, अतितीव्रकर्माणि क्षपयित्वा, केवलज्ञानमासाद्य, अक्षयपदं प्राप्ता।

॥ इति सुनन्दा–रूपसेनयोः कथा ॥

---

१ साध्व्या। २ अष्टादशसागरोपमायुष्कः।

एवम् असेविता अपि विषया इष्टत्वेन संसारचक्रे दुर्गतिगहने भ्रमयन्ति, तदा इष्टत्वेन सेवमानस्य का गतिर्भविष्यति ?। संसारचक्रे विषयाऽपूर्णतायां दुःखं विदन्ति, पूर्तौ च सुखं मन्यन्ते भवाभिनन्दिनो जीवाः। परं न जानन्ति यथा धीवराः पलखण्डं दत्त्वा मत्स्यान् मरणसङ्कटे पातयन्ति तद्वद् विषया अपि विषयाऽऽमिपलवं दत्त्वा अनन्तशो मरणसङ्कटे पातयन्ति। एतत्तु महदाश्चर्यम् अनन्तशो भुक्तानपि विषयान् अज्ञानवशगा जीवाः कदापि अनास्वादितानिव सेवमाना माद्यन्ति। पुनर्यथा यथा माद्यन्ति तथा तथा दुष्टकर्मणां स्थितिं वर्द्धयित्वा नरक-निगोदाऽवटे पतन्ति। तस्मात् श्रीजिनवाणीं श्रुत्वा विषय-कषायान् दूरतस्त्यक्त्वा श्रीजिन-चरणसेवां ब्रह्मचर्यं च भजस्व"।

इत्येवं मुनिदेशनां श्रुत्वा विषयान् हेयत्वश्रद्धया श्रद्धयता धन्येन महाऽनर्थमूलपरकीयस्त्रीसेवननिषेधरूपं स्वदारसन्तोषव्रतं मुनेः पार्श्वाद् गृहीतम्। ततो धन्य आत्मनो धन्यंमन्यः सहर्षं पुनः पुनर्मुनियुगलं प्रणम्य अग्रे ब्रह्मचर्यभावनां भावयन् मार्गमतिक्रामति। निर्भयं चित्तप्रसत्त्या क्रमेण सुप्रकाशीभवद्भाग्यनिधिरसौ काशीपुरीं प्राप। ततो नगरासन्नसुरसरित्तटे[1] शुचिप्रदेशे वस्त्रादिकं विमुच्य ग्रीष्मार्कतापेन खेदितसर्वाङ्गोऽसौ तत्खेदनिवारणार्थं रेवायां गज इव सत्तरङ्गायां गङ्गायां जलकेलिं कृतवान्। ततो गतश्रमो भूत्वा यथाप्राप्तमाहारादिकं कृत्वा नवनीतकोमलायां गङ्गातटगतवालुकायाम् आस्तरणं कृत्वा सन्ध्यासमये श्रीमान् अमेयमहिमागारं परमेष्ठिनमस्कारं पठन् स्थितः। तावता क्रीडार्थं निर्गता गङ्गाऽधिष्ठायिनी गङ्गानाम्नी देवी तत्राऽऽगता। अथ चन्द्रज्योत्स्नाभिर्धवलीकृताऽवन्यां तस्यां रजन्यां सकलगुणैकनिधेर्धन्यस्य अनुपमं रूपं सौभाग्यं निर्माणं चाऽत्यद्भुतं विलोक्य तीव्रवेदोदयात् तीव्रकामरा-

१ सुरसरिद् गङ्गा।

गातुराऽभवत्। रागातिरेकाद् गङ्गायाश्चेतसि प्रबलाऽऽकुलता समजनि। यतः पुरुषवेदोदयात् स्त्रीवेदोदयोऽत्यधिकतरो भवति। कामशास्त्रेऽपि 'पुरुषात् पड्गुणः कामः स्त्रीणाम्' इति हिं निश्चितम्। एतादृशे दुर्निवारे स्मरशराऽऽपाते सति कः स्थिरो भवेत् ?, जिनागमाऽविद्धकर्णो न कोऽपि इत्यर्थः। अथ सा देवी कामवशा लज्जादिकं मुक्त्वा दिव्यरूपा प्रत्यक्षीभूय महता मोहेन धन्यस्य मोहनाय बहून् हाव-भावान् व्यधात्। अमूढलक्ष्यान् कटाक्षांश्च शरानिव तस्योपरि चिक्षेप। तदा धन्योऽपि धीरतामवलम्ब्य अजिह्मब्रह्मरूपसन्नाहं[1] हृदि दधौ। पुनः सा बाहुमूल-त्रिवली-मध्यनाभि-भ्रू-कुच-केशादिविभ्रमान्[2] कामस्याऽक्षीणकोपानिव मुहुर्मुहुरदीदृशत्। युवमनोद्रव्यद्रावणे क्षारसदृशास्तया कृता हाव-भाव-कटाक्ष-विक्षेपादिनाराचाः[3] शुद्धखानीसम्पन्ने वज्रे लोहघना इव धन्ये विफलीभवन्ति स्म। तदा हावभावैरक्षुब्धं धन्यं दृष्ट्वा पुनः सा सोन्मदा भृङ्गाररसगर्भितां परमोन्मादोद्दीपनगुणाम् अनगाराणामपि क्षोभजनिकां कामिजनमनोवशकरणैकविद्यां वाणीमित्यभाणीत्-"हे सौभाग्यनिधे! अहं ग्रीष्ममध्याह्नेऽतिस्तोकजलसरसीतापिता शफरीव[4] अत्यर्थं कामाऽनलज्वालाभिर्ज्वलन्ती तव शरणमागताऽस्मि, अतो दयानिधे! शीघ्रं स्वाङ्गसङ्गमसुधाकुण्डे मां क्रीडय। ममेप्सितपूरणसमर्थस्त्वम्, इति मत्वा त्वद्गुणाक्षिप्तचित्ताऽहं प्रार्थनां करोमि। त्वया च ममाशा पूरणीया। प्रार्थनाभङ्गे हि महद्दूषणम्। यतः शास्त्रेऽप्युक्तम्—

"[5]तणलहुओ तूसलहुओ तहेव लहुआओ मग्गणो लहुओ। पत्थगा वि हु लहुयरो पत्थणाभंगो कओ जेण"॥१॥

---

१ सन्नाहः कवचः। २ कुचविभ्रमान् केशादिविभ्रमांश्च। ३ नाराचो बाणः। ४ मत्सी इव। ५ "तृणलघुकस्तूपलघुकः तथैव लघुकाद् मार्गणो लघुकः। प्रार्थकादपि खलु लघुतरः प्रार्थनाभङ्गः कृतो येन" ॥१॥

"अतो यथेच्छं मया सार्धं सुरतक्रीडां कृत्वा मामिकाम् आर्तिं निर्वापय"। इति तस्या वचांसि श्रुत्वा परनारीपराङ्मुखो धन्यः साहसमवलम्ब्य गङ्गादेवीमित्यवक्—"हे जगन्मान्ये! हे मातः! अतः परम् एवंविधं धर्मविरोधकृद् वाक्यं न वाच्यम्। तथा तव हृदयस्तनराक्षसकृतविक्षोभणैर्मन्मनो न भयं प्राप्नोति, कथम्?, कुविकल्पकटकध्वंसिश्रीमज्जिनागमोक्तब्रह्ममन्त्रपवित्रत्वात्। नवधा ब्रह्मसन्नाहैः सन्नद्धोऽस्म्यहम्, ततस्तैर्दुर्वारैः कामास्त्रैर्मम व्रतगात्रं न भिद्यते। पुनः कालकूटविषवदुत्कटा निर्मन्दाक्षास्तव कटाक्षाः श्रीजिनवाक्याऽमृतार्द्रं मच्चित्तं न पीडयन्ति। हे कुरङ्गाक्षि! तव काकुवाक्कुरङ्गा मम जाग्रद्दमसिंहां मनोगुहां स्प्रष्टुमपि समर्था न। पुन इतस्तावकीना विचित्रविकृतियुक्ता मन्मनोल्लापा मम मनोभित्तिभेदिनो न भवन्ति, यतः शिरीषकुसुमपुञ्जाः किमु अश्मभित्तिभेदका भवन्ति?। हे वामभ्रु! सरसा अपि तव विभ्रमाऽब्दधारा ऊषरक्षेत्रकल्पे मच्चित्ते रागाऽङ्कुरोद्गमहेतवो न भवन्ति। हे वामाक्षि! दावानलवद् दुस्सहाः सकामाश्चित्तविकारजनकास्तव हावा अपि श्रीमदागमसागरमग्नं मां तापयितुं न समर्था भवन्ति। हे मुग्धे! नरकान्तदुःखाधायिपरकान्तापराङ्मुखे मयि सौधर्मादिकल्पवासिन्यो रम्भा-तिलोत्तमाद्याः ससंरम्भा अपि निष्फलारम्भाः[3], तर्हि त्वत्सदृशीनां का गणना?। हे देवि! नरकज्वालाऽऽवलिसङ्गजनितदुःखत्रस्तः सचेतनः पुमान् कामसंज्ञोदयोऽपि परस्त्रीसङ्गप्रभवखालकूपवसनैहिकदुःखमात्रज्ञैर्ललिताङ्गकुमारवत्[4] परकान्तां भोक्तुं को वाञ्छति?, नैव वाञ्छतीत्यर्थः। भो भद्रे! ये नरा इहभवे विषयसेवनकाले क्षणमात्रं परस्त्रीसंयोगजनितं सुखमनुभूय प्रसीदन्ति, ते नराः परभवे परस्त्रीसङ्गजनितकर्मविपाकोदये नरकक्षेत्रे नारकित्वेनोत्पद्य सङ्ख्यातीतकालं यावद् गाढं क्षुधादिदशप्रकाराणि परमाधार्मिकसुरकृतानि च दुःखान्यनुभवन्ति। यदुक्तम्—

१ यथेच्छया। २ प्रापिका। ३ अफलारंभाः। ४ द्रष्टव्याऽस्य कथा परिशिष्टपर्वणस्तृतीयसर्गे, श्लो० २१४–२६५।

"[1]नरया दसविहवेयण सिं-[2]उसिण-[3]खु-पिंवास-कंडूहिं। [4]परवसं च जर-दाह-भयं-[5]सोगं च वेयन्ति" ॥१॥

पुनः-[2]खिणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा, पगामदुक्खा अणिकामसुक्खा।
संसारमुक्खस्स विपक्खभूया खाणी अणत्थाण य कामभोगा ॥१॥

इत्यादिश्रीजिनागमोक्ततत्त्वज्ञाः पुरुषाः कन्दर्पबलपरवशाः कथं भवन्ति ? । ज्वलज्ज्वालाऽनलाऽन्तः प्रविश्य मरणकरणं वरम्, परन्तु अन्यस्त्रीत्रिवलीरङ्गो नरकजलधेस्तरङ्गोऽतिदुष्टतरः। यदुक्तं योगशास्त्रे—

"नपुंसकत्वं तिर्यक्त्वं दौर्भाग्यं च भवे भवे। भवेद् नराणां स्त्रीणां चा[3]न्यकान्ताऽऽसक्तचेतसाम् ॥१॥
वरं ज्वलदयस्तम्भप[3]रिरम्भो विधीयते। न पुनर्नरकद्वारं रामाजघनसेवनम्" ॥२॥

"हे भामिनि ! योषित्सङ्गाः सन्ध्याऽभ्ररङ्गतरलाः, मनुष्यायुः पुनर्वायुवद् अस्थिरम्। सोऽपि क्रियाविशेषेण द्रव्यानुयोगतो वा स्थिरो भवति, न पुनस्त्रुटितमायुः। भोगविस्तरस्तु नवोत्पन्नरोग इव उद्वेगाय भवति। यतः—

"भोगे रोगभयं सुखे क्षयभयं वित्तेऽग्नि-भूभृद्भयं, दास्ये स्वामिभयं गुणे खलभयं वंशे कुयोषिद्भयम्।
माने म्लानिभयं बले रिपुभयं देहे कृतान्ताद् भयं, सर्वं वस्तु भयाऽन्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाऽभयम्" ॥१॥

---

१ "नरका दशविधवेदनाः शीतो-ष्ण-क्षुत्-पिपासा-कण्डूः। पारवश्यं च जरा-दाह-भय-शोकं च वेदयन्ति" ॥१॥ २ क्षणमात्रसौख्या बहुकालदुःखा प्रकामदुःखा अनिकामसौख्याः। संसारमोक्षस्य विपक्षभूताः, खानिरनर्थानां च कामभोगाः ॥१॥ २ अन्यकान्तासु आसक्तचेतसां नराणाम्, अन्यकान्तेषु आसक्तचेतसां च स्त्रीणाम्। ३ परिरम्भ आलिङ्गनम्। ४ विचारय। ५ अतः कारणाद् प्र० इत्यधिकः पाठः

एवं सामान्यतोऽपि कामभोगाः प्रबलदुःखहेतवो भवन्ति, किं पुनर्विकृतविषमिव अतीव भवभ्रमणहेतवः परस्त्रीसङ्गमोत्पन्नाः कामभोगाः ?। हे देवि ! त्वमपि मनः स्थिरं कृत्वा परिभावय, यद् ईदृशी दिव्यशक्तिः प्रभूतसुखसंयुता त्वया लब्धा सा कामभोगत्यागफला कामभोगाऽऽसेवनफला वा ?। कामभोगासक्तानां हि नरक–तिर्यक्ष्वेव उत्पादो भवति। तस्माद् हे नितम्बिनि ! तव वैक्रियदलनिष्पन्ना तनुः अतीव स्वच्छा शुचिर्वर्तते, मम तु पुनः औदारिकदलनिष्पन्ना नित्यं यद्वा तद्वा मल–मूत्र–रुधिरा–ऽस्थिभृता अतीव दुर्गन्धा दुगञ्छनीया। अनयोः संयोगं कथं कर्तुमर्हति ?। तस्माद् हे मातः ! सदाचाराऽङ्कुरोद्गमे कादम्बिनीधारासदृशं वीतरागं मनः कृत्वा वीतरागं स्मर, येनाऽऽयतिः श्रेयसी भवेत्। यदुक्तमस्ति–'धर्मकार्यं सदोद्यमेन त्वरया कार्यम्। अधर्मकार्ये पुनरुत्तमैर्गजनिमीलिका कर्तव्या–गजवद् अक्षिनिमीलनेन भाव्यम्–आलस्योपहतं कर्तव्यमित्यर्थः। यतो दैवतस्यापि गलितं वयो न प्रत्येति"। इत्येवममृतसदृशेन सुखश्रियां सन्देशेनेव धन्योपदेशेन गतरागा गङ्गा इति जगौ "हे मम रागदावाऽग्निशमनैकनवाम्बुद ! त्वं चिरं नन्द। हे मोहाऽन्धकारसंहारदिवाकर ! त्वं चिरं जय–सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व। हे निष्कामिशिरोमणे ! जगत्त्रये त्वमेव धन्योऽसि, यद् देवाङ्गनाकृतहावभावैर्नाऽक्षोभीः। तस्माद् हे वीरेन्द्र ! अत्युत्कटविकटकन्दर्पकटकाहवेऽनेककामास्त्रसन्निपातेऽपि अक्षुब्धः सन् कन्दर्पबलजेता त्वमेव महाभटोऽसि। हे सदाचारशिरोरत्न ! रत्नगर्भा पृथ्वीति यद् उच्यते तत् त्वत्सदृशैरेव। हे निष्पाप ! हे धार्मिकशिरोमणे ! अहमपि तव दर्शनात् पवित्राऽभूवम्। हे दयानिधे ! नीरपूरैरपि अविध्याप्योऽयं मम कामाग्निस्तव अमृतकुल्यातुल्यया

१ प्रभूतविषया स–। २ अनादि शक्त्या इत्यधिकः पाठः प्र०। ३ कादम्बिनी मेघमाला। ४ विगतो रागो यस्माद्, एतादृशम्। ५ जिनेन्द्रम्। ६ प्रत्यागच्छति। ७ दिवाकरः सूर्यः। ८ सैन्यसङ्ग्रामे।

गिरा व्यध्याप्यत[1]। भोस्तत्त्वविदां वर ! अहं लोकद्वयाऽमितसुखदायिधर्मरत्नप्रदायिने तुभ्यं सम्प्रति भूरिरत्नानि दत्त्वा कथम् अनृणा स्याम् ?–कथमपि न भवेयम् इत्यर्थः, तथापि एतत् चिन्तारत्नं गृहाण, मां चाऽनुगृहाण। इदं रत्नं तु तवोपकारस्य कोट्यंशेनापि प्रत्युपकारं कर्तुं नाऽर्हति, परन्तु अतिथेरातिथेयी स्वगेहानुसारतो भवति, अतः कृपानिधे ! कृपां कृत्वा त्वयेदं ग्राह्यम्। इत्येवम् अतिनिर्बन्धतो[2] धन्यश्चिन्तारत्नं लात्वा ग्रन्थौ बबन्ध। ततः संजातधर्मरङ्गा गङ्गा बहुभिः स्तवनाभिः स्तुत्वा स्वस्थानं जगाम। अथ स्थिरसुव्रतो धन्योऽपि राजगृहोन्मुखं प्रतस्थे। धन्यवदान्यमान्यमहिमा[3] धन्यो देशान्तरे भ्रमन् सततं चिन्तारत्नपूरितसकलभोगसामग्रीसुखम् अनुभवन् पूर्वदत्तदानफलानुभावतः सुखेन मगधं प्राप्तः। अतो भो भव्यजनाः ! युष्माकं यदि सुखानां प्रकर्षेच्छा वर्तते तदाऽत्र श्रीजिनकीर्तितदानपुण्ये रतिं कुरुत, येन मनोरथसिद्धिर्भवेत्।

॥ इति श्रीतपागच्छाधिराजश्रीसोमसुन्दरसूरिपट्टप्रभाकरविनेय–श्रीजिनकीर्तिसूरिविरचितस्य पद्यबन्धधन्यचरित्रशालिनः श्रीदानकल्पद्रुमस्य महोपाध्याय–श्रीधर्मसागरगणिनामन्वये महोपाध्याय–श्रीहर्षसागरगणिप्रपौत्रमहोपाध्याय–श्रीज्ञानसागरगणि-शिष्याल्पमतिग्रथितगद्यरचनाप्रबन्धे सुवर्णसिद्धि–विदेशप्रस्थानवर्णनो नाम चतुर्थः पल्लवः ॥

---

१ अशाम्यत। २ अत्याग्रहतः। ३ भाग्यशालिदानशौण्डमाननीययशाः।

अथ पञ्चमः पल्लवः

पञ्चमः पल्लवः धन्यस्य राजगृहं प्रति प्रस्थानम् तत्र च कुसुमश्रियः पाणिग्रहणम्

अथ उदारमुख्योऽसौ धन्यो धरणीधर-धान्य-धनादिशुभवस्तुभिः समृद्धान् मगधान् मागधानिव[1] प्रसन्नया दृष्ट्याऽकृतार्थयत्। ततोऽसौ धन्यः सुरगुरुरिव अहार्यचातुर्यः प्रोच्चपदेप्सया परिश्राम्यन् क्रमेण राजगृहनगरं प्राप। राजगृहनगरं वर्णयति-यस्मिन् नगरे रूपेण मनोहारिणां व्यवहारिणां गृहाणि स्वभित्तिगतमणित्विषा सदा अमरयुतानि विमानानि हसन्तीव भ्राजन्ते। पुनर्यत्र सूर्यकान्तरलमयः चन्द्रकान्तमणिमयकपिशीर्षकभृद् विप्रो रवि-चन्द्रोदये खातिकाजलशोष-पोषौ करोति। पुनर्यदीयैः समग्रलक्ष्मीसुषमाऽभिरामैः मणिमयैस्तुङ्गगृहैः गृहीतसारा द्युसदां[2] विमाना लघुत्वाद् वायुना ऊर्ध्वं नीता इव पुनर्यत्र रत्नमयगृहाङ्गणे उत्तेजितरत्नतोरणके प्रतिबिम्बितमयूररूपे क्रीडामयूरग्रहणेच्छया प्रसारितकरा मुग्धाः प्रस्फोटितकराऽग्रतया विलक्षा भवन्ति-स्वकीयमुग्धत्वं शोचयन्ति। अस्य[3] भुवोऽशेषं गरिमाणं बुधोऽपि वक्तुं कथं शक्नोतु ?, यां त्रिजगत्प्रभुः श्रीवर्धमानस्वाम्यपि स्वस्य पादारविन्दैरपूपुजत्। पुनर्यत्र गृहा उपरिस्थापितध्वजाऽग्रजाग्रन्मणिकिङ्किणीनां निनादैर्वैदेशिकान् पृच्छन्ति-किं भुवि क्वापि रमाऽभिरामम् ईदृग् नगरं दृष्टम् ?, समस्ताऽतिशयपूरगुणयुक्तत्वाद् उत्प्रेक्षा। यत्र पुर्यां श्रीहरिवंशविभूषणश्रीमुनिसुव्रतस्वामिनश्चत्वारि कल्याणकानि जातानि, तेनेयं नगरी यावत्योपमया वर्ण्यते तत्सर्वं युक्तमेव ज्ञेयम्। तत्र अष्टादशवर्णरक्षकः समस्तन्यायवतामग्रणीः मुक्तिसौधाऽग्रनिःश्रेणि-

१ मागधाः स्तुतिपाठकाः। २ देवानाम्। ३ राजगृहस्य।

रिव श्रेणिकभूपतिरभवत् । यस्य कीर्ति-प्रतापाभ्यां सिता-रुणाभ्यां[1] श्रीखण्ड-कुङ्कुमाभ्यामिव[2] अर्चिता दिग्[3]मृगीदृशो रेजिरे । यस्य राज्ञः कृपाणेन समराङ्गणे गजघटानां छिन्ना दन्तकशकला यशोवृक्षाऽङ्कुरा इव रेजिरे। येन राज्ञा अभयकुमाराख्यः स्वपुत्रो मन्त्रिपदे स्थापितः, तस्मिन् मन्त्रिपदश्रीः सुवर्णे सौरभमिव भृशं शोभामातनोति स्म । यस्य राज्ञो मोक्षजम् अक्षयसुखं दातुं समर्थं क्षायिकं सम्यक्त्वम् एकांशेन सिद्धगुणाऽऽविर्भावतुल्यं वर्तते, अतो जिनवचने शङ्कितत्वादिदोषरहित इत्यर्थः । पुनर्यो राजा प्रत्यहं स्वर्णमयान् अष्टोत्तरशतसङ्ख्याकान् यवान् कारयित्वा भक्तिभरनिभृतहृदयो वीरजिनेश्वरस्य अभ्यर्णं गत्वा तैरष्टोत्तरशतैर्यवैः स्वस्तिकमापूरति, तदनु भक्तिभरेण नत्वा स्तुत्वा च जिनवचनाऽमृतं पिबति । यदा च वीरविभुरन्यत्र विहृतो भवति तदा तु यस्मिन् ग्रामे स्वामिनः स्थितिर्भवति तत्सम्मुखं सप्ताष्टपदानि गत्वा क्षोभवन्दनत्रिकपूर्वकमभिवन्द्य स्वर्णमययवस्वतिकमापूर्य नत्वा स्तुत्वा च गृहमागत्य भोजनादिकं करोति । इत्यादिजिनभक्तिप्रभावतो जिननामकर्म बद्ध्वा सोऽनागतचतुर्विंशत्यां श्रीपद्मनाभनामा प्रथमस्तीर्थङ्करो भविष्यति ।

अथ तस्मिन्नेव नगरे मगधाधिपस्य तस्य राज्ञोऽतिप्रसत्तिपात्रं याचकजनानां च कल्पसाल इव कुसुमपालनामा श्रेष्ठी परिवसति स्म। तस्य महेभ्यस्य एकं जीर्णं शटिततरुगणं पुष्प-फल-पत्र-छाया-रहितमुद्यानं समस्ति । अथ मार्गश्रमश्रान्तः स धन्यः सन्ध्यायां तस्मिन्नेव जीर्णोद्याने वासमकार्षीत् । तस्यामेव रात्रौ भाग्यैकनिधिधन्यागमनप्रभावेण जीर्णोद्यानस्थाः शुष्ककाष्ठकल्पा वृक्षा वसन्तागमे वनानीव समुद्गतपुष्प-फल-पत्राः संजाताः । शटितजीर्णप्रायमपि तदुद्यानं नन्दनवनसदृशं जातम् । अथ प्रभाते संजाते वन-

१ श्वेतरक्ताभ्याम् । २ चन्दन-काश्मीरजाभ्यामिव । ३ दिक्स्त्रियः ।

पालकस्तथाऽवस्थं वनं दृष्ट्वा हर्षितो यावद् इतस्ततो विलोकयति तावता एकस्मिन् शुचिप्रदेशे स्थितं धन्यं प्रातःकृत्यं नमस्कारगुणन-चैत्यवन्दनादिकं कुर्वन्तं दृष्ट्वाऽतिचमत्कृतश्चिन्तयति—'नूनम् एष कश्चिद् भाग्यैकनिधिः सुरवराऽनुकाररूपः सौभाग्यभृद् रात्रौ अत्रोषितस्तेन अस्य पुण्यप्रभावेण शुष्कं वनं नन्दनोपमं संजातम्'। इति मनसि निर्धार्य सहर्षं श्रेष्ठिगृहे गत्वा श्रेष्ठिने वर्धापनिकां दत्त्वा—'स्वामिन्! युष्मदीयवने कोऽपि तेजस्वी पुरुषो रात्रौ उषितः। तस्याऽनुभावतः शुष्कं वनं देवरमणोद्यानोपमं संजातमस्ति'। ततः श्रेष्ठी वनपालकोक्तं श्रुत्वाऽतिविस्मितचित्तो विलोकनैकरसिक उपवनं ययौ। तत्र च उद्यानगृहे समासीनं धन्यं ददर्श। समग्रविश्वाऽद्भुताऽभङ्गभाग्यसौभाग्यभाजनं भासुरविग्रहं सर्वाङ्गलक्षणपूर्णं गुणवृद्धिकृदाख्यातसिद्धं धन्यं दृष्ट्वा श्रेष्ठी विचिन्तयति—नूनम् अस्यानुभावेनैव मम वनं पल्लवितं ज्ञायते, किन्तु चन्द्रोदयं विना समुद्रजलोल्लासो भवति? १। इति चित्तान्तश्चिन्तयित्वा विचक्षणवरः स श्रेष्ठी अनातुरं धन्यं मार्गाऽऽगमनसुखकुशलवार्तां पृच्छति स्म। 'भोः राजन्जनाऽवतंस! भवदागमनेन जडरूपमपि निर्जीवप्रायमपि इदं वनं नवपल्लवनिर्गमनच्छलेन हर्षितमिव सपुष्पशेखरं जातम्। मम च त्वद्दर्शनामृतसेकेन मनो-नयने पल्लविते। अस्मदीयपूर्वोपचितपुण्यप्रबलोदययोगेन मरुस्थल्यां कल्पवृक्षमिव त्वद्दर्शनलाभं मन्यामहे। अतो हे सुभगशिरोमणे! कृपां कृत्वा गृहं यावद् आगमनप्रयासेन मम मनोरथपूरणानुग्रहं कुरुष्व'। एवम् अत्याग्रहं कृत्वा कुसुमपालश्रेष्ठिना धन्यः स्वगृहं निन्ये, यतो माणिक्यं स्वगुणैरेव यत्र तत्राऽपि मानपूजामश्नुते। अथ च अभ्यङ्गो-द्वर्तन-स्नानादिसामग्रीभिः शरीरशुश्रूषां कृत्वा, चन्दनादिना अङ्गरागं विधाय, हयलालापेलवानि वस्त्राणि परिधाप्य, सबहुमानं विविधरसवत्या भोजनं कारयित्वा, स्वर्णविष्टरे संस्थाप्य, पश्चा-

१ 'वस्' धातोः क्तप्रत्यये। २ नन्दनसदृशम्। ३ क्षीणशरीरम्।

सौगन्धिकं ताम्बूलं दत्त्वा, विविधैरुपचारैरुपचर्य, श्रेष्ठिकोऽञ्जलिं कृत्वा सविनयं सगौरवं धन्यं प्रति इत्युवाच—भोः सौम्य! अत्यद्भुतगुणैस्तव गौरवंशता ज्ञाता एव। यदुक्तम्—'आचारः कुलमाख्याति'। इत्यादिहेतोर्मे जीवनरूपस्य वनस्य फल[1]-कुसुमश्रीदायिने तुभ्यं कुसुमश्रीकनीं[2] दत्त्वा किञ्चन आनृण्यमिच्छामि, तस्मात् कारणाद् एनां मम तनयां कुसुमश्रियं पाणौ कुरु, येन कादम्बिनीधारया[3] कदम्बपुष्पमिव मम मनःपुष्पं प्रस्फुलेत्'। इत्येवं पथ्यां सत्यां रुच्यनुकूलां च श्रेष्ठिवाचं धन्योऽपि अमन्यत। तदा श्रेष्ठी कुङ्कुमाऽरुणघोलं कृत्वा कुसुमश्रीप्रदानसत्यङ्काररूपम् अखण्डतण्डुलैः सह तिलकं कारयामास। संजाते च श्वसुरसम्बन्धे श्रेष्ठिनाऽतिबहुमानपूर्वकं स्वागारे स्थापितोऽपि मानधनोऽसौ धन्यः 'एकत्र वसनं मानहानिकारणम्' इति हृदि विज्ञाय भाटकगृहं लात्वाऽन्यत्र स्थितवान्। यदुक्तं नीतिशास्त्रे—

"मित्र[4]स्याऽप्यपरस्यात्र समीपे स्थितिमावहन्। कलावान[5]पि निःश्रीको जायते लघुतास्पदम्" ॥१॥

चिन्तामणिप्रभावेण यथा यथा व्यापार-धन-कीर्तिभिर्ववृधे तथा तथा अण्डजैः[6] फलिद्रुम इव लोकैराश्रितः। अथ उद्वाहार्थं[7] गृहीतप्रशस्तमास-तिथि-नक्षत्र-वासरः श्रेष्ठी अल्पदिनैरनल्पां सामग्रीं संयोज्य भूरिमहोत्सवैर्विवाहं कर्तुं प्रवृत्तः। धन्येनापि स्वगृहयोग्यः कलयाऽधिकोऽधिको महः प्रवर्तितः। पाणिग्रहणादिवसे श्रेष्ठिना यथाविधि अनर्घ्यमणि-मौक्तिकादिदानपूर्वकं कुसुमश्रीकन्या धन्याय दत्ता। धन्योऽपि तां गृहीत्वा, शिवः शिवया[8] इव, केशवः कमलया[9] इव, सुभ्रुवा कुसुमश्रिया सार्द्धं पुण्योपनीतान् पञ्चवैष-

---

१ फल-पुष्पशोभादायिने। २ कुसुमश्रीकन्याम्। ३ मेघधारया। ४ मित्रं सुहृद्, मित्रः सूर्यश्च। ५ कलासहितः, चन्द्रश्च। ६ पक्षिभिः। ७ उद्वाहः परिणयः—विवाहः। ८ पार्वत्या। ९ लक्ष्म्या।

चण्डप्रद्योतस्य राजगृहं प्रति युद्धाय गमनम्

यिकसुखभोगान् भुञ्जानः सुखेन कालनिर्गमनं करोति।

अथैकदा प्रस्तावे षोडशनृपजेता चण्डप्रद्योताभिधो मालवाधिपतिः मगधाधिपं जेतुम् अतिविकटं कटकं[1] कृत्वा मगधं प्रति चचाल। चरैस्तस्य समीपागमनं राज्ञे निवेदितम्। तत् चरोक्तं श्रुत्वा सभयम्[2] अभयमैक्षत। तदा साहसनिधिरभयो निर्भयो भूपं प्राह-'स्वामिन्! सामाद्युपायत्रयाऽसाध्ये[3] चतुर्थो दण्डः कर्तव्यः, नान्यथा। यदुक्तम्—

"पुष्पैरपि न योद्धव्यं किं पुनर्निशितैः[4] शरैः। युद्धे विजयसन्देहः प्रधानपुरुषक्षयः" ॥१॥

तत्र साम तु न कर्तव्यम्, गर्वौत्सुक्याभ्यां तस्याऽनर्होऽयम्। द्वितीय उपायो दानम्, तस्याऽप्यनर्हः, द्रव्यदाने सेव्य-सेवकभावः प्रादुर्भवेत्। लोके 'दण्डो दत्तः' इति गीयेत तदाऽस्माकं मानहानिर्जायेत। अतोऽत्र तृतीयोपायसाध्यमिदं कार्यमस्ति। हे प्रभो! यथा वैद्येन प्रयुक्ते सुरसायने रोगाः क्षणाद् नश्यन्ति, तथा मया कामितदे भेदोपायरसायने धिया प्रयुक्ते वैरिरोगः क्षणाद् नष्टो भविष्यति। दृश्यतां सेवकस्य बुद्धिकौशल्यम्, सुखेन स्थीयतां तातपादैः, अत्र किमप्यार्तिर्न विधेया।

अथाऽभयेन सूक्ष्मेक्षिकया विलोक्य शत्रुसैन्यनिवेशक्षेत्रे प्रच्छन्नवृत्त्या मुख्यराज्ञः पटाऽऽवासतो यत्र यत्र विष्वक् षोडशराज्ञां पटावासा भविष्यन्ति तत्र तत्र स्थाने खनित्वा उर्वीषु बहुतरं द्रव्यं स्थापितम्। एवं सेनापति-मन्त्रि-सुभटादीनां निवासस्थानेषु यथार्हं भूमिषु गुप्तं न्यस्तम्। पुनर्धूल्यादिभिरनुपलक्षितं कृत्वा रक्षितम्। अथाऽनुक्रमेण चण्डप्रद्योतभूपस्य सैनिकैः वाप्यम्बुस्थानं मैनिकैरिव राजगृहपुरं सर्वतः पर्यवेष्ट्यत। नगरासन्नं सैन्यं निषण्णं दृष्ट्वा दैन्यभावमापन्नाः पौरा मीनराशौ स्थिते शनैश्चरे इव तत्पुरप्रलयकालशङ्का

१ सैन्यम्। २ क्रियाविशेषणम्। ३ साम-दाने भेद-दण्डावित्युपायचतुष्टयम्। ४ तीक्ष्णैः॥

मन्वानाः स्थिताः। अथ सर्वोपायप्रवीणबुद्धिः भम्भासारस्य नन्दनोऽभयो दम्भात् चण्डप्रद्योतभूपाय गुप्तं लेखं प्रास्थापयत्। यथा—"स्वस्तिश्रीमद्राजगृहनगराद् यथास्थानस्थितान् पूज्यपादान् प्रति सेवकोऽभयो विज्ञप्तिपत्रं प्राभृतीकुरुते। प्रत्यहं शुभचिन्तकस्य सेवकस्य प्रणतिर्ज्ञेया, परन्तु एका विज्ञप्तिः सोपयोगं वाच्या। तद्यथा—हे पूज्य! शिवादेवी चिल्लणावद् मे समानपूज्याऽस्ति, अतो हितं शृणु—भेदोपायवेदिना मत्पित्रा सर्वेऽपि त्वन्नृपा भेदिताः सन्ति। अर्वाग्दिने तेभ्यो मत्पिता स्वर्णदीनारनिधिं दत्तवान्। त्वां धर्तुम् आत्मसात्कर्तुम् एष उद्यमः कृतः। ते च त्वां पशुबन्धं बद्ध्वा मत्पितुः समर्पयिष्यन्ति, धनैश्च ते नृपा आत्मानं तर्पयिष्यन्तीति ध्रुवम्। यदि मदुक्ते प्रतीतिर्न स्यात् तदा तेषां पटावासेषु दीनारा निखाताः सन्ति तान् पश्यतु, यस्मात् पाणिस्थे मणिकङ्कणे दर्पणे कः समीक्षेत" ?। इति लेखार्थमवबुध्य शिवादेवीप्रियोऽपि प्रत्ययार्थम् एकस्य राज्ञो निवासमचीखनत्। तत्र दीनारान् गुप्तकृतान् वीक्ष्य दीनात्मा इति चिन्तितवान्—'अहो अभयस्य सौहार्दम्! यद् अवसरे ज्ञापितम्। यदि अयं नाऽज्ञापयिष्यत् तदा मम का गतिरभविष्यत् ?। अतोऽत्र कस्याप्यग्रे कथनं न युक्तम्। सर्वेऽप्येते स्वामिद्रोहका जातास्तेन अस्माकं पलायनमेव युक्तम्'! इति विचिन्त्य स्वयमेव पलायितः। तं पलायमानं ज्ञात्वा मनसि सन्देहं दधानाः सर्वेऽपि पलायितुं लग्नाः। चरैस्तं व्यतिकरं ज्ञात्वा अभयः श्रेणिकाय निवेदितवान्। 'भोः तात! अथाऽस्य हस्ति-घोटकादिकं यथेच्छं गृहाण'। ततः श्रेणिकोऽपि नश्यतस्तस्य हस्त्यश्वादि आददे। परम्परया देशेषु वार्ता प्रसृता—'चण्डप्रद्योतो नष्टः, श्रीश्रेणिकभूपतिना सर्वस्वं लुण्टितम्'। अथ चण्डप्रद्योतस्त्वरितगत्या नष्टः सन् स्वान्तःपुरेऽविशत्। अपरे च नृपाः कष्टतः पृष्ठतः प्रापुः। चण्डप्रद्योतं प्रति चैवमालपन्—'स्वामिन्! किम् अत-

१ श्रेणिकस्य।

किंतपलायनकारणम्?। किं वा भयमुत्पन्नम्?, येन अब्धिपुरानुकारिसैन्यविस्तरे सत्यपि क्षुद्रवत् पलायनं कृतं भवद्भिः'? वृद्धसैनिकैरेवमुक्ते सति चण्डप्रद्योतः प्राह—'ये रक्षकास्ते भक्षका जातास्तदा किं क्रियते'?। सैन्यनृपैरुक्तम्—'जगदेकशरणानां भवतां को भक्षकः?। इदं तु असम्भाव्यं वचनम्!, भवदुक्तमपि अनृतं न भवति'। राजा प्राह—यूयमेव विश्वासघातकाः'। 'कथम्'?। राज्ञोक्तम्—'धनलोभेन स्वामिद्रोहं कर्तुं लग्नाः, परन्तु मम सुहृदा सुधिया अभयेन ज्ञापितम्। इयमुक्तिश्च सत्यीकृता—'पण्डितोऽपि वरं शत्रुर्न मूर्खो हितकारकः'। इत्यादिः सर्वो व्यतिकरः प्रोक्तः—पृथिवीखनने धननिर्णयप्रत्ययो जातः, तेन अतर्कितं पलायनं कृतम्, तेन च अहं जीवितः। परन्तु युष्मादृशानां क्षत्रियकुलोद्भवानाम् उत्तमानाम् ईदृशं स्वामिद्रोहकरणं न युक्तम्'। इत्येवं राज्ञोक्तं निशम्य ते नृपा ईषद् विहस्य उक्तवन्तः—'स्वामिन्! इयम् आभयी[1] माया भवता न ज्ञाता!। वृथा रभस्येन[2] अत्रागम्य युष्माकम् अस्माकं च मानहानिर्जाता। गतं च मानं वर्षशतैरपि नागच्छति। वयं तु प्राणान्तेऽपि न विश्वासघातवार्तामपि कुर्मः। यदुक्तम्—

मित्रद्रोही कृतघ्नश्च स्वामिद्रोही पुनः पुनः। विश्वासघातकश्चैते सर्वे नरकगामिनः" ॥१॥

इत्युक्त्वा शपथशतैस्तैर्नृपैः प्रभुः प्रत्यायितः। भूपोऽपि तां दम्भरचनां मत्वा बहुतरम् अशोचत्। परम् अवसरभ्रष्टः पुनः स्थानं नाऽऽप्नोति। एवं सशल्यं कालनिर्गमनं कुर्वन् अन्यदा सभाऽन्तःस्थितः प्रद्योतः प्राह—'कोऽपि इह सभायाम् ईदृशोऽस्ति योऽभयं बद्ध्वाऽत्र आनयेत्'?। इति अशक्याऽनुष्ठितिं भूपतिभणितिं श्रुत्वा सर्वा गर्वाऽऽवेशविवर्जिता सभा इति अभाषिष्ट—'स्वामिन्! वैनतेय[3]पक्षच्छेदने को दक्षधीरपि समीहां कुर्यात्?, ऐरावणरदोत्पाटने को वा आक्षेपवान् भवेत्?, को वा शेषशिखरस्थित-

१ अभयसम्बन्धिनी। २ शीघ्रतया ॥ ३ वैनतेयो गरुडः।

मणिग्रहणाय यत्नवान् भवेत् ?, को वा केसरिकेसरान् विकर्त्तितुमीहेत ? । हे भूपते ! शास्त्रनिर्धौतनिष्प्रतिमप्रतिभाचतुष्टयनिधिम् अभयं निग्रहीतुं कः सचेतन आग्रही स्यात् ?, न कोऽपीत्यर्थः । तस्मिन्नवसरे काचिद् गणिकाऽवसरं लब्ध्वा राज्ञो हृद्दाहहृद् वचनं प्राह–'हे पृथ्वीनाथ ! एतत्कार्यं मामादिश, यथाऽहं तमभयं बद्ध्वा भवच्चरणाग्रे ढौकयामि' । राज्ञा प्रोक्तम्–'एवं चेत् तर्हि स्वसमीहितसिद्धिं कुरु' । ततो वेश्यया राजादेशं लब्ध्वा मनसि विचिन्तितम्–'द्वासप्ततिकलाभिज्ञो बहुशास्त्रपरिकर्मितमतिः सर्वाऽवसरसावधानः सर्वकार्येषु प्रत्युत्पन्नबुद्धिः केनोपायेन वञ्च्येत ?। एकेनैव धार्मिकबुद्धिप्रपञ्चेन वञ्चयिष्यते, यतो महतामपि धर्मक्रियायां बुद्धिव्यापारणं न भवति, किन्तु सरलतैव मुख्या भवति। अतो धर्मदम्भबलेन वञ्चयामि । पुराऽपि धर्मच्छलेन अनेके वञ्चिताः श्रूयन्ते, अहमपि धर्मं शिक्षित्वा वञ्चयामि' । एवं परिभाव्य साध्व्यग्रे गत्वा वन्दनं विधाय धर्मं शृणोति पठति च। विचक्षणत्वात् स्तोकैरेव दिवसैरर्हद्धर्मविज्ञा जाता । ततो राजाज्ञया महामायानिधिः उपात्तश्राविकावेषा एषा पेणाङ्गना राजगृहपुरं ययौ । पुराद् बहिः शाखापुरे[3] उत्तारकं कृत्वा प्रभाते दीप-धूपा-ऽक्षत-चन्दन-काश्मीरज-घनसारादिपूजाद्रव्याणि गृहीत्वा सपरिकरा पुरान्तश्चैत्यपरिपाट्या चैत्यवन्दनं कुर्वती क्रमेण राजकारिते जिनमन्दिरेऽगमत् । श्रीजिनमन्दिरद्वारप्रवेशाद्यवसरे 'निस्सीहि' प्रमुखदशत्रिकाणि सत्यापयन्ती सा पणाङ्गना चैत्ये चैत्यवन्दनं करोति, तावत् तत्र अभयोऽपि जिनवन्दनार्थमागात् । अथ तत्र वैराग्य-हाव-भावादिपूर्विकां जिनस्तुतिं कुर्वतीं तां दृष्ट्वा प्रीत्या तस्याः स्तुतिं शृणोति स्म। तां श्रुत्वाऽभयोऽपि विचिन्तयति–'काऽपि ग्रामान्तराद् इयं जिनमतवासिताऽन्तःकरणा भक्तिनिर्भरनिभृताङ्गा प्रियधर्मा साम्प्रतमागता दृश्यते । अस्याः सुवर्ण-

१ हृदयदाहनाशकम् ॥ २ वेश्या । ३ उपनगरं शाखापुरम् 'परा' ॥

पात्रसदृशाया बहुमानकरणे महान् लाभो जायेत । इयं चोत्तमा साधर्मिकी'। इति निर्णीय चैत्याद् बहिर्मण्डपे निर्गमनं कुर्वती आलापिता—'भगिनि ! कुतः समागमनं भवतीनाम्' । इति श्रुत्वा दम्भरचनया तया प्रोक्तम्—हे धर्मबन्धो ! लोकोदरपुरे भवभ्रम-चतुष्पथे मनुजगतिपाटके संसारिजीवज्ञातीयाऽहं क्षेत्रस्पर्शनयाऽत्रागता'। पुनरभयः प्राह—"भगिनि ! श्रीजिनमतवासितान्तःकरणानाम् ईदृशी एव वस्तुस्थित्या परिभाषा भवति । मया तु त्वदीयजिनस्तुतिश्रवणमात्रेण परीक्षिता 'तीव्रश्रद्धायुक्तेयं श्राविका'। परन्तु अहं व्यवहारनयरीत्या पृच्छामि कस्माद् आगमनं संजातम्" ? । इत्यभयेनोक्ते पुनः सा दम्भविलसितं प्रादुष्करोति स्म—"हे धर्मबन्धो ! पृथ्वीभूषणनाम्नि पुरे सुभद्रश्रेष्ठिनः पुत्री । बालत्वेऽपि पार्श्ववर्तिन्या महत्तरायाः प्रसङ्गाद् अर्हद्धर्मे रुचिः प्रवृत्तिश्च जाता । क्रमेण यौवनं प्राप्ता तदा मत्पित्रा वसुदत्तव्यवहारिपुत्रेण सह विवाहः कृतः । परिणीतया च तेन सह विषमिश्रिताऽन्नतुल्यानि वैषयिकसुखानि भुक्तानि । एवं कियत्यपि गते काले पूर्वकृतभोगान्तरायोदयाद् भर्ता मृतः । तद्वियोगदुःखेन दुःखिताऽहं क्वाऽपि रतिं नाऽलभे । तदा जगन्मातृतुल्यया महत्तरार्यया प्रतिबोधिता—'वत्से ! किं विषादं करोषि ? एष नरभवोऽतीव दुर्लभस्त्वया प्राप्तः, स तु विषयकदर्थनया कियान् निष्फलो गमितः । अधुना तु विषग्रन्थिगमनतुल्यं कामकदर्थनकारणभर्तुर्मरणम्, अतस्तव जिनमार्गज्ञायाः किं विषादकरणं युक्तम् ? । चित्तं स्थिरं कृत्वा धर्मप्रवृत्तिं कुरु, येन अतिदुर्लभतरप्राप्ता मनुजभवसामग्री सफला भवेत् । अनादिशत्रून् प्रमादान् विमुच्य धर्मैकरतिं कुरुष्व' । इति प्रवर्तिन्या उपदेशेन भर्तृमरणशोकं मुक्त्वा धर्मार्थिनी जाताऽस्मि । तदनु एकदा देशनायां तीर्थयात्राफलं श्रुत्वा पित्रादीन् आपृच्छ्य श्रीसिद्धाचलादितीर्थवन्दनं कुर्वती काशिदेशमागता । तत्र श्रीपार्श्व-सुपार्श्वाभिधयोर्जिनयोः कल्याणकभूमिस्पर्शनं कृतम् । ततोऽग्रे चलन्त्या श्रीमच्चन्द्रप्रभप्रभुश्चन्द्रावत्यां वन्दितः । तत्र च श्रुतम्—

पञ्चमः
पल्लवः
चण्डप्रद्योतस्य पलायनम् ।

'साम्प्रतं राजगृहपुरवरे यादृशी धर्मोन्नतिर्विद्यते तादृशी क्वापि नास्ति। यत्र परमार्हतः श्रीश्रेणिकराजा शुद्धन्यायमार्गरीत्या राज्यं पालयति। तत्पुत्रः सकलगुणवतामग्रणीः, समस्तबुद्धिप्रपञ्चैकनिधिः, श्रीमज्जिनागमानुसारी, प्रवृत्तिकुशलो, नित्यं धर्ममातृकरुणापुष्ट्यर्थम् अमारिपटहोद्घोषणातत्परः, समस्तजीवाजीवादिभावज्ञो बहुजीवानाम् आजीविकादिभयहरणाद् यथार्थनामा अभयकुमारसचिवः परमश्रद्धया धर्ममाराधयति'। इत्यादियशःप्रशस्तिं श्रुत्वा हृदयं दर्शनायोत्कण्ठितम्। तद् इयं भाग्योदयेन मनोरथपूर्तिर्जाता। परं यादृशं श्रुतं ततोऽप्यधिकतरं दृष्टम्। धन्या यूयं कृतार्था यूयं, श्रीजिनेश्वरमार्गाराधका यूयमेव दृष्टाः। बहुजल्पेन कांत्रिम्योद्भावनं स्यात्। भवत्सदृशैः प्रभावकैः कृत्वा श्रीमज्जिनशासनं प्रोद्दीप्यते। अद्य भवद्दर्शनाद् अस्माकं जन्म जीवितं च फलवद् मन्यामहे। हे धर्मबन्धो! त्वं चिरं राज्यं धर्मं च पालय। पर्वतायुर्भव"। इत्युक्त्वा विरतायां दाम्भिक्यां धर्मोन्नतिप्रशंसाश्रवणतोषितहृदयोऽभयस्तां प्रत्युवाच–'हे धर्मभगिनि! त्वमद्य मम गृहे भोजनमङ्गीकुरु यथा मम गृहं गार्हस्थ्यं च सफलं भवेत्' इमि निमन्त्रिते सा दम्भिनी जगौ–'हे धर्मबन्धो! अहं संसारसम्बन्धेन तु कस्यापि गृहे भोक्तुं न गच्छामि, परं धर्मसम्बन्धेन साधर्मिकरीत्या तु यामि। परन्तु अद्य मम श्रीमन्मुनिसुव्रतस्वामिनः कल्याणकभूमिस्पर्शनं जातम्, अतोऽद्य तीर्थोपवासितास्ति। अतोऽग्रेऽन्यदिने भ्रातृचित्तप्रसत्त्यर्थमागमिष्यामि। त्वत्तः किमप्यहं दूरे नाऽस्मि"। इत्युक्त्वा स्वोत्तारके गता। मन्त्रीश्वरोऽपि सर्वं सत्यं मन्यमानस्तद्गुणरञ्जितहृदयो गृहमागतः। प्रभाते पुनः सपरिच्छदस्तस्या आलयं गत्वा, सपरिच्छदां तां निमन्त्र्य, स्वगृहे नीत्वा, विविधरसवत्या भोजनाय बहुमानपूर्वकं मन्त्रिणा भोजनमण्डपे उपवेशिता। मन्त्री यां यां रसवतीं परिवेष-

१ कृत्रिमताप्रकटनम्। २ तेनाग्रे प्र०।

यति तदा सा दम्भेन पुनः पुनः कल्पा(प्या)-ऽकल्प(प्य)-कालाऽतिक्रम[1]-भेल-सम्भेलादिदूषणानि पृच्छति, तथा तथा मन्त्री
तदुपरि गुणरागेण रञ्जितो भवति । अथ सा दम्भिनी विधिपूर्वकं भोजनं कृत्वा उत्थिता । मन्त्रिणा दीयमानं ताम्बूलादिकं नाऽऽदत्ते ।
'धर्मबन्धो ! किमस्माकं ताम्बूलशोभया ? । ताम्बूलं तु श्रीजिनाज्ञाऽविरुद्धजल्पनमेव, द्रव्यताम्बूलं तु मया त्यक्तम्' । ततो मन्त्रिणा
विविधभूषण-वस्त्रादिना परिधाप्यमाना वैराग्यभावनापूर्वकं यथायोगं वस्त्राऽऽभरणादि गृहीत्वा मन्त्रिणं च स्तुत्वा स्वस्थानं
गता । पुनर्दिनद्वयान्तरे मन्त्रिगृहे गत्वा सा दम्भिनी प्राह—'हे धर्मबन्धो ! अद्य भगिन्या विज्ञप्तिरङ्गीक्रियताम्' । तदाऽभयेनोक्तम्—
'उच्यतां सुखेन भगिन्या' । तयोक्तम्—'अद्य भोजनाय मदुत्तारकेऽनुग्रहः कर्तव्यः, यथा मम जन्म जीवितव्यं च सफलं भवेत् ।
भवदागमने दरिद्रिणां निधानलाभ अत्युग्रो मे मनोरथतरुः सफलो भविष्यति' । तदा सरलाशयेन धर्मप्रियेण अभयेन 'ओम्'
इत्युक्त्वा विसर्जिता । तया च उत्तारके गत्वा यत् चिन्तितं तत् कृतम् । यथावसरेऽभयः स्वल्पपरिच्छदो भोजनाय आगतः । तदा
दम्भिन्या अत्यादरभावो दर्शितः । मन्त्र्यपि तया दत्तासने उपविष्टः, सेवकास्तु बहिर्द्वारान्तरे स्थिताः । क्षणं धर्ममार्गानुयायिनीं
वार्तां कृत्वा मन्त्री उत्थापितः । ततोऽभ्यङ्ग-स्नानपूर्वकं भोजनाय उपवेशितः । विविधभक्त्या रसवतीं परिवेपयन्त्या तया धर्ममा-
र्गानुयायिकल्प्याऽकल्प्यवार्ता तथाऽवतारिता यथाऽभयस्य दम्भलेशोऽपि मतिपथे नायातः । भोजनान्ते दधिप्रतिरूपिकां चन्द्रहास-
मदिरामपि पायितः । भोजनानन्तरं सम्यगासने निवेश्य ताम्बूलादिकं दत्त्वाऽग्रे स्थिता दम्भिनी यावता शिष्टाचारवार्तां प्रकाशयति
तावता तस्या मदिराया बलेन निद्राऽऽगता । मूर्च्छितचैतन्यो जातस्तदा सा पूर्वरक्षिताऽपरद्वारेण रथे निवेश्य स्वयं चारुह्योज्ञयि-

१—तिक्रान्त—प्र० ।

नीमार्गं प्रति चलिता। स्थाने स्थानेऽन्यान्यरथप्ररोहणप्रयत्नेन स्तोकैरेव दिवसैः उज्जयिनीं प्राप्ता। तदा तया मूर्च्छितस्याऽभयस्य हस्तादिकं बद्ध्वा प्रद्योताग्रे ढौकितः। तावता तस्या मदिराया मूर्च्छाऽप्युत्तीर्णा। आलस्यं त्यक्त्वाऽभय उत्थितः सन् इतस्ततः पश्यति, विचारयति च–'किमिदम् अदृष्टपूर्वं स्थानम् ?, केनानीतोऽहम्' ?। इति ऊहाऽपोहयति[1] यावता तावता प्रद्योतेनोक्तम्–'भो अभय ! शृणु त्वं मदुक्तम्, यद् नीतिज्ञोऽपि, अनेकशास्त्रकुशलोऽपि, वाक्पटुरपि, परोपदेशकुशलोऽपि, द्वासप्ततिकलापठनेऽपि शुक ओतुना गृह्यते भक्ष्यते च तद्वत् त्वमपि बहुविज्ञानविदुरोऽपि, देश-देशान्तरे बुद्ध्याऽनन्यसदृशत्वं प्रख्यापयन्नपि, सर्वसमयोत्पन्नमतिरपि मार्जारीकल्पया पण्याङ्गनया गृहीतोऽसि !। अतो धिक् ते बुद्धिचातुर्यम्। तव सर्वसमयसावधानत्वं क्व गतम् ?, सत्यासत्यपरीक्षकत्वं क्व गतम्' ?। इति राज्ञोक्तं श्रुत्वाऽभयेन मनसि निर्णीतम्–'नूनमनेन धर्मच्छलेन पण्याङ्गनयाऽहमत्र आनायितः'। इति संप्रधार्याऽभयोऽब्रवीत्–'राजन् ! धर्मच्छलादयं बन्धो मम महिम्नां हानिकर्ता न भवति, प्रत्युत अमून् उद्दीपयति। किञ्च, अस्माकं देशे कुले च कोऽपि धर्मच्छलेन नेदृशं करोति। सा च क्षत्रियकुलमर्यादापि नास्ति। अथाऽस्माकं तु वरं जातं यद् अनेन कारणेन मातृष्वसृ–पत्योर्दर्शनं संजातम्। अद्यैव श्रेष्ठतरो दिवसः'। इति वचनचातुर्यात् प्रद्योतोऽपि प्रसत्तिभाग् जातः। यथा कलावान् चन्द्रः शुक्र-गृहे स्थित उच्चत्वं प्राप्नोति तथा शत्रुगृहे स्थितोऽप्यभयः स्वकीयकलागुणैः सर्वेषामीहितरूपो जातः। सभायां स्थितोऽभयो विविध-शास्त्र-देश-विज्ञानाद्भुतरसगर्भिताऽवसरोचितवार्तया राजानं रञ्जयति, तेन च राज्ञः प्रीतिपात्रमभयोऽजनि, क्षणमपि राजा पार्श्वं न मुञ्चति, नित्यमभयोक्तिश्रवणार्थम् ऊर्ध्वकर्णश्च तिष्ठति।

१ ऊहापोहं करोति। २ मार्जारेण। ३ महिम्नः।

इतश्चैकस्मिन् दिवसे राजगृहनगरेऽत्युन्नतमेघघटासदृशो मदेनाऽन्धीकृतान्तःकरणः सेचनकनामा करिवरः श्रेणिकस्य महीपतेर्गजालानत आलानम्[1] उन्मूल्य पुरश्रीनूपुराणि गोपुराणि[2] पदे पदे निघ्नन्, सुखश्रियां देहान् गेहान् स्वपदाघातैर्जीर्णभाण्डानीव चूर्णयन् गृहदेहस्याऽक्षाणि गवाक्षान् शुण्डादण्डघातेन पातयन्, सम्पदां मरट्टानिव अट्टान् चरणैर्घट्टयन्, अयोभारसहस्रस्य शृङ्खलान् कमलानिव त्रोटयन्, मनोरमान् क्रीडारामान् मोटयन्, सुभिक्षपर्वतकूटान् धान्यमूटान् स्वलीलया बालकः कन्दुकानिव इतस्ततो व्योम्नि उल्लालयन्, आबालगोपालं रोपाद् यम इव मूर्तिं प्रापयन्, ईदृशः क्रूराकारभीषणः समस्तपुरप्रलयकालनिभः पुरि भ्रमणं चक्रे। अथ तत्र राजाज्ञया बहुभिरुपायकुशलमन्त्रि-सुभटादिभिस्तन्निग्रहार्थं कृता उपाया राजयक्ष्मा[3]ऽऽमयेऽखिला वैद्यकृतप्रतिकारा इव विफलतामगुः। तदा धीधनोऽपि श्रेणिकभूपतिः समस्तबुद्धिसम्पदां निधानम् अवन्तीस्थं स्वं प्रधानम् अभयं स्मृत्वाऽतिदूनश्चिन्तयति स–'नूनमस्मिन् समये यदि अभयो भवेत् तदाऽमुं करिणं क्षणेन वशमानयेत्। अतो लोकोक्तिः सफला दृश्यते 'एकेन विना जगत् शून्यमिवाभाति'। एवं विचारमूढा राजादयो यावत् स्थिताः सन्ति तावता केनाप्युक्तम्–'महाराज! बहुरत्ना वसुन्धराऽस्ति, अतः पटहोद्घोषणा कार्यते तदा कोऽपि गुणिनामग्रणीः कार्यं करिष्यति'। राज्ञा च एतदनुमतम्, पटहश्चेदृशो वादितः–"भो भो लोकाः! श्रूयतां राजादेशः, यः कोऽपि रङ्कोऽपि प्रकोपिनं करिवरं योगी अध्यात्मं मन इव आलानस्तम्भमानयेत् तस्मै वक्त्रजितविधुश्रियं[4] सोमश्रियं स्वसुतां ददाति, पुनः लक्ष्मीलताऽऽरामान् सहस्रसङ्ख्याकान् ग्रामांश्च। अतो यः कोऽपि कलावान् भवेत्, स प्रकटीभूय गजम् आलानस्तम्भे नयतु"। इत्येवं सकले पुरे राज्ञा पटहोद्घोषणा कारिता। क्रमेण धन्यगृहाभ्यर्णमागता। धन्येन सा पटहोद्घोषणा

१ आलानं बन्धस्तम्भः। २ नगरद्वाराणि। ३क्षयरोगे। ४ मुखनिर्जितचन्द्रशोभम्॥

गजवशीकरणाङ्गीकारपूर्वकं वारिता। तदा सेवकैः पटहवादनं मुक्त्वा राज्ञोऽग्रे निवेदितम्- 'स्वामिन्! एकेन वैदेशिकमहापुरुषेण पटहः स्पृष्टः'। राजापि तत् श्रुत्वा महाश्चर्यपूर्णहृदयस्तत्रागात्। धन्योऽपि यत्र गजो नृखलतां करोति तत्रागतो बहूनि वस्त्राणि त्यक्त्वा, वज्रकच्छोटकेन कटिं च बद्ध्वा आसन्नो भूत्वा क्षणं शीर्षप्रदेशे, क्षणं पुरतः, क्षणं पार्श्वे, क्षणं पृष्ठप्रदेशे, क्षणं वस्त्रगोलकं कृत्वा हन्ति। गजोऽपि तस्य हननाय धावति, तदा धन्योऽपि लघुलाघवकलां कृत्वा पृष्ठे गत्वा ताडयति, गजं च चक्रवद् भ्रामयति। इत्येवं गजदमनशिक्षाकुशलेन धन्येन गजोऽतीव खेदितः। गजोऽपि इतस्ततः परिभ्रमण-धावनश्रमखेदेन निर्मदो जातः। तदा गजं ग्लानाङ्गं ज्ञात्वा प्लवङ्गवद्[1] उत्प्लुत्य गजपृष्ठे चाऽऽरुरोह। पादेन मर्मणि आहत्य अङ्कुशेन च सरलीकृत्य अनाकुलः सन् आलानस्तम्भं नीत्वा बबन्ध। मगधाधिपोऽपि तत्कलां दृष्ट्वाऽतिरञ्जितहृदयो जातः। धन्यं बहु स्तुत्वा, बहुमानपूर्वकं मनोरमं महोत्सवं कृत्वा तस्मै सुतां सोमश्रियं ददौ, सहस्रं च ग्रामान्। अन्यान्यपि सुवर्ण-मणि-मुक्तादीनि करमोचने दत्त्वा स्ववचननिर्वाहं करोति स्म। अथ शुष्कवनपल्लवनाद् उद्गता धन्यस्य कीर्तिलता हस्तिभयनिवारणात् समस्तनगरगृहमण्डपे विस्तारं प्राप्ता, यथा भूभृद्भूनदी[2] नद्याऽम्बुवर्षणाद् वर्धते।

॥ दानमाहात्म्ये शालिभद्रस्य कथा ॥

इतश्च, अत्रैव मगधदेशे धन-धान्य-समृद्धिमान् इन्द्रियग्रामशर्मदः[3] शालिग्रामनामा ग्रामोऽभूत्। तत्र कापिलीयप्रणीतिवत्[4]

१ वानरवत्। २ पर्वतोद्भूता। ३ इन्द्रयवृन्दसुखदः। ४ साङ्ख्यमतप्रवर्तककपिलमुनिकृतप्ररूपणावत्।

प्रकृतिसरला सत्कार्यकारिणी भद्रकस्वभावा काऽपि एका धन्याऽभिधा स्थविराऽभवत्। तस्या रौद्रदारिद्र्यसङ्गमः संगम इति नाम्ना तनयः सुमुखः प्राञ्जलप्रकृतिरभूत्। वृद्धा लोकानां गृहकार्याणि खण्डन-पेषणादीनि करोति, पुत्रस्तु, तेषां गोरूपाणि चारयति, एवं कृत्वा कथमपि निर्वाहं कुरुतः। अथान्यदा कस्मिंश्चित् पर्वमहदिवसे गोरूपाणि गृहीत्वा सङ्गमो वने चारयितुं लग्नस्तदा तत्राऽन्ये डिम्भा आगताः परस्परं वार्तां कर्तुं प्रवृत्ताः। एकेन अन्यस्य प्रोक्तम्—'किं त्वयाऽद्य भक्षितम्?'। तेनोक्तम्—'क्षैरेयी'। अन्येनापि कथितम्—'मयाऽपि क्षैरेयी। अद्य पर्वदिवसे केवला क्षैरेयी एव भोक्तव्या भवति, नाऽन्यत्'। तदा सङ्गमाय पृष्टम्—'किं त्वया भक्षितम्?'। तेनोक्तम्—'कुक्कसढोकलकादि यत्किञ्चित्'। इति श्रुत्वा निन्दितुं लग्नाः—'अहो! अद्य पर्वदिवसे ईदृशं रसविरसं कथं खाद्यते?, अद्य तु पायसमेव केवलं भुज्यते'। ततो डिम्भानां वार्तां श्रुत्वा सङ्गमो गृहमागत्य स्थविरां प्रणम्येति ययाचे—'हे मातः! हितकारिणि! मह्यं सघृत-खण्डं पायसम् अद्यैव देहि'। ततः स्वसुतस्य वचनं श्रुत्वा भृशं रोदिति स्म—'यद् एकस्यापि स्वपुत्रस्य पायसमात्रमनोरथमपि अहं निःस्वा पूरयितुम् असमर्था, अतो मम जन्म जीवितं च धिक्'। मातरं रुदतीं दृष्ट्वा बालोऽपि गाढं रोदितुं प्रवृत्तः। अथ तयो रोदनं श्रुत्वा दयालवः प्रातिवेश्मिक्य एकतो मिलित्वा स्थविरां प्रति रोदनकारणं पप्रच्छुः। ततो रुदती स्थविरा इत्यवक्—"हे पुण्यवत्यो भगिन्यः! एष मम पुत्रः कदापि खादनपानादिमनोरथं न करोति। यादृशम् अहं ददामि तादृशमेव भुङ्क्ते, न कदापि हठं करोति। अद्य तु कस्यापि गृहे डिम्भान् क्षैरेयीभोजनं कुर्वतो दृष्ट्वा मां प्रति पायसभोजनं याचते।

१ साङ्ख्यशास्त्रप्रसिद्धा 'महान्' इत्यपराभिधाना सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका प्रकृतिः, स्वभावश्च। २ सांख्यमते सदेव कार्यमुत्पद्यते, प्रशस्तं च। ३ नम्रप्रकृतिः। ४ गोवत्सान्।

अहं तु निःस्वा, विना द्रव्यं क्षैरेयी कुतो भवति ?। अतो रोदनं करोमि"। इति तस्या दीनवचनानि श्रुत्वा एकया प्रातिवेश्मिक्या उक्तम्–'दुग्धं तु अहं ददामि'। तदाऽन्ययाऽप्युक्तम्–तण्डलान् अहं ददामि'। तृतीयया कथितम्–'घृतम् अहं ददामि'। चतुर्थ्याऽप्युक्तम्–'अत्युज्ज्वलां खण्डाम् अहं ददामि'। एवं चतसृभिः प्रातिवेश्मिकीभिः स्वस्वोक्तमानीय दत्तम्। तदा स्थविरा सहर्षम् अस्मै पुत्राय क्षैरेयीं कर्तुं लग्ना, बालस्तु भोजनाशाऽवलम्बेन प्रसन्नचित्तो भूत्वा गृहाङ्गणे क्रीडति। स्थविरया च शीघ्रं क्षैरेयी निर्मिता, कारणानां पुष्टयोगे कार्यं भवत्येव। अथ पुत्रमाहूय भोजनाय निवेशितस्थाले घृत–खण्डादियुतं पायसम् आपूर्य पुत्राय दत्त्वा स्वयं तु दृग्दोषशङ्कया अन्यत्राऽगात्, यस्माद् जननीमनः प्रतिक्षणम् अनिष्टशङ्कया बिभेति। बालस्तु पायसभृतं स्थालम् अत्युष्णं ज्ञात्वा शीतलीकरणाय हस्तादिना वातादि करोति, तावता तस्य सङ्गमस्य गृहाङ्गणेऽगण्यपुण्यनिधिः मासक्षपणपारणक एको मुनिर्भिक्षां भ्राम्यन् बालकस्य भाग्योदयेनाकर्षित इवागमत्। अथ स बालकस्तं मुनिम् आगच्छन्तं दृष्ट्वा, मुनिं गृहे नीत्वा, विवेकच्छेकचेतसा गोपालेनापि बालेन पायसस्थालमुत्पाट्य अत्युत्कृष्टभावतोऽस्खलितं मुनये ददे। दत्त्वा च मुनिं प्रणम्य सप्ताष्टौ पदानि अनुगम्य पुनः पुनः प्रणामं कृत्वा गृहमागत्य रिक्तस्थालं गृहीत्वा अङ्गुल्या तल्लग्नं पायसलवं लिहति। मनसि च परिभावयति–'अहो! मम महान् भाग्योदयः, यद् मुनिना मया वराकेण दत्तं दानं गृहीतम्। यतोऽहं महेभ्यगृहे पश्यामि, भिक्षार्थम् आगतेभ्यो मुनिभ्यो महेभ्याः शतशो विज्ञप्तिं कुर्वन्ति, परन्तु मुनयः किञ्चिद् गृह्णन्ति किञ्चिच्च न गृह्णन्त्यपि। मम तु विज्ञप्तिमात्रेणागत्य चित्तप्रसत्त्या गृहीतम्। अतोऽहं धन्यतमः'। इत्यनुमोदयति, तावता क्षणाद् आगतया मात्रा बालं स्थालं लिहन्तं दृष्ट्वा 'अहो! मत्पुत्र एतावतीं क्षुधां नित्यं सहमानो दृश्यते' इति विचिन्त्य पुनः क्षैरेयी परिवेषिता। कथितं

च–'पुत्र ! क्षैरेयीमनोरथः पूर्णो जातः ?' । तदा बालेन 'ओम्' इत्युक्तम् । परं दत्तदानं नोक्तम्, यतो दानं दत्त्वा प्रकाशयति स फलं गमयति । ततः क्षैरेयीं भुक्त्वा उत्थितः । रात्रौ पुनः बलिष्ठभोजनाऽजीर्णाद् विसूचिका जाता । महत्या वेदनया पराभूतो बालो विचिन्तयति–'मयाऽस्मिन् भवे किमपि सुकृतं कृतं नास्ति, परम् अद्यैव मम भाग्योदयेन मुनये दानं दत्तं तदेव सफलं भवतु । मम शरणं च तस्यैव मुनेरस्तु' । इति स्वकृतं सुकृतं मुदा मुहुर्ध्यायन् मृतः । मृत्वा च मगधाऽधिपराजधान्यां राजगृहे नगरे दानपुण्यमहिम्ना समस्तमहेभ्यवरिष्ठस्य अनेककोटिद्रव्याधिपतेर्गोभद्रश्रेष्ठिनो भार्याया भद्रायाः कुक्षौ पुत्रत्वेन उत्पन्नः । स्वप्ने जनन्या फलितं शालिक्षेत्रं दृष्टम्, श्रेष्ठिने निवेदितम् । श्रेष्ठिनाप्युक्तम्–"अत्युत्तमं स्वप्नमिदम् । अस्यानुभावतस्तव कुलावतंसतुल्यः पुत्रो भविष्यति, तदा च 'शालिभद्र' इति नाम करिष्यामि" । इति श्रेष्ठिवचः श्रुत्वा भद्रा सहर्षं गर्भं पालयति । सम्पूर्णे च दिवसे सूर्यवद् भासुरं पुत्रम् अजीजनत् । ततो गोभद्रश्रेष्ठी द्वादश दिवसानि महोत्सवं कृत्वा, स्वजनकुटुम्बादिकं भोजयित्वा परिधाप्य च, समस्तस्वजन–ज्ञातिसमक्षं 'शालिभद्र' इति नाम चकार । ततः पञ्चभिर्धात्रीभिर्लाल्यमानो ववृधे । क्रमेण यथावसरे स्वकुलोचितकलाऽपि अधीता । क्रमाद् युवतिजनमनोहारि यौवनं प्राप्तः । पित्रा द्वात्रिंशतं कन्याः परिणायिताः । ततः पूर्वदत्तसम्यग्दानफलविपाकोदयेन नित्यं सुखलीलया यथेच्छं विलसति स्म ।

अथ अस्मिन्नवसरे राजगृहनगरे ये शठ–विट–कुटिलबुद्धि–दाम्भिक–धूर्तास्ते समस्तबुद्धिनिलयम् अभयं देशान्तरगतं ज्ञात्वा नागरजनानां प्रतारणाय उद्यता जाताः । तत्रैकोऽक्ष्णा काणो धूर्तोऽवसरं ज्ञात्वा सम्यग्व्यवहारिवेषं धृत्वा मूर्तिमान् दम्भ इव गोभद्रश्रेष्ठिगृहं गत्वा नत्वा च सविनयं धनैर्धनदसदृशं गोभद्रश्रेष्ठिनं प्राह–'भो गोभद्रश्रेष्ठिन् ! भवतां स्मृतिपथेऽस्ति नवा ?' । श्रेष्ठि-

नोक्तम्—'किं तत् ?' । धूर्तेनोक्तम्—"पूर्वम् आवयोश्चम्पायां गमनमभूत् । तत्र चम्पायां बहवो व्यापारिणः समागता आसन्, तदाऽहमपि व्यापारं कर्तुं प्रवृत्तः परं यथेप्सितं द्रव्यं विना व्यवसायो न भवतीति चिन्तापरो मनसि सीदन् 'परोपकारप्रवणोऽयं सज्जनः' इति ज्ञात्वा त्वदुपान्तम् आगतः । कथितं च मया भवन्तं प्रति—'श्रेष्ठिन् ! मम द्रव्यलक्षेण प्रयोजनमस्ति, अतो द्रव्यलक्षं देहि । अहं तु त्वदीयद्रव्यलक्षेण व्यवसायं कृत्वा, लाभं लात्वा, वृद्धियुतं तव लक्षद्रव्यं हस्तयोजनपूर्वकं दास्यामि । यतो यस्य देयं भवति तस्य दास्यं कृत्वापि दातव्यम् । तस्माद् मम लक्षद्रव्यं समर्पय । यदि मम प्रत्ययो न तदाऽहं देहस्य सारभूतमेकं चक्षुर्ग्रहणकस्थाने स्थापयामि, यथाऽवसरे देयं दत्त्वा ग्रहीष्यामि' । इत्युक्त्वा लक्षद्रव्यं त्वत्तो मया गृहीतम् । तेन द्रव्येण महान् व्यवसायः कृतः । ततो महोद्यमप्रसादाद् बहुतरं द्रव्यम् अवाप्तवम्, तत् सर्वं त्वदुपकारेणाहं मन्ये । अतो हे श्रेष्ठिन् ! इदं द्रव्यलक्षं वृद्धियुतं गृहाण, विरोचनज्योतिःप्रभं मम लोचनं चार्प्पय" । इति धूर्तवचनानि श्रुत्वा वाचोयुक्तिज्ञेन गोभद्रश्रेष्ठिना बहुभिर्मृदूक्तिभिः प्रज्ञापितोऽपि नाऽमंस्त, प्रत्युत वाचाटतया बहुकुयुक्तियुक्तां वचनरचनां विधाय वितण्डां प्रारेभे । तद्यथा—"बहुभिर्धनकोटिभिर्दुर्लभं मम लोचनं दृष्ट्वा लोभसमुद्रे मा ब्रुड । त्वत्सदृशानां महेभ्यानां न युक्तमेतद् आलपाललपनम् । पुरे यादृशी तव साधुता समस्ति तादृश्या एव रक्षणे तव महत्त्वम् अखण्डितं स्थास्यति, अन्यथा तु विरुद्धजल्पने विरुद्धभावोत्पत्तिभवनाद् महापदां पदं प्राप्स्यसि । ततः स्वकीयं साधुवादम् अखण्डितं रक्ष । किञ्च एतावन्ति दिनानि लोचनं विना 'काणः' इत्यभ्याख्यानं लोकेनोक्तं मया निर्वाहितम्, अधुना तु इष्टदेवप्रसत्तेर्धनं प्राप्तं, तत् कथं मम लोचने विद्यमानेऽपि, लोचनमोचनप्रवणे धनलाभे च

विरोचनः सूर्यः ।

सत्यपि लोकानाम् अभ्याख्यानवचांसि क्षमे ?। अतो लोचनं देहि। किञ्च, त्वत्सदृशैः सत्पुरुषैः सारं ग्रहणकं दृष्ट्वा चेद् अपलप्यते तदा जगति शुद्धव्यवहाराय जलाञ्जलिर्दत्तः। जगच्चक्षुः श्रीसूर्यो यदि अन्धकारं करिष्यति तदा प्रकाशकरणे कः समर्थो भविष्यति ?। विधुश्चेद् विषं वर्षिष्यति तदा जगत्तुष्टिः कुतो भविष्यति ?। अतो हे गोभद्र! यदि कल्याणवाञ्छकोऽसि तदा मम लोचनं समर्प्पय नाऽन्यत् किमपि इच्छामि"। इति धूर्तवचनानि श्रुत्वा गोभद्रः किंकर्तव्यतामूढो धूर्तप्रज्ञापनायै महेभ्यान् प्रेरयामास। ततस्तैर्व्यवहारिभिः साम–दानाद्युपाया बह्वीभिर्युक्तिभिः प्रयुक्ताः, परम् अस्मिन् धूर्ते क्षणद्युत्ययौ मेघा इव व्यर्था अभवन्। धूर्तेनाऽपि कपटनटकलां कुर्वता भूपसभां गत्वा प्रसभं कालहानिवचनानि तथा व्यङ्ग्याद्यर्थगर्भितानि प्रयुक्तानि यथा भूपसभा शोभना अपि सचिवादयस्तं प्रति प्रतिवचो दातुं नाऽलं भवन्ति स्म, सर्वेऽपि तद्धूर्तकुयुक्तिगहने दिग्मूढा भवन्ति स्म। परस्परं च मुखावलोकनं कुर्वन्ति स्म। तदा सकलसभ्यानाम् ईदृशीमवस्थां विलोक्य श्रेणिकोऽभयं स्मरन् तद्विरहव्यथां चाऽनुभवन् इत्युवाच–'भोः सभ्याः! चेद् यदि अभयो मन्त्री अस्मिन्नवसरे स्यात् तदा कलिकलनेऽकलता न स्यात्, यस्मात् सविता यत्र प्रकाशते तत्र ध्वान्तसन्ततिः कथं विलसेद् ?। तत एकेनाऽभयेन विना एषा पर्षद् मम हर्षप्रदायिनी नास्ति, यथा चन्द्रमस उदयं विना रात्रिर्न शोभामावहति'। तदा केनचिद् पुरुषेणोक्तम्–'स्वामिन्! नगरे पटहोद्घोषणा कार्यते तदाऽस्मिन् महानगरे कोऽपि बुद्धिसेवधिः प्रकटीभूय अस्य सत्याऽसत्यविभागं कृत्वा सर्वं सरलतरं करिष्यति'। तदा राजाज्ञया गोभद्राभिप्रायेण च समस्ते राजगृहनगरे त्रिपथ–चतुष्पथ–राजमार्गादिषु इति पटहोऽवादि–'यो धीमान् इमं कपटकारकं निरुत्तरीकृत्य श्रेष्ठिनश्चिन्तां निवारयति तस्मै विवादोच्छेदकारिणे

१ चन्द्रः। २ विद्युदग्नौ।

पुरुषाय गोभद्रश्रेष्ठी बहुऋद्धियुक्तां स्वसुतां दत्ते, राजापि च बहुतरं सन्मानं दत्ते'। इत्येवं वाद्यमानः पटहो यत्र सतां मान्यो धन्यो निवसति तत्रागतः। तदा धन्येन कौतुकाक्षिप्तचित्तेन दम्भाऽन्धतमसध्वंसनगभस्तिनिभेन[1] पटहः स्पृष्टः, स्वयं च अश्वमारुह्य राजसभायां गत्वा राजानं नमस्कृत्य तस्थौ। राज्ञा च बहुमानं दत्त्वा धूर्तव्यतिकरः कथितः। धन्येन स्मितोक्तम्—'महाराज! भवत्पुण्यप्रभावतो हेलयैव निरुत्तरीकरिष्यामि, नाऽऽर्तिर्विधेया'। ततो गोभद्रश्रेष्ठिनम् एकान्ते निवेश्य एवमेव वाच्यमिति शिक्षा दत्ता। 'श्रेष्ठिन्! आगामिदिने यदा राजसभायां धूर्तः कपटकरणायागच्छेत् तदा मदुक्तयुक्तिभिरुत्तरं दातव्यम्'। इति शिक्षां दत्त्वा विसर्जितः। पुनर्द्वितीयदिवसे राजसभायां नृपाज्ञया सर्वेऽपि राज्यजना आगताः, धन्योऽपि यथाऽवसरं तत्रागतः। अथ धूर्तेन अवसरं प्राप्य बह्वीभिर्दम्भयुक्तिभिर्नेत्रमार्गणा कृता तदा गोभद्रः समस्तेभ्यानां नृपस्य च समक्षं वादप्रशान्तये धूर्तमिति प्राह—"भो भद्र! तव चक्षुर्मम वेश्मनि ग्रहणकस्थाने मुक्तं भविष्यति तत् सत्यम्, तवोक्तिर्मृषा नास्ति। परन्तु मम गृहे मञ्जुषासु पुरा लोकैरीदृशज्योतिर्जुषः सहस्रशो दृशो ग्रहणकस्थाने मुक्ताः सन्ति, ततो न ज्ञायते किं त्वदीयं चक्षुः?, विनिमयदाने तु शास्त्रे महत्प्रायश्चित्तम् उक्तमस्ति। सर्वेषामपि जनानां स्वकीयं स्वकीयं वल्लभं भवति। यदुक्तम्—'पृथिव्या मण्डनं नगरम्, नगरस्य मण्डनं धवलगृहं धवलगृहमण्डनं धनम्, धनस्य मण्डनं कायः, कायमण्डनं वक्त्रं वक्त्रस्य च मण्डनं चक्षुषी'[2]। अतः सदा मनुष्याणां सर्वसारतया नेत्रे भवतः। गाढकार्ये आपतितेऽतिप्रियमपि वस्तु ग्रहणकस्थाने दत्त्वा धनं गृह्णन्ति, धनदायकव्यापारिणोऽपि प्रायो ग्रहणकं लात्वैव वृद्ध्या धनं ददतीति सद्वणिजां पद्धतिः। तस्माद् भवान् द्वितीयं चक्षुरर्पयतु, यथा तत्सादृश्याद् अभिज्ञाय ते दृशम्

१ कपटान्धकारनाशनसूर्यसदृशेण। २ "पृथिव्यां हि पुरं सारं पुरे गेहं गृहे धनम्। धनेऽपि कायः कायेऽपि वक्त्रं वक्त्रेऽपि चक्षुषी" ॥१॥

अहमानये" । इति गोभद्रगिरं श्रुत्वा यथा फालाद् भ्रष्टो वानरः, दावाच्च्युतो घूतकद् वा, तथा स्वचक्षुर्दातुम् अक्षमो धूर्तो विलक्षोऽभूत् । एवं धन्यस्य पटीयसा तेन प्रयुक्तया धिया धूर्तस्य वाग्बन्धने प्रकटकपटं ज्ञात्वा बहुतरविडम्बनापूर्वकं देशाद् निर्धाटितः । अथ गोभद्रश्रेष्ठी विपदम् उत्तीर्णो राहुदंष्ट्राविनिर्मुक्तचन्द्र इव यशःश्रियाऽधिकतरं शुशुभे । तत् प्रतिगृहं प्रतिजनोक्तं धन्यस्य सुबुद्धिविलसितं श्रुत्वा सोमश्री-कुसुमश्रियौ जहृषतुः । गोभद्रतनया सुभद्राऽपि तद्गुणरञ्जिता पाणिग्रहणाय समुत्सुका जाता । स्वजना धन्याय कन्यादानार्थम् उत्कण्ठिता गोभद्रं प्रवणयन्ति । अथ गोभद्रेण सुभद्रा विविधमहोत्सवैः कोट्यधिकधनदानपूर्वकं धनसारसूनवे दत्ता । धन्योऽपि तां गुणकीर्ती राघवो जानकीमिव उपायंस्त । अथ धन्यः प्रभूतोत्साह-मन्त्र-शक्तिभिर्भूपतिरिव तिसृभिः प्रियाभिर्युतः परां प्रौढिं प्राप । गोभद्रोऽपि कृतकृत्यो भूत्वा श्रीमन्महावीरसन्निधौ शुद्धं चारित्रं गृहीत्वा सम्यग्विधिपूर्वकं समाराध्य स्वर्गलोके महर्द्धिकदेवो जातः । अथ स देवो ज्ञानेन पुण्यनिधिं पूर्वभवपुत्रं शालिभद्रम् अवगम्य पुत्रप्रेम-पुण्याभ्याम् आकृष्टचित्तः प्रतिवासरम् आगत्य द्वात्रिंशत्प्रियायुक्ताय शालिभद्राय त्रित्रिखण्डयुक्ता दिव्यभोगभृताः त्रयस्त्रिंशद् निध्युपमा मञ्जुषाः प्रतिप्रातः आकाशात् समुत्तारयति । तासु मञ्जुषासु प्रतिमञ्जुषम् एकस्मिन् खण्डे मृगमदादिदिव्यसुगन्धिद्रव्याणि, विविधानि वस्त्राणि च । द्वितीयखण्डे मणि-रत्नखचितानि नानाप्रकाराणि स्वखचितरञ्जकानि दिव्याभरणानि निस्सरन्ति । तृतीयखण्डे विविधोत्तमराजद्रव्यमिश्राणि नानाविधानि घृतपूर-मोदकादिसुखासिकाप्रभृतीनि दिव्यभोजनानि, द्राक्षा-खर्जूरा-ऽक्षोटक-कदल्या-ऽऽम्र-नारङ्गादीनि फलानि, ताम्बूलादीनि च निस्सरन्ति । ततः प्रतिदिवसं तद्दिनाऽऽगतमञ्जुषागत-

१ गोभद्रेण । २ धन्याय । ३ भाषायाम् 'अखोड' ।

पञ्चमः पल्लवः धन्येन सुभद्रायाः पाणिग्रहणम् ।

वस्त्रादीनि स्वस्वभोगेष्वानयन्ति, गतादिवसाऽऽगतवस्त्रादीनि 'निर्माल्यानि' इति कृत्वा कूपे परिष्ठापयन्ति । एवंविधानि भोगाङ्गानि गोभद्रदेवो द्वात्रिंशत्प्रियायुक्ताय शालिभद्राय प्रत्यहं पूरयति । शालिभद्रोऽपि यथेप्सं निःशङ्कं दिव्यसुखैः खेलयन्नास्ते । एतत्सर्वं भक्तिपूर्वकमुनिदानस्य फलं प्रकटितम् । तस्माद् भो भव्याः ! निर्निदाने भावदानेऽत्यादरं कुरुत ।

॥ इति श्रीतपागच्छाधिराजश्रीसोमसुन्दरसूरिपट्टप्रभाकरविनेय–श्रीजिनकीर्तिसूरिविरचितस्य पद्यबन्धधन्यचरित्रशालिनः श्रीदानकल्पद्रुमस्य महोपाध्याय–श्रीधर्मसागरगणिनामन्वये महोपाध्याय–श्रीहर्षसागरगणिप्रपौत्रमहोपाध्याय–श्रीज्ञानसागरगणि-शिष्याल्पमतिग्रथितगद्यरचनाप्रबन्धे कन्यात्रयपरिणयो नाम पञ्चमः पल्लवः ॥

अथ षष्ठः पल्लवः

अथाऽस्मिन् श्रीवधूकेलिगृहे राजगृहे अन्यदासमये धन्यः सप्तभौमसौधाग्रभूमिषु लीलया यथेच्छं हास्यविनोदादिसुखं विलसन् अस्ति । तस्मिन्नवसरे इतस्ततो विलोकयतश्चतुष्पथे दृष्टिर्गता । तत्र च अतिदीनदशां प्राप्तान् वनेचरतुल्यान् रङ्ककल्पान् जुगुप्सनीय-रथ्यापतितपटवस्त्रकन्थायुतान् पितरौ सोदरादींश्च इतस्ततो बम्भ्रमतः सतो विलोक्य विसितचित्तश्चिन्तयितुं लग्नः—अहो ! कर्मणां

१. रथ्या प्रतोली. ।

गतिः कीदृशी ?, यत एतत्सर्वं मम कुटुम्बम् अनेककोटिद्रव्य–धान्यादिभृतगृहे मुक्त्वाऽत्रागतः, पश्चाच्च एतानि सर्वधन–धान्यादीनि भ्रष्टानि दृश्यन्ते, येन ईदृशीं दुरवस्थां प्राप्ता बम्भ्रमतोऽत्रागताः । अतः सत्यं जिनवचनम्–,[1]कडाण कम्माण न मुक्खमत्थि' । इति विचिन्त्य सेवकैस्तान् आकार्य प्रणम्य च, विनयेन पितरं स्वच्छचित्तो रचिताञ्जलिः सन् पृच्छति स्म–'हे तात ! बहुलक्ष्मीवतां भवतां कथम् ईदृशी निःस्वता समागता ?, न हि च्छायाश्रितानां कदाचित् तापव्यापत्तिर्जायते' । इति धन्यगिरं श्रुत्वा धनसारोऽवक् 'हे वत्स ! तव पुण्यायत्ता लक्ष्मीस्तु गेहतस्त्वया सार्द्धमेव गता, यथाऽतिस्फुटाऽपि चेतना देहतो जीवेनैव समं याति । कियद्धनं चौरैर्मुषितम्, कियच्च वह्निना भस्मसात् कृतम्, किमपि च जलेन प्लावितम्, भूमिगतं चाऽदृश्यीभूतं [2]कोकिलादिरूपतां प्राप्तम्, एवं सर्वं धनादि गतम् । त्वद्दत्ता प्रभूताऽपि सम्पत् चण्डवातेन मेघघटा इव क्षयं नीता, यावद् निजोदरपूरणेऽप्यक्षमा जातास्तदा नगराद् निःसृताः । प्रतिग्रामं भ्रमन्तो 'राजगृहं महानगरम्' इति श्रुत्वाऽत्रागताः । किमपि प्राक्कृतपुण्योदयवशात् तव दर्शनं संजातं, दुर्दशा नष्टा' । इति तातगिरं निशम्य स्वच्छात्मा धन्यस्तद्दुःखेन प्रतिबिम्बिते चित्तेऽसुखाश्रितो जज्ञे, यतः सज्जनानाम् ईदृश एव स्वभावो भवति । यतः—

"सज्जनस्य हृदयं नवनीतं यद्वदन्ति कवयस्तदलीकम्[3] । अन्यदेहविलसत्परितापात् सज्जनो द्रवति नो नवनीतम्" ॥१॥

अथ धन्येन मनसि संप्रधारितम्–"एते मम जनकादय एवंविधरङ्कवेषेणागता गृहे प्रवेशयितुं न युक्ताः, यतो गृहगतकर्मकर-

१ कृतानां कर्मणां न मोक्षोऽस्ति । २ भाषायां 'कोयला' । ३ मृषा ।

मनुष्याणामपि बहुमानं न भविष्यति । यत उक्तं भवति–'वेषाडम्बरहीनानां महतामपि अवज्ञा भवति, यतोऽजिनवाससि महेशेऽपि अर्धचन्द्रः किं नाऽभवत् ?' । तस्माद् महेभ्येषु एतेऽधना इति लघुतां माऽऽपन् , अत्रापि केनापि न ज्ञातमस्ति, तेन गुप्तवृत्त्या नगराद् बहिर्वाटिकायां प्रेषयामि, पश्चाद् महावेषाडम्बरं कारयित्वा महामहेनाऽऽनेष्यामि" । इति ध्यात्वा धन्यो वस्त्राभूषणादि दत्त्वा रथादिषु संगोप्य तान् बहिरप्रेषयत् । अथ च नगराद् बहिर्वाटिकायां नीत्वा, सौगन्धिकतैलाऽभ्यङ्गपूर्वकं स्नानादि कारयित्वा, वस्त्राऽऽभूषणादिना संभूष्य, विशिष्टसुखासनेषु यथार्हं ते निवेशिताः । ततः पूर्वसङ्केतितपुरुषैर्धन्याय वर्धापनिका दत्ता–'स्वामिन् ! नगरोपवने भवतस्तातपादादयः समागतास्तिष्ठन्ति' । ततस्तेभ्यो हर्षवर्धापनिकां दत्त्वा तुरग–रथ–भटादिपरिकरितोऽनेकैर्महेभ्यैः सहितो नगरोपवने गतः । दूरात् तातदर्शने जाते वाहनादुत्तीर्य सहर्षं पितुः पदयुगं नत्वोवाच-"अद्य मे सफलो घस्रः[1] अद्य मे सफला क्रिया । अद्य मे सफलं वित्तम् अद्य मे सफलं जनुः[2] ॥१॥ यत्तातपादानां दर्शनं जातम्" । इत्येवं सम्यक् शिष्टाचारपूर्वकं पितरौ वृद्धबान्धवांश्च नत्वा कुशलवार्तामपृच्छत् , सुसज्जनता सुपुत्रता विनीतता च दर्शिता । जनकेनापि हर्षोत्कर्षेण धन्यं महेभ्यांश्चालिङ्ग्य सुखक्षेमवार्ता पृष्टा । ततो धन्येन पितरं ज्येष्ठबान्धवांश्च सुखासना–ऽश्ववाहनादिष्वश्ववारिकां कारयित्वा, मात्रादींश्च रथेषु समारोप्य महतोत्सवेन नगरप्रवेशो कारितः, यतश्चातुर्याग्रणीः पुमान् औचित्यं न हि परिमुञ्चति । ततः पितरं स्वगृहनायकं विधाय, रमाऽभिरामान् स्वग्रामांश्च बान्धवेभ्यो दत्त्वा भक्तिं प्रीतिं च दर्शयामास । मनस्विनां हि या लक्ष्मीर्बन्धुभोग्या भवति सैव श्लाघनीया भवति । यतः—

---

१ दिवसः । २ जन्म ।

"किं तया हि महाबाहो ! कालान्तरगतश्रिया । बन्धुभिर्या न भुज्येत अरिभिर्या न दृश्यते" ॥१॥

इत्येवं धन्येन निजाग्रजास्त्रयो धनादिभिः सत्कृता अपि ते दुर्धियो हर्षस्थानेऽमर्षमेव धारयन्ति । यतो नीतौ अप्युक्तम्-'खलजनो बहुमानादिना सत्क्रियमाणोऽपि सतां कलहमेव ददाति, यथा दुग्धधौतोऽपि वायसः किं कलहंसतां प्राप्नोति ?, अपि तु नाप्नोत्येव' । अथो कृपालूत्तमो धन्योऽमर्षवाक्क्षुण्यत्तालून् असौहृदान् ईर्ष्यालून् बन्धून् वीक्ष्य इति व्यचिन्तयत्—यया बन्धूनां मानसानि भृशं मलीमसानि भवन्ति । एषा सम्पदपि सज्जनानां विपद् एव मता–मान्या भवति, तस्माद् इमां सम्पदं त्यक्त्वा पुनः पूर्वरीत्या देशान्तरं गच्छामि, येन कामितसम्प्राप्ताः सहोदरास्त्रयस्तुष्टा भवन्तु' । इति ध्यात्वा धनादिभृतं प्रियास्तिस्रश्च मुक्त्वा, एकं चिन्तामणिं लात्वा, राजादीनपि अनापृच्छ्य, गुप्तवृत्त्या कथञ्चिदवसरं प्राप्य पुराद् निर्ययौ ।

ततः स पुण्यवान् धन्यो मार्गेऽपि चिन्तामणिप्रभावतः स्वगृहसुखवद् यथेप्सितं सुखमनुभवन्, सुखेन मार्गमतिक्रामन्, बहून् ग्राम-नगरा-ऽऽरामादीन् पश्यन्, आर्यस्तिर्यग्भवानतिक्रम्य मनुष्यगतिवत् कौशाम्बीपुरीं प्राप्तः । तत्र कौशाम्ब्यां नगर्यां समस्तक्षत्रियशिरोरत्नं शतानीकाऽभिधो राजा राज्यं करोति स्म, यस्याऽतिशूरताप्रकर्षात् खड्गोऽरिवर्गश्च समं निष्कोशतां प्राप्तौ । अथ तस्य राज्ञो भाण्डागारे सहस्रकिरणाऽभिधो मणिरासीत् । स च परम्परया पूर्वजैः कुलदेवतावत् सर्वदा पूज्यमानस्तिष्ठति । एकदा स राजा तं मणिं पूजयन् वितर्कयितुं लग्नः–'अयं मणिः पूर्वजैः परम्परया पूजितः, वयमपि च यथाविधि पूजां कुर्मः, परन्तु किमस्य माहात्म्यमिति न ज्ञायते' । इति तज्जिज्ञासया सेवकैः रत्नपरीक्षाविदो नरा आहूय पृष्टाः–'भो भो रत्नवणिजः ! अस्मदीयपूर्वजैरयं मणिः बहुद्रव्यव्ययेन यथाविधि पूजितोऽभूत्, अतोऽस्माभिरपि नित्यं पूजा क्रियते, परं नाऽस्य गुणान् विद्मः, तस्माद् अस्य गुणान् ब्रुवन्तु' ।

इति पृष्टाः, परं तथाविधशास्त्रविदंपर्यार्थविज्ञाऽभावात् पूर्गुणान् पुलिन्दा इव न केऽपि तस्य स्पष्टगुणानाचक्षत। तदा राजा भृत्यैरिति पटहमवादयत्–'यो निपुणाग्रणीः पुमान् अस्य मणिमुख्यस्य प्रत्यक्षप्रत्ययपूर्वकान् गुणान् वक्ष्यति तस्मै सत्यप्रतिज्ञो राजा ग्राम-गजाऽश्वानां पञ्च पञ्च शतानि दास्यति, सौभाग्यमञ्जरीं च स्वपुत्रिकां दास्यति'। इत्येवं भूपाज्ञया कौशाम्ब्यां प्रतिचत्वरं प्रतिमार्गं च परीक्षकोपलम्भाय पटहः परिभ्राम्यति। ईदृशे समये धन्यः पटहवादकैर्वाद्यमानं तं पटहनिर्घोषं श्रुत्वा प्राह–'भो भोः पटहवादका! मा वादयत पटहम्, मणेर्गुणान् अहं वच्मि'। इति पटहं निवार्य परीक्षकशिरोमणिर्धन्यः पटहवादकैः सह अधिभूपसभं प्राप। राजानं नत्वा यथास्थानमुपविष्टः। वत्सपतिरपि तं सौभाग्याऽधिकरूपं सुन्दराकारं च दृष्ट्वा सबहुमानं क्षेमवार्तां पृष्ट्वा धन्यं प्रति प्राह–'भो धीनिधे! एतद्रत्नपरीक्षणं विधेहि, तद्गुणांश्च स्पष्टमभिधेहि'। ततो राजादेशं लब्ध्वा धन्योऽपि तं मणिं हस्ते लात्वा शास्त्रपरिकर्मितबुद्ध्या तद्गुणान् ज्ञात्वा च सविनयं भूपं प्रत्युवाच–"महाराज! चित्ते विस्मयकारकम् अस्य मणेः प्रभावं भणामि, तत् श्रूयताम्–स्वामिन्! एष मणिर्यस्य मस्तके धृतो भवति तं पुरुषं हन्तुं सिंहं गजा इव शत्रवो न शक्ताः। पुनरयं मणिर्यत्पुरस्यान्तरे राजते तस्मिन् नगरे अतिवृष्ट्यनावृष्टिप्रमुखा ईतयः सुभूपेऽनीतय इव सर्वाण्यपि भयानि च न भवन्ति। पुनरयं मणिर्येन भुजे धारितस्तस्य कदापि कुष्ठादयो महान्तो रोगा अम्बुवाहाश्रितस्याऽचलस्य दावानला इव पराभवं न कुर्वन्ति। पुनरयं मणिर्यस्य कण्ठे धृतो भवति तस्य भूत-प्रेतादयोऽर्कोद्द्योतेऽन्धकारा इव पराभवं कर्तुं न शक्नुवन्ति। भोः स्वामिन्! यदि मदुक्ते प्रत्ययो न भवति तदा स्थालमेकमानाय्यताम्, तण्डुलाश्चानाय्य भ्रियन्ताम्"। राज्ञा च सेवकैः शालिकणभृतं स्थालमानाय्य सभायां धारितम्। तदा पुनर्धन्येनोक्तम्–'स्वामिन्! शालिकणभक्षिणः पक्षिणो मुच्यन्ताम्'। ततो राजाज्ञया सेवकैः पक्षिगणा मुक्ताः। ततो द्वीपं प्रति

उल्लोला[1] जलनिधेः कल्लोला इव अभितः स्थालं परिभ्रमन्ति, परतु तत्स्थालं स्प्रष्टुमलं न जाताः। घटिकामात्रं तदाश्चर्यं निरीक्ष्य धन्यादेशेन शालिकणभृतस्थालोपरिस्थे मणावपाकृते रक्षकत्यक्तवाटिकायां मर्कटैः फलौघा इव पक्षिभिः क्षणमात्रेण ते सर्वेऽपि शालिकणा भक्षिताः। ततो धन्यः प्राह–'महाराज ! यथा अनेन[2] पक्षिभ्यः कणा रक्षितास्तथाऽयं पार्श्वस्थो मणिर्वैरि-गदे[3]-ति-भूत-कार्मणादिभयेभ्यः परिरक्षति, तद् निर्णयः। अथ महीनाथ इति निशम्य, प्रत्यक्षं चाद्भुतं प्रेक्ष्य चमत्कृतचित्तः समस्तजनसमक्षं मणेः प्रभावं धन्यस्य परीक्षाकुशलत्वं च वर्णयति स्म। ततोऽतिरञ्जितचित्तेन राज्ञा सौभाग्यमञ्जरीनामा निजात्मजा दत्ता, विवाह-मेलनतिलकं कृतम्। पुनः प्रशस्तदिनमुहूर्ते महोत्सवपूर्वकं पुत्रिकायाः पाणिग्रहणं कारितम्। करमोचनवेलायां च पञ्चपञ्चशत-प्रमान् ग्रामान् अश्वान् गजेन्द्राँश्च दत्तवान्। ततो धन्येन 'श्वशुरगृहनिवसनमयुक्तम्' इति संप्रधार्य कोशाम्ब्या बहिर्नातिदूरनिकटक्षेत्रे स्वाभिधया धन्यपुरनाम शाखापुरं निवेशितम्। तच्च अतिसुन्दरहट्टश्रेणिभिर्मनोहरम् अत्युन्नतविविधगवाक्षजालोपशोभिताऽऽवास-वृन्दभासुरं पश्यतां दृग्वशीकारकम्, एतादृशमुपपुरं निवेश्य, अनेकान् स्वदेशिनो वैदेशिकांश्च समाश्वासनपूर्वकमवीवसत्। ते च लोका अल्पशुल्कादिगुणाऽऽहृतहृदया अहंमहमिकया[4] सहर्षं तत्र निवासं कुर्वन्ति स्म। तत्र च अनपाये[5]ऽपि प्रभुत्वे सोपायव्यवसाय-विद् भाग्यनिधिर्धन्योऽत्युत्कटपुण्यप्रभावतः स्वल्पेन कालेन अनेकशः स्वर्णकोटीरुपार्जयामास। अथ तत्र पुरे राज-चौरे-तिभया-दिरहिते ससुखव्यापारलाभादिसुखपूरितेऽपि अतीवजनाकीर्णवसतिबाहुल्यादिहेतोर्लोकानां पानीयं दुर्लभं जातम्। तदाऽत्र वास्तव्या लोकाः परस्परं वदन्ति–'अस्मिन् नगरे सर्वजातिकं सुखं समस्ति, परन्तु महाजलाशयं विनाऽरतिर्विद्यते'। इति निशिचर्याऽऽदिष्ट-

१ अतिचपलाः। २ मणिना। ३ गद–ईति। ४ अहम् अहम् इति यस्यां क्रियायां सा अहमहमिका, तथा। ५ निश्चले।

चरमुखात् श्रुत्वा भव्यतरमुहूर्ते सरः खानयितुं प्रारेभे। अनेकशतसङ्ख्याः कर्मकराः सरःखननोद्यमे लग्नाः खनन्ति, तदुपरिस्था राजसेवकाश्च त्वरयन्ति ।

इतश्च राजगृहनगरे स्वगृहाद् धन्ये गते सूर्येऽस्तंगते दिनलक्ष्मीरिव अखिललक्ष्मीरपि त्वरितं गता, निःश्रीकं समस्तमपि गृहं जातम्। तां वार्तां श्रेणिकः श्रुत्वा कोपाकुलो जातः। सभ्यान् वक्तुं प्रवृत्तः—'भोः सभ्या! दृश्यतां खलानां खलत्वम्!। येन मम जामात्रा निजाग्रजास्त्रयोऽमात्रां प्रौढिं प्रापिता अपि अमी खलाः प्रतिदिनं कलहकुटिलतां कृत्वा जामातरमुदवेजयन्। सज्जनावतंसः स 'संकिलेसकरं ठाणं दूरओ पडिवज्जए' इत्यागमं श्रुत्वा न ज्ञायते कुत्रापि देशान्तरे गतः । यतो महापुरुषो विरोधस्थाने नैव तिष्ठति। तस्माद् एते महापापा नाऽधिकारयोग्याः"। शिष्टस्य पालनं दुष्टस्य च निग्रहः' इति राजनीतिं स्मृत्वा तान् कारागारे क्षिप्त्वाऽदण्डयत्। सर्वमपि ग्रामादिकं मोषयित्वा यथाजातं कृत्वा त्यक्ताः। ततो धनसाराद्या न केवलं धनैरुज्झिताः, किन्तु स्पर्द्धयेव तदनुगैर्यशःकान्तिगुणैरपि त्यक्ताः।नाम्ना धनसारोऽपि अधनसारो व्यचिन्तयत्—'प्राग् उच्चवाणिज्यः कथं नीचवाणिज्यमधुनाऽऽश्रये ?'। एवं मनसि परिभाव्य पुत्रान् आहूयेति न्यगदत्—'हे पुत्राः! अधुनाऽत्र स्थातुं न युक्तं, ततो देशान्तरे गम्यते। यतो देशान्तरे निःस्वानामुदरपूर्तिकरणार्थं भिक्षावृत्तिमपि द्राक्षासदृशामाहुः, भिक्षावृत्तिमपि कुर्वतां कोऽपि न किञ्चिद् दुर्वचनं जल्पति; प्रत्युत करुणया किमपि साहाय्यं करोति। स्वदेशे तु पदे पदे लोकानां दुर्वचनानि श्रुत्वा हृदयं दह्यते। सुविद्योऽपि सुरूपोऽपि निर्धनो [न वि]नाऽर्थमर्घति, यथा स्वक्षरोऽपि सुवृत्तोऽपि कूटो रूप्यको जने नाऽर्घति। हे वत्साः! समयोचितभाषासु व्यापारक्रियासु

१ संक्लेशकरं स्थानं दूरतः प्रतिवर्जयेत्।

च कुशलोऽपि निर्धनः श्लाघ्यो न भवति, यथा स्वक्षरकाव्यं सुकण्ठेन प्रलपितमपि अर्थशून्यं श्लाघ्यं न भवति, अतो देशान्तरं गम्यते'। एवमुक्त्वा निर्वाहाय अन्यदेशं गन्तुमनसा धनसारेण सोमश्री-कुसुमश्रियौ पितुर्गृहे प्राहेषाताम्। तथा च सुभद्रां प्रति साश्रुलोचनः सगद्गदमिति जगाद–'हे शुभाशये! भवत्यपि गोभद्रस्य गृहे यातु। अस्माकं तु दुष्कर्मोदयप्रबलतावशाद् भाग्यैकनिधिः पुत्रः क्वापि गतः, तत्पृष्ठे सम्पदपि गता। वयमत्र स्थिताः कुटुम्बनिर्वाहं कर्तुमक्षमाः, अतो देशान्तरं यामः। देशान्तरे च निर्धनानां निरुपलक्षितानां स्थानभ्रष्टानां का का विपत्तिर्न भवति?। त्वं तु अत्यन्तसुकोमला सुखलीलैकमग्ना दुःखसंपातवार्तायाम् अविज्ञाऽसि, तस्माद् हे वत्से! त्वं सुखभृते पितुर्गृहे गच्छ। यदा च अस्माकं भाग्यभृतस्त्वद्धवस्य सङ्गमो भविष्यति तदा तवामन्त्रणं करिष्यामः'।

इति श्वशुरोक्तं श्रुत्वा सुभद्रा तं प्रत्युत्तरं दत्तवती–"स्वामिन्! भवादृशानां कुलवृद्धानां कुटुम्बचिन्तैकरसिकानां सर्वेषामुपरि सुदृष्टीनाम् अस्मदीयदुःखदर्शनाऽक्षमाणाम् एवमेव वक्तुमुचितम्, तथापि अहं तु शीलसहाया सह आयास्यामि, यतो विपत्तिसमयेऽपि सतीनां भर्तुर्गृहमेव गतिः। यदुक्तं नीतिशास्त्रे—

"नारीणां पितुरावासे नराणां श्वशुरालये। एकस्थाने यतीनां च वासो न श्रेयसे भवेत्" ॥१॥

"तथा यदापि सम्पूर्णा लक्ष्मीः सौख्यं च प्रचुरतरं भवति तदापि स्त्रीणां महोत्सवादिकारणमुद्दिश्य पितुर्गृहे गमनं युक्तम्, अन्यथा–विना कारणं गमनं तु दोष एव। ततो विपत्तिसमये तु सुतरां श्वशुरगृहे वसनं युक्तम्। यदि आपदि पितुर्गृहे गम्यते तदा

भ्रातृजायाप्रभृतिपितृगृहाश्रिता जनाः श्वशुरकुलवंचनीयतामातन्वन्ति । तद्यथा–'अस्माकं ननान्दपतिः अविमृश्यकार्यकर्ता, निष्कारणम् अनापृच्छ्य सहसा कुलवर्तीं विडम्बनापथि मुक्त्वा क्वापि गतः, गृहनिर्वाहकारकस्तु क्षमणशीलो भवति तदा गृहं निर्वहति' । तदाऽन्यो वदति–'भावुकस्य न दोषोऽस्ति । अहर्निशं कर्मकारवत् कुटुम्बसेवाव्याकुलस्तिष्ठति, परन्तु अस्य ज्येष्ठभ्रातरस्त्रयोऽपि कुटिलस्वभावा यवासकवृक्षसदृशा अस्योन्नतिमसहमानाः, तेषां दुर्वचनैः खेदितो 'देशत्यागेन दुर्जनम्' इति नीतिं स्मृत्वा सुसज्जनस्वभावत्वाच्च गृहं मुक्त्वा गतः । यदुक्तम्–'अपमाने न तिष्ठन्ति सिंहाः सत्पुरुषा गजाः' । तदैको वक्ति–'इदं न पौरुषेयचरितम्, बहुभिर्दुर्जनैः खेदितस्तेजस्वी पुरुषः किमु नंष्ट्वा गच्छति ?, यूकाभयात् किं परिधानवस्त्रं त्यज्यते ?, प्रत्युत दुर्जनानां यथायोग्यं शिक्षा क्रियते येन पुनस्तस्य वार्तायामपि नाम न गृह्णन्ति । यदुक्तं शिक्षाशास्त्रे दृष्टान्तश्लोके–

"शठं प्रति शाठ्यं कुर्याद् मृदुकं प्रति मार्दवम् । त्वया मे लुञ्चितौ पक्षौ मया मुण्डापितं शिरः" ॥१॥

'इत्यादि शास्त्राणां हार्दं जानन्नपि राजादिभयरहितोऽपि समस्तपुरे आदेयवचनोऽपि दृढबद्धमूलोऽपि यद् नंष्ट्वा गतस्तद् न भव्यं कृतम् । नेदं धीरचरितम्' । इत्यादि पितृगृहपक्षीया जना यथाकथञ्चिच्छ्रवणकटुवचनानि आलपन्ति, तत्राऽहं कस्य मुखे हस्तं ददामि ? । एकं तावद् वल्लभवियोगार्दनम्, द्वितीयं तस्योपरि क्षतक्षारतुल्यं निन्दावचनश्रवणम्, तृतीयं च पराधीनवृत्त्या जीवनं भवति । तस्माद् हे पूज्या ! अत्र स्थले वा प्रवासे वा, सम्पदि वा विपदि वा, सुखे वा दुःखे वा कायं छायेव सम्यक्छीलपालनपूर्वकं श्वशुरालयं न मोक्ष्ये । यत्र तातपादानां स्थितिस्तदनुगामिनी अहमपि इति कृतनिश्चयाऽस्मि" ।

---

१ निन्दनीयत्वम् । २ स्वसृभर्तुः । ३ अत्र शुक–पण्याङ्गनयोर्दृष्टान्तः कथनीयः ।

धन्येन सरसः खाननम्, तत्र च कुटुम्बस्य मिलनम्।

इत्येवं सुभद्रावचांसि श्रुत्वा हृष्टः श्रेष्ठी आचष्ट-'हे प्रतिव्रते! त्वया साधु साधु उदितम्, यस्मात् त्वं तस्य पुरुषोत्तमस्य धन्यस्य सत्यं पत्न्यसि। त्वदीयपतिव्रतधर्मेणैव भव्यं भविष्यतीति अस्माकं निर्णयो जातः'। ततो धनसारः स्वपत्न्या सुभद्रया सभार्यैस्त्रिभिः पुत्रैश्च युक्तोऽष्टभिः कर्मभिर्युक्तो जीव इव राजगृहाद् निर्ययौ। यत्र तत्र कर्मकरवृत्त्याऽऽजीविकां कुर्वाणो बहून् देश-नगरान् भ्रान्त्वा क्रमेण कौशाम्बीं प्राप, यतो यतयो याचका निःस्वाश्च वायुरिव न स्थिरा भवेयुः। महतीं नगरीं वीक्षमाण इतस्ततो भ्रमति। तत्राऽसौ कञ्चित् सुसज्जनं दृष्ट्वाऽप्राक्षीत्-भो भद्र! अत्र पुरे धनिनोऽल्पधना निर्धनाश्च जनाः कथं वर्तन्ते-कया रीत्या आजीविकां कुर्वन्ति?'। तदा तन्नगरवासी पुरुषः प्राह-'भो वैदेशिक! अत्र पुरे ये धनवन्तस्ते स्वनीव्या व्यवसायं कुर्वन्ति, यतः प्रकाशशीलो दीपः प्रकाशाय दीपान्तरं न हि अपेक्षते, श्रीमतां के व्यापारा न वर्तन्ते?। तथा च येऽमी नाणकावर्तिनो धान्यव्य-वसायिनो घृतहट्टिकाः स्वर्णकारा मणिकाराः सौत्रिकाः पाट्टसूत्रिकास्ताम्बूलिकास्तैलिकाः पौगफलिकाः पाट्टकूलिकाः कार्पासिका दौष्यिका माणिक्यादिरत्नव्यवसायिनः सुवर्णव्यापारिणः क्रयाणकव्यापारिणः पोतव्यवसायिनो गान्धिकाः सौगन्धिकप्रभृतयो ये च नाऽतिवैभवास्ते सर्वे वणिजो महेभ्यधन्यस्य धनं व्याजेन समुपजीव्य निर्वहन्ते। यो यत्र व्यवसाये कुशलः स तं व्यवसायं कृत्वा यथासुखं निर्वाहं करोति, यथा तटिनीतटाऽरघट्टाः[1] तटिनीप्रवाहस्य जलं समुपजीव्य अरघट्टप्रवृत्तिं निर्वहन्ते। ये च अत्यन्तनिर्धना दुःस्थाः, ते तु अस्य श्रेष्ठिनो महासरः स्वदारिद्र्यमिव खनन्ति। तत्रेयं रीतिः कृताऽस्ति-कर्मकरीणां स्त्रीणां प्रतिदिनमेकं दीनारं पुरु-षाणां च द्वौ दीनारौ श्रेष्ठी दत्ते, द्विवेलं च तैलान्नादि भोजनं यथेप्सितं ददाति। साम्प्रतमत्र ये निःस्वाः कर्मकरा आसन् ते सरः-

१ तटिनी नदी।

खननोपायेन सुखं जीवन्ति" । इति नगरवास्तव्योक्तां गिरं श्रुत्वा स सहर्षोऽभूत् । ततः सपरिकरो धनसारस्तत्र गत्वा सरःखननाधिकारिणं सविनयं नत्वा स्वाऽऽजीविकां विज्ञपयामास । ततस्तेन अधिकारिमहत्तमेनोक्तम्–'भो वृद्ध ! अस्मदीयस्वामिनां पुण्यबलेन एते कर्मकराः सरःखननोपायेन सुखं जीवन्ति । तत्र त्वमपि सकुटुम्बः खननोद्यमं कुरुष्व वृत्तिं च गृहीत्वा सुखेन कालनिर्वहणं कुरु' । ततो धनसारस्तस्यादेशं प्राप्य सकुटुम्बस्तस्य सरसः खननाय प्रवृत्तः । प्रतिदिनं कर्मकरवृत्तिं च लब्ध्वा तत्रैव आरात्कृतोटजे स्थितः सुखेन उदरपूर्तिं करोति स्म । यतः स्वकृतकर्मोदयवशगा जीवा दुष्पूरोदरपूर्तये किं किं न कुर्वन्ति ?, तस्मात् साधकजनैः प्रतिक्षणं बन्धचिन्ता न मोक्तव्या ।

एवं कियत्यपि काले गतेऽन्यदा दिनार्द्धोत्तरसमये सम्मदापूर्णैस्तूर्णप्राप्तैर्जनैर्वेष्टितं, मन्त्रि-सामन्तादिभिः परिवृतं, पदाति-हस्त्य-ऽश्ववृन्दैः संयुतं, सोत्साहमागधश्रेणिकृतगुणवर्णनं, धृतसौवर्णदण्डोच्चमायूरातपवारणं, उत्तप्तस्वर्णगौराङ्गं, विचित्ररत्नालङ्कारभासुरं, ज्वलद्दिव्यौषधिज्योतिर्जालं किमु स्वर्णाचलम् !, 'चिरं जीव, चिरं जय, चिरं नन्द' इत्यादि वदत्सु बन्दिवृन्देषु यावज्जीवोपभोगार्हं धनसञ्चयं ददतं, सरोवराऽवलोकनकार्यकौतुकाऽऽयतलोचनम् , एतादृशं धन्यं तत्रागतं दृष्ट्वा सर्वे कर्मकरा हर्षेण नेमुः । ततः सर्वेषां प्रणामं गृहीत्वा एकान्तेऽशोकतरुच्छायायां सेवकैः कृते राजाऽर्हासने उपविष्टः । तत्र च क्षणं विश्रम्य सर्वेषां कर्मकराणां खननप्रवृत्तिं विलोकयितुं लग्नः, तावता एकत्र भृत्यवृत्त्या क्लिश्यद् निजकुटुम्बकं दृष्ट्वा चकितः सन् दध्यौ–'अहो ! सुरैरपि अनुल्लङ्घ्या कर्मरेखा दृश्यते ! । यतः—

---

१ गौरवे बहुवचनम् । २ समीपरचितकुट्याम् ।

"उदयति यदि भानुः पश्चिमायां दिशायां, प्रचलति यदि मेरुः शीततां याति वह्निः।
विकसति यदि पद्मं पर्वताग्रे शिलायां, तदपि न चलतीयं भाविनी कर्मरेखा" ॥१॥

इमौ पितरौ भ्रातरो भ्रातृजाया ममापि च जाया, एतत्समस्तं मम कुटुम्बम् अहो! हन्त कीदृशीम् असम्भावनीयदुर्दशां दैवेन प्रापितम्। एषा शालिभद्रस्वसाऽपि कथं मृत्तिकां वहति ?। यद्वा विचित्रा कर्मणां गतिरिति सर्वज्ञवचनं न मिथ्या भवति, यतोऽनेकराजमण्डल्युपास्यमानक्रमकञ्जोऽपि हरिश्चन्द्रः किल चाण्डालगृहेऽम्बुवहनं कृतवान्!। तथा च सतीनामग्रणीर्दमयन्ती अति अतिदुःखिनी यौवने घोरवने एकाकिनी समयं गमयामास। जगत्त्रये केनापि न अभुक्तं कर्म क्षपितम्। ये केचन जिनादयोऽतुल-बल-वीर्यो-त्साहयुक्तास्तैरपि नव्यं कर्म न कृतं, परं पूर्वबद्धं तु भुक्त्वैव क्षपितम्। वक्रे विधौ कुतः सुखी भवति ?, भूपतेर्मुकुटाद् भ्रष्टं रजसाऽऽच्छादितम् अलक्ष्यचैतन्यं देवाऽधिष्ठितं च रत्नमपि जनांह्रिघट्टनादयो बहवो विपदः सहते, तदा रागादिदोषप्रबलोदयवतां मनुष्याणां सुतरां सहनं भवति। तत्र कातरत्वं न करणीयम्; यतः कातरभावेन सहमानस्य प्रत्युत अशुभकर्मणो वृद्धिः, शुभस्य चाऽशुभे संक्रमणं, रसहानिश्च जायते, तस्माद् अव्याकुलत्वेन सम्मुखभावेन सोढव्यम्। यतः कर्मणः करुणा नास्ति जडत्वाद् इति हार्दम्"। इति ध्यात्वा पितरमालाप्य प्राह–'यूयं तु नवीना दृश्यन्ते। के यूयम् ?, कुत आगताः ?, का जातिः ?, एतेषां स्त्री-पुरुषाणां भवतां च कः सम्बन्धः ?'। इति पृष्टे पुण्योदयप्रबलतावशेन विविधरत्न-सुवर्णाभरणभासुरताकृतविनिमयेन च धन्यमनुपलक्षयन् धनसारोऽनुपलक्ष्यताकृते स्वकीयजाति-कुल-वंशादि गोपयित्वाऽवसरोचितं यत्किञ्चित् तदुत्तरं ददानः प्राह–"स्वा-

१–कञ्जं कमलम्। २ नलपत्नी।

षष्ठः
पल्लवः
धन्येन
सरसः
खाननम्,
तत्र च
कुटुम्बस्य
मिलनम्।

मिन्! वयं विदेशादागता निर्धना आजीविकोपायं गवेषयन्तो भवत्पुराऽऽगमनमात्रेण शुभं भवतां परोपकरणव्यतिकरं श्रुत्वा तद्दिनाद् अत्रागत्य सुखेन आजीविकां कुर्मः। प्रतिप्रभातं समुत्थाय भवद्भ्य आशिषं दद्मः—'चिरं जय, चिरं नन्द, चिरं पालय मेदिनीम्'। यतोऽस्मादृशानां तु भवानेव जङ्गमकल्पवृक्षोऽस्ति'। इत्यादिचाटुवचनानि उक्त्वा प्रणिपत्य च स्थितः। तदा धन्यस्तास्य चाटुवचनानि श्रुत्वा दध्यौ—"अहो! दृश्यताम्, धनक्षये मतिविभ्रमः कीदृशः संजातः?, आबाल्यात् परिपालितोऽपि निजात्मजोऽहं नोपलक्षितः। यदुक्तं शास्त्रे—'तेजो लज्जा मतिर्मानमेते यान्ति धनक्षये'। यथा मतिमूढाः पशवो निजात्मजमपि संजातधौरेयं नोपलक्षयन्ति, तथाऽमी वृद्धं मां नाऽभिजानन्ति। अधुना दरिद्रभावाद् लज्जमाना अमी स्ववंशादिकमगोपयन्, अश्रीकास्तारा दिवा स्वं दर्शयेयुः किमु?। ततोऽधुनाऽहमपि स्वं न ज्ञापयामि, समये ज्ञापयिष्यामि, यत् पथ्यमपि अकाले रोगिणां विकाराय स्यात्"। इति ध्यात्वा मौनं कृत्वा 'किञ्चित् स्नेहोऽपि दर्शनीयः' इति विचार्य नियोगिनमादिक्षत्—'अयं वृद्धो जरया जर्जरितोऽस्ति, तेन अस्य तैलं गुणकृद् न भवति, अतोऽस्य घृतं देयम्'। तदा धनसारो 'महान् प्रसाद' इत्युक्त्वा प्रणामं चकार। तदा सर्वे कर्मकरा वृद्धं प्रत्यूचुः—'भो वृद्ध! तवोपरि स्वामिनां महती कृपाऽस्ति येन तुभ्यं घृतं दापितम्। परं त्वमेवैको घृतयुतं किं भोजनं करिष्यसि?, इदं तु न शोभनम्, यद् उत्तमानां भेदकृद्भोजनकरणं कुनीतिः, तस्मात् त्वं स्वामिनं तादृशीं विज्ञप्तिं कुरु येनाऽस्माकमपि घृतादेशो जायेत'। तदा धनसारेण पुनः प्रणामं कृत्वा धन्यो विज्ञप्तः—'स्वामिन्! अहमेव एको घृतं अदन्[१] न चारु दृश्ये, तस्माद् एतेषां मम सहकारिणामपि घृतादेशो भवतु। भवादृशां दानशौण्डीराणां पङ्क्तिभेदो न शोभाकृद् भवति, अतो

१ भक्षयन्।

महाप्रसादः क्रियताम्, येन ममोपरि कृपा श्लाघनीया भवति'। तदा धन्येनाऽतिविनीतेन 'पितृवचः प्रमाणं कर्तव्यम्' इति ध्यात्वा सर्वेषां कर्मकराणां घृतादेशः कृतः। तद् श्रुत्वा सर्वे कर्मकरास्तुष्टिं प्राप्ताः, ते सर्वे सानुकूला धनसारं प्रशंसन्ति। तत एष धन्यो घृतदापनजै रसैः उन्नतधाराधरो[1] वृक्षानिव भृत्यान् उल्लास्य यथागतं जगाम। पुनर्द्वितीयदिवसेऽपि तत्र पित्रादीन् सत्कर्तुं कानने वृक्षान् सपल्लवीकर्तुं वसन्त इव आगतः। गतदिनमिव सर्वैरपि पित्रादिभिः कर्मकरैः प्रणामादिरुचितप्रतिपत्तिः कृता। ततो धन्यस्तत्र स्थित्वा वृद्धमालापयति–'एते त्रयस्तव पुत्राः कर्मकराः, स्त्रियश्च नित्यं सरःखननक्लिष्टोद्यमं कुर्वन्ति, तदा त्वमपि वृद्धो भूत्वा किमद्यापि क्लिष्टक्रियां करोषि?। कीदृशाश्च तव पुत्रा ये क्लिष्टक्रियाया न वारयन्ति?'। धनसारोऽवक्–'स्वामिन्! वयं निःस्वा निरालम्बनाश्च। किमपि पुण्ययोगेनार्ऽजनोद्यमं लब्ध्वा लोभेनाऽभिभूय एकाऽधिकवृत्तिलोभेन वृद्धत्वेऽपि कर्मकरत्वं करोमि। दारिद्र्यतापनिवारणघनाघनाः पुनः पुनर्भवादृशाः कुतो मिलिष्यन्ति?। अस्मिन्नवसरे मेलिता नीविरग्रे[2] व्यापारादिकार्ये आयाति, अतः कायचिन्तामुपेक्ष्य उद्यमं करोमि'। ततो विहस्य धन्यः सर्वान् कर्मकरान् नियोगिनं च आकार्य आदिदेश–'भो भोः कर्मकराः! अयं वृद्धो जराजीर्णः खननक्रियार्हो न, एवं दृष्ट्वाऽस्माकं दया उत्पद्यते, अतः परम् अनेन कर्म न कार्यं केनापि, नित्यं सर्वसमाना वृत्तिस्तु देया'। 'महतां वचः प्रमाणम्' इत्युक्त्वा सर्वैरपि प्रणामो विहितः। धन्य एवं कृत्वा गृहं गतः। ततः सर्वेऽपि कर्मकराः परस्परं विवदन्ते–'अयं वृद्धः कृतपुण्यो दृश्यते!, यतो राज्ञा दर्शनमात्रेण कर्मकरत्वं त्याजितम्'। अन्यो वदति–किं न श्रुतम्, यतः—

१ घनाघनो मेघः। २ नीविः परिपणः–मूलधनम्।

"इक्षुक्षेत्रं समुद्रस्य योनिपोषणमेव च। प्रसादो भूभुजां चैव सद्यो घ्नन्ति दरिद्रताम्" ॥१॥

पुनस्तृतीयदिने आगतः सन्नम्यस्तरुतले स्थितः। कियत्क्षणे पूर्वसङ्केतितपुरुषैर्द्राक्षा–ऽक्षोटक–खर्जूरादिखाद्यवस्तूनि धन्यस्याग्रे ढौकितानि। धनसारस्तु धन्यस्यागमनमात्रे पूर्वमेव कृतप्रणामस्तत्र स्थितो वर्तते। ततो धन्येन वृद्ध आलापितः–'इदं द्राक्षादिखाद्यं गृह्णातु, यतो वृद्धानां कोमलं खाद्यं मुखे लगति, बालत्वं वृद्धत्वं च समानमुच्यते जनैः'। ततो धनसारेण 'यथादेशो महताम्' एवमुक्त्वा कर्मकराणामुपरि दृष्टिर्दत्ता। ततो धन्येन विहस्योक्तम्–'किम् अमीषां सर्वेषां दापयितुं मनोरथोऽस्ति?, घटत्येव वृद्धानाम्, ये केचन एकत्र संपृक्तास्तान् दत्त्वैव स्वयं गृह्णातीति उत्तमकुलनीतिः'। इत्युक्त्वा सर्वेषां मध्ये उत्तमकुलवत्त्वं ज्ञापितं तस्य। ततः सर्वेषां कर्मकराणां, विशेषतस्तु वृद्धस्य बहुतरं दत्तम्। तदुपरि पुनः ताम्बूलादि दत्त्वा गतः। अथ पुण्यवदुचितं खाद्यं संप्राप्य हृष्टाः कर्मकराः परस्परं कथयन्ति–'पुण्यबलोऽयं वृद्धः, अनुपलक्षितमपि राजा दर्शनमात्रेण बहुमानं ददाति। अस्य वृद्धस्य प्रभावेण अनास्वादितपूर्वं खाद्यमास्वादितम्, यथा महादेवपूजने पण्डोऽपि पूज्यते। ततः सर्वेऽपि कर्मकरा वृद्धस्यास्य कुटुम्बस्य च आज्ञावर्तिनो जाताः। एवं प्रतिदिनं वृद्धस्य शुश्रूषाऽऽशया तत्रागच्छति। तत्र च स्थित्वा कस्मिँश्चद् दिने कदलीफलानि, कस्मिन् दिने वा जम्बीरफलानि, कस्मिन् दिने नालिकेरखण्डानि शर्करामिश्राणि, कदापि नारङ्गफलानि, एवम् अञ्जीरफलानि, पक्वेक्षुखण्डानि, तद्रसघटांश्च सर्वेषां विशेषतस्तु सपरिवारस्य वृद्धस्य ददौ। एकस्मिन् दिने वृद्धस्योक्तम्–'यौष्माकीणा पटी जीर्णा जाता दृश्यते'। धनसारेणोक्तम्–स्वामिन्! वयं निर्धनाः कति व्ययान् कर्तुमुत्सहामहे?, व्ययं विना पटी कुतः?। परं च, ममैकस्य पटीं कुर्वतः सपरिवारस्य पटी करणीया भवति, अतो यथाकथञ्चित् कार्यं निर्वहणीयम्'। तदा धन्येन सपरिवारस्य धनसारस्य स्त्रीपुरुषयोग्यानि वस्त्राणि दत्तानि, सर्वेषां

कर्मकराणामपि एकैका पटी दापिता, तेऽपि हर्षं प्राप्ता वृद्धं प्रशंसन्ति। एवं प्रतिदिनं धनसारस्य मनोऽनुकूलताम्बूल–दुकूल–सुखभक्षिकादिप्रदानतः सत्कारं करोति। कर्मकराणामपि यथायोग्यम्, भ्रात्रादीनां च विशेषतः सत्कारं करोति। परं प्रबलपुण्यप्राग्भारप्रभावतो न कोऽपि उपलक्षयति। अन्यदा धन्येन स्थविर आलापितः–'साम्प्रतं निदाघः समागच्छति, भवदीयाऽवस्था तु जराजीर्णा, वासरापगमे चक्रवाकविहगानामिव तक्राऽभावे वो निशाऽन्धता भविष्यति'। धनसारेणोक्तम्–'स्वामिन्! एतद् वयमपि जानीमः, परं गवादीनामभावात् तक्रं कुतः प्राप्यते?, गवादिरक्षणे तु महाव्ययो भवति, अतो निर्धनानां मनोरथोऽन्तर्गडुर्ज्ञेयः'। तदा धन्येनोक्तम्–'एतद् दीनवाक्यं न वाच्यम्। मद्गृहे गवादिपशूनां महद्वृन्दं तिष्ठति, दुग्धादिकं च प्रचुरं जायते, अतस्तक्रं प्रचुरं भवति। तेन हे वृद्ध! प्रत्यहं युष्माभिर्मद्गृहात् तक्रमुद्ग्राह्यम्। महतामपि तक्रमार्गणे लाघवं न भवतीति लोकेऽप्युक्तमस्ति, अतो नित्यं तव वध्वो मद्गृहे तक्रार्थमायान्तु। मद्गृहं तु आत्मीयगृहमेव गण्यम्, अन्तरं न गण्यम्'। तदा पटुचाटुना धनसारेणोत्थाय 'महान् प्रसादः'इत्यूचे। संसारे चत्वारि स्थानानि धिक्कारभाजनानि, यदुक्तम्—

"दरिद्रता च मूर्खत्वं परायत्ता च जीविका। क्षुधया क्षामकुक्षित्वं धिक्कारस्य हि भाजनम्" ॥१॥

पुनः–"क्षीणो मृगयतेऽन्येषामौचित्यं सुमहानपि। द्वितीयाभूः प्रजादत्ततन्त्वन्वेषी यथा शशी" ॥१॥

व्याख्या—योऽतिस्वच्छो महानपि क्षीणो भवति सोऽन्येषाम् औचित्यं मृगयते। यथा द्वितीयाभूः–क्षीणः शशी प्रजादत्ततन्त्वन्वेषी भवति। ततो धन्यो भृत्यादीनपि विशेषतस्तु पित्रादीन् सत्कार्य दैवदुर्ललितं निन्दन् निजावासम् आसदत्। अथ धनसारं भृत्या जगुः–अहो! वः सन्निधेर्वयमपि सुखिनोऽभूम, यतः सत्सङ्गः श्रेयसे भवति। अथो द्वितीयदिवसाद् धनसाराज्ञया पुत्रव-भू

टिकाः क्रमाद् जलार्थमम्बुधौ कादम्बिन्य इव तक्रार्थं धन्यसौधे ययुः। धन्याज्ञया च सौभाग्यमञ्जरी ताभ्यस्तक्रं ददौ, यद् भर्तृवश्यता स्त्रीणां सैव परा नीतिः। अन्यदा धन्यः प्रियामेवमशिषत्–'हे प्रिये! ज्यायसीभ्यस्तिसृभ्यो वधूटीभ्यस्त्वया सज्जनचित्तवत् स्वच्छं–निर्मलं तक्रं देयम्–असारतक्रमित्यर्थः। पुनर्यद्दिवसे कनीयसी तक्रार्थमागच्छेत् तदा त्वयाऽस्यै सारतरं दधि–दुग्धादि च देयम्। पुनः प्रियाऽऽलापादिभिरनया सह प्रीतिं कुर्याः, भेदो न रक्षणीयः' इति पत्यादेशः प्रसन्नया सौभाग्यमञ्जर्या शिरसि धारितः। तद्दिनाद् अवक्रेण हृदा सर्वदैव सा पत्यादेशाऽनुरूपं चक्रे। यद्दिने सुभद्रा तक्रार्थमागच्छति तद्दिने सा प्रमोदेन दधि-दुग्ध-पक्वान्न-खर्जुरा-ऽक्षोटक-सितोपलादिकं च तस्यै ददाति, प्रियभाषणेनालापयति, सुख-दुःखादिशरीरोदन्तं[1] च पृच्छति। ततः सा विविधसुखभक्षिकादिकं गृहीत्वा स्वोत्तारके चागत्य वृद्धस्याग्रे मुञ्चति। वृद्धोऽपि च तद् वीक्ष्य सुभद्राम् अश्लाघत–"भो भोः पुत्राः! पश्यत पश्यत, भाग्यवतः पुत्रस्यैषा पत्न्यपि भाग्यवती सती कीदृशी समस्ति? यत्पुण्यवतोपभोग्यं सुखभक्षिकादिकं गृहीत्वाऽऽगता। अन्या अपि वृद्धाः स्नुषाः प्रतिदिनं गच्छन्ति तदा स्वच्छजलोपमं तक्रं लात्वाऽऽगच्छन्ति। तेनाऽत्र न किञ्चिदन्यत् परिभावनीयम्, ताभिर्न किञ्चित् कृतमस्ति, अनया किमपि दत्तं नास्ति, परन्तु भाग्यमेवात्र प्रमाणम्। 'प्राप्तिर्भाग्यानुसारिणी' इति शास्त्रवचनं सत्यमेवास्ति"। एवं धनसारोक्तां श्लाघां श्रुत्वा समत्सरा वध्वः प्राहुः–'अनेन जरद्गवप्रायेण वृद्धेन पुराऽस्मद्देवरं प्रतिदिनं श्लाघयित्वा सर्वेषां स्नेहवित्रोटनं कृत्वा गृहं त्याजितम्। स तु पलायनं कृत्वा कुत्रापि देशान्तरं गतः, यस्य कथमपि उदन्तोऽपि नागच्छति। पुनरधुना अस्याः पृष्ठे लग्नो न ज्ञायते किं करिष्यति?'। तदा एका वक्ति–'यतोऽस्मच्छ्वशुर इमां भाग्य-

1 उदन्तो वार्ता–वृत्तान्तः।

शालिनीति कृत्वा व्याख्याति, परन्तु अस्या भाग्यशालिनीत्वं शृणु–प्रतिप्रभातमुत्थाय एषा खरी इव मृदं वहति यावत् सूर्यास्त-समयं कर्मकरवृत्तिं कृत्वा जठरपूरणं करोति, रात्रौ च पतिवियोगजनितदुःखार्ता भूमौ स्वपिति। अहा! एषा भाग्यवतितरा!। ईदृशं भाग्यशालित्वं शत्रोरपि मा भूत्'। एवं परस्परं विवदमाना सुभद्रायाम् ईर्ष्यां वहमानास्तिष्ठन्ति। पुनर्द्वितीयदिवसे प्रभाते तक्रानयनार्थं श्रेष्ठिन्या वृद्धस्नुषां प्रत्युक्तम्-"राजमन्दिरे गत्वा तक्रमानयस्व'। तया प्रोक्तम्-'नाहं गच्छामि। ह्यो दिने वृद्धेन वयं तिस्रो निर्भाग्याः स्थापिताः, अतो युष्मदीयनिपुणवध्वे समादिशतु। सा तक्रार्थं गत्वा दधि-दुग्धादिकं लाति, अतस्तामेव मुत्कलापयतु'। एवं सखेदं प्रजल्पन्ती स्थिता। तदा वृद्धेनोक्तम्–'वत्से सुभद्रे! त्वमेव याहि। एतास्तु यथार्थकथनेऽपि ईर्ष्यया ज्वलन्ति। त्वमेव स्वमनसि शीतलीभूय सुखेन गत्वा तक्रमानय सर्वस्य सदृशभवने गृहं न निर्वहति'। ततः सुभद्रा वृद्धादेशं लब्ध्वा तक्रार्थं गता। आच्छन्तीं दृष्ट्वा सौभाग्यमञ्जर्या अग्रत एवालापिताः–'सखि! आगच्छ, स्वागतं ते' इत्यादिशिष्टाचारपूर्वकं परस्परं कुशलवार्ताम् आपृच्छय, पुनर्दधि–खण्डादिकं च दत्त्वा विससर्ज। सुभद्रापि तद् लात्वा स्वस्थाने समायाता। पुनर्वृद्धेन श्लाघिता। तच्च श्रुत्वा तदा तिस्रोऽपि ईर्ष्यया ज्वलन्ति। ततः प्रभृति नित्यं सुभद्रैव तक्रार्थं गच्छति, अन्या तु नैकापि गच्छति।

अन्यदा सौभाग्यमञ्जरी दूरतो वन्यदावाऽग्निध्मापिताऽम्रलतानिभां निःश्रीकां तां तक्रार्थमागच्छन्तीं दूरतो दृष्ट्वा मनसि परिभावयति स्म–'इयं कर्मकरपत्नी काऽपि उत्तमकुलप्रसूता दृश्यते, यतो रूप–लावण्य–लज्जा–विनय–वागादिकम् अस्याः कुलवत्त्वं सुखित्वं च सूचयति। कुतोऽपि पूर्वकृताऽशुभोदयत ईदृशीमवस्थां प्राप्ताऽस्ति, परन्तु सदा दुःखिनी नैवास्ति। अथैनां प्राक् प्रीति-

१ गर्दभी। २ उदरपूर्तिम्।

लभ्यां कृत्वा पृच्छामि'। इति ध्यात्वा अग्रत एव सादरमालापिता, विश्रामार्थं सुमञ्चिकायां निवेशिता, स्वयमपि च समीपासने स्थित्वा सुखक्षेमवार्तां कुर्वत्या पृष्टम्–'सखि! तव मम च सखित्वं संजातम्। सख्ये च संजातेऽन्तरं न भवति। यदुक्तम्—

"ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति। भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम्" ॥१॥

अतस्त्वं यदि ममोपरि प्रीत्यै विमलाशयाऽसि तदा मूलतः स्वकीयाख्यां यथार्थाम् आख्याहि, किं स्फटिकभित्तयः स्वान्तःस्थं वस्तु गोपयेयुः?'। तदा सुमुखी सुभद्रापि लज्जयाऽधोमुखी बभाषे–'सखि! मां किं पृच्छसि? मम दुर्दैवमेव पृच्छ। कर्मोदयतो मम दुःखानुभववार्तयाऽलम्। प्रत्युत मद्दुःखवार्तां श्रुत्वा त्वमपि दुःखभागिनी भविष्यसि, अतोऽकथितमेव वरम्'। सौभाग्यमञ्जर्याऽप्युक्तम्–सखि! त्वयोक्तं सत्यं, परन्तु यस्य कस्याप्यग्रे न वाच्यम्, तथ्यप्रीतिमतोऽग्रे तु कथयितव्यं भवति, यथाऽहमपि जानामि मम सख्या एतावत्पर्यन्तं दुःखमनुभूतम्। ततो यथानुभूतं वद'। तदा सुभद्रा अत्याग्रहं ज्ञात्वा प्राह–"सखि! राजगृहे नगरे गोभद्रश्रेष्ठिसुतः समस्तभोगिनां भूपतिः, त्रिजगत्यपि कोऽपि ईदृशो भोगी नास्ति, यो नित्यं सुवर्णरत्नखचिताऽऽभरणानि स्रगादिवद् निर्माल्यकूपे त्यजति, ईदृशः शालिभद्रनामा इभ्यवरस्त्वयापि लोकवार्तायां श्रुतो भविष्यति, तस्य भाग्यशालिनोऽहं भगिनी भद्राकुक्षिसमुद्भवा च गोभद्रस्य सुता, यत्समः कोऽपि भुवनत्रये पुत्रैकवत्सलः पिता नास्त्येव। ततो मां प्राप्तयौवनां ज्ञात्वा त्वद्भर्तृसमाऽऽकार-रूप-लक्ष्म्या लक्षितेन, नामतोऽपि त्वद्भर्तृसमेन, सद्भाग्यसम्पदां धाम्ना व्यवहारिसुतेन सह ममोद्वाहः कृतः। तेन च मुरारिणा श्रीरिव परिणीता। प्राप्तपावनपतिसम्बन्धा अहमपि सहर्षं श्वशुरकुले सुखेन दीप्तभोगमग्ना वसामि, प्रबलचहलपु-

१ गोभद्रसमः।

ण्योदयेन गच्छन्तं कालमपि न जानामि । किं वर्णयामि सखि ! त्वदग्रे ?, येन दृष्टं स एव जानाति, स्वानुभूतं सुखं स्वमुखेन वक्तुमनुचितम् । ईदृशे वर्तमाने मम भर्तू राज्यमानं कीर्तिं च प्रतिदिनं प्रवर्धमानां दृष्ट्वा भर्तुर्ज्येष्ठबन्धवस्त्रय ईर्ष्यया ज्वलन्तस्तिष्ठन्ति । यस्य कस्याप्यग्रेऽसद्दोषान् प्रजल्पन्ति, तदा स एव तेषां पुरो भर्तुर्गुणवर्णनेन मुखपिधानं करोति, ततस्ते साधिकतरं ज्वलितान्तःकरणास्तिष्ठन्ति । अथ मम भर्ता कलिना मलिनाचारान् इङ्गिताकारेण निजबान्धवान् विलोक्य स्वयं सज्जनस्वभावत्वात् मां समग्रां रमां च मुक्त्वा क्वचित् देशान्तरे ययौ । तस्मिन् मम भर्तरि गते तत्पुण्यनियन्त्रिताऽनन्यगतिका लक्ष्मीरपि गृहाद् गता, तडागाद् गते नीरे पद्मिनी किमु तडागान्तस्तिष्ठति ? । ततः स्वल्पैरेव दिवसैरीदृशं निःश्रीकं गृहं जातं यावत् स्वगृहमनुष्याणां स्वोदरपूर्तिमात्रम् अन्नमपि नाभूत् । अथ स्वगृहमनुष्याणां निर्वाहकृते मम श्वशुरो राजगृहाद् निर्गतः । तत्र च मम द्वे सपत्न्यौ स्तः, एका राजपुत्री, द्वितीया च महेभ्यपुत्री । निर्गमनं कुर्वता श्वशुरेण ताभ्यामाज्ञा दत्ता–'भो वध्वौ ! युवां स्वस्वपितृगृहे गच्छतम्, अधुना वयं तु देशान्तरे यामः' । इति श्रुत्वा ते तु स्वस्वपितृगृहे गते । विना भर्तारं दुःस्थितगृहे को वसति ? । ततो ममापि आज्ञा दत्ता–'त्वमपि पितृगृहे गच्छ' । मयोक्तम्–'अहं तु पितृगृहे न यास्यामि, प्रतिक्षणं श्वशुरकुलनिन्दां श्रोतुं न शक्नोमि, अतः सुखे वा दुःखे वा यादृशी भवतां गतिस्तादृशी ममापि' । इति श्रुत्वा सादरं मामादाय सकुटुम्बो मम श्वशुरो निर्गतो बहूनि ग्राम–पुर–नगराणि भ्रामं भ्रामं इहागतः । तत्र भर्ता सरःखननप्रवृत्तिं कारयतीति वार्तां श्रुत्वाऽऽगत्य स्वोदरपूरणकृते सरः खन्यते । हे सखि ! दुःस्थितस्य जठरभरणाय किं किं न कर्तव्यं भवति ? । यतः–'प्रमत्ताः किं न जल्पन्ति किं न कुर्वन्ति निर्धनाः ?' ।

१ समृद्धिम् ।

सप्तानां भयानां मध्ये आजीविकाभयम् अतिदुस्तरम् । यतः—

"जीवतां प्राणिनां मध्ये राहुरेको हि जीवति । यत्तस्य उदरं नास्ति धिक्कारशतभाजनम्" ॥१॥

पुनः—"किं[1] किं न कयं को को न पत्थिओ कह कह न नामियं सीसं ? ।
दुब्भरउयरस्स कए किं किं न कयं किं न कायव्वं" ? ॥१॥

अत्र दुःखे कस्यापि न दोषोऽस्ति, दोषस्तु पुरा प्रमादवशगेन जीवेन कृतकर्मणामेवोदयः, स तु जगत्त्रये न केनापि वारयितुं शक्यते । प्राणिनां मध्ये येऽतिबलवन्तो निपुणाश्च तैर्नव्यं न कृतम्, पूर्वकृतं च भुक्त्वैव निर्जरानीतम् । अतो यथा कर्म नटयति[2] तथा नृत्यते" । इत्येवं परस्परं वार्तालापं कुरुतस्तावद् मनाग्गोपितस्वाकृतिर्धन्य आजगाम । तदा उभे अपि लज्जां मर्यादां च कृत्वा यथायोग्यं स्थिते । अथ धन्यो गोभद्रतनयां सुभद्रां प्रति सव्याजम् एवं व्याजहार—'हे भामिनि ! प्राणाधीशं विना प्राणान् कथं धरसि ? यस्मात् पयःशोषे कृष्णोर्व्यो[3] अपि सहस्रधा विदीर्यंत' । सा प्राह—'राजन् ! आशाबन्धो मम जीवितं निपाततो[4] रक्षति, यथा शुष्कमपि पुष्पवृन्दं स्थिरो वृन्तपाशो रक्षति । यदा च शुष्केष्वपि शतपत्रेषु[5] भ्रमरः 'पुनर्वसन्तमासे इमे पल्लविता भविष्यन्ति' इत्याशया तिष्ठन् कालं निर्वहति, तथाऽहमपि" । धन्योऽभ्यधात्—'हे मुग्धे ! मुधा यौवनं किं नाशयसि ? । यौवनं हि मनुजभवसारं, तत्तु त्वं वृथा गमयसि । यतः—'क्षुधः करस्थताम्बूलमभुक्त्वा न हि शोषयेत्' । यद् दूरदेशान्तरगतस्य आगमनाऽऽशामपि

१ किं किं न कृतं कः को न प्रार्थितः कुत्र कुत्र न नामितं शीर्षम् ? । दुर्भरोदरस्य कृते किं किं न कृतं किं न कर्तव्यम् ? ॥१॥ २ नर्तयति । ३ कृष्णा भूमिः । ४ मरणात् । ५ कमलेषु ।

रक्षसि तदपि वृथा। यदि त्वं तस्य प्रियाऽभविष्यत्, तदा त्वां प्रति किमपि संकेतादिकं कृत्वाऽगमिष्यत्, परं स तु निर्मोकं[1] मुक्त्वा भुजङ्गवद् गृहाद् उद्विग्नो भूतो गतो भविष्यति, तस्य पुनरागमनाऽऽशा वृथा। अतो विकल्पजालं मुक्त्वा मां प्रपद्यस्व। इह जगति दुर्लभा भोगा भुज्यन्तां, गतं वयो न पुनरभ्येति, अतो मां पतित्वेन प्रतिपद्य इमां दुर्दशां प्रवासिनीं कुरुष्व"। एवं वज्रपातसोदरवचांसि श्रुत्वा भयभीता सुभद्रा पाणिभ्यां कर्णौ पिधाय इत्यभाषत–"भो दुर्बुद्धे! कीं तव कुलजानां स्त्रीणां रीतिः कदापि श्रवणपथेऽपि नागता, यत एवं प्रलपसि?। यदुक्तम्—

"गतियुगलकमेवोन्मत्तपुष्पोत्कराणां, हरशिरसि निवासः क्ष्मातले वा निपातः।
विमलकुलभवानामङ्गनानां शरीरं, पतिकरकरजो[3] वा सेवते सप्तजिह्वः[4]" ॥१॥

सुकुलप्रसूतानामङ्गनानां शरीरस्य धत्तूरपुष्पवद् द्वे एव गती। यथा धत्तूरपुष्पं शिवमस्तके चटति वा भूमौ पतति, नान्यमुपयोगमर्हति, तथा पतिव्रतास्त्रीणां शरीरं पतिकरस्पर्शोपभोग्यं वा हुतभुजो ज्वालोपभोग्यं भवति, नान्यस्य। तस्माद् भो ग्रहग्रस्त! त्वं नाम्ना धन्य इति कथ्यसे परं गुणैस्तु अधन्य एव दृश्यसे!, यतस्त्वं बहूनां नायको भूत्वा ईदृशानि विरुद्धवाक्यानि प्रलपसि। यथा नाम्ना मङ्गलोऽपि उर्व्यां वक्रगतौ अमङ्गलकारी एव स्यात्, ततो नाम्ना रञ्जनं व्यर्थं, गुणै रञ्जनं तु सार्थकम्। भोः ठक्कुर! नूनं भवान् परस्त्रीसङ्गमाभिलापेण एतद्भवाद् यशसश्च भ्रंशिष्यति, यतः फणिमणिग्रहणाभिलाषुकः कः सुखितो भवेत्?। मच्छीललोपे तु इन्द्रोऽपि न ईष्टे[5]" तत्र भवाँस्तु कियन्मात्रः?, और्वं[6] क्षपयितुं समुद्रो नेष्टे तर्हि प्रोन्मत्तो नदः किं करोति?। तस्मात्

१ कन्चुकम्। २ सम्बोधनम्। ३ भर्तृहस्तनखः। ४ अग्निः। ५ समर्थो भवति। ६ वडवानलम्।

कुविकल्पं मुक्त्वा सुशीलतामनुसर"। इत्येवं क्षपितकलिमलसाधोश्चेतनाया इव तस्या अतिविशुद्धतां दृष्ट्वा परमात्मेव स धन्योऽनिर्वाच्यम् अमन्दमानन्दमविन्दत। ततः सातिशयहर्षः स धन्यः सुधामुधाकरीं वाचं सुभद्रां प्रति अभ्यधात्–'हे भद्रे! परस्त्रीलोलुपोऽहं नाऽस्मि, ततस्त्वया न भेतव्यम्। इदम् आलपाललपनं तु वचनमात्रेण तव सत्त्वपरीक्षणाय। अत्र यन्मया विरुद्धमुक्तं तत्पुनस्त्वया क्षन्तव्यम्। त्वं धन्याऽसि, यत ईदृशी दुःस्थाऽपि स्वव्रतम् अखण्डं परिरक्षसि। परन्तु एकं प्रश्नं पृच्छामि–त्वं स्वभर्तारं कथं वेत्सि? दृक्पथागमनमात्राद्, कुतश्चित् सङ्केताद् वा, रहःकृतवार्ताकथनाद् वा अङ्गप्रत्यङ्गगतमश–तिलका–ऽऽवर्तादिलाञ्छनविलोकनाद् वा?'। इत्येवं धन्यवचः श्रुत्वा सा प्राह–यो हि मम स्वनिकेतनगतान् परैरज्ञातान् पुराऽनुभूतान् स्फुटान् सङ्केतान् वक्ति स मम भर्ता, नात्र सन्देहः'। तदा धन्यो वक्ति–"एकं तावद् ममोक्तं शृणु–दक्षिणायां दिशि प्रतिष्ठाननगराद् धनसारव्यवहारिसुतो नाम्ना धन्यो स्वबन्धुत्रयकृतक्लेशाद् उद्विग्नचित्तो देशान्तरं प्रति गतः। लक्ष्म्युपार्जन-मोचनक्रमेण राजगृहनगरं प्राप्य तत्र स्वपुण्यप्राबल्योदयेन कन्यात्रयमुपायंस्त, वाणिज्यकलाकौशल्यबलेन च अनेककोटिस्वर्णमुपार्जयत्। एवं कियत्यपि गते काले सनालीकान् गतश्रीकान् सङ्क्तान् बान्धवान् वीक्षणमात्रेण भास्वानिव निर्विकारः स सलक्ष्मीकान् चकार। पुनस्तत्रापि कुटुम्बकलहं दृष्ट्वा भग्नचित्तोऽम्बुदं दृष्ट्वा कलहंसो मानससरसि इव अत्र पद्माकरे पुरे आगात्। एतद् मया गदितं सत्यं नवा?'। तदा सा विदुषी आमूलतः सर्वाभिज्ञानाभिधानात् स्वप्रियं विज्ञाय लज्जया मौनं कृत्वाऽधोमुखी जाता, यतः पतिव्रतास्त्रीणाम् इयमेव स्थितिर्भवति। सौभाग्यमञ्जर्यपि स्वभर्तुर्जन्मतो व्यतिकरं श्रुत्वा, सुभद्रायाश्च सपत्नीसम्बन्धं ज्ञात्वा चित्ते चमत्कारं दधाति। परिभावयति च–

१ परमयोगी–केवली। २ अलभत। ३ सशल्यान्। ४ नगरपक्षे–पद्मागा–लक्ष्म्या आकरे, मानससरःपक्षे–पद्मानां कमलानाम् आकरे।

'अद्य मे सन्देहो भग्नः। यतः परनारीसोदरो मम भर्ता कथं सादरं दधि-दुग्धादिकं दापयति ?, सख्यकरणे च आज्ञा दत्ता ?, एतत्सर्वम् अद्याऽवितथं परिज्ञातम्। महतां स्वकलत्रोपरि ईदृशं वाल्लभ्यं भवत्येव, नाऽयुक्तमस्ति'। ततो दम्पतीभ्यां सखीभिः सुभद्राया जीर्णानि वस्त्राणि कूटाभरणानि च त्याजयित्वा, स्नानमज्जनादिकं कारयित्वा, विविधदेशनगरागतस्फारांशुकानि परिधाप्य, विविधैर्मणि-सुवर्णजटिताभरणैश्च अलङ्कार्य भद्रासने स्थापिता सती सम्पूर्णचन्द्रेण युक्ता यामिनीव गृहस्वामिनी शुशुभे।

अथ महति वेलातिक्रमे सपत्नीको धनसारश्चिन्तयितुं लग्नः—"पूर्वं सुभद्रा निमेषार्धमात्रमपि बहिर्नाऽतिष्ठत्, अद्य तु किमपि कारणं येन अधुनापि नागता। उत्तमकुलप्रसूता नार्यः पत्युर्गृहं मुक्त्वाऽन्यत्र क्षणमपि न तिष्ठन्ति। तथा च, पृथिव्यां जङ्गमकल्पद्रुकल्पः श्रीधन्यराजः प्राणान्तेऽपि धर्मनीतिं नोल्लङ्घयेत्, सुवर्णे श्यामता कदापि न भवेत्। यद्वा प्रभूणां मनोवृत्तिर्विषमा, अथवा दुस्तरा हि मनोभवाज्ञा[1], निपुणोऽपि ग्रथिलायते, सज्जनोऽपि दुर्जनायते। यतः—'निर्दयः कामचण्डालः पण्डितानपि पीडयेत्'। यद्यपि धन्यमतिर्दुष्टा भवति तथापि सुभद्रा व्रतं न मुञ्चति। परं किं जानीमः ?, बलात्कारेण रुद्धा भविष्यति, वा उभयोश्चित्तप्रवृत्तिर्विनष्टा, परन्तु अत्र किमपि वातान्दोलितकेतुप्रान्तवद् विपरीतं जातम्"। इति शङ्काशङ्कुसङ्कुलस्वान्तः श्रेष्ठी वृद्धपुत्रवधूं प्रति जगौ—'वत्से! त्वं तत्र तस्य गृहे गत्वा विलोकस्व, सा केन विघ्नेन विघ्निता स्थिता ?'। तदा धनदत्तस्य वधूस्तक्रदोहनीं[2] हस्ते लात्वा धन्यगृहाङ्गणे गत्वा तत्रत्यान् मनुष्यान् अपृच्छद् यद्—'अस्मद्देवरपत्नी तक्रार्थमागच्छति सा आगताऽस्ति नवा ?'। इति प्रश्नगुह्यम् अजानन्तस्तेऽप्यूचुः—'अहो! तस्यास्तु महान् भाग्योदयो जातः। मध्ये गत्वा विलोकय, सा तु गृहस्वामिनीव जाता तिष्ठति'। इति

१ कामशासनम्। २ यत्र तक्रादि क्षिप्यते तत्पात्रम्—भाषायां 'दोणी'।

श्रुत्वा चिन्ता–ऽऽर्ति–भय–विस्मयसङ्करस्वान्ता पूर्वगमनाभ्यासवशाद् आवासान्तर्गता, तावता दूरतस्तस्या अपूर्वां तथावस्थां वीक्ष्य शीघ्रं ततो ववले। स्वस्थानमागत्य सर्वेषामप्यग्रे यथादृष्टं कथयामास। ते सर्वेऽपि धनसारम् उपालम्भयामासुः–"हे वृद्ध! इदं तवैव दूषणम्!। यतो दधि–दुग्धादीनां लोभेन प्रतिदिनं तस्या एव प्रेषणम्, 'अन्यास्तु स्वच्छजलवत् तक्रं लान्तीति ता निर्भाग्या मूर्खाः। इयं मम पुत्रवधूः पुण्यवती दक्षा भाग्यशालिनी कीदृशं भव्यं भव्यतरं लाति!'। परं न विचारितं यत् कर्मकरवध्वै अत्याद्-रेण दधि–दुग्ध–सुखभक्षिकादिकं केन कारणेन ददाति ?। नास्ति कोऽपि पूर्वपरिचयः, न कोऽपि वा सम्बन्धः, न किमपि च अस-दर्शनं कार्यकरणमस्ति। चेद् यदि वृद्धस्यानुकम्पया ददाति तदाऽऽन्यासां वधूनामपि दद्यात्, तत्तु नैव, अस्या एव भव्यं ददाति; अतो निपुणेन सूक्ष्मेक्षिकया विचारयितव्यम् 'अत्र किमपि कारणमस्ति' इति अग्रत एव मनसि आलोच्य यथायोग्यमकरिष्यत् तदा एतद्विषमं नाऽभविष्यत्। एतावत्तु सर्वजनविदितम्–रूप–यौवनवतीनां स्त्रीणां राजकुले गमनागमनम् अयुक्तम्। 'अतिपरिचयादवज्ञा' इति लोकोक्तिरपि न संप्रधारिता। अतो वृद्धस्यैव मूर्खता"। पुत्रादीनाम् इत्यादीनुपालम्भान् श्रुत्वा जातवज्राभिघातवत् स भूमौ पपात। कियत्यां वेलायां जातचैतन्यः सनिःश्वासं शिरो धून्वन् इति प्राह–"हा दैव! शीलध्वंसनयाऽनया कथं निष्कलङ्को वंशः कलङ्कितः ?। एकं तावद् विदेशपरिभ्रमणं, द्वितीयं निर्धनता, येन न कोऽपि वचनं शृणोति, तृतीयं क्षते क्षारतुल्यं जननिन्दनम्, इति अस्त्रियं कः सहेत ?। दारिद्र्यादिदुःखं न तथा पीडां करोति यादृशम् अनया दुष्टचारिण्या कृतं पीडयति। मया त्वम् ईदृशी स्वप्नेऽपि न ज्ञाताऽभूत्। हा! त्वया किं कृतम् ?। मम वृद्धवयसि धवलितशिरसि धूली क्षिप्ता"। इति वृद्धे विलपति वृद्धा वधूरीर्ष्यया गदितुं लग्ना–"इयं भवदीया निपुणा भाग्यवती विनयवती वधूर्यस्याः प्रतिदिनं शतशो व्याख्यानं कुर्वतोऽन्यासां च निन्दया तव

जिह्वा शुष्काऽभूत्, तया स्वनिपुणत्वं भाग्यवत्त्वं च प्रकटितम्!, स्वात्मा सुखे विलासे च स्थापितः!। किमत्र शोचसि?, वयं तु मूर्खा भाग्यहीना निर्गुणाः, अस्माकं किमपि एतादृशं कर्तुं नाऽऽयाति अतो दुःखेन उदरपूर्तिं कुर्वाणा गृहे स्थिताः स्मः, सा तु गुणाधिक्याद् राजपत्नी भूत्वा स्थिता!"। इति क्षते क्षारतुल्यानि वधूवचनानि श्रुत्वा ज्वलितान्तःकरणः किंकर्तव्यतामूढो भूत्वा विचारयति–"अधुना क्व गच्छामि?, कं पृच्छामि? किं करोमि?, कं भजामि?, कं यजामि?, गतलक्ष्मीकः कं स्वपक्षगं करोमि?।' एवं दिग्मूढो भूत्वा शून्यचित्तस्तिष्ठति तावता हृदि विचार उत्पन्नो यदत्र मदीयपक्षकारी सम्बन्धी न कोऽप्यस्ति तथापि स्वजातीया व्यवहारिणो बहवः सन्ति, तेषां पुरः कथयामि, तेऽपि स्वजातिसम्बन्धाभिमानाद् मत्पक्षं करिष्यन्ति, यस्मात् तिर्यञ्चोऽपि स्वजातिपक्षपातं कुर्वते। एवमालोच्य दैवदग्धोऽसौ धनसारः कौशाम्ब्यां महाजनसङ्कुले चतुष्पथे गत्वा तत्रस्थव्यवहारिणां पुरतो नितान्तं दीनतां दधत् तान् दुःखवृत्तान्तं जगौ। अथ धनसारोक्तं श्रुत्वा महद्भिर्वणिग्भिर्भणितम्–इयं वार्ता तु असम्भावनीया, यतोऽयं धन्यः पुरा न कदापि अन्यायमातनोत्। अन्यच्च, बालगोपालं यावद् धन्यो परनारीसहोदरबिरुदवाहकः प्रसिद्धोऽस्ति, तस्य ईदृशं करणं कथं संभवति?'। पुनरन्यैः सभ्यजनैः स्वप्रतीतिकरणाय धनसारः पृष्टः, स च तथैव अन्यथावृत्तं निगदितवान्। तदा ते सभ्याः परस्परं प्रवृत्तिं कर्तुं लग्नाः–'नाऽयं वृद्धोऽलीकं वक्ति, यतोऽयम् अन्तरङ्गदुःखज्वालाभितप्तो वदति अतः सत्यमेव जल्पन् उपलक्ष्यते, अयं त्रिधा दुःखैः संतप्तो वदति। यद्वा ईदृशं राजकीयमसत्यं चतुष्पथे वक्तुं कः प्रभवति?, विनाऽन्तरङ्गदाहं न ब्रूते, अतो वृद्धः सत्योऽस्ति'। तदा ते सर्वेऽपि व्यवहारिणः किंकर्तव्यतामूढाः सन्तो धनसारं प्रत्यूचुः–"भो वृद्ध! वयमत्र किं कुर्महे?। यस्य कस्यापि वार्तां कथयामः स राज्याधिकारिणामग्रे कथयति, न च मन्यते, प्रत्युत उपालम्भं दत्ते–'किं भवतां मतिर्विनष्टा यद् एवं ब्रूध्वम्?'। अथो विषमम् आपतितं

दुःखं श्रोतुमपि न शक्नुमहे, तस्माद् यद् भावि तद् भवतु, न्यायवेधसे धन्याय कथयिष्यामः, इयं कुनीतिर्भद्रकरा न, अद्य तु अनेन वराकस्य स्त्री रक्षिता, कल्येऽन्यस्यापि रक्षिष्यति । यः कोऽपि दुष्टो राजा भवति स प्रजानां धनादिवस्तु गृह्णाति, न तु प्रणयिनीम् । एवं महाऽनीतिं कुर्वतो ग्रामे कः स्थास्यति ?" । इति मन्त्रयित्वा सर्वेऽपि एकत्र मिलित्वा धन्यवेश्मनि गत्वा धन्याय प्रणामादिकं कृत्वा यथास्थानं स्थिताः । ते सर्वेऽपि भयवेपिताश्चिरं विमृश्य गिरं प्राहुः—"स्वामिन् ! यथा सूर्योत्सङ्गे तमःप्रसरो न भूतो न भविष्यति, महार्णवे उड्डीयमानं रजो न दृष्टं न च द्रक्ष्यते, सितरश्मिर्न कदापि तापप्रदो जातो न जनिष्यति च, तथा त्वयि अनीतिर्न भूता न भविष्यति चेति त्रिधा प्रत्ययोऽस्त्यस्माकम् आबालगोपालं च । कदाचिद् रविः पश्चिमायाम् उदयं समायायाद्, ध्रुवोऽपि कल्पान्तपवनप्रेरितः कदापि अध्रुवतां दध्याद्, मेरुरचलोऽपि कदापि मरुद्वत् चलो भवेत्, कदापि सिन्धुर्मरुवद् निर्जलो भवेत्, नित्यं चलोऽपि वायुः स्थिरत्वमाप्नुयात्, कदापि पृथिव्याम् अग्निरपि हिमवच्छीतलो भवेत्, परं न पुनः कथमपि एष भवान् लोभविक्षोभवान् भवेदिति प्रत्ययोऽस्त्यस्माकम् । तथापि अयं धनसारः पूत्कारं कुर्वन् आगतो यद् 'अद्य अस्मदीयपुत्रवधू राज्ञा रुद्धाऽस्ति' । इति अस्य गिरं श्रुत्वा न केनापि मानितं, परन्तु अस्य दुःखार्तस्य दुःखं दृष्ट्वा सर्वैरपि परिभावितं यद् अस्माकं स्वामी कल्पान्तेऽपि ईदृशं न करोति, परन्तु केनापि भवदीयसेवकेन ज्ञात्वाऽज्ञात्वाऽस्य धनसारस्य स्नुषा रुद्धा भविष्यति । अतः स्वामिन् ! धनसारोपरोधेन विज्ञप्यसेऽस्याः शुद्धिं कारयतु । न ज्ञायते केनाऽपराधेन रुद्धाऽस्ति ? । अस्य वराकस्य स्नुषा यदि अपराधवती भवेत् तथापि क्षान्त्वाऽस्य महाजनस्य शोभां दत्त्वा मोचयतु भवान् । किं बहु विज्ञापयामः ? । स्वामिन् ! स्वयमेव

१ चन्द्रः । २ वायुवत् । ३ समुद्रः । ४ वायुवत् ॥

युक्तायुक्तविचारकुशलोऽसि। भवदग्रेऽसद्बुद्धिः कियत्परिमिता ?। अतः शतवार्तायाम् एकवार्ता—महाप्रसादं कृत्वाऽस्य वधूं दापयतु"। इत्येवं महाजनवृन्दस्य वचः श्रुत्वा ईषत् स्मितं कृत्वा अनाकर्णितमिव अन्यत्र दृष्टिं दत्त्वाऽन्येन सह अन्योक्त्या तिरस्कारसूचिकां रोषगर्भां वार्तां कर्तुं प्रचक्रमे—"भो अमुक! अधुनाऽस्मिन्नगरे जना वाचाटा बहवो जाताः सन्ति। सत्यासत्यविभागम् अजानन्तोऽपि वावदूकाः परगृहतप्तिं कुर्वाणा यथा तथा वाक्यानि प्रलपन्ति, यतो दुर्जनानामयमेव स्वभावः। यदुक्तम्—

आत्मनो बिल्वमात्राणि स्वच्छिद्राणि न पश्यति। राजिका[1]कणमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति" ॥१॥

परन्तु तान् सर्वान् अहं वेद्मि। साम्प्रतं तेषां शिक्षां कर्तुमुद्यतोऽसि, किं बहुना ?, वरं—भव्यं भविष्यति!। परम् एतेषां दूषणं नास्ति, दूषणं ममैवास्ति, यतो मया नगरजनानां कर्णवारा मुक्ताः सन्ति, तेन ते उन्मत्ता जाताः सन्ति। अतो कियत्यपि दिनमध्ये सरलतां भजमानान् करिष्यामि"। इत्यादितिरस्कारगर्भां वक्रोक्तिं शृण्वाना इङ्गिताकारैः 'अरुचितम्' इति ज्ञात्वा सभयं चाटूनि वचनान्युक्त्वा ते सर्वे शनैः शनैः समुत्थाय राजद्वाराद् निर्गताः। धनसारोऽपि बहिरागत्य महाजनानामग्रे वक्तुं प्रवृत्तः—'यूयं सर्वेऽपि समुत्थाय स्वस्वगृहे गन्तुं प्रवृत्ताः, परं मत्कार्यस्य का गतिः ?'। तदा ते सर्वे धनसारं प्रति सरोषम् उत्तरं दातुं प्रवृत्ताः—"भो जठर! पुरा त्वया स्वयमेव कार्यं विनाशितम्, अधुनाऽस्मदग्रे किं पूत्कारं करोषि ?। मूर्खोऽपि कोऽपि यादृशं कार्यं न करोति तादृशं त्वया कृतम्, यतः प्रत्यहं सुरूपा प्राप्तयौवना स्नुषा तक्रमात्रार्थं राजद्वारे प्रेषिता। महत्कार्यं विना व्यापारिणः पुरुषस्यापि राजद्वारगमनं न युक्तम्, स्त्रीणां तु सर्वथैव गमनमयुक्तम्, तत्तु त्वया न ज्ञातम्। भो जरद्गव! त्वया इयदपि न

१ राजिका कृष्णसर्षपः ॥

ज्ञातं यद् अन्या वधूर्गच्छति तदा जलबहुलं तक्रं लाति, यदेयं याति तदा तु मथितं दुग्ध-मिष्टान्नादिकं च लाति तत्र किमपि कारणमस्ति; यद् अनया सह न कश्चित् सम्बन्धः, न कश्चित् पूर्वपरिचयो वाऽस्ति, केन हेतुना भव्यतरं ददाति ?। परिपक्वसुजातफलं रक्षकं विना अखण्डितं तिष्ठति किमु ?। धर्मशास्त्रेऽप्युक्तम्–'मूषकाणां मार्जारदृष्टिवर्जनमिव कुलवतीनां युवपुरुषदृष्टौ गमनागमनं प्रायेण विघ्नकरं भवति, अतो दृष्टिवर्जनं कार्यम्। यथा सुरूपाणामर्भकाणां शाकिन्यग्रे खेलनमिव रूपवतीनां युवपुरुषस्याग्रे स्फुरणं दुःखाय भवति'। तत्तु त्वया किमपि न विचारितम्। परम् अधुना किमस्माकमग्रे पूत्करोषि ?। 'षष्ट्यब्दे जाते बुद्धिर्विनष्टा' इति लोकोक्तिस्त्वया सत्यीकृता। त्वदर्थं किं वयमपि सङ्कटे पतिष्यामः ?। यद् अस्माकं कर्तव्यं भवति तत्तु कृतम्, राज्ञा नाऽवधारितं, तत्र वयं किं कुर्मः ?। त्वदीयकर्मणो दोषः। अतः परं वयं न विद्मः, यथारुचि कुरु"। इत्युक्त्वा ते सर्वेऽप्युत्थाय स्वस्वगृहे जग्मुः, यतः परार्थे कः क्लेशं करोति ?। धनसारोऽपि निराशो भूत्वा पश्चाद्वलितश्चिन्तयति–'अधुना यद् भाव्यं तद् भवतु, एकवारं धन्याग्रे स्वयं गत्वा पूत्करोमि, हृद्गतं बाष्पं निष्काशयामि। किं करिष्यति मां क्रुद्धोऽयम् ?, हनिष्यति तु हन्तु, हतप्रायस्तु जातोऽस्मि, किं जीवितव्येन ?'। इति संप्रधार्य स्वयं गत्वा गवाक्षस्थं धन्यम् उच्चैरभाषत–'भो महाभाग ! एनां वधूं विमुञ्च, केनापराधेन अस्मत्पुत्रवधू रक्षितास्ति ?। समर्थो भूत्वा किमस्मान् वराकान् पीडयसि ?'। इति भयम् अवधूय निःशङ्कं यावता वधूं याचते तावता धन्यो भ्रूसंज्ञया भटानाह–'किमप्ययं याचते, अथ चैनं गृहमध्ये नीत्वाऽर्प्यताम्'। तदा भटैरुक्तम्–'भो वृद्ध ! चलतु आवासान्तरे, दद्मस्तव वधूम्'। इति कृत्वा धनसारमावासान्तरं निन्युः। अथ धन्योऽपि गृहान्तरमागत्य सहसा पितरमानमत्। नत्वा च सादरां कराञ्जलिं कृत्वा इति जगाद–'तातपादैर्मम बालचापल्यविजृम्भितं क्षन्तव्यम्'। इति सुधानुकारां धन्यगिरं श्रुत्वाऽथ धनसारः पुत्र-

दर्शनाद् अतर्कितप्राप्तमनोरथ आनन्दाद्भुताक्रान्तो जातः। युक्तोऽयमर्थः–अर्णवश्चन्द्रालोकनत उत्कल्लोलः कथं न स्यात्? स्यादेव। ततः सबहुमानभक्तिपूर्वकं समस्तार्तिरहितस्तातमावासान्तः स्थापयित्वा गूढाभिप्रायं धारयन् धन्यः पुनर्वातायने गत्वा स्थितः पश्यति, तावता दुःखोपतापितस्वान्ता धन्यमाता भर्तृविशुद्धये धन्यगृहं प्राप्ता। धन्यं गवाक्षस्थितं दृष्ट्वा सविषादं हृद्गतं जगाद–'भोः क्रूरकर्मन्! मम निस्तुषाचारां[1] स्नुषां यदि त्वं नैव मुञ्चसि तदा तया समम् रेणुवद् दूरे गर्तायां पत, यदि वा रोषितो वा त्वं किं करोषि?, परं एकं मम पुनर्जरया जर्जरं भर्तारं समर्पय। तस्याः पृष्ठे धूलिर्दत्त्वा दीर्घपथं यातु। यया कुललज्जा मुक्ता तया सह न मे कार्यमस्ति, युवाभ्यां कृतं पापं युवामेव नटयिष्यति'। एवं मात्रा सविषादं धन्यं प्रति उक्तम्, तदा धन्यः पूर्ववत् स्वगृहे सेवकैर्नीत्वा, पृष्ठतः स्वयं च तत्र गत्वा मातृचरणयुगं ननाम, स्वं च ज्ञापितवान्। साऽपि स्वसुतं धन्यं ज्ञात्वा प्रहर्षितस्वान्ता जाता। धन्येन बहुमानपूर्वकम् अङ्गत्वादिशुश्रूषां कृत्वा गृहे स्थापिता। पुनर्धन्यो गवाक्षे गत्वा स्थितः। अथ त्रयोऽपि वृद्धभ्रातरः पित्रोर्विशुद्धये आययुः। आयुष्मता धन्येन तान् इतस्ततो भ्राम्यतो दृष्ट्वा, सेवकैरावासान्तरं नीत्वा, स्वयं तत्र गत्वा जवाद् नताः। ततो वस्त्राभरणताम्बूलादिभिः सत्कृत्य, देहान्तः सद्गुणा इव स्वगेहान्तः अनेन स्थापिताः, प्रमोदं च प्रापिताः। तदनन्तरं महत्यां वेलायां गतायां तेषां त्रयाणां स्त्रियः श्वश्रू–श्वशुर–भर्तृविशुद्ध्यर्थम् आगता धन्येन दूरतो दृष्टाः। दृष्ट्वा च चिन्तितम्–'आभिर्निरवद्यां मम प्रियतमां प्रति अलीकानि दूषणान्युद्भाव्य सा बहुतरं निन्दिता, बहुभिर्दुर्वचनैर्हेलिता खिंसिता च; अतः किञ्चित् शिक्षां ददामि'। इति संप्रधार्य ततो भ्रूसंज्ञया संज्ञितैर्द्वाःस्थैः प्रविशन्त्यो वारिताः। नगैर्वारितं सरिद्वारि यथा परितः परिभ्राम्यति तथा ता अपि राजद्वाराद् बहिरितस्ततः परि-

१ पवित्राचाराम् ॥

भ्राम्यन्ति। एवं शेषदिनं यावद् भ्रमणं कृतं, परं मध्ये प्रवेष्टुं न प्राप्ताः। धन्योऽपि च दूरतो दर्शनमात्रेण द्वाःस्थान् संज्ञयित्वा गवाक्षाद् उत्थाय आवासान्तर्गतः। सन्ध्यायां निराशा भूत्वा दुरवस्थां प्राप्ताः शोकार्ता विखिन्नाः सत्यः स्वनिवासकुटीं गत्वा विलपितुं लग्नाः—'हे मातर् उर्वि! अस्माकं पातकृते विवरं ददस्व, यत्र वयं दुःखदवविवशाः प्रविशामः। न कोऽप्यस्माकमबलानामाधारो यस्याश्रयेण जीवामः'। इति विलापान् कुर्वाणा इलालुठनलालसा अनेककुविकल्पकल्पितान्तःकरणाः त्रियामामपि तदा शतयामामिव अतिदुःखेन अनैषुः। अथ कथमपि प्रभाते संजाते परस्परं मन्त्रयन्ति स्म-'वयं कुललज्जां श्लथयित्वा कौशाम्ब्यधीशसभायां पूत्कुर्मः, यतो दुर्बलानामनाथानां सर्वेषां पार्थिवो गतिः'। इति ध्यात्वा गतलज्जास्ताः शतानीकसभायां जग्मुः, यतो महापदि क्षान्तिः कस्य भवति?, न कस्याऽपीत्यर्थः। ततः सभायां पूत्कुर्वाणाः स्त्रियो दृष्ट्वा राज्ञा सभ्या भ्रूसंज्ञया पृष्टाः—'एताः केन दुःखेन पूत्कुर्वन्ति, एनाः पृष्ट्वा तासां दुःखस्य हार्दं निवेदयत'। ततः सभ्यजनैस्तिसृणां समीपमागत्य पृष्टम्—'भवतीनां किं दुःखं?, येन सभर्तृकाः स्त्रियो महादुःखं विना राजद्वारं नागच्छन्ति। विद्यमानेषु भर्तृषु भवतीनां किं महादुःखमापतितं येनाऽत्रागमनं जातम्?। अतः स्वीयं दुःखं विशदीकृत्य निवेदयत। दुःखव्यतिकरं राज्ञे निवेद्य भवतीनां दुःखं स्फोटयामः। अस्माकं स्वामी परदुःखभञ्जनरसिकोऽस्ति, यस्याग्रे कथयित्वा श्रावणमात्रेण शीघ्रं शीघ्रं दुःखं स्फोटयामः'। ततस्ता ऊचुः—"स्वामिनः! वयं वैदेशिकाः स्मः। पूर्वं तु अस्माकं गृहेऽतुलसुखमभूत्, परं दैवेन ईदृशं दौःस्थ्यं प्रापिताः, यतः कर्मणां गतिरकथनीया भवति। यतः—

"अघटितघटितानि घटयति सुघटितघटितानि जर्जरीकुरुते। विधिरेव तानि घटयति यानि पुमान्नैव चिन्तयति"॥

१ नाशिता—

इत्यादि। ततोऽस्मच्छ्वशुरोऽष्टमनुष्यैः सह स्वस्थानाद् निःसृतः। प्रतिग्रामं भ्रमता भवन्नगरख्यातिः श्रुता—'वत्सेशः प्रजा वत्सवत् पालयति। ये केचन निर्धनास्तेषां जीवनोपायबहुलो देशः। यत्र देशान्तरादागता अपि सुखेन आजीविकां कुर्वन्ति। पुनर्यत्र सुभिक्षा चाऽतीव वर्तते'। इति जनमुखेभ्योऽवगम्य अस्मच्छ्वशुरः सकुटुम्बोऽत्रागतः। यादृशं लोकवार्तायां श्रुतं ततोऽप्येककलयाऽधिकं नगरं दृष्टम्। ततोऽस्मच्छ्वशुरेण कश्चित् सज्जनजनं प्रति पृष्टम्—'भो महाभाग! अत्राऽस्माकं निःस्वानां कोऽपि जीवनोपायः समस्ति?'। तदा तेनोक्तम्—'अत्र उपनगरस्वामी धन्यनामा सरोवरं कारयति, तत्र गत्वा सरःखननक्रियां कुरुत, सुखेन आजीविका भविष्यति'। इति श्रुत्वा तत्र गत्वा सरःखननक्रियया स्वोदरवृत्तिं कुर्मः। एकस्मिन् दिने धन्यः स्वयं सरो द्रष्टुमागतः"। इत्यादिर्यावत् प्रतिदिनं तत्कार्थं गमनावधिर्वृत्तान्तः सविस्तरः कथितः। सभ्यजनैः स व्यतिकरो यथाश्रुतो राज्ञे निवेदितः। राजापि असम्भाव्यवार्तां श्रुत्वा सविस्मयो यावच्चित्ते परिभावयति तावता पुनस्ताः स्त्रियो वक्तुं प्रवृत्ताः—'हे देव परदुःखभञ्जक! भोः करुणानिधे! सेवकजनवात्सल्याऽमृतकुल्याप्रवाहतो वियोगाग्निदग्धम् अस्मन्मनोवनं निर्वापयितुमर्हसि। यतोऽनेन धन्येन अस्मद्देवरदारमोहतोऽधुना अस्मच्छ्वशुरप्रभृतयः पञ्चापि जीवाः किं पञ्चत्वं प्रापिताः?, किं वा दुष्टधियाऽमुना जीवन्त एव कारागारान्तः क्षिप्ताः?, तद् दीनोद्धरणकुशल! तान् संभालय। धन्येन रुद्धं नः कुटुम्बं कृपां कृत्वा मोचय, गजमुखात् त्याजयितुं सिंहाद् अन्यो वन्यः कः समर्थः?। यतः—

"निर्धनानामनाथानां पीडितानां नियोगिभिः। वैरिभिश्चाभिभूतानां सर्वेषां शरणं नृपः" ॥१॥

इति तासां पूत्करणं श्रुत्वा जातरोषा भूपादयोऽथ प्रेष्यपुरुषेण धन्यायैवम् आज्ञापयन् 'यद् भवादृशानाम् अन्यायकरणमनुचि-

तम् , अतो वैदेशिकान् सर्वान् शीघ्रं मुञ्चतु । सन् भूत्वा गर्वात् सन्मार्गं किमुज्झसि ? कण्ठगतप्राणा अपि सन्तोऽकृत्यं नैव कुर्वते' । अथ धन्योऽपि प्रेष्यवचनं श्रुत्वा तमिति प्राह—'भोः प्रेष्य ! अहं कथमपि सत्पथं न हन्मि, प्रत्यूषे उदितः श्रीसूर्यः किं लोकालोकं भनक्ति ? न भनक्त्येव । अथ कदाचिद् हेयोत्पथादौ संपातुकः स्यां तदाऽत्र को रोधयितुं प्रवणः ?, चक्रिणश्चक्रे चलिते सति कः पुमान् अग्रतो रोधनं कर्तुं समर्थः ? । यद्यत्र भूपस्तस्मिं कर्तुमीहते तदाऽमुमपि शासितुं समर्थोऽस्मि । यद्ययं भूपः 'शतानीक' इति-नाम्ना ख्यातस्तेन हेतुना गर्वितो भवति तदाऽहं लक्षानीकस्य जेताऽस्मि, तत्र शतानीकः कियन्मात्रः ?" । इति धन्यमुखेरितानि सगर्वाणि पैरुषवचनानि श्रुत्वा स पुरुषः सत्वरम् उपभूपं गत्वा नत्वा च व्यतिकरं निवेदयामास । भूपोऽपि तस्य सगर्ववचनानि श्रुत्वा क्रुद्धः, यत् प्रेमास्पदं तद् वैरास्पदं जातम् । अथ शतानीको युद्धोद्यतं निजकीयं सैन्यं धन्यमन्दिरे प्राहिणोत् । अथ धन्योऽपि तदागमनं ज्ञात्वा स्वकीयं हस्तिसैन्यम् अश्वसैन्यं पादातिकसैन्यं च मेलयित्वा शतानिकसैन्येन सह तुमुलं युद्धमातनोति स्म । तयोर्युद्धे लग्ने मुहूर्त्तमात्रेण गर्जद्गज—तुरङ्गमं शतानीकाऽनीकं सरित्पूरम् अचल इव धन्यः पराङ्मुखं चक्रे । ते सर्वे सैनिकाः काक-नाशं नष्टाः । तदा स्वसैन्यं दीनभावमापन्नं विलोक्य शतानीकः पुष्टबलो भूत्वा ससयं स्वयं धन्यं जेतुं प्रचेलिवान् । धन्योऽपि तं व्यतिकरं विज्ञाय स्ववेश्मरक्षां विधाय स्वसैन्यमादाय शतानीकस्य संमुखं प्रतस्थे । क्रमेण तयोर्मिलने संजाते समरः प्रारब्धः । अथ तयोर्युद्धे लग्ने किंकर्तव्यतामूढा अमात्यगणाः परस्परं मन्त्रयितुं लग्नाः—"अनयोः श्वशुर—जामात्रोर्युद्धे जाते कोऽपि महान्

१ सज्जनः २ त्यजसि । ३ प्रातः । ४ कठोरवाक्यानि । ५ भूपसमीपम् । ६ शतानीकस्य सैन्यम् । ७ बलवत्सैन्यः । ८ सगर्वम्—क्रियाविशेषणम् ।

अनर्थो भविष्यति तदा जगति अस्माकं महत्यप्रतिष्ठा भविष्यति, 'यद् एतयोर्द्वयोः सैन्ये कोऽपि सुबुद्धिदानकुशलः सन्धिमेलापको नाऽभूत्, येन ईदृशाद् अनर्थाद् न वारितौ' । अत उपराजं गत्वा किमपि हितोपदेशं निवेदयामः" । इति मन्त्रयित्वा ते सर्वेऽपि मन्त्रिण एकीभूय राज्ञोऽन्तिके गत्वा इति व्यजिज्ञपन्–'स्वामिन् ! चित्तं स्थिरं कृत्वा, अस्मदीयविज्ञप्तिमवधार्य, पश्चाद् यद् उचितं तत् क्रियताम्' । राज्ञाप्युक्तम्–'तर्हि कथ्यतां युष्माभिः परिभावितम्' । एवं भूपादेशं लब्ध्वा तेऽप्यूचुः-"देव ! रङ्कस्य हेतोः स्वप्रतिष्ठां सेवकयुद्धेन मा त्याक्षीः । नीतौ पापबहुलस्य पक्षो न कर्तव्यः, पापबहुलस्य पापोदयेन पक्षकर्ताऽपि त्रुडति । अपरं च, अयं धन्यस्तव जामाता मा तावत् पूज्यस्थानवर्तित्वाद् हन्यताम्, यथा गवा गलितं रत्नं किं तस्योदरं विदार्य निष्काशनीयं भवति ? । तस्मात् सार्थपतौ हते न कापि अर्थसिद्धिः, न कापि यशोवृद्धिश्च । किञ्च, अयं धन्यः स्वामिन् ! त्वया स्वयं वृद्धिं प्रापितो नच्छेदमर्हति, यद् दक्षैः स्वरोपितो विषवृक्षोऽपि स्वयं न च्छिद्येत । अतः कारणाद् हे नाथ ! ठिकरीकृते कामकुम्भस्फोटनमिव त्वया रणः कर्तुं न युक्तः । क एतादृशो भवति यः स्वकुटुम्बप्रहाराय लकुटं बिभर्ति ? । अन्यच्च, कदापि इयं धात्री कम्पपात्री भवेत्, तथा अमेयजलयुक्तोऽपि जलधिः शुष्कतामाप्नोति, सूर्यस्य पूर्वाऽपरोदयाऽस्तमनव्यतिक्रमो भवेत्, तथापि अयं धन्यः कुपथाध्वानं न गच्छतीत्येवं प्रतीतिर्बालगोपालं यावत्, तस्य विरुद्धाचरणं न सम्भवति। अन्यच्च, पूर्वमिदं वैदेशिकं कुटुम्बं धन्येन परिपालितम्, अधुना तु साधुनाऽपि अमुना क्रुद्धात्मना वृद्धादयो रुद्धास्तत्रापि किञ्चिद् हार्दमस्ति, न तद् ज्ञायते । यतः स्नुषा रुद्धा, वृद्धो रुद्धः, वृद्धा रुद्धा, तस्य त्रयोऽपि तनया रुद्धाः, परं एतास्तिस्रोऽपि पुत्रवध्वः कस्माद् न रुद्धाः ? तत्र कोऽपि हेतुर्भविष्यति । अतः कारणाद्

१ "विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्" । इत्युक्तिः ।

यदि देव आज्ञापयति तदा गूढोऽप्येष बुद्धिविशेषतः प्रादुष्करिष्यते, यतः सदा तव सेवाकारिणां शास्त्रचक्षुषाम् अस्माकं मन्त्रिणां किम् अदृश्यम् ? बुद्ध्या दुष्करमपि ज्ञायते। अतो यदीयं वार्ता भवच्चित्तेऽवतरति तदाऽस्य गुह्यं प्रादुष्कुर्मः'' । इत्येवं मन्त्रिणामुक्तं श्रुत्वा राजाह–'भो मन्त्रिणः ! यदि ईदृशं भवतां बुद्धिप्रागल्भ्यं चेत् तदा प्रादुष्क्रियतां शीघ्रम्' । ततो राजादेशं लब्ध्वा मन्त्रिणः सद्यस्तिस्रोऽपि योषित आहूय प्राहुः–'यूयं कुत्रत्याः ? किंकुलाः ? किंधनाः ? किंग्रामाः ? किम् आपत्पतनकारणं येन अत्रागताः ? एतत्सर्वं यथाभूतं सूनृतं ब्रूत'। एतद् मन्त्रिभिरुक्तं श्रुत्वा अक्ष्णोरश्रुजलानि मुक्त्वा सर्वं मूलतो निजकुलादिवृत्तान्तं तटाकखननावधिं यावद् ऊचुः। अथ प्रतिमाश्रवणा मन्त्रिगणास्तदुक्तं श्रुत्वा विज्ञातवस्तुतत्त्वाः किञ्चिद् विस्मितस्मितपूर्वकं परस्परं मुखान्यवलोकयन्तोऽमन्त्रयन्, उक्तवन्तश्च–'भ्रातरः ! ज्ञातोऽयं को योऽत्यन्तभाग्यवान् स्वदेवरो धन्य आभिरभ्यधायि ?, स एवासौ धन्य एव, प्रोक्तसंवाददर्शनाद् लब्धमत्र हार्दम्। धीमता तेन तक्रदानादिकां मायां निर्माय पूर्वं स्वजाया गृहे स्थापिता, पश्चात् पित्रादयोऽपि च स्वगृहे स्थापिताः। एताश्च न गृहीतास्तत्र कारणं स्वजायायै दुर्वाक्याऽभ्याख्यानदानादिका कापि प्रतिकूलता दृश्यते, तेन शिक्षादानाय एतासां ग्रहणं न कृतम्' । इत्येवं धीसखा विचार्य योषितः प्रति अभाषन्त–'भो योषितः! युष्मदुक्तभाग्यनिधेर्धन्याभिधभवद्देवरस्य उपलक्षणाय किमपि चिह्नमस्ति येनोपलक्ष्येत ?'। इति मन्त्रिवचः श्रुत्वा त्यक्तरोपात्तोपाश्रितस्वान्ता योषा ऊचिरे–'अस्ति अस्मद्देवरोपलक्षणाय मङ्क्ष्[1]चिह्नमेकं, यत् तस्योभयोः पादयोः स्फुरत्तेजोभासुरं पद्मं सुलक्षणं विद्यते, तेनैवाऽमुम् उपलक्षामहे' । ततस्ते मन्त्रिणस्तत्पादपद्मलक्ष्म[2]दिदृक्षया ताभिः सह धन्यान्तम् ऐयरुः[3], धन्यं नत्वा स्थिताः। तदा धन्येनोक्तम्–'किमागमनप्रयोजनं भवताम् ?' । तेऽप्यू-

---

१ मन्त्रिणः। २ लक्ष्म लक्षणं–चिह्नम्। ३ अगच्छन्।

चुः-'एतासां क्लेशनिवारणार्थम्'। तदा धन्यो भ्रातृजायाः समायाता दृष्ट्वा स मायावी नमोऽकरोत्। जगौ च-'हे मातरः! कातरस्वान्ताः किमर्थम् इहागताः?'। ततस्ताश्च एनं दृष्ट्वा उपलक्ष्य चेति व्याहरन्-'किमस्मान् मायाभिः खेदयसि? यस्मात् त्वम् अस्माकं देवरोऽसि, सुरद्रुमः कस्यापि दुःखदो भवति किम्?'। इत्युक्त्वा विरतासु धन्यः प्राह-'एष युष्माकं हृद्ये हृदि को भ्रमोऽभवत्, यद्वा गर्तान्तः पातुका अपुण्योदयाद् जातु मन्ददृष्टयः स्युः?। क्षितिमण्डले यं यं धन्याभिधं यूयं द्रक्ष्यथ तं तं स्वदेवरतया वदन्त्योऽतिहास्यम् आप्स्यथ'। ततस्ता ऊचिरे-'हे देवर! चिरेण समभिज्ञातः, परन्तु मायां कृत्वा त्वं स्वं गोपयसि, तथापि तव पुण्योदयजातं चिह्नं न गोपयितुं शक्नोपि। अतो हे मन्त्रिणः! अस्य क्रमौ प्रक्षालयामः, यथा पद्मदर्शनाद् भवतां चित्ते निर्णयो भवेत्'। अथ तास्तथा कर्तुं लग्नास्तदा धन्योऽवक्-'वयं परमानिन्या सह आलापं नेच्छामस्तर्हि अंह्रिप्रक्षालनं तु दूरापास्तमेव'। इत्येवं शुचिवाचान्ते धुरि स्थिताः सचिवा इत्थम् अभ्यधुः-'हे साधो स्वामिन्! मुधा माऽऽयासय, यत इमा भ्रातृजायास्तवैव इति निर्णयो जातः। समर्थानां भवादृशानां सदम्भं विप्रतारण-विगोपनं स्वगृहे एव भ्रातृजायाभिः सह किम् उचितम्?। आभिस्तु भवद्गुणवर्णनं पूर्वाऽनुभूतं बहुप्रकारैः कृतम्, अधुना तु भवत्प्रवृत्तिमन्यथा दृष्ट्वा अस्माकं मनसि महान् विस्मयो जातः। यतः सज्जनास्तु आम्रे-क्षु-चन्दना-ऽगरु-वंशा इव दृशदादिना ताडिताः पीलिता घर्षिता ज्वालिताश्छेदिता अपि परस्योपकुर्वन्त्येव। सज्जनानां च धुर्यस्त्वमसि, तस्य एवं कथं संभवति?। यद्यपि स्वकीयैः स्वमूर्खत्वेन विपरीताचरणं कृतं तथापि तेषां प्रति शिक्षा विपत्काले न कर्तव्या, किन्तु विपद उद्धारः कर्तव्य इति सत्प्रवृत्तिः। सन्तः पतिते पादप्रहारं न ददत्येव, प्रत्युत तस्य साहाय्यदायिनो

१ सुस्थे-अभ्रान्ते। २ लक्षितः। ३ परस्त्रिया।

भवन्ति। परन्तु ज्ञायते यथा काञ्जिकासंसर्गे दुग्धस्य प्रकृतेर्विकृतिर्भवति तथा स्वजायया किमपि कैर्णेजपत्वमाचरितं तेनेयं प्रकृतिविकृतिर्जाता दृश्यते !, यतः सुवंशजोऽपि कोदण्डः प्रत्यञ्चया प्रेरितः परस्य घाताय भवति"। इत्येवं सचिवैर्बुद्धिप्रपञ्चैर्नर्मवचनैर्बोधितो धन्यस्तद् नेर्मकर्म विमुच्य सादरं स्वबन्धुजाया निजसद्मनि प्राहैषीत्।

अथ धन्यः सैन्यसंरम्भं त्यक्त्वा सचिवादीन् सहादाय उपभूपं गत्वाऽनमत्। भूपोऽपि अर्धासनदानादिसत्कारं कृत्वा सोत्साहं सविनयं तमभ्यधात्–हे मतिमतां वर! किमाश्चर्यमेतद्?, अवेदितात्मना त्वया मुधा भ्रातृदयिताः खेदितास्तद् न शोभनं प्रतिभाति, यद् बुधाः स्वकीयान् जनान् न कदापि वञ्चयन्ति'। इति शतानीकोक्तं श्रुत्वा धनसारसूनुर्निश्छद्मनसा व्याजहार–'हे स्वामिन्! यो भ्रातृजायाक्लेशने हेतुः स श्रूयताम्–इह जगति अयोयन्त्रतालक–तत्पिधानयोरिव सुश्लिष्टानामपि भ्रातृमनसां आगतमात्रा नारी कुञ्चिकेव क्षणादपि विश्लेषं–भिन्नचित्ततां कुरुते। एकोदरसमुत्पन्नानां बन्धूनां मनोभूमौ प्रीति–वाल्लभ्यादिस्नेहलतावलिः प्रवर्धमाना तावद् दृश्यते यावत् स्त्रीणां विश्लेषवचनोद्भुतो दावानलो न ज्वलति, ज्वलिते तु तस्मिन् न किमपि उद्धरति। यदुक्तं नीतिशास्त्रे हे राजन्!–'कदापि शत्रूणां विश्वासो न कर्तव्यः, स्त्रीणां तु विशेषतः कदाचिदपि नैव करणीयः। तत्र हेतुं प्राह–यतोऽरयो विरक्ता–विमुखा घ्नन्ति, नार्यः पुना रक्ता अपि क्षणाद् घ्नन्ति। अन्यच्च, सुवंशजोऽपि पुरुषः स्त्रिया प्रेरितोऽकृत्यानि कुरुते, यथा सुवंशजोऽपि मन्थानकः स्त्रिया प्रेरितोऽतिस्नेहलं दधि न मथ्नाति किम्? मथ्नात्येव। प्रेयसीभिर्गृहीतहस्तकः प्रेयान् घरट्टवद् भ्रमितः सन् मातृ–पित्रादिप्रबलस्नेहं क्षणाद् दलयति, निःशेषां पूर्वावस्थां त्यजति। कुकुलनारीभिः खाद्यमानो–घृष्यमाणोऽपि पुरुषो हृष्यति–माद्यति,

१ सुभद्रया। २ पिशुनत्वम्। ३ परीहासक्रियाम्। ४ सुवंशात् शोभनवेणोर्जातः। ५ मन्थनदण्डः।

असिः–खड्गः शाणया घृष्यमाणोऽपि तेजस्वी भवति ! । लोकोक्तौ हे राजन् !–'वेधसा जगत्सृजता अरिनिग्रहार्थं चत्वार उपायाः सृष्टाः, परन्तु कोऽपि पञ्चमोपायो न सृष्टो येनोपायेन अङ्गनानां मनो निगृह्येत'। मया पुरा एतासां चित्तप्रसत्त्यर्थं जलासारा इव अनेके उपकाराः कृताः, परम् अमूषु ऊपरभूमिकावप्तानि वीजानीव व्यर्थतां प्रापुः। अथ याः सुकुलीनाः स्त्रियो भवन्ति ताभिर्बोधिता यन्थव उन्मार्गप्रवृत्तितस्तटभित्तिभिर्वारिताः सरितां प्रवाहा इव सुश्लिष्टा वहन्ति। तेन कारणेन मयैता मदभेदाय वक्रतानाशाय च अमीभिरुपायैः कृत्वा खेदिताः। यथा सुवैद्येन विषमज्वरनाशाय तनवः शोष्यन्ते तथा मयापि कृतं, नाऽपरं किमप्यस्ति'। इत्यादिप्रीतिवार्ताभिर्धन्येन शतानीको रञ्जितः सन् तद्भाग्याद्भुतचित्रीयमाणचित्तो निजावासमगात्। धन्योऽपि सैनिकैर्मन्त्रिभिश्च श्लाघ्यमानः स्वपुरे आगत्य मुदा मुदितान् मातृ–पितृ–ज्येष्ठभ्रात्रादींश्च नमस्यति स्म। तेऽपि मुदिताशयास्तं प्रत्याशिषं ददुः। ततोऽनन्तरमेव पूर्ववृत्तान्तं पृष्टाः, तेऽपि च यथास्थितमाचख्युः। ततो धन्यो भक्त्या स्वजनकादीन् संमानयन् राजसु चक्रवर्तीव स्वजनादिषु रेजे। अस्मिन् पल्लवे या सहस्रारमणिपरीक्षा कृता, या च शतानीकतनया परिणीता, पुनः शतानीकाऽनीकभटैः सार्धं युद्धाय प्रगुणो भूतः, सङ्गरार्तिस्थाने स्वजनो मिलितः, एतत्सर्वं दानकल्पद्रुमस्य कुसुमलवलीलामात्रं ज्ञेयम्। तस्माद् भो भव्या! अहर्निशं सुपात्रदानप्रवृत्त्या चिदानन्दघनसुखफलं गृह्णीत।

॥ इति श्रीमत्तपागच्छाधिराजश्रीसोमसुन्दरसूरिविनेय–श्रीजिनकीर्तिसूरिविरचितस्य पद्यबन्धधन्यचरित्रशालिनः श्रीदानकल्पद्रुमस्य महोपाध्याय–श्रीधर्मसागरगणिनामन्वये महोपाध्याय–श्रीहर्षसागरगणिप्रपौत्रमहोपाध्याय–श्रीज्ञानसागरगणि-शिष्याल्पमतिग्रथितगद्यरचनाप्रबन्धे सौभाग्यमञ्जरीपरिणय–स्वजनसमागमवर्णनो नाम षष्ठः पल्लवः ॥

अथ सप्तमः पल्लवः

अथाऽन्यदा धियां धाम धन्यो मनसि दध्यौ–'यतो मे बान्धवाः पुनरपि पूर्ववद् मयि अप्रीतिचुम्बितं चित्तं मा कार्षुः, अतोऽग्रतः सत्वरमन्यत्र कामिनीवृतं यामि। परन्तु हीनभाग्यवशात् पुना राज्ञे दण्डनादिदेयं माऽस्तु, इति विमृश्य तान् राज्ञेऽभालयत्। ततः स गजान् अश्वान् ग्रामांश्च विभज्य सोदरेभ्यो हर्षपूर्वकं ददौ। यच्च गृहसारं सुवर्ण-रत्नादिकं तत्सर्वं जनकाय समार्पयत्। पुनः कौशाम्ब्याम् उपशतानीकं गत्वोचे–'कस्मादपि कार्यवशाद् राजगृहं यामि, अतो ममेव मत्कुटुम्बस्य भवता चिन्ता कार्या। इत्येवं भूपतिं निगद्य आपृच्छ्य च धन्यो राजगृहं प्रति अचालीत्। कामिनीद्वयं समादाय सारपरिवारसंयुतो मार्गेऽविच्छिन्नप्रयाणकैः कतिपयदिवसैर्नाम्ना लक्ष्मीपुरपुरम् आप। तत्र पुरे सर्वक्षत्रशिरोमणी राजगुणैरलङ्कृतो जितारिर्नाम्ना नृपतिरस्ति। यत्र परे समात्यागोद्यते भूपतौ शत्रवोऽपि तथाऽभवन्। अथ तस्य राज्ञो गीतकलायाम् अतीव कुशला गीतकलानाम्नी पुत्री आसीत्। अन्यदा सा कुमारी वसन्तोत्सवक्रीडया सखीवृन्दावृता उद्याने गता। सा तत्र लीलान्दोलन–जलक्रीडा–पुष्पावचय–कन्दुकोल्लालनादिक्रीडया यूनां मनोविभ्रमकारिणी ग्राम–रागमनोहरं मधुरं गीतम् अगायत्। तस्या गीतमधुरताऽऽकृष्टाः कर्णेन्द्रियपरवशा मृगाङ्गनास्तां परितस्तम्भुः, यथा अद्भुतहाव–भाव–विभ्रम–कटाक्ष–रूपवतीं नारीं प्रति विवशाः कामुकदृष्टयो भवन्ति। तदा सा कुरङ्गाक्षी कौतुकाद् एकस्याः कुरङ्ग्याः कण्ठकन्दले सप्तसरं हारं मुमुचे। सा च सारङ्गिका गीतविरामेऽनेशत्। कुमारी गीतगानं विसृज्य स्वगृहमाययौ।

१ इष्टदेशम्। २ शान्तिस्थापनतत्परे। ३ क्षमात्यागोद्यताः–पृथ्वीत्यजनतत्पराः। ४ हरिण्यः।

आगत्य च पित्रोर[1]ग्रेऽवादीत्–'भोः पितरौ ! ममैकां प्रतिज्ञां शृणुतम्–अद्य मया गीतकलया आकृष्टाया हरिण्याः कण्ठकन्दले हारः परिधापितोऽस्ति, अथ यः पुमान् स्वगीतकलया प्रहर्षितमानसायास्तस्या मृग्याः कण्ठदेशाद् मे हारं ग्रहीता स एव मां परिणेता' । तस्याः सा प्रतिज्ञा सर्वत्र नगरे विख्याताऽभूत्, यस्माद् अद्भुता वार्ता जले तैलबिन्दुरिव विस्तरतां याति। अथ धन्यो जितारिपुत्रीकृतप्रतिज्ञां जनमुखात् श्रुत्वा चित्ते चमत्कारं प्राप्तः सन् सारपरिवारयुतः पौरजनश्रियं पश्यन् उपभूपं प्राप । राजापि तं भाग्यभासुरं समागतं दृष्ट्वा अत्यादरसत्कारपूर्वकं स्वकीयसमासने सहर्षं स्थापितवान् । अथ तत्र मार्गागमनकुशलक्षेमवार्तां कृत्वा स्थितस्तावता सा वार्ता केनापि निष्काशिता । तां च वार्तां श्रुत्वा धन्योऽवक्–'हे महीनाथ ! यदि गीतकलाकृष्टा हरिणी आतोद्यादिशब्दान् श्रुत्वा त्रस्ताऽन्यत्र प्रयाति तदैषा हि अद्भुता गीतकला का ? निष्फलेत्यर्थः । यदा मृदङ्ग–भेरी–भाङ्कारैः अत्रस्ता गीताकृष्टा मृगी जनसङ्कुले आयाति तदा सा गीतकला पूर्णा प्रशंसनीया भवति' । इति धन्योक्तं श्रुत्वा, तं च अद्भुताकारं दृष्ट्वा तच्चातुर्यचमत्कृतः सन् स राजा तन्मृग्यानयने सहर्षं धन्यं न्ययुङ्क्त । अथ धन्योऽपि तां वार्तां पणीकृत्य वीणां चादाय अनेकगन्धर्वपरिकरयुतो वने प्राप्तः । तत्रैकां वृक्षच्छायां श्रित्वा मधुरस्वरं गीतं गीतवान्, वीणां च स्वर-ग्राम-मूर्च्छनामेलनपूर्वकम् अवादयत् । अथ तद्वनस्था मृगाङ्गना लयप्राप्तेन गीतेन आकृष्टा गीतविवशाः सर्वदिशातो धन्योपान्तम् उपाययुः । परितो धन्यं वेष्टयित्वा स्थिताः । तासां हरिणीनां मध्ये पूर्वं कन्यानिवेशितकण्ठहाराऽपि मृगी गीतवशीकृतचित्ता हृदयेशितुः पुरतः प्रियेव धन्यस्य पुरतो निःशङ्कं तस्थौ, तन्मुखं च पश्यन्ती तत्र स्थिता । तत इन्द्रजालकलाशाली लोकैरिव मृगैः समं गायन्नेव नगरसम्मुखम् अचालीत् । तत्राऽनेकैर्लोककृतैः क्षोभैः क्षोभितो-

१ मातापित्रोः ।

ऽपि गीतलीनमृगसमूहो ध्यानमग्नहृद् योगीव न चुक्षुभे, सर्वेऽपि मृगा अग्रतः पृष्ठतश्च लग्ना धन्येन समं प्रचलन्ति। एवं समस्त-पौरलोकान् विस्मयं प्रापयन् स धन्यो नगरं प्रविश्य दीर्घचतुष्पथेन सारङ्गैः सरङ्गैश्च नागरैरन्वीयमानो राज्ञः सभां प्राप्तः। तत 'एतत् किम्, एतत् किम्' इति भूपादिषु वदत्सु उदारबुद्धिर्धन्यो हरिणीकण्ठपीठाद् हारम् अग्रहीत्, गृहीत्वा च कन्यकाहस्ते समर्पितः। इत्येवम् अद्भुतं दृष्ट्वा आश्चर्यरससंभृता राजादयः पौराश्च प्रशंसन्ति स्म–"अहो अस्य गीतकलाकौशल्यम्!, अहो अस्य धैर्यम्!, अहो अस्य सौभाग्यभङ्गी!, अहो! अनेन अदृष्टपूर्वं मृग-मनुष्याणां निःशङ्कं मेलनं दर्शितम्, 'बहुरत्ना वसुन्धरा' इति वाक्यम् अनेन सार्थं कृतम्। कन्यापि पूर्णभाग्यवती, यस्या ईदृशी महती प्रतिज्ञा स्वमनोरथानुरूपम् अनेन पूरिता। विधिना एतद् युग्मं युक्तं योजितं चिरं नन्दतु"। अथैवं पार्थिवा-ऽमात्यप्रमुखैर्जनैरभिनन्दिता सा कन्या अक्षेपं धन्यस्य कण्ठे वरस्रजं चिक्षेप। अथ पूर्णप्रतिज्ञा सा कन्या राज्ञा हर्षतिलकदानपूर्वकं धन्याय ददे। शुभे दिवस-लग्ने तयोः पाणिग्रहणमहोत्सवो जातः। करमोचन-वेलायां राज्ञा गज-रथ-तुरग-ग्रामाणां शतानि दत्तानि। ततो जितारिनृपाग्रहात् सुचरित्रैश्चित्तचित्रकृद् धनसारसूनुः कतिचिद्दिनानि तत्र पुरे राजदत्तावासे तस्थौ।

अथ अस्मिन्नेव पुरे सुबुद्धिनाम्नो राजमन्त्रिणः पुत्री नाम्ना सरस्वत्यस्ति, सा च सरस्वतीव सर्वविद्यानां हार्दग्राहिणी। यस्याः प्रतिभा सर्वासु प्रहेलिकासु, गूढप्रश्नोत्तरेषु, सङ्केत-समस्यापूरणे च आलस्यं नाऽभजद्। सा बुद्धिचतुष्टयप्रवणा, परन्तु निरालम्ब-समाख्यायाम् औत्पातिकीबुद्ध्यां तु अतीव कुशला, अतस्तस्या अभिमानेन तया इति प्रतिज्ञा कृता–'यदुक्तम् अहं न जानामि, मदुक्तं च सर्वं यो वेत्ति, स एव मया भर्तृत्वेनाऽनुसर्तव्यः'। इत्येवं कुमारीकृतायाः प्रतिज्ञाया वार्ता परम्परया नगरे ग्रामेषु च

विस्तृता । अथ ये कियच्छब्द–च्छन्दो–ऽलङ्कारादिशास्त्राभ्यासमात्रेण स्वबुद्धिप्राबल्यं मन्यमाना गर्वोत्तप्तहृदया 'असदग्रे सा कियन्मात्रा' इति हृदि धारयन्तः परिणयोत्सुका राजपुत्रादयस्ते सोत्साहमागत्य मन्त्रिपुत्रीसरस्वत्यग्रे यद् यद् गूढसमस्यादि पृच्छन्ति तस्य तस्य हार्दं सा मन्त्रिपुत्री शीघ्रं विशदरीत्या कथयति, परं न कुत्रापि स्खलति । एवं प्रतिदिनं पाणिग्रहणेच्छवः स्वहृदयकल्पिताऽनेकगत्या ग्रथिताः समस्याः पृच्छन्ति, परन्तु सा कन्या श्रवणमात्रेणैव उत्तरं ददाति, तदा ते विलक्षमुखाः पश्चाद् यान्ति । अथान्यदा सा मन्त्रिपुत्री सरस्वती स्वबुद्धिकौशल्यदर्शनेच्छया नृपं साक्षीकृत्य स्फुरद्गर्वान् सर्वान् पण्डितमानिनः श्लोकद्वयम् अप्राक्षीत् । यथा–

गङ्गायां दीयते दानमेकचित्तेन भाविना । दाताऽहो ! नरकं याति प्रतिग्राही न जीवति ॥१॥

तथा—

का सरोवराण सोहा ? को अहिययरो दाणगुणे जाओ ?। अत्थग्गहणे को निउणो ? मरुधरे केरिसा पुरिसा ? ॥[1]

इति प्रहेलिकाद्वयं भूर्जे लिखित्वा एकया दास्या सह प्राहैषीत् । अनयोरर्थं कोऽपि ज्ञानातिशयवर्जितो न जानाति, ततो जने आबालगोपालं श्लोकद्वयं ख्यातं जातम् । अथ च धन्यो वाचयित्वा सद्यः प्रत्युत्तरं लिलेख—

मीनो लाता गलो देयं कन्ये ! दाताऽत्र धीवरः । फलं यज्जायते तत्र तयोस्तद्विदितं जने ॥१॥

अस्यार्थः—गङ्गातटे कोऽपि धीवरो मत्स्यवधार्थं प्रवृत्तस्तत्समयक्रियागर्भितेयं समस्या । तत्र धीवरो बडिशकण्टके मांसखण्डं

१ का सरोवराणां शोभा ? कोऽधिकतरो दानगुणे जातः ? । अर्थग्रहणे को निपुणो ? मरुधरे कीदृशाः पुरुषाः ? ॥१॥

बद्ध्वा मत्स्याय ददाति, तेन धीवरोऽत्र दाता ज्ञेयः, मांसखण्डस्तु देयद्रव्यं ज्ञेयम्। तथा तन्मांसखण्डं लातुं मीनः प्रवृत्तः, अतः प्रतिग्राही मत्स्यः। अत्र क्रियायां तयोर्दातृप्रतिग्राहकयोर्यत् फलं जायते तत्तु सर्वजनानां विदितमस्ति–धीवरो दाता नरकं याति, प्रतिग्राही मत्स्यो न जीवतीति भावार्थः। अथ द्वितीयस्यार्थं शृणु–सरोवराणां शोभा कं–जलम्। तथा दानिषु अधिकतरो बलराजा, यो मरणावसाने निःस्वत्वाद् ब्राह्मणाय किं ददामीति मनसि खेदं प्राप्तः, तदा ब्राह्मणेनोक्तम्–त्वद्दन्तविषये स्वर्णमेषिकाऽस्ति तां देहि। तेनोक्तम्–भव्यम्, इत्युक्त्वा दृषदा दन्तान् पातयितुं प्रवृत्तः। एतन्महासत्त्वं दृष्ट्वा देवः प्रसन्नोऽभूत्। अतः सर्वाधिकदाता बलराजः। तथाऽत्र अर्थग्रहणनिपुणा वेश्या। यतः सर्वकलानिपुणानां धूर्तानामपि धनं स्वार्ज्जनकलया सुखेन गृह्णाति, अतोऽर्थग्रहणनिपुणा वेश्या। तथा मरुस्थल्यां कम्बलवसनाः पुरुषाः, यतो मरुस्थल्युत्पन्नाः पुरुषाः प्रायः कम्बलपरिधानेन निर्वहन्ति।

इति कन्यायाः समस्याद्वयस्यार्थं धन्यो बुद्धिबलेन केलिवन् शीघ्रं बुद्ध्वा प्रतिपत्रे लिखित्वा कन्याऽग्रे प्रैषीत्। लिखितं च–एको मदुक्तोऽपि श्लोकस्तयाऽर्थतो ज्ञेयः। यथा—

"न लगेन्नाग–नारङ्गे निम्ब–तुम्बे पुनर्लगेत्। लगेत्युक्ते लगेन्नैव मा मेत्युक्ते भृशं लगेत्" ॥१॥

इत्येवं धन्यलिखितं भूर्जपत्रं दास्या दत्तम्। कुमारी तल्लिखितप्रहेलिकाद्वयार्थं वाचयित्वा चित्ते चमत्कृता। 'अहो! अस्य बुद्धिकौशल्यम्!' इति मस्तकं धुन्वती पुनरग्रतो वाचयितुं प्रवृत्ता, तदा तत्कृतः श्लोकस्तु वाचितः, परन्तु तद्रहस्यं न विवेद। प्रबलेनेहापोहेन सबलाऽपि तदर्थनवनीतं न लब्धम्। तदा मृगाक्षी महाश्चर्यं वहमाना उपधन्यम् आगत्य मानं त्यक्त्वा धन्योक्तश्लोकार्थमप्राक्षीत्। तदा धन्योऽपि ईषद् विहस्य तदर्थमभाषत–'हे बिम्बोष्ठि! तदर्थं स्फुटम् ओष्ठपुटं विजानीहि'। एवं सर्वसभ्यजनसमक्षं

कुमार्युक्तसमस्तार्थकथनाद् धन्योक्तपद्यार्थस्याऽज्ञानाच्च पूर्णप्रतिज्ञां कुमारीं ज्ञात्वा मन्त्री पुत्रीं प्रत्याह–'हे दुहितः ! तव सन्धा पूर्णाऽभवत्, अतोऽनेन सार्धं पाणिग्रहणं कारयामि' । मन्त्रिणा इत्युक्ते तयाऽपि पितुर्वाक्यम् अनुमेने, यत ईप्सितं वाक्यं को न मन्यते ? ततो मन्त्री धन्यम् अत्यादरेण सत्कृत्य तयोर्महामहपूर्वकं पाणिग्रहणं कारयामास ।

इतश्चास्मिन्नेव नगरे द्वात्रिंशत्स्वर्णकोटिस्वामी पत्रमल्लाभिधानो महेभ्यो वणिग्वरः परिवसति स्म । तस्य विनयादिगुणान्विताश्चत्वारः पुत्राः सन्ति । तत्राद्यो रामाभिधानः, द्वितीयः कामनामा, तृतीयो धामाख्यः, चतुर्थः सामसंज्ञकः । तस्यैषां पुत्राणामुपरि एका कस्यापि दोषस्य अनास्पदं समस्तगुणानामेकमन्दिरं प्रत्यक्षा लक्ष्मीरिव नाम्ना लक्ष्मीवती पुत्र्यस्ति । एवं समस्तसांसारिकसुखैः सुखितोऽस्ति । आत्मिकसुखलिप्सया च शुद्धदेव–गुरु–धर्मादीन् तीव्रभक्त्या आराधयति । प्रत्यहं साध्वादिपुण्यपात्राणि पोषयति, दीन–हीन–दुःखितजनान् अनुकम्पया उद्धरति, तीर्थयात्रा–रथयात्रा–कल्याणकोत्सव–साधर्मिकवात्सल्यादिषु अतिमात्रम् अर्थस्य व्ययं कुर्वन् पत्रमल्लो दुर्लभं ससामग्रीकं मानुष्यं सफलं करोति स्म । अथ तस्य त्रिवर्गमाराधयतः क्रमेण वृद्धत्वमागतम् । एकदा [1]सैरिभैर्भेकदारवत् शरीररोगैर्बाढं चेतना व्याकुलिता, तदा पत्रमल्लः शरीरगैश्चिह्नैरासन्नं मरणं ज्ञात्वा द्वात्रिंशद्द्वारबद्धां बृहदाराधनां कर्तुं सावधानो जातः । तत्र प्रथमं परिग्रहादिमोहमूर्च्छां शिथिलीकृत्य पुत्रान् आहूय इत्यभ्यधात्–"भोः पुत्रा ! मद्वाक्यं शृणुत–इह जगति निःश्रीके [2]नरि किं कुत्रापि गौरवं दृष्टम् ? यतः कस्तूरीमपि निर्गन्धां कोऽपि [3]ऊरीकुरुते ? । तस्मात् सा एकैव लक्ष्मीः श्लाघ्यते यया कलङ्कवानपि जनो देवानामपि सर्वदा मान्यः स्यात् । अन्यच्च यथाऽनेकदारवान् पुरुषः परस्परं कलहायितं श्रुत्वा व्याकुलो

१ महिषैः । २ पुरुषे । ३ स्वीकुरुते ।

भवति तथा परस्परं धातूनां विमार्गप्रवर्तनयोगाद् लक्ष्मीर्व्याकुला भवति। धर्मस्य मुख्यं साधनं श्रीरेव गीयते, यथा धान्यनिष्पत्तेर्मुख्यसाधनं जलद एव। पुनः समलाऽपि कमला पुण्यहेतुर्मन्तव्या, यथा पङ्ककलुषिताऽपि पृथ्वी निर्मलस्य पद्मस्य प्रसवहेतुः किं न भवति? अपि तु भवत्येव। यतः प्रासाद–प्रतिमा–सङ्घ–तीर्थयात्रादयो धर्माः श्रियैव निष्पाद्यन्ते, यथा विबुधैर्नानाऽर्थालङ्कार–रसयुक्तियुक्ता विद्वज्जनचित्ताह्लादकारका विविधा ग्रन्था बुद्ध्यैव निष्पाद्यन्ते। अतो लक्ष्मीः संसारिणाम् इह–परयोर्मुख्यसुखहेतुरस्ति। अन्यच्च, येन पित्रा बालभावे लालितः पालितः पोषितश्च पुत्रो यदि युवावस्थायां धनोपार्जको गृहनिर्वाहकश्च न भवेत् तदा स एव पिता तं पुत्रं लकुटाप्रायम् आमनुते, प्रत्युत 'अस्मद्गृहविगोपको ऽयम्' इति वावदीति। यदि च अपरिमितधनोपार्जको भवति तदा अतिहर्षभरभारितः प्रशंसति–'पुत्रोऽयम् अस्मत्कुलदीपकः, कुलमण्डनश्च अयमेवास्ति'। तथा मातापि बहुवल्लभनोरथेन लब्धस्य बहुवल्लभमनोरथेन च लालित–पालितस्य मुखं दृष्ट्वा हृदयोल्लासं प्राप्नोति। पश्चाद् यदा वयःप्राप्तोऽपि धनोपार्जको न भवति तदाऽस्यैव माता एवं वदति–'ममोदरे दृशन् पतितोऽस्ति'। तथा युवतिरपि तावत् प्रियालापादिकं सहर्षं करोति यावत् पुरुषाद् ईप्सितभूषणवस्त्रादिकं प्राप्नोति। प्रशंसति च–'मकरध्वजरूपोऽयं मम भर्ता'। अन्यथा तु 'स्थाणुरूपोऽयं, पङ्गुमार्जारकल्पः' इति निन्दति। तथा स्वजना अपि तावत् सज्जनभावं दर्शयन्ति यावद् लक्ष्मीर्गृहे स्थिरा भवति। तथा नागरिका अपि यावद् धनं तावद् आदरसत्कारसम्मानं प्रयच्छन्ति। तावत् कलावतां कलाः, विद्यावतां विद्याः, मतिमतां मतयः, गुणवतां गुणाश्च प्रशंसामाप्नुवन्ति यावल्लक्ष्मीर्गृहे स्थिरा भवति। धनवतां सहस्रशो दोषा अपि गुणा एव गण्यन्ते जनैः। यदि धनी बहुजल्पको भवति

१ धर्मार्थकामानां वर्गत्रयाणां इति प्र०। २ कामदेवस्वरूपः। ३ शङ्कुरूपः।

तदाऽस्य वाक्पटुत्वं ख्यापयन्ति। यदि मन्दजल्पकोऽस्ति तदा असत्यभयाद् मितभाषी वदन्ति। यदि पुनर्धनी शीघ्रकार्यक्रिया-कर्ता तदा 'अयं सोद्यमः प्रमादपरिहारी अनलसः' इति वदन्ति। यदा आलस्येन मन्दकारी तदा "धीरोऽस्ति, 'सहसा विदधीत न क्रियाम्' इत्यादिनीतिवाक्यकुशलोऽस्ति" इति वदन्ति। यदि धनी बहुभोजी भवति तदा लोका वदन्ति—"प्रबलपुण्योदयवान् अस्ति, येन शक्तिद्वयसम्पन्नः कथं न भुङ्क्ते ?। यतः—

"भोज्यं भोजनशक्तिश्च रतिशक्तिर्वराः स्त्रियः। विभवो दानशक्तिश्च अनल्पतपसः फलम्" ॥१॥

इत्यादि स्तुवन्ति। यदि पुनः स्वल्पभोजी भवति तदा 'अस्य मनः सर्वसंपन्नत्वाद् भृतं वर्तते' इति वदन्ति। यदि धनी वस्त्रा-भरणादिबह्वाडम्बरेण याति तदा 'अनेन पूर्वं प्रबलपुण्यं कृतमस्ति येन यथाप्राप्तं विलसति, लब्धस्य सारं तद् यद् भोगाय आयाति' इति वदन्ति। यदि पुनः किमपि वस्त्राभरणादिकं न परिदधाति तदाऽस्य गम्भीरत्वं धार्मिकत्वं सन्तोषित्वं च वदन्ति। यदि धनी बहुद्रव्यव्ययकारी भवति तदा 'उदारचित्तः परोपकारी' इति वदन्ति। यदि पुनः स्वल्पव्ययकारकस्तदा 'अयं योग्यायो-ग्यविभागज्ञाता, विमृश्य कार्यकारी, यद् उचितं तत् करोति, बहुद्रव्यत्वात् किं रथ्यायां विकिरेत् ?' इति जल्पन्ति। यत् सर्वं धनिनां गुणाय भवति तत् सर्वं धनरहितानां दोषाय भवति। एते यथा लक्ष्म्या गुणास्तथा दोषा अपि सहस्रशो विद्यन्ते, इष्टयोगा इव अनिष्टयोगा अपि किं संसृतौ न हि भवन्ति ?। यतः—

"निर्दयत्वमहङ्कारस्तृष्णा कर्कशभाषणम्। नीचपात्रप्रियत्वं च पञ्च श्रीसहचारिणः" ॥१॥

यथा–"भक्तद्वेषो जडे प्रीतिः प्रवृत्तिर्गुरुलङ्घने। मुखे च कटुता नित्यं ज्वरीव धनिनां हि यत्" ॥२॥

इत्याद्यनेकदोषो बह्वनर्थकारी अर्थोऽस्ति, तथापि शरीरिभिर्भृशं प्रार्थ्यते; यथा कृताऽजीर्णादिदोषोऽपि आहारः प्राणिभिः प्रार्थ्यते। ततः श्रिया प्राप्तपरिक्लेशा अपि श्रियम् ईहन्ते, यस्माद् इह जगति वह्निदग्धगृहा अपि वह्नेः स्पृहां किं न कुर्वन्ति?। तस्माद् भो पुत्राः! दोषकरोऽप्ययमर्थो गृहिभिर्न त्यक्तुं शक्यः, परं श्रीकृते शिथिलस्नेहैर्युष्माभिर्मिथः कलिर्न सेव्यः, यत् कलिनाम्ना कल्पद्रोऽपि सुखार्थिभिः किलोज्झ्यते। युष्माभिः सर्वदाऽन्योन्यस्नेहतोऽपृथग्भावैः स्थेयम्। यदुक्तं नीतौ–'समुदायो जयावहः' यत-स्तन्तवोऽपि हि संमिलिता गजेन्द्रमपि बध्नन्ति'। यतः—

"भिद्यन्ते भूधरा येन धरा येन विदार्यते। संहतैः पश्यत प्रौढं तृणैस्तद् वारि वारितम्" ॥१॥

पुरुषाणां यत्र कुत्रापि संमिलनस्वभावेन वसनम् आगतौ श्रेयस्करं भवति। तत्र स्वकीयकुटुम्बपक्षे तु विशेषतः सस्नेहवसनम् अत्यन्तश्रेयस्करं ज्ञेयम्, अन्यथा तु विरोधस्य फलं विरोध एव, यशो-धनादीनां वृद्धिर्न भवति, यथा तुषैः परित्यक्तास्तण्डुला अपि न प्ररोहन्ति। किञ्च, मनुष्यो निर्धनोऽपि स्नेहलैर्निजैः परिवृतः शोभां लभते, वस्त्रं हि शाण्या अन्तर्धाने कृते हट्टे मूल्यमर्घति। धनपरिग्रहादिमतां गृहस्थानां स्वगृहे निवसतां तावत् प्रताप-धन-गौरव-पूजा-यशः-सौख्य-सम्पद्-ज्ञातिमहत्त्वादीनां प्रवृद्धिर्जा-यते यावत् स्वकुले परस्परं कलिर्नोत्पद्यते। राजादीनां मान्यत्वात् परैरपरिभूतोऽपि नरः स्वकुटुम्बकलिना स्वल्पैरेव दिनैः क्षीयते,

१ भक्त-भोजने द्वेषः, (पक्षे) भक्त-सेवके द्वेषः। २ डलयोरैक्याद् जले प्रीतिः, (पक्षे) जडेषु-मूर्खेषु प्रीतिः। ३ गुरूणां पित्रादीनाम् उल्ल-ङ्घने, (पक्षे) गुरु-गरिष्ठम् अन्नादिकम्। ४ कटुभाषित्वम्, (पक्षे) कटुत्वम्। ५ कलिर्विभीतकः।

यथा राजमान्योऽपि महाभटो राजयक्ष्मणा स्वल्पैरेव दिनैः क्षीयते। तस्माद् भोः पुत्राः ! यदि पुत्र-पौत्रादिपरिवारवृद्धौ कलौ रोद्धुं न शक्येत तदा युष्माभिः पृथक् पृथक् स्थेयं, परस्परं च दौर्हृदं हेयम्। मया च युष्माकं हिताय युष्मन्नामाङ्किताः समविभागाश्चत्वारः कलशाश्चतुर्षु गृहकोणेषु भूमौ स्थापिताः सन्ति। ते पृथग्भवनावसरे स्वस्वनामाङ्किता ग्राह्याः, परन्तु परस्परं क्लेशो न करणीयः, यतस्ते कलशाश्चत्वारोऽपि समानधनाः, तेषु च स्वल्पमपि न्यूनाधिकं नास्ति, यतो मम स्वाङ्ग इव चतुर्षु समानं वल्लभत्वमस्ति, न क्वापि पङ्क्तिभेदोऽस्ति"। इति स्वतनुजन्मनां त्रिविधेन शिक्षां दत्त्वा सत्त्वाधिकः स समस्तजीवान् त्रिविधेन क्षमयित्वा अर्हदादीनां शरणं कृत्वा भवचरमप्रत्याख्यानेन आयुः समाप्तं नीत्वा सुरसद्मगतिमापत्। अथ तस्यौर्ध्वदेहिकादिमरणक्रियां कृत्वा ततस्तातशिक्षामुपादाय राम-कामादयः स्नेहसम्भवः सुता एकत्र गृहे कियन्तं समयं गमयन्ति स्म। तत्र कियत्यपि गते काले पुत्र-पौत्रादिसन्ततिसन्ताने वर्धमाने परस्परं क्लेशं वर्धमानं दृष्ट्वा चत्वारोऽपि पृथक्पृथग्गृहे तस्थुः। ततस्तैर्हृष्टाननैः पित्रा दर्शितेभ्यः कोणेभ्यः स्वस्वनामाङ्किताः कुम्भा आकृष्टाः, यस्माद् बालस्यापि धनप्राप्तौ आलस्यं न भवेत्। अथ तावद् वृद्धपुत्रस्य नामाङ्किते कुम्भे मषीभाजनं मषी प्रलम्बा वहिकापत्रा लेखन्यश्चालुलोकिरे। पुनः शुभान्तःकरणस्य द्वितीयपुत्रस्य कुम्भान्तः सेतु-केतूद्भवा महीमृदो दृक्पथं गताः। तृतीयस्य पुनः स्वनामाङ्कितस्य कुम्भस्यान्तः करिणां करभाणां खराणां वाजिनां वृषभाणां च भूरिशोऽस्थीनि दृष्टानि। अथ तुरीयस्य कनीयसस्तनयस्य घटान्तरे ज्योतिर्द्योतितसर्वाशाः सुवर्णस्य अष्टौ कोटयो दृष्टाः। तान् स्वर्णभृतकलशान् प्रेक्ष्य पौरस्त्यास्त्रयः कृष्णपक्षद्वादशीरात्रेरग्रिमास्त्रियामा इव भृशं श्यामानना विरेजिरे। तुर्यस्तनुजः शातकुम्भभृतान् स्वकुम्भान् वीक्ष्याऽतुषत्, अथवा सेक्यद्रम्माणां लाभे को नरो न हृष्यति ?। कनीयानपि असौ तुर्यस्तया रमया महत्त्वं प्राप्तः, यथा तनीयानपि मणिः कान्त्या

किम् अयं न लभते ?। अथ त्रयोऽपि लोभाज्जातमनःक्षोभा अशोभाकारिभाषिणोऽग्रजाः स्वर्णनिधानस्य भागं ययाचिरे। तदा कनीयान् ब्रूते स्म–'अनाप्तो द्रव्यं न ददामि, मम भाग्याल्लब्धम् अहमेव ग्रहीष्यामि। पापोदयवतां यदि न निसृतं तदाऽहं किं करिष्ये ?। को जानाति युष्माकं त्रयाणां मध्ये लोभात् केनापि अपहृतं भविष्यति, अत्र मम किं दूषणम् ?, दूषणं युष्मत्कर्मणाम्'। इत्येवं विलक्षो लघुर्नवाग्रजानां ददौ। तदा श्लथस्नेहास्ते प्रत्यहं गेहान्तः क्लेशं व्यधुः। अथ बहुभिर्दिनैः क्लेशेनोद्विग्ना निर्दम्भन्याय-लाभाय चतुष्पथं गताः, यथा जलदाः सलिलप्राप्तये क्षीरसमुद्रं गच्छन्ति। तत्रापि चतुष्पथे मध्यस्था महेभ्यास्तेषां क्लेशवार्तां श्रुत्वा मर्मे दिग्मूढा जाताः, स्वस्वबुद्धिविभवस्य व्ययः कृतः, परन्तु निर्णयो न जातः। ततस्तैः सर्वैरप्युक्तम्–'राजद्वारे महाबुद्धिः, अतो राजद्वारं गच्छत। यतस्तत्र तस्य पराघातोदयबलेन सर्वेऽपि सरला भविष्यन्ति'। इत्युत्तरं श्रुत्वाऽप्राप्तसन्नयाया यथा तार्किका भृशं विवदमाना उपसर्वज्ञं यान्ति तथा ते उपभूपं गताः। राजसभायां च गत्वा स्वस्वदुःखं प्रवचन्तः स्थिताः। तत्रापि न्यायनिपुणैश्चतुरैरपि मन्त्रिभिर्यदा कलहो न भग्नस्तदा राज्ञा चिन्तितम्–'अयं कलिः केनापि न भग्नः, परं चतुर्बुद्धिनिपुणो धन्य एव स्फोटयिष्यति'। इति संभाष्य धन्याय समादिशत्। अमन्दधीर्धन्योऽपि नृपाज्ञया इति प्रोवाच–"भो भद्राः! युष्मत्पित्रा भव्यं सरलं समानं कृत-मस्ति, परन्तु अनवबुध्यमाना मुधा कलहं कुरुथ। यतस्तातस्य वात्सल्यं सर्वेषु तनयेषु समानं भवति, न किमपि न्यूनाधिकं भवति, अतो वो जनकेन द्रव्यस्यांशाः समा एव प्रदत्ताः सन्ति। श्रूयतामत्र हार्दम्–यस्य पुत्रस्य यस्मिन् वस्तुनि व्यवहरणमतेः कौशल्यं क्रमते तस्य पुत्रस्य पित्रा शर्मैकहेतु तत्कर्म निरूपितम्। तद्व्यापारक्रियास्थितं द्रव्यं तस्यैव दत्तम्। अत्र वहिकाद्युपलक्षणाद् कला-

१ सर्वज्ञसमीपम्। २ न प्रतिस्खलति, अप्रतिबन्धे आत्मनेपदम्।

न्तरगतं–व्याजगतं द्रव्यं ज्येष्ठपुत्राय दत्तम्, यतस्तस्यां क्रियायां ज्येष्ठतनय एव निपुणः। इति प्रथमस्य विभागः। यस्य तु सेतु–केतूद्भवा मृद् निर्गता तस्मै तद्वाणिज्यप्रवीणाय द्वितीयाय मृत्सङ्केतसमर्पणाद् धान्यानां कोष्ठागाराणि क्षेत्राणि च दत्तानि। तद्व्या-पारगतं द्रव्यं ज्येष्ठपुत्रदत्तद्रव्यतुल्यं भविष्यतीति द्वितीयस्य विभागः। यस्य पुनर्गजा–ऽश्व–गो–महिष्याद्यस्थीनि निर्गतानि तस्मै गजा–ऽश्व–गो–महिष्यादि चतुष्पदधनं तत्रैव लब्धलक्षाय तृतीयाय दत्तमिति सङ्केतः। इति तृतीयस्य विभागः। यस्य पुना रत्न–हिरण्यादि निर्गतं स तु अद्यापि व्यापारक्रियाकुशलत्वं न वेत्ति, तेन हेतुना श्रेष्ठिना तस्मै कनिष्ठाय रोक्यं धनं दत्तम्। इति चतु-र्थस्य विभागः। एवमाशयेन पित्रा तत्तद्वस्तुसङ्केतः सूचितः। अत्र स्वस्वमनसि विचार्यताम्, तत्तत्सङ्केतितव्यापारगतद्रव्यसङ्ख्यानेन सर्वेषाम् अष्टाष्टस्वर्णकोटयो ददिरे। अतो यदि पितुराशयसूचकस्य मम वचसि प्रामाण्यं भवति तदा स्वस्वमनसि परिभाव्य उत्तरं ददतु"। एवमुक्त्वा धन्यः स्थितः। तदा ज्येष्ठभ्राता स्वमनसि परिभाव्य व्याचष्ट–'मम व्याजादिद्रव्यवृद्धिवाणिज्येऽष्टौ हेमकोटयः सदा लभ्याः सन्ति'। अथ अद्वितीयमतिर्द्वितीयोऽपि प्राह–'ममापि सेतुभिः केतुभिर्धान्यकोष्ठागारैश्च धनसङ्ख्या ज्येष्ठोक्तधनसङ्ख्या-नतुल्याऽस्ति'। अथ तृतीयः प्राह–'ममापि वाहानाम्[2] अयुतं[3], हस्तिनां शतं, गोकुलानां[4] शतं, उष्ट्राणाम् अष्टायुत्यः, महिष्यजादयोऽपि बहुलाः सन्ति, तेषां च मूल्यगणनेऽष्टौ कोटयो हस्ते लभ्यन्ते'। इत्येवं तेषां वचांसि श्रुत्वा भूपतिः सभ्याश्च विस्मितचित्ताः शिरो धुन्वन्तो धन्यस्य बुद्धिकौशल्यं वर्णयितुं लग्नाः। ततो राज्ञा ते चत्वारः पृष्टाः–'युष्माकं विवादो भग्नः?, निःसन्देहा जाताः?'। तेऽपि हस्तान् योजयित्वाऽऽहुः–स्वामिन्! त्वं युगकोटिं चिरं नन्द। युष्मदादेशात् पुरुषोत्तमधन्येन बुद्धिलीलया विवादो भग्नः,

१ कुशलाय। २ अश्वानाम्। ३ दश सहस्राणि। ४ दशसहस्रगोसमुदायो गोकुलम्।

परस्परं प्रीतिर्व्वता वृद्धिं नीता, कलहश्च नाशितः'। ततो राज्ञा ते महेभ्या विसृष्टा हृष्टचित्ता राजानं नत्वा स्वस्वगृहं जग्मुः। अथ ते धन्यस्य प्रतिभा-भाग्य-कलाहृतहृदयाः सन्तो गृहं गत्वा परस्परं मन्त्रयित्वा रूपलक्ष्मीवतीं स्वस्वसारं लक्ष्मीवतीं कनीं धन्याय ददुः। महामहेन साऽपि परिणीता, चतुर्भिरपि एकैका स्वर्णकोटिश्च दत्ता।

इतश्च तस्मिन्नेव नगरे सदा कृष्यादिकर्मासीनमना नाम्ना धनकर्मा वणिक् परिवसति स्म। तस्य पापानुबन्धिपुण्योदयाद् अपरिमितं धनमार्जित्, परन्तु महाकृपणः। तस्य भूयस्यापि लक्ष्मीर्न त्यागाय, न च भोगायाभूत्, नपुंसकस्य स्त्री इव केवलं वेश्ममण्डनमभूत्। अन्यदा एकः कश्चिद् मागधः स्वजातीयमागधवृन्दमेलके गतः। तत्र ते स्वस्वबुद्धिकौशल्यं वर्णयितुं लग्नाः। केनाप्युक्तम्—'मया अमुकदेशाधिपतिं रञ्जयित्वा धनं गृहीतम्'। अन्येन केनाप्युक्तम्—'अमुकदेशाधिपतिर्महाकृपणः, सोऽपि मया रञ्जितः, धनं च गृहीतम्'। केनाप्युक्तम्-'अमुकराज्ञो मन्त्री समस्तशास्त्रपारगामी, सर्वेषां वाग्मिनां कण्टकः, अनेकानि बन्दिवृन्दानि बुद्ध्या विजित्य निष्काशितानि, परं धनं न ददाति; सोऽपि गुरुप्रसादाद् मया रञ्जितः, महान् प्रसादश्च लब्धः'। एवं परस्परं विवदमानानां केनापि मागधेनोक्तम्-'यद् यूयं वदथ तत्सर्वं सत्यम्। परं तदैव युष्मत्कौशल्यं जानामि यदा लक्ष्मीपुरवास्तव्यधनकर्मणः सकाशाद् एकदिनमात्रनिर्वाहकमपि भोजनं लाथ, अन्यथा तु गल्लस्फुलनमात्रमेव युष्मद्वचः'। तदा स मागधः कलया गर्वितोऽवदत्—'अहो! एतन् किं दुष्करम्?। मयाऽनेके वज्रकठोरहृदया रञ्जिताः, कियन्मात्रोऽयं वराकः?। अस्य पार्श्वाद् यदा भोजन-वस्त्रादिकं लात्वा दर्शयामि तदा मागधमण्डल्या दानविभागं गृह्णामि, नान्यथा'। एवं होडां कृत्वा धनकर्मणो गृहे गतः। तत्र च सुधामधुरया गिरा

१ [illegible]। २ गृहभूषणम्। ३ स्तुतिपाठकः—चारणः।

धनकर्माणं ययाचे-"भो विचक्षणशिरोमणे! दातुं कथं विलम्बसे?, यस्माद् आयुषः प्रतिभूर्नास्ति[1], निमेषाघूर्णनबलात् द्राग् दीर्घनिद्रां[2] दृगेव सूचयति, अतो दानधर्मे विलम्बनम् अयुक्तम्। यतः—

"अनुकूले विधौ[3] देयं यतः पूरयिता प्रभुः। प्रतिकूले विधौ देयं यतः सर्वं हरिष्यति ॥१॥
देहिभ्यो देहि सन्देहिस्थैर्या[4] मा संचिनु श्रियम्। हरन्त्यन्ये वने पश्य भ्रमरीसंश्चितं मधु ॥२॥
विशीर्यन्ते कदर्यस्य[5] श्रियः पातालपङ्क्तिभाः। अगाधमन्धकूपस्य पश्य शैवलितं पयः ॥३॥
बोधयन्ति न याचन्ते भिक्षाद्वारा[6] गृहे गृहे। दीयतां दीयतां दानमदातुः फलमीदृशम्" ॥४॥

इत्याद्यनेकसुभाषिता-ऽन्योक्त्यादीनि तत्प्रबोधनाय महोक्त्या पठितानि, परं तस्य चित्तं मुद्गशैलपाषाणवद् न किमपि दयार्द्रं संजातम्। 'दुःखितोऽहं, बुभुक्षितोऽहम्, भूरिकर्माऽहम्' इत्यादिदीनवचनानि विविधाभिनयप्रकारैः कथितानि तदा स धूर्तराट् श्रेष्ठी तं प्रतारयन् प्राह-'भो भद्र मागध! अद्याऽवसरो नास्ति, अतो यत् त्वम् अद्य भोजनं याचसे तत् कल्ये ध्रुवं प्रदास्यामि'। एवं धनकर्मणा प्रत्युक्ते सति स मागधः प्रमोदभाक् तदाशयम् अलभमानो विचारयति-"ममागमनं सफलं तु संजातम्। यतः पणं कृत्वाऽहम् आगतः, अनेन एकदिनविलम्बेन दानमङ्गीकृतं, मूलतो 'नास्ति' इति तु नोक्तम्। वरम्, कल्ये एत्र आगत्य दानं गृहीत्वा यास्यामि। एकान्तेन हठकरणं याचकजनस्य न भव्यम्"। इति विचारयन् गतः। पुनः प्राप्ते द्वितीयदिवसे तस्य गृहे गत्वा तथैव तम् अयाचत। तदा धनकर्मा प्राह-'भो वैतालिक[7]! किम् आकुलो भवसि? धीरो भव। मयोक्तं 'कल्ये तुभ्यं प्रदास्यामि'। इत्युक्ते

१ साक्षी। २ मरणम्। ३ भाग्ये। ४ सन्देहि स्थैर्यं यस्यास्ताम्। ५ कृपणस्य। ६ भिक्षुका इति शेषः। ७ मागध!।

अदातुः आद्यादम्भपरिकर्मिणा मागधेन तस्य हार्दं लब्धम्। तथापि विचारितम्—"मम अनेन सार्धं कलहकरणं न युक्तम्, यस्माद् 'अहं प्रसन्नं कृत्वा भोजनं लास्यामि' इति कृत्वाऽहम् आगतस्तस्य हानिर्जायते। अयं पुनः 'कल्ये दास्यामि' इति वक्ति, परं मूलतो 'नास्ति' न वदति। अतोऽस्य पृष्ठे लगित्वा प्रत्यहं मार्गयित्वा इमं श्रमयामि, कियता कालेन मां प्रत्युत्तरयिष्यति ?। अन्तेऽयमेव श्रान्तो भूत्वा दास्यति, लोकलज्जया वा मम कार्यं भविष्यति। पश्यामि पूर्वकर्मणाम् अस्य मम च उदयविलासम्, को वाऽत्र जयति !"। इति विचिन्त्य प्रत्यहम् आशीर्वचनमुक्त्वा भोजनं याचते। स तु प्रथमदिनोक्तवचनेनैव प्रत्युत्तरयति। तदा मागधो वदति—'कल्यं कदा भविष्यति ?'। धनकर्माऽऽह—"अधुना तु 'अद्य' वर्तते, कल्यं कुत्र ? अतः कल्ये दास्यामि" इत्युक्त्वा विसृजति। एवं प्रत्यहं कुर्वताऽनेके वर्षा व्यतीताः, परं धनकर्मणा किमपि न दत्तम्। वन्दी तु मन्दीभूतो भग्नाशश्चिन्तयितुं लग्नः—अयं मितंपचः केनाप्युपायेन व्ययं न कुरुते, परं केनचित् प्रपञ्चेन मयाऽवश्यं व्ययः कारयितव्यः, यतः पादावर्त्तम् अनावर्त्य किं कूपाद् जलम् आकृष्यते ?। नीतावप्युक्तम्—'शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्'। वक्रशीलो हि बलात्कारेण सदाचारं कार्यते, यस्माद् धनुर्यावद् आकृष्टं ध्रियते तावत् गुणभृद् भवति, नान्यथा। कृपणशिरोमणेरस्य श्रीर्दैवतादिसहायं विना स्वायत्ता न भवति। तस्माद् 'वक्रे काष्ठे वक्रो वेधः' इति लोकोक्तिः सत्यीकरणीया। स्वात्मनः पणरक्षणार्थं केनाप्युपायेन अस्य कमलां स्वीकृत्य त्याग–भोगविधानतः कृतकृत्यां करोमि। अतः प्रतारणीं विद्यां साधयित्वा चिन्तितं करोमि"। इति ध्यात्वा ईहितधनकोटिः स मागधः कर्णमोटीसुरीगृहं गतः। तां शक्तिं नत्वा 'त्वत्प्रसादतो मत्कार्यं सिध्यतु' इत्युक्त्वा सावधानमनाः स मागधो विद्याराधनकृते 'अर्थं साधयामि वा देहं

१ कृपणः। २ जलकर्षणयन्त्रम्। ३ लक्ष्मीम्। ४ ईहिता धनकोट्यो येन। ५ चण्डिकादेवीमन्दिरम्।

पातयामि' एवं मनो निश्चलं कृत्वा सविनयम् एकविंशतिमुपवासान् विधिपूर्वकान् व्यधात्। एवं तेन मौन-तपो-मन्त्रजाप-होमादिभिर्बहुतरैराराधनकृत्यैः सा चण्डिका प्रसन्नीकृता। ततः सा देवी प्रत्यक्षीभूय मागधं प्रत्युवाच—'हे वत्स ! तव भक्त्या प्रसन्नाऽहम्, यथेप्सितं वरं वृणीष्व'। इति देवीगिरं श्रुत्वा स मागधो देवीं नत्वेति ययाचे—'हे मातः प्रियप्रदे ! यदि त्वं ममोपरि सन्तुष्टा जाता तर्हि मह्यं रूपपरावर्तविद्यां गतकालविज्ञत्वं च देहि'। तदा सा देव्यपि तदाशयेप्सितवरं दत्त्वा तिरोभावं गता, यतः प्रसत्तिभाजां सुपर्वणां[1] किम् अदेयं भवेत् ?। ततः स मागधो भृशम् आनन्दितचित्त उत्थाय स्वगृहे गत्वा विहितपारणकोऽवसरं विलोकयन् स्थितः। तावता एकस्मिन् दिने धनकर्मा स्वकार्यसाधनाय ग्रामान्तरं गतः। तदाऽवसरप्राप्तो मागधो देवीदत्तवरप्रभावेण धनकर्मणो रूपं कृत्वा तद्गृहे गत्वा पुत्रादीन् अभाषत—"अहमद्य शकुनाऽभावाद् ग्रामान्तरं न गतः। ततो व्यावर्तमानोऽहं मार्गे श्रीमदर्हतां धर्मं समाख्यान्तम् एकं मुनिमद्राक्षम्। तत्र चाहं मुनिं नत्वोपविष्टः। ततः करुणापरेण मुनिना धर्मसार आख्यातः। तथाहि—"सर्वेषां संसारिणां धनकामना प्रचुरतरा भवति। तस्यार्थं सर्वम् अनिर्वचनीयं कष्टं सहन्ते। यतः—

"यद्दुर्गा[2]मटवीमटन्ति विकटं क्रामन्ति देशान्तरं, गाहन्ते गहनं समुद्रमथनक्लेशां कृषिं कुर्वते।
सेवन्ते कृपणं पतिं गजघटासंघट्टदुःसंचरं, सर्पन्ति प्र[3]धनं धनाऽन्धितधियस्तल्लोभवि[4]स्फूर्जितम्" ॥१॥

इत्यादिमहाक्लेशमनुभवन्ति। परं सा लक्ष्मीस्तु पुण्यबलेन प्राप्यते, तद् अज्ञात्वा तस्यार्थम् अष्टादशपापस्थानानि समाचरन्ति। तदाचरणेऽपि विना पुण्यबलेन न प्राप्नुवन्ति। तथापि—

१ देवतानाम्। २ गहनाम्। ३ युद्धम्। ४ विलासः।

"अंज्जं कल्लं परं परारं पुरिसा चिंतन्ति अत्थसंपत्तिं। अंजलिगयं तोयं व गलन्तमाउं न पिच्छन्ति" ॥१॥

इत्यादिआशाशाकिनीगृहीतास्तदर्थमेव वृथाऽनुधावन्ति। अथ कदापि पूर्वकृतपापानुबन्धिपुण्योदयेन प्राप्ता तदा तदधिकतरमेलने चिन्ता, तस्याः संरक्षणचिन्ता न प्रभवति, परन्तु तस्याः संरक्षणसमर्थे धर्मे नोद्यमं कुर्वन्ति। प्राप्ता च लक्ष्मीः असारा, केवलं कर्मबन्धहेतुः। यतोऽनधीतपरमार्थानां संसारिणां लक्ष्मीः काशयष्टिकल्पा, यथा काशयष्ट्यास्त्वग्लेश उदरे आयाति तदा प्राणसन्देहजनकरोगोत्पत्तिर्भवति तथा प्रीत्या लक्ष्मीरिह-परलोकेऽनेकदुःखानि प्रापयति। तत्र इहलोके यत्र लक्ष्मीस्तत्र भयं तु पृष्ठलग्नं परिभ्राम्यति, अनेकविघ्नानि न सम्भवन्ति। यतः—

"दायादाः स्पृहयन्ति तस्करगणा मुष्णन्ति भूमीभुजो, गृह्णन्ति च्छलमाकलय्य हुतभुग् भस्मीकरोति क्षणात्।
अम्भः प्लावयते क्षितौ विनिहितं यक्षा हरन्ति हठाद्, दुर्वृत्तास्तनया नयन्ति निधनं धिग् बह्वधीनं धनम्" ॥

अतो भवाभिनन्दिप्राणिनां तु इहलोके परमार्थतः क्लेशकारणमेव। यां च लक्ष्मीं सहस्रसङ्ख्यया लक्ष-कोटिसङ्ख्यया ततोऽप्यधिकां वा सञ्चित्य मुक्त्वा न परलोकं गतस्तत्रापि सा पापहेतुरेव। यतः पूर्वं मुक्ता लक्ष्मीः पुत्रस्य वाऽन्यस्य हस्ते चटति, स पुरुषो यानि पापकर्माणि समाचरति तस्य पापस्य विभागो लक्ष्मीसञ्चयकारकः पुरुषो यत्र भवे वर्तते तत्र स्वयमेव अनीप्सितोऽपि आयाति। 'मदीयम् इदम्' इति कृत्वा पापवशेन मुक्तत्वाद् अवश्यं पापविभाग आयाति, न तु पुण्यविभागः, अननुमतत्वात्। पापं हि पूर्वलिखितऋणपत्रतुल्यम्। लिखितऋणपत्रमस्य ऋणदानं विना व्याजं नोत्तरति, वर्धते एव। पुण्यं तु नवीनव्यापार्यवस्तुग्रहणे

१ अद्य कल्ये परस्मिन् परतरस्मिन् पुरुषाश्चिन्तयन्ति अर्थसम्पत्तिम्। अञ्जलिगतं तोयमिव गलदायुर्न पश्यन्ति ॥१॥

हस्तार्पणसत्यङ्कारतुल्यम् । नवीनग्रहणे च यद् जल्पितं तद् लभ्यते, अनुमतिं विना पुण्यविभागो नायाति । अतो लक्ष्मीः परभवेऽपि अनर्थदायिनी भवति । अधिगतशास्त्रहार्दानां प्राप्तधर्माणां पुरुषाणां तु सा काशयष्टिकल्पा लक्ष्मीर्मुक्तिसुखदायिनी भवति । कथम् ?-यो विज्ञः पुरुषः स काशयष्टिं समूलामुत्पाट्य परिकर्मयुक्तोऽन्यान्यक्षेत्रेषु वपति, ततः सा काशयष्टिरिक्षुदण्डरूपा भवति; एवं काशयष्टिरूपां लक्ष्मीं यो जिनभवन-बिम्बादिषु सप्तसु क्षेत्रेषु वपति तस्य इक्षुयष्टितुल्यस्वर्ग-मोक्षसुखदायिनी परम्परया भवति, अन्यथा तु अनर्थकारणं समस्त्येव । एवम्भूताऽपि लक्ष्मीर्यदि स्थिरा स्यात् तदा चेत् तत्प्रतिबन्धोऽपि युक्तः, परं सा तु जलधिकल्लोलवच्चपला । लक्ष्म्यर्थम् अनेके क्षयं गता गच्छन्ति गमिष्यन्ति च, लक्ष्म्या तु न कस्यापि प्रतिबन्धः कृतः । पुराणादावप्युक्तम्—

लक्ष्मी-सरस्वत्योः संवादः

एकदा लक्ष्म्याः सरस्वत्याश्च विवादो जातः । सरस्वत्योक्तम्-"अहमेव जगति महती, यतो मयाऽङ्गीकृता जनाः सर्वत्र सम्मानं प्राप्नुवन्ति, सर्वार्थोपायान् विदन्ति । यतः-'स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते' । तव रूपाणि नाणकादीनि, तेषां शिरस्यहं स्थिता भवामि तदा व्यवसाये व्यवह्रियसे नान्यथा; अतोऽहमेव महती" । तदा लक्ष्म्या भणितम्-"यत् त्वयोक्तं तत्तु कथनमात्रम् । त्वया कस्यापि सिद्धिर्न भवति, यतस्त्वयाऽङ्गीकृताः पुरुषा मदर्थं शतसहस्रशो देशदेशेषु परिभ्राम्यन्ति, मदङ्गीकृतपुरुषस्य पार्श्वे आयान्ति, सेवकवच्च अग्रे तिष्ठन्ति । उक्तञ्च—

"वयोवृद्धास्तपोवृद्धा ये च वृद्धा बहुश्रुताः । ते सर्वे धनवृद्धानां द्वारे तिष्ठन्ति किङ्कराः" ॥१॥

अनेकानि चाटुवचनानि वदन्ति, असद्गुणारोपणोपमया उत्प्रेक्षया वर्णनं कुर्वन्ति, छत्रबन्ध-हारबन्धादिभिस्तद्गुणग्रथनेन स्वचा-

तुर्यं दर्शयन्ति, एवं कृत्वा तस्य प्रसत्तिं कुर्वन्ति। एवं कृते श्रीमान् चेत् प्रसन्नो जातस्तदा तु विद्वांसो मनसि हर्षमाप्नुवन्ति, न चेद्, विषादं वहन्ति, पुनरपि च अन्यान्यस्तुतिरूपाणि चाटूनि कुर्वन्ति। यत उक्तञ्च—

"दृशां प्रान्तैः कान्तैः कलयति मुदं कोपकलितै-रमीभिः खिन्नः स्यात् घनधननिधीनामपि गुणी।
उपायैः स्तुत्याद्यैः कथमपि स रोपमपनयेद्, अहो मोहस्येयं तव भवनवैषम्यघटना!" ॥१॥

तस्मात् सदङ्गीकृताः पुरुषा मदङ्गीकृतस्य पुरुषस्य सेवकप्राया भवन्ति। मदङ्गीकृतस्य दोषा अपि गुणतां यान्ति, अतो जगति ममैव महती। किञ्च, जैनमुनीन् विना प्रायेण ये ये पुरुषास्त्वां सेवन्ते तेऽपि च मदर्थमेव। तेषां हि शास्त्रप्रयासः 'शास्त्रविशारदो भूत्वा लक्ष्मीं मेलयिष्यामि' इति साध्यसाधनाय। तत्र इहलोके बहुतरा बालास्त्वामनुसरन्ति ते तु गतोत्साहा माता-पित्रादीनां भयेन अध्यापकभयेन वा, परन्तु तवानुसरणं तेषां प्रियं न भवति। ये केचन वृद्धास्त्वामनुसरन्ति तेऽपि लज्जया उदरभरणभयाद्वा मत्करग्रहणा मदङ्गीकृतपुरुषस्य प्रसत्तिकरणार्थं पठन्ति। लोका अपि तेषां हास्यं कुर्वन्ति—'एतावति वयसि पठनार्थमुत्थितोऽयम्, किं एकगाण्डं कण्ठो लगति?'। संसारस्था जीवाश्च अनादिकालाद् मदनुकूला एव सन्ति। तत्र डिम्भमात्रा अपि मम रूपं दीनारादिकं दृष्ट्वा उल्लसन्ति, हसन्ति, ग्रहणार्थं करं च प्रसारयन्ति। ततो येऽधिकाधिकवयःपरिणतास्ते मां दृष्ट्वोल्लसन्ति तत्र किमाश्चर्यम्?। यश्च वृद्धो जराविप्लुतो मदर्थमनेकान् उपायान् करोति तस्य न कोऽपि हास्यं करोति, प्रत्युत तत्प्रशंसां करोति—'वृद्धोऽपि स्वभुजोपार्जितवित्तेन निर्वहति, न कस्याप्यर्थीनोऽस्ति'। एकदाऽपि मम रूपं येन दृष्टं तद् जन्मान्तरेऽपि न विस्मर्यते एव, तव तु पठने विस्मर्यते एव, अतो मदग्रे तव मानं कियन्मात्रम्?। यद्यत्र तव प्रत्ययो न भवेत् तदा गम्यतेऽत्र निकटस्थे श्रीनिवास-

नगरे, परीक्ष्यते च आवयोर्महत्त्वम्" । सरस्वत्योक्तम्–'गम्यते एव' । ततस्ते उभे अपि नगरासन्नवाटिकायां गते । अथ लक्ष्म्योक्तम्–'त्वमेव वदसि अहमेव जगति महती, तस्मात् त्वमेवाग्रतो नगरमध्ये गच्छ ! गत्वा च स्वशक्त्या लोकान् आवर्ज्य स्वायत्तीकुरुष्व । पश्चाद् अहमागमिष्यामि, दृश्यते त्वयाऽऽवर्जिता जना मां भजन्ते नवा ?। तत्रोभयोरेकस्या महत्त्वं ज्ञास्यते' । ततस्तावत् सरस्वती भव्यम् अद्भुताकार–वस्त्राऽऽभरणादिभूषितं द्विजरूपं कृत्वा प्रविष्टा । चतुष्पथे गच्छता तेन मायाद्विजेन एको महान् आवासो दृष्टः । तत्र कोटीश्वरो धनी परिवसति । तत्रावासे द्वारासन्नप्रदेशे तस्य धनिकस्य सर्वमानोपमम् आस्थानमस्ति । तत्र महाभरणभूषितम् अनेकसेवकवृन्दपरिवृतं भव्यभद्रासने स्थितं श्रेष्ठिनं दृष्ट्वा तेन मायाब्राह्मणेन आशीर्वादो दत्तः । सोऽपि अत्यद्भुतस्वरूप–सौन्दर्य–सुवेष–सौम्यादिगुणगणालङ्कृतपुण्यपवित्रब्राह्मणोक्तम् आशीर्वचनं श्रुत्वा, आसनादुत्थाय, सप्ताष्टपदानि सम्मुखमागत्य, साष्टाङ्गप्रणामं कृत्वा, द्वितीयभद्रासने निवेश्य, स्वयमपि च निजासने स्थित्वा, तद्गुणरञ्जितहृदयो ब्राह्मणं प्रत्युवाच–'कुत्रत्या भवन्तो भट्टमिश्राः ?, क्व देशे निवासिनो भवन्तः ?, किमत्रागमनप्रयोजनम् ?, कस्य पुण्यवतो गृहे उत्तारको भवताम् ?, किं नाम युष्माकम् ?' । इत्यादि धनिकस्योक्तं श्रुत्वा ब्राह्मण उवाच–'भो गो–ब्राह्मणप्रतिपालक श्रेष्ठिन् ! अहं काशिदेशे सुधामन्यां वाराणस्यां महापुर्यां षट्कर्मनिरतो वसामि । समस्तशास्त्रे मम परिचयोऽस्ति । धर्मरुचीनां पुराणादिश्रावणवृत्तिरस्मि । अनेकब्राह्मणादीनां वेदादिशास्त्राध्ययनदानं करोमि । तन्नगरेशोऽपि मम भक्तिपूर्वं सेवां करोति, गृहिधर्मनिर्वाहार्थं च अनेकग्रामशतानि दत्तानि । तत्र सुखेन परिवसतो ममैकदा शास्त्रं वाचयतस्तीर्थयात्राधिकार आगतः–'येन मानुष्यं लब्ध्वा तीर्थयात्रा न कृता तस्यावतारोऽन्तर्गडुर्ज्ञेयः' । इति महाफलं मत्वा मम तीर्थस्पर्शनश्रद्धा संजाता । तेनाहं सुखासनादिवाहनसामग्र्यां गृहे सत्यामपि तां मुक्त्वा 'पादविहा-

रेण तीर्थकरणं महाफलम्' इति कृत्वा एकाक्येव तीर्थस्पर्शनां कुर्वन् योऽत्रागतः। एकस्मिन् शास्त्राभ्यासमठे ममोत्तारकोऽस्ति। तत्र रात्रिमतिवाह्य प्रभाते स्नानादिपूर्वकं षट्कर्म कृत्वा नगरचर्यार्थं निर्गतः। ततश्चतुष्पथे परिभ्रमतः पुण्यवतां भवतां दर्शनं जातम्। 'धन्योऽयम्' इति ज्ञात्वा आशीर्वादो दत्तः"। इत्युक्त्वा विरते द्विजे श्रेष्ठी स्वहस्तौ योजयित्वा इत्युवाच-"अद्याऽस्माकं महान् पुण्योदयो यत् सकलगुणगणालङ्कृतस्य कृतयात्रस्य तीर्थनिवासिनो भवतो दर्शनेन मानुष्यं सफलं संजातम्। प्रत्यक्षेश्वरदर्शनमिव भवद्दर्शनं मन्ये। अद्य मम वराकस्योपरि महती कृपा भवता कृता। अद्य अनाहूता सुरसरित् स्वगृहाङ्गणमागता इति जानामि, अतोऽमृतस्राविण्या स्ववाण्या कृपां कृत्वाऽनुग्रहं करोतु भवान्"। ततस्तेन ब्राह्मणेन अतिमधुरया गिरा अवसरोचितराग-स्वर-ग्राम-मूर्च्छनादियुक्तं श्रुतिकटु-क्लिष्टार्थादिदोषरहितं शृङ्गारादिरसगर्भितम् अनेकार्थभासन-चित्रमालङ्कारसहितं विविधच्छन्दो-ऽनुप्रास-युक्तं चित्ताह्लादकारकं अश्रुतपूर्वं सान्वर्थवर्णविभूषितम् एतादृशम् उदात्तस्वरेण सूक्तादिकं पठितुमारब्धम्। अथ तत् सकलगुण-गणालङ्कृतहृदयः श्रवणहरिणी(हारिणी)विस्मृतसमस्तगृहकार्यो विकसितनेत्र-वदनो धनी पुनः पुनः प्रशंसयन्, शिरो धुन्वन्, नेत्रे घूर्णयन्, चित्रस्थमूर्तिरिव अचलः शृणोति। तावता ये चतुष्पथे गमनागमनं कुर्वाणा लोकास्तेऽपि तां वाणीं श्रुत्वा रागे-णाकृष्टहृदया हरिणयूथानीव धावन्तस्तत्रागताः, चित्रमूर्तय इव स्थिताः, एकचित्तेन शृण्वन्तश्च तस्थुः। अथ येऽपि शास्त्रविद्या-मदान्धाः पण्डिताः स्वपाण्डित्यदर्पयुक्ता अतिकर्कशाभ्यासेन कण्ठीकृतशास्त्रपरमार्था लब्धवक्तृत्व-कवित्व-शास्त्रपठनफलमदोन्म-त्तास्तेऽपि तत्रागत्य तां वाणीं श्रोतुं लग्नाः। अथ तस्य नवनवोल्लेखशालिप्रतिभापटुत्वेन शब्दभेद-पदच्छेद-श्लेषार्थ-चित्रालङ्कारा-दिगर्भितायाः सर्वतोमुख्या गिरः कुशलत्वं दृष्ट्वा मुक्तस्वस्वनैपुण्याभिमानाश्चमत्कृतचित्तास्तां ब्राह्मणवाणीं प्रशंसयितुं लग्नाः-'किमयं

ब्राह्मणो रूपान्तरिता ब्रह्मणो मूर्तिः ?, किमयम् अनङ्गमूर्तिर्वा ?, किमयं कूर्चालसरस्वती वा ?, किमयं सर्वरसानां मूर्तिर्वा ?, किमयं वाणीवादिब्रह्मध्वनिर्वा ?, शृङ्गारादिसमस्ताऽमृतरसतरङ्गिणी वा ? । अहो अस्य चमत्कारकारकं कौशल्यम् !, अहो प्रतिभापटुत्वम् !, अहो अस्य सान्वर्थविविधार्थयोजनशक्तिः !, अहो अस्य शब्दानुप्रासचातुर्यम् !, अहो अस्य एकस्मिन्नेव पद्ये प्रतिपादं रागान्तरावतारणशक्तिः !, अहो अस्य गतिगहन—गम्भीरार्थं प्रति श्रोतृहृदयावतारणशक्तिः !, अहो अस्य गतोपमानं जगच्चित्तरञ्जकं रूपम् !, किमपि अनिर्वचनीयशक्तिरचितलीलाविलसितम् ! । मनुष्ये तु एतादृशं सर्वगुणानामेकत्रावस्थानं दुर्लभम् । ईदृशं न क्वापि दृष्टं श्रुतं वा, अहो ! महाश्चर्यम्' । तथा येऽपि च नृत्यकलासु कुशला रागादिविज्ञानदक्षास्तेऽपि श्रुत्वा मुक्तस्वस्वाभिमानाः प्रशंसां कुर्वन्ति—'अहो अस्य रागादिविनिमयशक्तिः !, अहो अस्य रागावगाहनशक्तिः !' । इत्येवम् अनेकसहस्रा लोकाः प्रशंसां कुर्वन्तो विस्मृतस्वस्वगृहकार्या विस्मृतखान—पानाः कृतोर्ध्वकर्णाः शृण्वन्ति, न कोऽप्यन्यद्वर्णमात्रं वक्ति । गमनशीलस्य कालस्य न कस्यापि शुद्धिर्जाता । एवं कुर्वतां सपादप्रहरो गतः । अथ लक्ष्म्या चिन्तितं मनसि—'अनया तु नगरे गत्वा स्वशक्तिबलेन समस्तलोकानां मनांसि वशीकृतानि, एतावता स्वशक्तिबलं दर्शितम् । अधुनाऽहं तत्र गत्वाऽस्याः शक्तेर्भ्रंशनं करोमि' । इति संप्रधार्य एकं बृहज्जरतीरूपं कृतम् । तत् कीदृग् ?—जरया सङ्कुचितगात्रं, मुख—नेत्र—घ्राणविवरेभ्यो यथानुरूपं परिगलद्रसं, दशनश्रेणिपरिभ्रष्टमुखम्, अतिजरया गतकेशं—खल्वाटशीर्षं, विसंस्थुलत्वक्केजं, परिस्खलद्वचनं, परिभ्रष्टनेत्रबलं, नाऽतिधवलवस्त्रावृतं, कटिप्रदेशाद् नम्रीभूतं, परिगृहीतहस्तयष्टिकं, स्खलच्चरणयुगडिगमगायमानम् । ईदृशं स्वरूपं कृत्वा नगरान्तरागता । तत्र परिभ्रमणं कुर्वत्या तस्यैव धनिकस्यावासस्य पाश्चात्यद्वाराङ्गणे स्थित्वा अतिदीनवाण्या जलयाचनं कृतम् । तस्या दैवतप्रभावेण श्वश्रूर्वध्वश्च अर्धपिहितद्वारान्तःस्थिताः शृण्वन्ति

तासां कर्णेषु तप्तत्रपुक्षेपणमिव अतिकटुकं लगति, शृण्वतीनां तासां रसभङ्गं करोति । ततोऽतीर्ष्यातो ज्वलन्ती श्वश्रूर्वधूं प्रत्युक्तवती-'वध्वे! पश्चाद्द्वारे, कः फूत्कारं करोति?। कर्णकटुकशब्देन प्रजल्पति, शृण्वतीनां विघ्नकरं भवति। यद् याचते तद् दत्त्वा इतो स्थानात् निष्काशय यथा सुखेन श्रवणं जायेत। ईदृशं श्रवणं कस्मादपि पुण्योदयात् प्राप्तं, पुनर्मिलनं दुष्करम्। लक्षदीनारादपि महार्घा इयं घटिका जन्मजीवितसफलकारिका। अतः शीघ्रं गत्वा तं विसर्ज्याऽऽगच्छ'। एवं पुनः पुनः श्वश्र्वा उक्ते सति अनुल्लङ्घनीय-श्वश्रूवचनात् एका वधूस्तिरस्कारकरणमिव मन्यमाना किञ्चिद् बडबुडशब्दं कुर्वाणा धावन्ती अपरद्वारमुद्घाट्य 'अरे रण्डे जरति! किमिदं फूत्करोषि?। यतोऽमृतपानमिव भवार्तिरोगहरं धर्ममर्मकं वचनं शृण्वतीनामस्माकं विघ्नकरा जायसे। किं याचसे त्वं?, कथय कथय, तद् लात्वा गच्छ गच्छ इतः स्थानात्'। एवं श्रुत्वा जरत्योक्तम्-'हे पुण्यवति सुभगे! धर्मश्रवणफलं तु दया, तां विना तु सर्वं वृथा; अतो दयां कृत्वा मां जलपानं कारय। अहं तृषिताऽस्मि, मम कण्ठस्तृषया शुष्यति'। तया च शीघ्रं जलकलशो गृहादानीतः। कथितं च-'अरे! निष्काशय शीघ्रं तव पात्रं, जलं दत्त्वा यामि। मम तु लक्षमूल्या घटिका याति। एकैकम् अस्य वचनं चिन्तामणितोऽप्यधिकं गच्छति, अतो जलं गृहीत्वाऽपसर इतः प्रदेशात्'। जरत्योक्तम्-'भगिनि भाग्यवति! अहं तु वृद्धाऽस्मि, निष्काशयामि जलपात्रम्'। इत्युक्त्वा झोलिकाया एकस्मात् कोणकाद् रत्नमयं पात्रं निष्काश्य हस्ते धृत्वा जलग्रहणार्थं हस्तः प्रसारितः। तदा सा वधूस्तत् तेजःपुञ्जभासुरं लक्षमूल्यम् अदृष्टपूर्वं पात्रं दृष्ट्वाऽतिविस्मितचित्ता आह-'हे वृद्धे मातः! तव ईदृशं पात्रं कुतः?, ईदृशे च पात्रे सति त्वं दुःखिनी कथं भवसि?, कोऽपि तव नास्ति?'। तदा जरत्योक्तम्-'हे कुलवति! मदीयास्तु चत्वारो नन्दना अभूवन्, ते सर्वे विलयं प्राप्ताः। किं करोमि?, कर्मणां गतिरनिर्वचनीया। को जानाति किं भूतं किं भविष्यति च।

अधुना तु अहमेकाकिन्येवास्मि। ईदृशानि पात्राणि तु बहुतराणि सन्ति, परन्तु कोऽपि मम परिचर्याकारको नास्ति। यो मम सेवां करोति, यो यावज्जीवं ममानुकूलां सेवां करोति, तस्मै सर्वस्वं ददामि। रक्षणे किं प्रयोजनम्?, लक्ष्मीस्तु न केनापि सह याता याति यास्यति च'। इत्युक्त्वा झोलिका निष्काश्य तां प्रति दर्शिता। सा च झोलिकान्तर्द्रष्टुं प्रवृत्ता। तन्मध्येऽनेकानि रत्नमयानि पात्राणि, अनेकानि रत्नभूषणानि, अनेकानि मुक्तामयभूषणानि, एकैकानि कोटिकोटिमूल्यानि पृथिव्याम् अलभ्यानि अदृष्टपूर्वाणि पुं-स्त्रीयोग्यानि वस्त्राणि च सन्ति। अथ तया वध्वा झोलिकान्तर्गतानि आभूषणादीनि दृष्ट्वा कथाश्रवणं तु विस्मृतम्। चित्तं लोभाभिभूतम्। लोभरञ्जिता सा वधूर्जरतीं प्रत्युवाच-'हे मातर्वृद्धे! किमर्थं त्वं दुःखिनी भवसि?। तव सेवामहं करोमि। त्वं तु मम मातृकल्पा, अहं तु त्वत्पुत्र्यस्मि। अहं त्रिशुद्ध्या यावज्जीवं सेवां करिष्यामि। भवत्या काऽपि शङ्का न रक्षणीया, भेदो न गण्यः। आगम्यतां गृहमध्ये, सुखेनैव तिष्ठ त्वं भद्रासने'। ततः सा जरती शनैः शनैः पादन्यासं कुर्वती कथमपि मध्ये द्वारपार्श्ववर्तिप्रदेशे आगत्य भद्रासने स्थिता। सा तु 'क्षमा क्षमा' इति शब्दं कुर्वती अनुचरीभूय अग्रे स्थित्वा चाटूनि करोति। ततस्तया जरत्या तां वधूं प्रति पृष्टम्-'वत्से! त्वं मां रक्षितुमिच्छसि तत् किम् अस्मिन् गृहे त्वमेव मुख्याऽसि येन निःशङ्कतया निमन्त्रणं करोषि?। तदा वध्वोक्तम्-'मातः! नाहं मुख्या, मुख्यौ तु मम श्वश्रू-श्वशुरौ वर्तेते'। जरत्योक्तम्-'तर्हि तयोरनुज्ञां विना कथं त्वं मां रक्षितुमलम्?'। तदा तया प्रोक्तम्-'मातः! अस्मिन् गृहे मम श्वशुरः श्वश्रूः ज्येष्ठो ज्येष्ठवधूर्देवरो देवरपत्नी च ते सर्वेऽपि सानुकूला वर्तन्ते, अतः सुखेन स्थेयं भवत्या'। जरत्योक्तम्-एवं तु न, यदा तव श्वशुरः श्वश्रूश्च सम्माननिमन्त्रणं कुरुतस्तदा तु अहमत्र तिष्ठामि, नान्यथा तु घटिकामात्रमपि। भद्रे वत्से! एकस्य चित्ते प्रीतिः अपरचित्तेऽप्रीतिस्तत्र निवसनमयुक्तम्'। तया प्रोक्तम्-'यदि ते सर्वे सवि-

नगरम् आगमनं कुर्वन्ति तदा त्वं स्थिरचित्ताऽत्र स्थास्यसि वाऽन्यत् किमपि इच्छसि ?'। जरत्या 'ओम्' इति प्रोक्तम्। अथ वधूः शीघ्रं शीघ्रं पिहितकपाटान्तःस्थिता श्वश्रूर्यत्र शृणोति तत्र गत्वा सहसाऽऽलापीत्–'भवत्या शीघ्रं शीघ्रं गृहान्तरागन्तव्यम्'। तदा तया श्रवणभङ्गकोपाद् उक्तम्–'मूर्खे! किम् अनयं वाचालवाण्या अमृतस्राविण्याः श्रवणविघ्नं करोषि ?। मानुषीरूपेण विधात्रा गर्दभी निर्मिता इत्यसे!। पुनरेवं दुष्प्राप्यग्राममानुष्यभवं सफलं कुर्वत्या यत् फूत्कारकरणविघ्नं करोषि तेन पापेन गर्दभी भविष्यसि'। तदा वध्वा प्रोक्तम्–'पूज्ये! एका वृद्धा माता भवतीनाम् अगण्यपुण्यप्राग्भागोदयेन अतर्किताऽनाहूता कमलेव आगताऽस्ति'। एवं श्रुत्वा गर्विता सामर्षं साहङ्कारं वधूं प्रत्युत्तरयितुं लग्ना–'भो जडप्रकृते! अस्मिन्नगरेऽस्मद्गृहतोऽपि महत्तरः कोऽप्यस्ति किं यत् त्वं मर्गं मेहनया वर्णयसि ?। अतो ज्ञाता त्वं मूर्खराड् असि। त्वम् अवसरम् अनवसरमपि न वेत्सि। कदापि कोऽपि महाजनोऽनवसरे गृहमागतस्तदा तद्योग्यसम्मान–शिष्टाचारं कृत्वा विसर्ज्य न स्वकार्यं यः प्रवणो भवति स निपुणः कथ्यते, न भवादृशो भवति'। इति श्वश्रूवचः श्रुत्वा वध्वा प्रोक्तम्–'भवत्या यदुक्तं तत् तथैवास्ति, परन्तु अत्रागत्य एकं मद्वचनं श्रुत्वा यथेच्छं कुरु, किं निष्कारणं लोकान् श्रावयसि ?'। तदा श्वश्रूर्भृकुटिं भाले कृत्वा नेत्रे वक्रयित्वाऽऽगता। 'किं किं प्रलपसि ?'। तदा तया वध्वा कक्षान्तरितपदार्थं रत्नखचितं स्वर्णपात्रं दर्शितम्। तद्दर्शनमात्रेण सूर्योदये कञ्जमिव तस्या मुखं विकसितम्। हासपूर्वकं विस्मययुक्तं वधूं प्रत्युवाच–'पुत्रिके! कुत इदं तव हस्ते लब्धम् ?'। वध्वोक्तम्–'पूज्ये! अद्य तु युष्मद्भाग्योदयेन स्वभूनी स्वयमेव अनाहूताऽऽगतास्ति, अतः किं ममोपरि कोपं करोषि ?। अज्ञात्वा मम दुर्वचनमुक्तं तद् भवादृशीनां न युक्तम्। तव चरणसेवां कुर्वत्या मम एतावद् वयो जातं तत् सर्वमपि अद्य सर्वगृहमनुष्याणां मध्ये निष्फलीकृतम्। किं प्रत्युत्तरयामि ?, पूज्यानां किमपि वचनं कथनयोग्यं भवति, किमपि

न भवति। किमपि प्रकटनयोग्यं, किमपि चतुष्कर्णयोग्यमेव भवति, तत्किं सर्वेषु शृण्वत्सु प्रलपामि ?। अतोऽधुना यथा रुचिस्तथा कुरु'। एवं वधूवचः श्रुत्वा प्रत्युत्तरयति–'विदुषि! अहं जानामि त्वं विचक्षणाऽसि, अवसरज्ञाऽसि, गृहमण्डनाऽसि। परं किं करोमि ?, श्रवणव्यग्रचित्तत्वान्न ज्ञातम्। मया दुर्वचनमुक्तं तस्य क्षमां कर्तुं योग्याऽसि। अथ यां त्वं कथयसि सा वृद्धा काऽस्ति?' वध्वा प्रोक्तम्–'गृहमध्ये भद्रासने निवेशिताऽस्ति, तेन यूयं तत्र गत्वा सुखालापपूर्वकं शिष्टाचारं कृत्वा तां मनःप्रसत्तिभाजं कुरुत'। ततः सवधुका श्वश्रूस्तत्र गत्वा सविनयं तां प्रति आलाप्य विज्ञप्तिं कर्तुं प्रवृत्ता–'हे मातः! सानन्दं सुखेन स्वगृहवद् अस्मद्गृहे स्थातव्यम्, काऽपि शङ्का न रक्षणीया। ईदृशं मम भाग्यं कुतो यद् भवादृशाया वृद्धायाः सेवां करोमि ?। त्वं तु मम मातृकल्पा, अहं तु पुत्रित्वेन त्वया गण्या। अस्माकं महाभाग्योदयेन तीर्थरूपा त्वम् अस्मद्गृहमागता। एताश्चतस्रो वध्वस्तव दासीप्रायास्तवादेशकारिण्यो ज्ञेयाः। खान–पान–स्नान–शयनो–त्थानादि यत्कार्यं भवेत् तद् निःशङ्कं वक्तव्यम्। तत्सर्वं सहर्षं शिरोबलेन करिष्यामः'। एवं श्रुत्वा जरती प्राह–'भद्रे! त्वया साधूक्तं, परं त्वत्पतिरेव आगत्य सबहुमानम् अत्यादरेण रक्षेत् तदा तु अहं स्थिरचित्तेन निवसामि। चित्तप्रसत्तिं विना कस्यापि गृहे चित्तं स्थिरं न भवति'। एवं श्रुत्वा गृहस्वामिन्या गदितम्–'एतेनैव तव चित्तं प्रसत्तिं भजते तत्तु सुकरम्। मम पतिस्तु ईदृशे कार्ये परमहर्षवान् उत्साहवानेव सदा प्रसत्तिपात्रं भूत्वा निर्वहति'। तदा जरत्योक्तम्–'यद्यप्येवं, तथापि तस्याऽनुज्ञां विना ममाऽत्र स्थातव्यं न भवति'। गृहस्वामिन्योक्तम्–'तमाहूय अनुज्ञां दापयामि'। जरत्योक्तम्–'स क्व गतः ?'। गृहस्वामिन्योक्तम्–'कोऽपि देशान्तरीयद्विजवर आगतोऽस्ति,तस्य पार्श्वे धर्मश्रवणं करोति। तम् आह्वयामि'। जरत्योक्तम्–'एवं तर्हि तस्य धर्मं शृण्वतो माऽन्तरायं कुरु'। गृहस्वामिन्योक्तम्–'आः! ईदृशास्तु स्वोदरपूर्तिकरणार्थं बहुतरा

आगच्छन्ति, अतः किं गृहकार्यं विनाश्यते ?'। इत्युक्त्वा धाविता। यत्र गृहान्तः स्थिता वध्वः शृण्वन्ति तत्र गत्वा गृहद्वारान्तः स्थित्वा एकः स्वसेवको द्वित्र्यादिशब्दैन आहूतः। सोऽपि श्रवणरसिकश्चित्ते दूयमान आगतः। तया कथितम्–'श्रेष्ठिने उपकर्णीभूय कथय–गृहान्तः श्रेष्ठिनी आह्वयति'। तेनापि तथा कृते श्रेष्ठिना सरोषम् एवमुक्तम्–'ईदृशं किं महत्कार्यमापतितं येन ईदृशेऽवसरे आह्वयति ?, अतो याहि याहि, कथय तां प्रति यत् कार्यं भवति तत् पिधाय रक्षणीयम्। चतुर्घटिकोर्ध्वम् आगमिष्यामि। अधुना तु मौनं कृत्वा ईदृशीम् अमृतपानकल्पां देशनां शृणु'। एवं श्रुत्वा सेवकेन श्रेष्ठिन्यै निवेदितम्। पुनः श्रेष्ठिन्योक्तम्–'पुनः कथय स्वामिनं–किमपि महत्कार्यं वर्तते अतो गृहान्तरागम्यताम्'। तेन सेवकेनोक्तम्–'अहं तु न गच्छामि, ममोपरि कुप्यति स्वामी, अन्यमाज्ञापयतु'। तदा श्रेष्ठिन्याऽन्यः सेवक आज्ञापितः। पुनः पुनस्तदेवोत्तरं दत्तम्। तदा श्रेष्ठिन्या द्वारकपाटमुद्घाट्य, जनलज्जां विहाय, मुखं निष्काश्य श्रेष्ठिनं प्रत्युक्तम्–'स्वामिन्! शीघ्रं शीघ्रं गृहान्तरागन्तव्यं, किमपि महत्तरं कार्यमापतितमस्ति'। तदा श्रेष्ठिनाऽध्यवसितम्–'नूनं किमपि राजकार्यमापतितं दृश्यते, अन्यथा इयं लज्जां विहाय ईदृशे जनवृन्दे स्थिते कथं मुखं निष्काश्य वदेत् ?। अतोऽवश्यं गन्तव्यं मया'। एवं संप्रधार्य महाकष्टं यथा भवति तथा उत्थितः। त्वरितं गृहान्तरागत्योक्तम्–'अरे! वद वद, किमर्थं धर्मश्रवणान्तरायं कृत्वा आहूतः ?'। श्रेष्ठिन्योक्तम्–'किम् आकुलो भवसि ?, धीरो भव, युष्मद्भाग्यमुद्घटितं यद् वृद्धा माता समागताऽस्ति'। श्रेष्ठिनोक्तम्–'का तव वृद्धा माता आगताऽस्ति ?'। एवं वदन्तं गृहमध्ये गत्वा श्रेष्ठिन्या पात्रं दर्शितम्। तद्दर्शनमात्रेण चमत्कृतपाषाणे लोहमिव पूर्वाऽध्यवसितं सर्वं विस्मृतम्। एवं च वक्तुं लग्नः–'कुत इदम् अदृष्टपूर्वं रत्नपात्रम् ?'। तदा तयोक्तम्–'स्वामिन्! अग्र व्याख्यानं शृण्वन्तु एका देशान्तरतो वृद्धा समागता। गृहाङ्गणे तया पानीयं याचितं, तदा मया

वृद्धवधूं प्रत्यादिष्टम्–पश्य पश्य, कः कर्णकटुशब्दः शृण्वताम् अन्तरायं करोति ?। अतो यद् याचते तद् दत्त्वा तं विसर्ज्य आगच्छ' । इत्यादिकं सर्वं स्वामिने निवेदितम् । 'स्वामिन् ! युष्मद्भाग्यबलेन इयं वृद्धा जङ्गमं निधानमिव आगता । कोऽपि नोपलक्ष्यते, कोऽपि न जानाति । प्रथममेव युष्मद्गृहे आगतास्ति । तस्याः पार्श्वे ईदृशानि पात्राणि वस्त्राणि आभूषणानि च बहुतराणि सन्ति, अतस्ताम् आवर्ज्य रक्षतु' । तां वार्तां श्रुत्वा लोभविह्वलः श्रेष्ठी तया सह यत्र सा वृद्धा तत्रागत्य प्रणामपूर्वकं ताम् आलापयितुं लग्नः–'मातः ! कुतो देशाद् भवदागमनम् कुशलेन ?, किं तव कोऽपि परिचारको नास्ति ?' एवं श्रुत्वा तया जरत्योक्तम्–"भ्रातः ! पूर्वं तु मम ईदृशं गृह–धन–स्वजनादिकमभूद् यादृशं प्रायो कस्यापि राज्ञो न भवति । अधुना तु एकाकिन्येवास्मि । कर्मणां गतेर्वैचित्र्यं सर्वसंसारिषु । यतः—

"नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि । अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" ॥१॥

अतः कर्मदोषेण जराद्यवस्थां प्राप्ताऽस्मि । किं क्रियते भ्रातः !" । तदा व्यवहारिणा प्रोक्तम्–"मातः ! अतः परं काऽपि अधृतिर्मा विधेया । एते सर्वे त्वया स्वसन्ततितुल्या एव ज्ञेयाः । अहमपि तव निर्देशकारकोऽस्मि, नात्र कोऽपि सन्देहः । इदं गृहं स्वगृहमिव गण्यं, न भेदो रक्षणीयः । तवादेश एव मम प्रमाणम् । मनसा वाचा कायेन च अहं वदामि–तव स्वमातृवद् भक्तिं करिष्यामि । किमतिजल्पनेन ?, अतिजल्पनेन कार्त्रिम्योद्भावनं स्याद्, अतोऽवसरे सर्वं ज्ञास्यसि" । पुनर्गृहस्वामिन्या प्रोक्तम्–'मातः ! किमत्र द्वारदेशे स्थिताऽसि ?, आगम्यतां गृहमध्ये, अलङ्करोतु पल्यङ्कम्' । इत्युक्त्वा श्रेष्ठिन्या वध्वा च जरत्या हस्त–स्कन्धादिकं संगृह्य 'क्षमा क्षमा' इति शब्दं ब्रुवाणया गृहान्तः पल्यङ्के नीता ।

एतस्मिन्नवसरे दैवतमायया किं जातम् ?—यत्र द्विजरूपेण भारती व्याख्यानं करोति तत्र सर्वेऽपि पूर्वोक्ता जनाः शृण्वन्ति। तत्र चतुष्पथे कतिचिद् राजसेवका अन्ये च नागरिकाः पामरजनाश्च गृहीतविविधवस्त्राभरणसमूहहस्तास्त्वरितगत्या धावमाना आगच्छन्ति। तान् दृष्ट्वा श्रवणरसिकजनैः पृष्टम्—'इदं स्वर्ण—रूप्यमयं भूषण—पात्रादिकं कुत आनीतम् ?, त्वरितगत्या च किमर्थं चलथ ?'। तैरुक्तम्—"अद्य अमुककोटीश्वरेण धनिना राज्ञो महानपराधः कृतो भविष्यति, तेन अतिकुपितेन राज्ञा सभायां स्थित्वा निर्देशः कृतः—'सर्वैरपि राजसेवकैर्नागरिकैश्च यथेच्छया अस्याऽपराधिनो गृहं लुण्ट्यताम्। यद् यद् यो गृह्णाति तत् तत् सर्वं मया तस्यैवाऽनुज्ञातं, सुखेनैव गृह्यतां, नास्मद् भयं गण्यं, तेन सर्वेऽपि तस्य गृहं लुण्टयितुं प्रवृत्ताः। बहुतरं लुण्टित्वा (तं) परंतु अद्यापि बहुतरमस्ति, किं यूयमपि न गच्छथ ? अतो यात यातं, तत्र गत्वा यथेच्छया गृह्यतां। कोऽपि तत्रान्तरायकारको नास्ति'। ईदृशोऽवसरः कुतः पुनर्मिलिष्यति ?। किमत्र वार्ता शृण्वतां हस्ते चटिष्यति ?"। एवं तैरुत्साहिता लोभार्थिनः सर्वेऽपि धावमानास्तत्र गताः। पण्डितजना महेभ्या व्यापारिणश्च तत्र स्थिताः शृण्वन्ति पुनरस्मिन्नवसरेऽन्ये तन्नगरवासिनो ब्राह्मणा भव्यवस्त्र—भोजनहस्ता धावमानास्तत्रागताः। तदा पण्डितैरपरद्विजैश्च पृष्टम्—'इदं कस्य गृहाल्लब्धम् ?'। तैरुक्तम्—'राज्ञोऽमुकमन्त्रिणः पुत्रो नीरोगो जातः, मरणान्तकष्टाद् उद्धरितः स्नानं करोति, अतस्तस्य पिता प्रतिब्राह्मणं पञ्च पञ्च वस्त्राणि भव्यं भोजनं दीनारमेकं च ददाति। अतः किमत्र स्थिता यूयम् ?, कथं तत्र न गच्छथ ?। गम्यतां तत्र, यूयं पण्डिताः, युष्मभ्यं तु बहुतरं दास्यति'। एवं श्रुत्वा पण्डिताः सामान्यब्राह्मणाश्च तं प्रति धाविताः। केचन महेभ्याः साधुकारास्तत्रस्थाः शृण्वन्ति। अस्मिन्नवसरे दलालसंज्ञका व्यापारिणस्तत्रागता महेभ्यानां पुरः कथयितुं लग्नाः—'श्रेष्ठिनः ! अद्य अमुकवैदेशिकसार्थवाहो बहुतराणि

दिनानि अत्र स्थित्वा गन्तुकामोऽस्ति। सोऽनेकानि वस्त्राणि विविधानि क्रयाणकानि विविधानि च रत्नानि मार्गितमूल्येन गृह्णाति, स्वकीयानि च ददाति। अनेके व्यापारिणस्तत्र गताः सन्ति, ईप्सितं मूल्यं गृहीत्वाऽऽगच्छन्ति। यूयं किं न याथ ?, विक्रयं किं न कुरुथ ?, ईदृशोऽवसरः क्व मिलिष्यति ?'। इति श्रुत्वा महेभ्या अभ्युत्थिताः। अथ च ये निर्धना साधुकाराः सामान्याः परिमितास्ते तत्र स्थिताः शृण्वन्ति। अत्रावसरे गृहस्वामिना वृद्धां प्रति प्रोक्तम्—'मातः ! ग्रीष्मकालोऽस्ति, भव्यजलेन स्नानं करोतु'। तयोक्तम्—'एवं भवतु'। तदा गृहपतिनोक्तं स्वपत्नीं प्रति—'भो अमुके ! मञ्जूषायां भव्यं सुगन्धि तैलं वर्तते, तद् लात्वा अभ्यङ्गपूर्वं स्नानं कारय। अहं गृहोपरि स्थितो वृद्धायोग्यानि वस्त्राणि निष्काशयितुं यामि'। तदा श्रेष्ठिन्या वध्वा च तैलाभ्यङ्गपूर्वं स्नानं कारितं, शरीरं च लुञ्छितं भव्यवस्त्रेण। श्रेष्ठिनाऽपि भव्यवस्त्राणि लात्वा वृद्धा परिधापिता, पुनः सुखासने स्थापिता। तदा जरत्योक्तम्—'तव गृहाङ्गणे को महता शब्देन ब्रूते ?'। श्रेष्ठिनोक्तम्—'मातः ! कोऽपि वैदेशिको द्विजः समागतोऽस्ति स तारस्वरेण अनेकानि भव्यसूक्तानि पठति। अनेके शृण्वन्ति'। जरत्या प्रोक्तम्—'एवम् !, अहो ! मम कर्मणां दोषः। धन्यास्ते जना रसिका ये सकर्णं श्रुत्वा प्रसत्तिपात्रं भवन्ति। मम तु कर्णे तप्तत्रपुसेचनप्रायं लगति'। तदा श्रेष्ठिनोक्तम्—'मातः ! निवारयाम्येनम्'। वृद्धयोक्तम्—'किमन्तरायः क्रियते ?'। गृहपतिना प्रोक्तम्—'तव दुःखकारणवारणे नाऽस्माकं कोऽपि दोषोऽस्ति, अत इमं एतत्स्थानाद् उत्थापयामि। ब्राह्मणस्तु अन्यत्र गत्वा कथयिष्यति। किमत्र अस्य लगति ?'। एवमुक्त्वा धावन् गृहपतिस्तत्र गत्वा सरोषं वदितुं लग्नः—'भो भद्राः ! उत्तिष्ठत यूयम् अतः प्रदेशात्। निष्कारणं किमत्र कोलाहलो मण्डितः ?'। तदा परिमितजनैरुक्तम्—'अयं द्विजवरः किं युष्माकं गृह्णाति ?, किं युष्मत्पार्श्वे याचते ?। अयं तु भवद्भाग्ययोगेन साक्षात् कोऽपि ब्राह्मणो रूपान्तरेणाग-

शोचन्ति। अतो यूयं विज्ञनिपुणाः शास्त्रविदो भूत्वा एवं हीनजनोचितं किं ब्रूथ ?'। तदा श्रेष्ठिनोक्तम्—'अहं जानामि युष्मद्वचनचातुर्यम्। ईदृशं चातुर्यं कस्याप्यग्रे कार्यं, न ममाग्रे। यदि यूयं श्रवणरसिकास्तदा एनमाहूय स्वगृहे स्थापयित्वा किं न शृणुथ ?। अस-मद्गृहाङ्गणे का वितण्डा मण्डिता ?। अत उत्थीयताम्, अन्यथा तु सेवकैर्गलहस्तान् दापयित्वा निष्काशयिष्यामि। अतोऽत्र नोऽवस्थानम्, गच्छत शीघ्रम्'। इत्येवमनादरवाक्यानि श्रुत्वा विलक्षमुखाः सन्तो निन्दन्तः सर्वेऽप्युत्थिताः। ब्राह्मणोऽपि उत्थितः, लक्ष्म्यागमनं ज्ञात्वा नैव वने गतः। गृहपतिरपि गृहान्तरागत्य जरत्यग्रे वक्तुं संवृत्तः—'मातः! भवतीनां कर्णशूलकारको द्विजो मया निष्काशितः। युक्तियुक्तवाक्यानि उक्त्वा निर्घाटितः कुत्रापि गतः, सर्वे जना अपि गताः स्वस्वगृहं प्रति, अतो मातः! सुखेनात्र स्थीयताम्'। जरत्या ज्ञातम्—'भारती तु अपमानिता गता, अतोऽहमपि तत्र गत्वा स्वोत्कर्षस्वरूपं पृच्छामि'। एवंविधं विचिन्त्य गृहस्वामिनं प्रत्युक्तम्—'एतां झोलिकां यत्नेन भव्यस्थाने स्थापय, अहं तु विचारभूम्यां यामि'। गृहपतिनोक्तम्—'अहं जलपात्रं गृहीत्वा भवत्या सह आगमिष्यामि'। तयोक्तम्—'न, यतो लोका एवं दृष्ट्वा भ्रमेण चर्चां कुर्युः। नगरमुख्यस्य तवेदं कर्तुमनुचितम्, अतोऽहम् एकाकिन्येव यास्यामि। देहचिन्तायां मम मनुष्यसङ्गतिर्नो रोचते'। 'भवतीनां समादेशः प्रमाणं, युक्तिर्न कार्या' इत्युक्त्वा जलपात्रं दत्तम्। तद् गृहीत्वा गृहान्निर्गता जरती, यत्र सा भारती तत्र गता। भारती आलापिता—''कीदृशास्तवोदन्ताः ?, का मुग्धा इह जगति ?। हे भारति! लोके त्वया एवं रूढिः प्रवर्तिता—लक्ष्म्याः शिरसि मम स्थानं तत्सत्यम्, परन्तु एतत्तु राज्ञा मनुष्याणामप्रत्ययार्थं निर्मितम्। यदि च हाटकं[1] रूप्यं च विनाऽक्षरमुद्रां न विक्रीयेत तदा तु तव महत्त्वं सत्यम्; अन्यथा तु प्रस्फुल-

१ सुवर्णम्।

नमात्रमेतत्' । भारत्योक्तम्—'अज्ञानान्धे जगति त्वमेव मुख्या । यतो मुनीन् विहाय सर्वेऽपि संसारिण इन्द्रियसुखनिरताः, ते सर्वेऽपि त्वामेव वाञ्छन्ति । ये केचन अवगतपरमार्था गृहीतजिनवचनहार्दास्ते मामिच्छन्ति' । लक्ष्मीराह—'भो भारति ! ये केचन त्वामिच्छन्ति तेषां त्वमपि प्रायेण सानुकूला भवसि, तत्सङ्गे विहरसि, तेषां स्तोकं महान्तं वा प्रयासं सफलं करोषि, तेषां पार्श्वं न मुञ्चसि, सर्वथा निराशान् न करोषि । किञ्च, ये कियन्तः शास्त्राभ्यासं कुर्वन्तः खिन्ना विमुखीभवन्ति ते त्वां विहाय तिष्ठन्ति, त्वन्नामापि न गृह्णन्ति । ये च त्वयि अत्यन्तासक्तास्तेऽपि मामिच्छन्ति, शास्त्राभ्यासमपि मम प्राप्त्यर्थं कुर्वन्ति, निर्गुणान् पुरुषान् अनेकधा सद्गुणारोपणेन स्तुवन्ति, इत्येवं कुर्वतां मम सङ्गो भवति तदा तु सगर्वं प्रस्फुलन्ति, अन्यथा तु विषादमाप्नुवन्ति । पुनर्ममार्थम् अन्यान्यकलाप्रकर्षं दर्शयन्ति, तथापि अप्राप्त्याऽनेकानि चाटूनि कुर्वन्ति, अकरणीयानि कुर्वन्ति, असेव्यान् सेवन्ते, विद्यावतां यद् दूषणं तद् दूषणतया निन्दनीयं भवति । ये च मत्सङ्गतिकास्तेषां दोषोऽपि गुणतया गीयते । यदुक्तम्—

"आलस्यं स्थिरतामुपैति भजते चापल्यमुद्योगितां, मूकत्वं मितभाषितां वितनुते मौढ्यं भवेदार्जवम् ।
पात्रापात्रविचारणाविरहिता यच्छत्युदारात्मतां, मातर्लक्ष्मि ! तव प्रसादवशतो दोषा अमी स्युर्गुणाः" ॥१॥

मद्वियुक्तस्य गुणा अपि दोषतां यान्ति—

"मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्वातुलो[1] जल्पको[2] वा, धृष्टः पार्श्वे वसति च सदा दूरतस्त्वप्रगल्भः ।
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः[3], सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥१॥"

१ बहुभाषकः । २ गयशीलः । ३ अभिजातः कुलीनः ।

सर्वेऽपि जना मम प्राप्त्यर्थं विविधैरुपायैरुद्यमं कुर्वन्ति, अतिदुष्करक्रियासाध्यानि कार्याणि सोत्साहं कुर्वन्ति, तत्र यदि पापोदयाद् न सिध्यन्ति तथापि न मुञ्चन्ति। शतसहस्रशो निष्फलतामनुगता अपि, महाकष्टक्लेशं प्राप्ता अपि, प्राणसङ्कटे पतिता अपि ममेच्छां न मुञ्चन्ति। यद्यपि अहं प्रतिदिनम् अनेकानि अवाच्यानि असह्यानि निन्दनीयानि कष्टानि ददामि तथापि मत्तः पराङ्मुखा न भवन्ति, मयि सानुकूला एव दृश्यन्ते। एकं द्रव्यानुयोगगर्भितम् अध्यात्मधर्मशास्त्रं विहाय प्रायो ये केचन शास्त्रसन्दर्भास्तेऽथ मदुपाया मद्विलासा वा ग्रथिताः। मद्युक्तं पुरुषं मुनिं विहाय सर्वेऽपि संसारिणः सेवन्ते। यदुक्तम्—

"वयोवृद्धास्तपोवृद्धा ये च वृद्धा बहुश्रुताः। ते सर्वे धनवृद्धानां द्वारे तिष्ठन्ति किङ्कराः" ॥१॥

किम् अत्यालापितेन? मरणावसानेऽपि स्वधनं न प्रकाशयन्ति, ममेच्छां च न मुञ्चन्ति। यदि त्वं न मन्यसे तदाऽहं त्वां प्रत्यक्षं दर्शयामि। यतः समस्तसंसारिणां दशप्राणैर्बद्धं जीवितमस्ति। तेषाम् एकादशः प्राण उपचरितो बाह्यधनमस्ति। तस्य बाह्यधनप्राणस्यार्थे केचन अभ्यन्तरदशप्राणानपि त्यजन्ति, न तु द्रव्यम्। किञ्च, मम रूपस्योपरि उद्गतो वृक्षः सहर्षं रूपान्तरेण पुष्पादिना प्रस्फुलति। देवा अपि यत्र मे रूपं तत्र तत्र अनाहूता आगत्य श्रयन्ति। सुभगे! आगम्यतां मया सार्धं, प्रदर्शयामि कौतुकम्"। इत्युक्त्वा ते द्वे अपि चलिते, नगरात् सपादं योजनमेकं गते, तत्र एकत्र कुञ्जगहने स्थिते।

तदा लक्ष्म्या दैवतमायया एकाऽष्टोत्तरशतगजपरिमितलम्बायमाना हस्तत्रयोन्नता एवंविधा जात्यसुवर्णमयी शिला विकुर्विता। साऽपि शिला वालुकायां निमग्ना हस्तैकमात्रोद्घटिता दृश्यते। तस्याः शिलाया एकदेशः पाश्चात्यदिनसूर्यातपेन झिगझिगायमानो दृश्यते, रविकिरणवद् उत्तेजं करोति। अथ अपराह्णयाममात्रदिनशेषसमये द्वौ राजसेवकौ राज्ञा कस्मिंश्चित् कार्योद्देशे ग्रामान्तरं प्रेषितौ राजा-

दिष्टं कार्यं कृत्वा मार्गे आयातौ। तन्मध्याद् एकेन कौतुकप्रियेण इतस्ततो दृष्टिः प्रसारिता। ततस्तेन दूरतः शिलाया एकदेश उत्तेजं कुर्वन् दृष्टः। तदा तेनाऽन्यस्योक्तम्–'भ्रातः! पश्य पश्य, दूरे किमस्ति यद् उत्तेजं करोति?'। तदा तेन रभसवृत्त्या अनुत्सुकतया च दृष्ट्यदानपूर्वकमुक्तम्–'भविष्यति किमपि, काचः, पाषाणशकलः, कमलपत्रादिकं वा भविष्यति, परन्तु अस्मिन् महारण्यप्रदेशे किं सुवर्ण–रत्नादिकं भविष्यति?'। तदा प्रथमेनोक्तम्–'आगच्छतु भवांश्चेत् तत्र गत्वा दृश्यते किमस्ति?, किम् उद्द्युत्यते?'। द्वितीयेनोक्तम्–'किं वृथा अरण्येऽटनम्?, निष्प्रयोजनप्रयासेन किं साधनम्?। अयं तु महत्तरमार्गोऽस्ति, केऽपि पूर्वमागता भविष्यन्ति। यदि चेदं किमपि ग्राह्यं वस्तु अभविष्यत् तदा तैर्गृहीतं किं नाऽभविष्यत्?। तस्मात् चलतु सत्वरं, राज्ञोऽग्रे गत्वा कार्योदन्तं निवेद्य, स्वगृहे गत्वा,स्नान–मज्जन-भोजनादिकं कृत्वा, मार्गश्रममपनोद्य स्वस्ति भवावः'। इति तदुक्तं श्रुत्वा प्रथमेनोक्तम्–भ्रातः! मच्चित्ते तु महदाश्चर्यं प्रतिभाति, अतोऽहं तु तत्र गत्वा निर्णयं करिष्यामि'। द्वितीयेनोक्तम्–'गच्छ त्वं सुखेन, त्वत्पूर्वजैः स्थापितस्य वस्तुनः पोटकं बद्ध्वा गृहमागन्तव्यम्, काऽपि मदीया शङ्का न कर्तव्या। भागांशोऽपि न देयः। मया भागो नेष्यते, अतो मम भागो नार्पणीयः। त्वमेव सुखी भव'। इत्युक्त्वा सत्वरं चलितो ग्रामाभिमुखं द्वितीयः। प्रथमस्तु तस्मात् पृथग् भूत्वा शिलोपकण्ठं गतस्तदा तत्र वालुकानिमग्नः शिलाया एकदेशो जात्यकाञ्चनमयो दृष्टः। दृष्ट्वा च मनसि चमत्कृतो विचारयति–'अहो भव्यं जातं यद् मम सहचरो नागतः। कदापि आगतोऽभविष्यत् तदाऽस्य भागोऽपि देयोऽभविष्यत्। मम भाग्यस्यैवोदयो जातः। अधुना तु अहं पश्यामि कियत्परिमिताऽस्ति'। इति ध्यात्वा हस्तेन वालुकामपसारयति, पश्यति च। तां तु अपरिमितां दृष्ट्वा दर्शनजातहर्षेण विकलचैतन्यो जातः। चिन्तयितुं लग्नः–'अहो! मम अद्भुतं भाग्यं येन मयेदृशं निधानं लब्धम्। ममोपरि सर्वतो विधि-

स्तुष्टः। अस्य लाभेन तु अहं राज्यं करिष्यामि। अस्य प्रभावेण हस्त्य–श्व–पदातिप्रमुखं सैन्यं करिष्यामि, तदा बलवत्तयाऽमुकदेशं गृहीत्वा राज्यं करिष्यामि'। इति मधुघटोत्पाटकपुरुषवद् आर्तध्याने पतितः सन् चिन्तयति–'केनाप्युपायेनेदं सुवर्णं गृह्णामि'। इति चिन्तयन् तत्रैव स्थितो विकल्पसन्दोहे पतितः। अथ द्वितीयोऽपि ग्रामाभिमुखं कियत्परिमितां भूमिं गत्वा चिन्तयति–"राज्ञा तु द्वाभ्यामाज्ञां दत्त्वा विसर्जितौ। अहं तु एकाक्येव गत्वा उदन्तं निवेदयिष्यामि तदा राजा कथयिष्यति 'द्वितीयः कुत्र गतः?'। इति पृष्टे किमुत्तरं दास्यामि?। यथार्थकथने तु न ज्ञायते किं भविष्यति?। अत एकाकिगमनं न युक्तम्, अत एनं गृहीत्वा यामि"। इति संप्रधार्य उच्चप्रदेशे स्थित्वा महाशब्देन आह्वानं कृतम्। प्रथमेनापि श्रुतम्। तेनापि द्रव्यग्रथिलेन ऊर्ध्वं स्थित्वा हस्ताभिनयपूर्वकं महता शब्देन प्रतिवचनमुक्तम्–'त्वमेव याहि याहि, अहं तु पृष्ठत आगमिष्यामि'। इति श्रुत्वा पुनर्द्वितीयेन आह्वानं कृतं, तथापि प्रथमेन पूर्ववद् उत्तरं दत्तम्। एवं बहुवारान् आहूतोऽपि न गतः। तदा द्वितीयस्य मनसि शङ्का जाता यद् मया बहुभिः प्रकारैराहूतोऽपि कथं नागच्छति?, किमपि कारणमत्र भविष्यति, अतोऽहं तत्र गत्वा पश्यामि'। इति संप्रधार्य मार्गान्निवृत्य प्रथमसम्मुखं चलितः। अथ प्रथमेन तम् आगच्छन्तं दृष्ट्वा पूत्कृतम्–'त्वं याहि याहि, अहमपि आगच्छामि वृथा कालविलम्बं किं करोषि?'। इत्येवमुक्तोऽपि सशङ्कस्तत्र गतः। हाटकमयीं शिलां च दृष्ट्वा दृष्ट्वा सविस्मयं शिरो धुन्वन् प्राह–'भ्रातः! लब्धं मया तव कुटिलत्वं, मामपि वञ्चयसि यद् 'एतद् अरण्यस्थितं हाटकमेकाक्येव ग्रहीष्ये'। इदम् अपरिमितद्रव्यं एकाकिनो भवतः कथं पक्ष्यति?। आवां विभागं कृत्वा ग्रहीष्यावः'। तदा अपरेणोक्तम्–"तवात्र लागो भागो नास्ति, एतत्सर्वं मदीयम् अहमेव ग्रहीष्ये। मया तु प्रथममेव त्वां प्रत्युक्तमासीत्–'भ्रातः! आगम्यतां, तत्र गत्वा दृश्यते किमुत्तेजितं वस्तु?'। तदा त्वयोक्तम्–'त्वमेव याहि, तव

पूर्वजैः स्थापितस्य वस्तुनः पोटकं बद्धा गृहमागन्तव्यम्, मम भागो नार्पणीयः'। इत्युक्त्वा अग्रतश्चलितः। अधुना पुनर्विभागं मार्गयन् न स्मरसि। अहं तु साहसं कृत्वाऽत्रागतः। मम पुण्योदयेन मया लब्धं तद् मदीयं, तवात्र किं लगति?। यथागतस्तथा गच्छ त्वं स्वगृहे। अस्मात् कपर्दिकामूल्यमात्रमपि न दास्यामि। वृथा किं स्थितोऽसि?, अपसर इतः प्रदेशात्, तव मम च सख्यं न स्थास्यति"। इत्येवं तद्वचांसि श्रुत्वा लोभाभिभूतोऽमर्षपूर्वकं प्राह–"भो मूर्खराट्! कथं मम भागो न लगति?, यतस्त्वम् अहं च राजसेवकौ, राज्ञा च एककार्यकरणार्थमेव प्रेषितौ, तत्र गच्छतोर्लाभो हानिर्वा सुखं दुःखं वा जायेत तद् द्वाभ्यां ग्राह्यं सह्यं च। अथ एकेनैव एककार्ये निर्दिष्टे सेवकैर्यल्लभ्यते तत्सर्वं विभज्य गृह्यते इत्येवं राजनीतिः किं त्वया विस्मृता?। अतोऽहम् इदम् तव मस्तके हस्तार्धं विभज्य ग्रहीष्ये। कया निद्रया सुप्तोऽसि?। किमिदं जगद् निर्मानुषं जातं येन तवोक्तं भविष्यति?। यदीदं धनं विभज्य दास्यसि तदा द्वयोः प्रीतिरुत्तमाऽचला स्थास्यति, अन्यथा तु 'पानेऽसमर्थो विकीर्णे[1] तु समर्थः' इति न्यायेन राज्ञोऽग्रे निवेद्य पूर्वसञ्चितद्रव्यादिसहितमेव ग्राहयिष्यामि, कारागारे च पातयिष्यामि। अतोऽर्धं मम विभज्य देहि"। इति तदुक्तं श्रुत्वा चिन्तितमपरेण–'नूनम् अदीयमाने धने एष उपाधिं करोत्येव। एतच्च अपरिमितं धनं मया लब्धं कथमस्य दातुं शक्यते?, अत एनं हन्मि तदा मदीयमेवेदं धनं, न कोऽप्यपरो ज्ञास्यति। राज्ञा पृष्टे राज्ञोऽग्रे उत्तरं दास्यामि–मार्गे आगच्छतोररण्यात् सहसा व्याघ्र उत्थितः, तेन च भक्षितः अहं तु पलायित्वा आगतः, इत्युत्तरं दास्यामि। अन्यस्तु न कोऽपि जानाति यः कथयिष्यति, अतोऽस्य मारणेन मम चिन्तितं सफलं भविष्यति'। इति विचिन्त्य आरक्तलोचनो भूत्वा गालिदानपूर्वकं तं प्रति हननाय कोशात् खड्ग

१ विकीर्णने।

निष्काश्य 'मदीयेन धनेन तव स्पृहा चेत् सज्जो भव, धनं ददामि' इति जल्पन् खड्गमुत्पाट्य धावितः। अपरोऽपि तथाविधं सम्मुखमागच्छन्तं तं दृष्ट्वा सामर्षः कोशात् खड्गं निष्काश्य गालिं जल्पन् धावितः। उभाभ्यां मिलनमात्रेणैव सहसा युगपद् रोषवशात् परस्परं घात–प्रतिघातौ मर्मणि दत्तौ। मर्मघातेन द्वावपि भूम्यां पतितौ, अत्युत्कटघातविधुरौ च घटिकामात्रेण मृतौ। अथ कुञ्जस्थिता लक्ष्मीः सरस्वतीं प्रति वक्ति–'दुष्टं धनार्थिनां चरित्रम्?, अग्रतः पुनः पश्य किं जायते'।

अथ घटिकाद्वयसावशेषे दिने निःस्पृहलिङ्गधारको नग्नक्षपणको हस्तस्थितभस्मघटको[1] मार्गे आगच्छति। तेन तम् एतं सूर्यकिरणैरुत्तेजितं शिलादेशं दृष्ट्वा मनसि चिन्तितम्–'अस्मिन् महारण्ये सूर्यकिरणवद् उत्तेजकारकं किमस्ति? पश्यामि, चित्रमेतत्!'। इति कौतुकधिया तत्सम्मुखं चलितः। क्रमेण उपशिलं प्राप्तः, दृष्टश्च शिलैकदेशः। हस्तेन वालुकामपसार्य पश्यति तावता तु अनर्गलप्रमाणां दृष्ट्वा तस्य जटिलस्य चेतना लोभकर्दमेन मलीना जाता। मनसि चिन्तयितुं लग्नः'अहो! इयत्परिमितं धनम् अत्रास्ति। अस्य लाभेन तु राजराजेश्वरपदमनुभूयते। यदर्थं कष्टं क्रियते तत्तु अत्रैव मिलितम्!, अतोऽत्रैव स्थातव्यम्'। इति ध्यात्वा इतस्ततः पश्यति, तदा तौ द्वौ पतितौ दृष्टौ। चिन्तितं च–'नूनम् इमौ द्वौ धनार्थं परस्परं शस्त्रघातेन मृतौ दृश्येते। मार्गनिकटवर्ति धनं कथं प्रच्छन्नवृत्त्या स्थास्यति?' अतो नोऽत्र स्थापनीयम्। इदं समग्रम् उत्पाटयितुं न शक्यते केनापि; अत इदं खण्डशः कृत्वा, कस्मिंश्चिद् अगोचरस्थाने भूमौ निधाय तदुपरि मढिकां कृत्वा तस्यां निवसनं क्रियते तदा चिन्तितार्थसिद्धिर्भवेत्। परन्तु घन–च्छेदनिकादिलोहशस्त्रं विना कथमस्याः खण्डान् करोमि?, अतः कस्यचित् पार्श्वात् तानि गवेपयित्वा लात्वा च पश्चात् स्वसमीहितं करोमि। परम् अधुना तु

१ गोलको।

रात्रिर्जाता, कथं करोमि ?, क्व गच्छामि ?। यदि चैनां विमुच्य कस्मिंश्चिद् ग्रामेऽधिकरणानयनार्थं यामि पृष्ठतश्च कोऽपि बलवान् आगत्येमां गृहीत्वा तिष्ठेत् तदा चिन्तितमन्तर्गडु जायेत'। इति सङ्कल्पजाले पतितस्तावता तत्र विविधशस्त्रहस्ताः षट् चौरा आगताः तं नग्नजटिलं दृष्ट्वा नत्वा चैवमूचुः—'भोः स्वामिन्! अस्मिन् निर्जले निर्मनुष्ये चारणा यूयं कथं निवसथ ?'। इति चौरोक्तं श्रुत्वा जटिलेनोक्तम्—'अस्मादृशानां मुक्तसङ्गानां वनवास एव श्रेयान्। ये केचन महातपस्विनस्तेषामियमेव रीतिर्गीयते। परन्तु यूयं कथं गृहं विहाय यामरात्रिसमयेऽरण्यमागताः स्थ ?'। तदा तैरुक्तम्—'युष्मादृशानामग्रे किम् असत्यं वदामः' वयं तु चौराः स्मः। दुष्पूरोदरपूरणार्थं चौर्यार्थं गच्छामः'। इति तेषां वचः श्रुत्वा जटिलेन चिन्तितम्—'एते धनार्थिनः सशस्त्राः, अत एतान् किमपि धनमात्रं दत्त्वा तस्याः खण्डान् कारयामि'। इति ध्यात्वा तान् प्रत्युक्तम्-'भोः चौराः! यदि मदुक्तं कुरुत तदा युष्मान् प्रतिजनं सहस्रसहस्रदीनारान् ददामि। चौरैरुक्तम्—'बहु भव्यम्, वयं तव सेवकाः स्म। यद् आज्ञापयिष्यसि तद् वयं करिष्यामः'। तदा जटिलेन सा शिला दर्शिता उक्तं च—'मया तपोबलशक्त्या वनदेव्या आराधनं कृतम्, तया च प्रसन्नया निधिर्दर्शितः। अतोऽस्य खण्डान् कृत्वा तीर्थे तीर्थे व्ययं[1] करिष्यामि, तस्माद् अस्याः खण्डान् कुरुत'। इति जटिलगिरं श्रुत्वा तां च दृष्ट्वा परस्परं लोभसमुद्रे मग्नाः सन्तो विचिन्तयितुं लग्नाः—"भो भ्रातरः! ज्ञातं जटिलस्य दम्भकौशल्यं! यद् 'मह्यं देव्या निधिर्दर्शित!'। इमां तु पुरा केनापि राज्ञा सुवर्णरसमयीं शिलां निर्माप्य भूमौ निधितया स्थापिता भविष्यति"। पश्चाद् अतिबहुतरे गते काले मेघवृष्ट्यादिना मृत्तिका जले प्रवाहिता, पवनेन च शिलैकदेश उद्घटितः। इतश्च[2] भ्रमन् अयं जटिलोऽत्रागत्य[3] शिलैकदेशं दृष्ट्वा लोभात् स्वकीयं कृत्वा स्थितः। समग्रां तु इमां ग्रहीतुं न

१ व्ययिष्यामः। २ तत्र। ३ गतः।

शक्नोति, तस्माद् अस्माकमग्रे दम्भरचनां कृत्वा कीदृशीं रचनां करोति ? यत् 'प्रतिमनुष्यं सहस्रसहस्रधनमूल्यं दास्यामि !'। अर्धं न, तृतीयांशं वा चतुर्थांशं वा पञ्चमांशं वा सप्तमांशं वा न हि, सर्वम् अहमेकाक्येव ग्रहीष्यामि। किम् अस्य जनकस्य सत्कं धनं यद् एवं विप्रतारयति ?। अत एनं हत्वा सर्वं वयं ग्रहीष्यामः'। तदा एकेनोक्तम्—'तपस्विनं कथं मारयामः ?'। द्वितीयेनोक्तम्—'अस्य तपस्वित्वं तु गतम्, एष तु वञ्चको धूर्तोऽस्मत्सदृशः। वयं चौरा अयं धूर्तः, परद्रव्यग्राहकौ उभावपि, कोऽस्य हनने दोषः ?। एतत्सर्वं धनम् आत्मीयानां हस्ते आयाति चेत् तदा सर्वैः ठक्कुरपदं भुज्येत' चौरकर्म च च्छुटयेत। तस्माद् एनं हत्वा सर्वं धनं ग्रहीतव्यम्'। इति मन्त्रणं कृत्वा द्वाभ्यां जटिलो वार्तायां प्रवर्तितः, अपरेण च पृष्ठतः खड्गेन तस्य शिरश्छिन्नम्। पश्चात् तैः सर्वैरपि चौरैरुपशिलं गत्वा हस्तैः स्पृष्टा सुवर्णरसमयी शिला। घननिबिडां शिलां ज्ञात्वा विचारयितुं लग्ना यद्—'इयं शिला आत्मीयहस्तगतखनित्रादिशस्त्रैश्छेत्तुं शक्या नास्ति। समग्रा तु न केनापि गृह्येत। अस्यामेव रात्रौ यद् गृह्यते तद् अस्मदीयं, दिवसे जाते तु अनेकविघ्नाः समुत्पद्यन्ते'। तदैकेनोक्तम्—'घन—च्छेदनिकाभ्यां विना चिन्तितार्थप्राप्तिर्न भवेत्, तस्माद् अमुष्मिन् नगरेऽमुकनामा सुवर्णकारोऽस्ति, आत्मीयजातीयानां परिचितोऽस्ति, विश्वासविश्रामभाजनमस्ति; अतस्तस्य गृहे गत्वा, रहस्यम् उक्त्वा, घन—च्छेदनिकादिकं ग्राहयित्वा, अस्मिन्नरण्ये नीत्वा, अस्याः खण्डनं कार्येत तदा तु कार्यं जायेत। तं प्रयासाद् अधिकं द्रव्यं दत्त्वा प्रसत्तिपात्रं करिष्यामः'। इत्येकस्य साध्यानुकूलां वार्तां श्रुत्वा सर्वैरपि अनुमतम्। तदैकेनोक्तम्—'एतन्मृतकत्रयं दूरतोऽपसार्य गम्यते तु वरं, येन अस्या वार्त्तायाः प्रवृत्तिर्न जायेत'। इति मन्त्रणं कृत्वा तानि मृतकानि अतिदूरे परिष्ठाप्य नगरान्तः समागताः। तस्य

१ यतो।

हेमकारस्य गृहे च गत्वा आलापितः स्वर्णकारः[1]। तेनापि तेषां शब्दं श्रुत्वा शीघ्रं बहिरागत्योक्तम्—'आगम्यतां गृहान्तःप्रदेशे, किमानीतं तद् दर्शयन्तु भवन्तः'। इति श्रुत्वा चौरैरुक्तम्—'आनीतम् आनीतं किमु फूत्करोषि ?, अस्माकं तव च दारिद्र्यनाशकम् एकं निधिं स्वायत्तीकृत्य तवाऽऽह्वानार्थमागताः स्मः,अतो घन-च्छेदनिकादिकं करे कृत्वा चल शीघ्रं, मा विलम्बं कुरु, या घटिका याति सा लक्षमूल्येनापि नायाति, अतस्त्वरतां भवान्'। कलादेनोक्तम्—'अहं युष्माकम् आदेशकारकोऽस्मि, परन्तु मां कथयन्तु भवन्तः कुत्र स्थले कया रीत्या निधिर्दृष्टः ?, किमस्ति तन्मध्ये ?, स्वायत्तीकृतस्तदा कस्मान्न गृहीतः ?, कियत्परिमितोऽस्ति ?, इत्यादि सर्वमपि कथयन्तु यद् अहमपि जानामि योग्यायोग्यविभागं, पश्चाद् आगमनं करोमि'। तदा चौरैस्तत्सर्वं तस्याग्रे विशद-रीत्या कथितम्। तच्छ्रुत्वा चमत्कृतचित्तः कलादः, चिन्तयति च—"चौराणां वार्ताऽसत्या न भवति[2]। यद् गीयते लोकैः—'द्वात्रिंश-ल्लक्षणो महान् पुरुषः, चौरश्च षट्त्रिंशल्लक्षणो भवति'। पूर्णनिर्णयं विना नाऽऽगच्छन्त्येते। यद्यहम् अमीभिः सह यास्यामि, एभिरुक्तं कार्यं करिष्यामि तदा मम एकां घटिकां घटिकाद्वयं वा उत्कृष्टतो घटिकात्रयमात्रं दास्यन्ति, अन्यत् सर्वं तु आसप्तसन्त-तिभोग्यं धनम् एते गृहीत्वा यास्यन्ति। अपरिमितधनलाभात् मम गृहे तु अर्धं नागमिष्यति। अहं तु 'रूपकारिकाणां धूम' इति न्यायेन अतिस्तोकतरं गृहीत्वाऽऽगमिष्यामि। तस्माद् अहं बुद्ध्या एवं करोमि यथा तत्सर्वमपि मदीयं भवेत्, तदा च मम बुद्धि-कौशल्यं श्लाघ्येत। एते चौराः परस्वहरणतत्पराः, सर्वेषां दुःखदायकाः, एषां वञ्चने को दोषः ?, बहूनां दुःखोत्पादकानां निग्रहः कर्तव्य एव इति नीतिर्वदति। तद् धनमपि एषां जनकानां स्थापितं नास्ति यद् लोकविरुद्धं पातकं लगेत्[3]। तस्माद् एतान् निगृह्य

१ सुवर्णकारेण। २ भवति। ३ लगति।

सर्वं तद् आत्मसात् करोमि। यतो ममैव भाग्योदयेन आकृष्य आगताः सन्ति, अतो वदनागतं कथं मुञ्चामि ?"। इति परिभाव्य चौराणामग्रे उक्तं कलादेन–'भोः स्वामिनः ठक्कुराः ! अहमद्य सन्ध्यायाम् अकृतभोजनोऽस्मि, रसवती तु अधुना भविष्यति, यूयमपि क्षुधिता भविष्यथ, कार्यं च महाप्रयाससाध्यमस्ति, क्षुधितेन च बलस्फूर्तिः कर्तुं न शक्यते, बलस्फूर्तिं विना च कार्यमपि न जायते, अतो घटिकाद्वयमात्रं मद्गृहे स्थितिं कुरुत, यतोऽहं शीघ्रं घृतपूर्णान् चतुर्मोदकान् निर्मापयामि, पश्चाद् मोदकानादाय तत्र गमिष्यामः। तत्र गत्वा च मोदकान् भुक्त्वा सज्जीभूय कार्यं करिष्यामः। स्वामिनोऽपि ज्ञास्यन्ति सेवकस्य हस्तस्फूर्तिम्। अद्यैव रजन्यां तस्याः खण्डान् कृत्वा दास्यामि। पश्चाद् यादृशी मम प्रयासक्रिया भवेत् तादृशी भवद्भिर्दानप्रसक्तिः करणीया भविष्यति। अहं तु युष्माकं सेवकोऽस्मि, युष्माकमनुवृत्त्या जीवामि !। भवतां कार्यं शिरोबलेन[1] करिष्यामि' । इति वार्तया तान् रञ्जयित्वा, स्वगृहान्तर्नीत्वा, ताम्बूल–धूमयन्त्रपानादिकं कारयित्वा, गृहोपरितनभूमौ गत्वा गोधूमपिष्ट–घृत–गुडादिना संस्कार्य मोदका निष्पादिताः सप्तसङ्ख्यया। तन्मध्ये षड् बृहत्तरा मोदकाः सविषा निष्पादिताः, सप्तमस्तु स्वकीयभोजनार्थं निर्विषः। अथ आर्द्रपत्रैः परिवेष्ट्य, सन्धानादिकं[2] च मध्ये मुक्त्वा, ग्रन्थिं बद्ध्वा, लोहघन–च्छेदनिकां च लात्वा, चौरसहायको भूत्वा गृहान्निर्गतः। शीघ्रं शीघ्रं गत्वा ते सर्वे शिलोपकण्ठं[3] प्राप्ताः। अथ चौरैर्हेमकाराय शिला दर्शिता। सोऽपि तां दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा च मनसि लोभलत्ताप्रहारेण विह्वलो भूत्वा चौराणामग्रे आहारग्रन्थिं ढौकयित्वा निर्विषं मोदकं स्वहस्ते कुर्वन् इत्युवाच–"हे स्वामिनो भाग्यनिधयः ! युष्माकमुपरि विश्वम्भरः[4] संतुष्टो यद् भव्यमिदम् अपरिमितं हाटकं भवद्धस्ते दत्तम् , अतो यूयं भाग्यवताम् अग्रण्यो दृष्टाः। भवदीयप्रसत्त्या

१ शिरसा बलेन। २ व्यञ्जनादिकम्। ३ शिलासमीपम्। ४ विष्णुः।

च ममापि दारिद्र्यं गतम् । अतः प्रथमं 'शतं विहाय भोक्तव्यम्' इति नीतिशास्त्रोक्तं वचनमङ्गीकृत्य भुज्यन्ताम् इमे घृताक्ता मोदकाः, पश्चाद् सज्जीभूय दारिद्र्यविकलताकारकान् शिलायाः शकलान् करिष्यामः' । इत्युक्त्वा पण्णामपि चौराणां प्रत्येकम् एकैको मोदको दत्तः । तैरपि क्षुधुरपनोदका मोदका भक्षिताः, तृप्तिं च प्राप्ताः । तदा कलादेनोक्तम्—'आगम्यतां मत्पृष्ठे कूपोपकण्ठे, जलं निष्काशयामि, तेन आचमनं कृत्वा हस्त—पादान् प्रक्षाल्य कार्याय प्रगुणीभवामः' । इत्युक्त्वा सर्वेऽप्यन्धुतटे गताः । कलादेन कूपाज्जलं निष्काश्य सर्वान् जलपानं कारितम्, स्वयं चाऽपि पीतम् । ततः स्वर्णकारस्य जलपानमात्रेण नीहारशङ्का जाता, तदा स जलपात्रं गृहीत्वा देहचिन्तायै गतः । चौरास्तु एकीभूय मन्त्रयितुं लग्नाः—'अधुना शिलायाः खण्डान् कर्तुं प्रवर्त्तयामः' । तदैकेन नीतिकुशलेनोक्तम्—'युष्माभिरेकं भव्यं न कृतम्' । अन्येनोक्तम्—'किं किम् ?' । तेनोक्तम्—"यत् कलादोऽत्रानीतो, हाटकं च दर्शितं तद् भव्यं न कृतम् । यतः शास्त्रेषु लोकव्यवहारेषु चोक्तम्—'कलादोऽविश्वसनीयो भवति' । पुरा वार्तायां किं न श्रुतमस्ति यत्—

॥ व्याघ्र—वानर—सर्प—स्वर्णकाराणां कथा ॥

"कूपान्तःपतितानां व्याघ्र—वानर—सर्प—कलादानाम् एकेन द्विजवरेण प्रथमत्रयाणामुद्धारे कृते त्रयोऽपि प्रणामपूर्वकं विज्ञप्तिं कर्तुं लग्नाः—'भो भद्र ! युष्माभिस्तु निष्कारणोपकृतिः कृता । अतः परं शतशः प्रत्युपकारान् कुर्मस्तथापि सुप्रत्युपकारका न भवामः । तथापि कस्मिंश्चित् शुभेऽवसरेऽस्मदाश्रये कृपां कृत्वाऽऽगन्तव्यम् यथा भक्त्यनुरूपां सेवां करिष्यामः । परन्तु अधुनाऽयं

१ घृतसिक्ताः । २ अन्धुः कूपः ।

मनुष्यः कूपाद् न निष्काशनीयः, यतोऽयं कलादजातीयोऽस्ति, उपकाराऽनर्होऽस्ति' इति बहु विज्ञप्य गतास्ते त्रयोऽपि स्वस्वा-
श्रये। गतेषु तेषु द्विजस्तु शङ्कायां पतितः, चिन्तयति च–'अथ चैनं निष्काशयामि वा न ?'। इति संशयदोलायां स्थितः। तदा-
ऽन्तःस्थितेन कलादेनोक्तम्–'भो द्विजवर! लोकानामुद्वेगकारकाणां विवेकविकलानां च व्याघ्र–वानर–सर्पाणाम् उद्धारस्त्वरितं
कृतः, कथं ममावसरे विलम्बसे ?। अहं तु मनुष्योऽस्मि, किं व्याघ्र–वानर–सर्पादपि दुष्टतरः ?। किमहं तवोपकारविस्मरणशीलो
भविष्यामि ?। अतो मां निष्काशय। आजन्म तव सेवको भूत्वा स्थास्यामि'। मुग्धेन द्विजेन चिन्तितम्–'सत्यं वक्ति, किमयं नर-
स्तिर्यग्भ्योऽपि गतः ?। परन्तु यद् भवितव्यं तद् भवतु, उपकारिणां पङ्क्तिभेदो न युक्तः। तैरपि सत्यमुक्तं, परं ममाऽनेन सह
किं दुष्कार्यमस्ति ?। अहं दूरदेशान्तरवासी अस्मि, अयं तु अस्यैव मण्डलस्य वासी, किं करिष्यति माम् ?'। इति विचिन्त्य कला-
दोद्धरणं कृतम्। तदा कलादेन द्विजं प्रणम्योक्तम्–'त्वं तु मम जीवितदायको जातः,अतो ममोपरि कृपां कृत्वा अमुकनगरेऽमुकपाटके
वसामि तत्रागन्तव्यम्, शक्त्यनुरूपां तव भक्तिं करिष्यामि'। इति वाग्विलासं कृत्वा गतः। द्विजस्तु अष्टषष्टितीर्थेषु भ्रान्त्वा पुनः
परावृत्य व्याघुट्यमानः कियत्यपि काले गते तत्र कान्तारे आगतः। दैवाद् व्याघ्रेण दृष्ट उपलक्षितश्च। 'सोऽयं मम जीवितदाता
महोपकारी' इति स्मृत्वा सबहुमानं पादौ अभिवन्द्य पुराहतराजकुमारसत्कानि अनेकलक्षमूल्यानि आभरणानि दत्त्वोक्तम्–'स्वामिन्!
अस्मत्त्रयाणामुद्धरणानन्तरं तस्य कलादस्योद्धारः कृतो नवा ?'। द्विजेनोक्तम्–'तेन अतिदीनतागर्भिता विज्ञप्तिः कृता, तदा मम चेतसि
महती करुणोत्पन्ना, तेन निष्काशितः'। व्याघ्रेणोक्तम्–'भव्यं न कृतं, परन्तु अतः परं सङ्गो न विधेयः'। इत्युक्त्वा नत्वा च स
व्याघ्रो गतः। ब्राह्मणोऽपि आजन्मदारिद्र्यनाशकानि आभरणानि प्राप्य सोत्साहं तस्य आशीर्वचनं दत्त्वाऽग्रतश्चलितः। मार्गे गमनं

कुर्वता चिन्तितम्—'इमान्याभरणानि अग्रेऽतिभयाकुलमार्गे कथं निर्वक्ष्यामि ?। तस्माद् नगरे गत्वा, इमानि विक्रीय, रोक्यनाणकं कृत्वा, पश्चाद् भव्यव्यवहारिणो हट्टे गत्वा, पत्रिकां कारयित्वा सुखेन निर्भयं गृहं यामि'। इति संप्रधार्य नगरे आगतः। नगरान्तः प्रविष्टः सन् चतुष्पथे तादृशजनगवेषणार्थे परिभ्राम्यति। ततो हट्टस्थितेन कलादेन दृष्टः। चिन्तितं च—'सोऽयं ब्राह्मणो येनाहं कूपाद् निष्काशितः'। कक्षायां ग्रन्थिम् अमूल्यं मुद्रादिकं च दृष्ट्वा चिन्तितम्—'अनेन देशाटनं कुर्वता किमपि धनं सुवर्णादिकं लब्धं दृश्यते अतोऽयं यदि विक्रयं कुर्यात् तदा मम कार्यं भवेत् !'। इति ध्यात्वा आपणादुत्थाय त्वरितगत्या विप्राऽभ्यर्णे गत्वा 'अहो! अद्य मम भाग्यानि जागरितानि, अद्य मम गृहेऽतर्किताऽमृतघनवृष्टिः संजाता। अद्य मम गृहाङ्गणं कामगवी स्वयमागता। अद्य मम मनोरथाः सफला जाता येन यूयं जीविता मिलिताः'। इति ब्रुवता द्विजस्य चरणौ अन्तरा मस्तकं दत्तम्। क्षणं स्थित्वा उत्थाय च हस्तौ योजयित्वा विज्ञप्तिं कर्तुं लग्नः—'स्वामिन्! आगम्यतामस्मद्गृहे, स्वचरणन्यासेन पवित्रीक्रियतामस्मद्गृहम्'। इति शिष्टाचारं दर्शयता स्वगृहे नीतो ब्राह्मणः। मुग्धविप्रस्तस्य अतिचाटुवचनानि श्रुत्वा रञ्जितश्चिन्तयति—'अयं कोऽपि अतीवगुणग्राहको यद् मया कृतमुपकारं न विस्मरति। कोऽपि अतिसुजातो दृश्यते, तस्याग्रे किमन्तरं कार्यम् ?। अयं मम सर्वं कार्यं करिष्यति, अतो व्याघ्रदत्तानि भूषणानि तमेव दर्शयामि अस्यैव हस्ते विक्रीय रोक्यनाणकं करोमि'। इति ध्यात्वोक्तम्—'भो भद्र! मम पार्श्वे केनापि दत्तानि भूषणानि सन्ति, तानि विक्रीय नाणकं कृत्वा 'देहि'। तेनोक्तम्—'दर्शयतु भवान्, शिरोबलेन भवदीयं कार्यं करोमि'। तदा द्विजेन तानि सर्वाणि आभूषणानि दर्शितानि। तानि दृष्ट्वा कलादेनोपलक्षितानि—''अहो! इमानि तु राजकुमारस्य, यो हि राजपर्या-

१ कारयित्वा। २ करोति। ३ भवति। ४ मम। ५ तस्यैव। ६ दापय।

याहों राजकुमारः पुरा वक्रशिक्षिताऽश्वेन दूरे वने नीतः। तत्र केनापि मारितः। तस्य शुद्धिनिमित्तम् अनेके उपायाः कृताः, परन्तु शुद्धिर्न प्राप्ता। तदा राज्ञा पटहो वादितः–'यः कोऽपि कुमारस्य जीवनस्य मरणस्य वा[1] शुद्धिमानयति तस्य महाप्रसादं करोमि, स्वकीयं च कृत्वा ज्ञापयामि'। तथापि शुद्धिर्न प्राप्ता,साऽद्य प्राप्ता। अतोऽहम् इदं कियद् दर्शयामि, राज्ञो वल्लभो भवामि,राजकीयं प्रसादं प्राप्नोमि, कियद् आभूषणमपि हस्ते स्थास्यति। अनेन द्विजेन मम किं प्रयोजनमस्ति ?। गृहे स्थितः प्रत्युत खान–पानादिद्रव्यव्ययं करिष्यति[2] !"। इति ध्यात्वा आभूषणानि हस्ते लात्वा विप्रं प्रत्याह–'स्वामिन् ! सुवर्णपरीक्षणं तु अहं वेद्मि, न तु रत्नस्य अत इमान्याभूषणानि रत्नवणिजो दर्शयित्वा, मूल्यं विशदं कृत्वा, विक्रीय, धनं लात्वा ददामि। यूयं सुखेनात्र तिष्ठत'। ततः स कलादो भूषणानि लात्वा उपराजं गतः। राज्ञा पृष्टम्–'कथमागतः?'। स प्राह–'कुमारस्य शुद्धिर्मयाऽऽप्ता,तन्निवेदनार्थमागतोऽस्मि'। इत्युक्ते राजाऽपि ऊर्ध्वकर्णो भूत्वा 'कथं कथम् ?' इति प्रोक्तवान्। तदा कलादेन आभूषणानि दर्शितानि। राज्ञापि दर्शनमात्रेणोपलक्षितानि। तं 'केनानीतानि', इति राज्ञा प्रोक्तम्। कलादेनोक्तम्–'एषां हारको विप्रो मम गृहे स्थितोऽस्ति, तेन मम विक्रयकरणार्थं दत्तानि। मया स्वामिने दर्शितानि'। राज्ञोक्तम्–'त्वया भव्यं कृतम्। त्वं तु आत्मीयो जातः'। इत्युक्त्वा सेवकानाहूय आज्ञा कृता–'भो भोः सेवका ! धावत धावत, अस्य गृहे स्थितं द्विजं बद्ध्वा विडम्बनापूर्वकमत्रानयत'। तदा त्वरितं धाविता राजपुरुषाः। कलादगृहस्थितश्च विप्रः सहसा चौरवद् बद्ध्वा विडम्बनापूर्वकं राज्ञोऽग्रे आनीतः। राज्ञा दर्शनमात्रेण वधायादिष्टः। तदा सेवका अर्धमस्तकमुण्डनपूर्वकं रासभारोहणं कारयित्वा ताडयन्तो नगरे भ्रमयितुं लग्नाः। विप्रो मनसि चिन्तयति–'यद् मया तैस्त्रिभिरुक्तं

१ जीवनमृतयोर्वा। २ कारयिष्यति।

न कृतं तद् ईदृशं फलं प्राप्तम्'। इति विचिन्तयति यावत् तावता वृक्षस्थेन तेन वानरेण दृष्टो विप्रः। चिन्तितं च—'अहो! अस्मत्त्रयाणामयम् उपकारी विप्रः, तस्येदृशी अवस्था कथम्?'। ततो जनमुखाद् व्यतिकरं श्रुत्वा विचारितम्—'नूनमयं कलादेन विडम्बितो मरिष्यति!। अथ कथमपि अयं जीवितव्यः'। इति ध्यात्वा किमपि सर्पस्याभ्यर्णे गत्वा व्यतिकरो निवेदितः। सर्पेणोक्तम्—'चिन्तां मा कुरु, सर्वं भव्यं भविष्यति'। इत्युक्त्वा तेन सर्पेण राज्ञो वाटिकायां गत्वा कुलस्य बीजभूतो राजकुमारो दष्टः। स तु दर्शनमात्रेण शववद् निश्चेष्टो भूत्वा पतितः। राजसेवका बुम्बारवं कुर्वन्तो राज्ञोऽग्रे गत्वा प्रोक्तवन्तः। राजापि किंकर्तव्यतामूढो जातः। मन्त्रवादिन आहूताः, तैः सर्वैरपि स्वकीयमन्त्रबलेन मार्जनादि कृतं, परं नपुंसकाग्रे तरुणीविलास इव निष्फलं जातम्। राज्ञश्चत्वारो हस्ता भूमौ पतिताः, विलपितुं च लग्नः। तदा केनाप्युक्तम्—'स्वामिन्! नगरे पटहं दापयतु, कोऽपि गुणी मिलिष्यति'। राज्ञा पटहो दापितः—'यः कुमारं जीवयति तं लक्षप्रसादं करोमि'। अनया रीत्या पटहो वादयन् यत्र राजसेवकाः खरारोपितं द्विजं भ्रमयन्ति तत्रागतः। एतस्मिन्नवसरे नागदेवतया देवानुभावेन अदृश्यतयाऽऽगत्य ब्राह्मणस्य कर्णे उक्तम्—"भो द्विजवर! 'अहं कुमारं जीवयामि' इति पणपूर्वकं पटहं स्पृशतु। अहं स एव सर्पः, तदा त्रयाणामुक्तं त्वया न कृतम्। अनर्हस्योपकारस्य फलमीदृशं पश्यतु'। तदा तेन द्विजेनोक्तम्—'भो राजसेवका! मां मुञ्चत, अहं राजकुमारं सज्जीकरोमि'। तदा राजसेवका राज्ञोऽग्रे धावन्तो गताः, निवेदितं च तदुक्तं सहर्षम्। राज्ञोक्तम्—'निर्बन्धं कृत्वा आनयत तं द्विजम्'। सेवकैस्तथैव कृत्वाऽऽनीतो द्विजो राज्ञः समीपे। राज्ञोक्तम्—'भो द्विजवर! कुमारं जीवय। ज्ञायते त्वयैव मारितस्त्वयैव दत्तः। यथा विडम्बितस्तथा पूजापात्रम् अधिकतरं भविष्यसि, अतस्त्वरितं कुरु'। द्विजेनोक्तम्—'नीतिविरुद्धकरणेन मया विडम्बना प्राप्ता, परन्तु अधुना सर्वं तद्व्यतिकरं ज्ञापयि-

ष्यामि'। इति कथयन् विषव्याप्तकुमारस्य समीपे गत्वा मण्डलं कृत्वा धूप–दीपादिमहाडम्बरपूर्वकं मार्जनं कर्तुं प्रवृत्तः। राजप्रमुखाः परितः स्थिताः पश्यन्ति। तावता नागदेवता कुमारशरीरेऽवतीर्य इति प्रोवाच–'भो द्विजवर! किमस्य दुष्टस्य राज्ञस्तनयस्योपकारं कर्तुं प्रवृत्तः [1]। किं त्वया खरारोहणविडम्बना विस्मृता?'। राज्ञोक्तम्–'कथं मम दुष्टता?'। नागेनोक्तम्–'तव पुत्रस्तु व्याघ्रेण मारितः। पश्चात् कियत्यपि काले गते दैवयोगेन वयं त्रीणि मित्राणि कूपान्तः पतितानि, चतुर्थः कलादश्च। अस्मिन्नवसरे निष्कारणोपकारी द्विजस्तत्रागतः। अस्माभिस्त्रिभिर्विज्ञप्तिः कृता। अनेन तु श्रवणमात्रेणैव वल्ल्यादिग्रथनादिबहुलप्रयत्नं कृत्वा निष्काशिताः। तदाऽस्माभिरेनं प्रणम्य शिक्षा दत्ता–अयोग्यत्वाच्चतुर्थस्योपकारो न कर्तव्यः'। इति कथयित्वा वयं स्वस्वस्थानं गताः। पश्चात् तेन दुष्टकलादेन चाटुवचनैर्विज्ञप्तो द्विजः। तदा उपकारशीलेन द्विजेन अस्मद्वचनं विस्मृत्य सोऽपि निष्काशितो गृहं प्राप्तः। द्विजस्तु तीर्थानि कृत्वा व्याघुट्यमानो व्याघ्रेण दृष्टः। तेनोपकारं स्मृत्वा इमानि आभूषणानि दत्तानि। द्विजः पुनरत्रागतः। कलादेन सधनं ज्ञात्वा, कपटवृत्त्या गृहे नीत्वा, आभूषणानि लात्वा, तवाग्रे प्रोक्तम्। त्वयापि विचारमूढेन किमपि अविमर्शनपूर्वकं विडम्ब्य द्विजस्येदृशी अवस्था प्रापिता। वानरेण शीघ्रमागत्य ममाग्रे प्रोक्तम्। अतोऽस्माकमुपकारिणो दुःखदायकं त्वां कथं मुञ्चामि?। 'इष्टस्य पालनं दुष्टस्य दण्ड' इति नीतिं स्मृत्वा मया दष्टः"। ततो राज्ञा सर्वजनसमक्षं स्वात्मा निन्दितः। द्विजवरं नागं च क्षमयित्वा कथितम्–'यस्तवादेशो भवेद् तमहं करोमि'। तदा नागेनोक्तम्–'यदि त्वं लक्षप्रसादपूर्वं दशसङ्ख्याकान् भव्यग्रामान् दद्यास्तदाहं मुञ्चामि'। राज्ञा तथैव कृत्वा ब्राह्मणः पूजितः। कुमारो निर्विषो जातः। कलादं कृतघ्नं दृष्ट्वा स वधायादिष्टः। द्विजेन कृपया

1. भवति।

मोचितः।

"तस्माद् अयमपि कलादः स्वमातुरपि स्वर्णचोरकः। आत्मीयैर्भव्यं न कृतं यद् अयं सहायीकृत्य अत्रानीतः, दर्शिता च शिला। प्रथमत एव किमपि मिषं कृत्वा घन-च्छेदनिकाद्यधिकरणमार्गणामकरिष्यन्(त) तदा श्रेयोऽभविष्यत्। अधुना तु अहि-गन्धमूषिकान्यायेन विषमम् आपतितम्। यतः—

"जा मति पीछें उपजें सा मति पहेली होय। काज न विणसे आपणो दुरजन हसे न कोय" ॥१॥

"किञ्च, इयं हि शिला एकेन दिवसेन भङ्क्तुं न शक्यते; बहुदिवससाध्यं कार्यम् प्रभाते तु जाते लातुं शक्यं लात्वा वयम् अयमपि च स्वस्वस्थाने स्वाश्रये यास्यामः। पुनर्गृहगतोऽयम् अनर्गलं सुवर्णं स्मृत्वा व्याकुलो भविष्यति। यस्य रतिमात्रं सुवर्णं दृष्ट्वा चेतना विकलति तस्य पुनरिदमनर्गलं दृष्ट्वा किं न भविष्यति ?। अतो नूनमयं केनचिद् बलवता सह विभागं कृत्वा समग्रं ग्रहीष्यति, अस्मांश्च बहुद्रव्यहरणच्छलं मस्तके दत्त्वा सङ्कटे पातयिष्यति। अतोऽधुनाऽत्र किं कर्तव्यम् ?"। तदैकेनोक्तम्—'यदि ममोक्तं कुरुत तदा न कोऽपि विघ्नो भवेत्'। तैरुक्तम्—'कथम् ?'। स आह—"घनच्छेदनिका तु हस्ते आगताऽस्ति। तया च घनच्छेदनिकया दृश्यमानमुपरितनविभागं लात्वा शेषं चाच्छाद्य गम्यते। पश्चात् प्रतिदिनमागत्य स्वसमीहितं करिष्यामः। अथ यदाऽयमागच्छेत् तदाऽस्य वक्तव्यम्—'शीघ्रं शीघ्रं पानीयमाकृष, पुनः पिपासा लग्ना'। इति श्रुत्वा यदाऽयं जलाकर्षणार्थं कूपतटे स्थास्यति तदा पृष्ठतः समग्रैरेकीभूय हस्तैर्घर्षयित्वा कूपान्तः पातयिष्यते[1]। तदा च शीतजलेन पामा गमिष्यति"।

१ पात्यते।

एतद्वचनं श्रुत्वा सर्वैरनुमतम्। अथ ते विरतास्तावता सोऽपि देहचिन्तां कृत्वा आगतः। तदा चौरैरुक्तम्—'भ्रातः! जलं निष्काशय, पुनः सरसभोजनात् पिपासा लग्ना'। स्वर्णकारोऽपि तदुक्तं श्रुत्वा चिन्तयति—'सविषमोदका अधुना चटितुं लग्नाः! अतः परं पानीयं पीत्वा सर्वेऽपि भूमौ पतिष्यन्ति, दीर्घनिद्रां च गमिष्यन्ति। ततः परम् अहमेव सर्वं ग्रहीष्ये[1]'। इत्यार्त-रौद्रं ध्यायन् पानीयाकर्षणं कर्तुं लग्नस्तावता पूर्वसङ्केतितैस्तैः कूपान्तः पातितः। चौरा अपि पुनर्घटिकामात्रान्तरे क्ष्वेडप्रभावेण[2] मृताः। एतत्सर्वं पद्मया[3] वाण्यै[4] दर्शयित्वोक्तम्—'भो वाणि! दृष्टं जगदाश्चर्यम्?। एतैर्दशभिरेकादशप्राणलाभाशया दश प्राणा दत्ताः, परन्तु एकादशो न केनापि लब्धः। अहं जनान् शतसहस्रसङ्कटेषु पातयामि, रोगैः पीडयामि, कशाघातैस्ताडयामि, भिक्षाटनं कारयामि, कारागारे क्षिपामि[5], किं बहुना? क्रुद्धो वैरी यद् न करोति तत्सर्वं दुःखमहं ददामि। तथापि संसारिणो जीवा मत्पृष्ठं न मुञ्चन्ति। मदर्थं माता-पिता-पुत्र-कलत्र-मित्र-भृत्य-गुरुप्रमुखान् वञ्चयन्ति, धर्षयन्ति, तेषां विश्वासघातं च कुर्वन्ति। कुल-जाति-देश-धर्मलज्जां च मुक्त्वा मदर्थं परिभ्रमन्ति। यत् कोऽपि न करोति, न जल्पति, तत्सर्वं रमार्थी[6] स्वीकुरुते। एकश्रीजिनवचनवासितान्तःकरणैर्गृहीतपञ्चमहाव्रतैः समं मम न चलति। ते हि विविधैः प्रकारैर्मां विगोपयन्ति, मम महत्त्वं नाशयन्ति। मम सन्ततिरूपाः काम-भोगाः, तानपि नासिकामलवद् दूरतो विच्छोट्य विगोप्य च[7], वने गत्वाऽशोकतरुमूले स्थित्वा, भारवद् सर्वं परित्यज्य, नग्नकल्पा भूत्वा, मत्सङ्गतित्यागप्रतिज्ञां च कृत्वा प्रतिदेशं पर्यटन्ति। पुनर्यत्र कुत्रापि जनसंहति[8]संयोगस्तत्र प्रत्यहं मां मम सूनूंश्च काम-भोगान् निन्द-

१ ग्रहीष्यामि। २ विषप्रभावेण। ३ लक्ष्म्या। ४ सरस्वत्यै। ५ क्षेपयामि। ६ लक्ष्म्यर्थी। ७ पंच शब्दातोद्यानि ताडयन्तः इत्यधिकः पाठः प्र०। ८ संहतिः समूहः।

न्ति। ते हि स्ववचनरचनया मम विषयाणां च गुणान्युक्त्वा सर्वेषां चित्तानि मयि विषयेषु च विमुखीकुर्वन्ति। 'चपला कुटिला स्वैरिणी' आदीनि कलङ्कानि दत्त्वा कियतां गृहाणि त्याजयन्ति, आत्मसदृशांश्च कुर्वन्ति। पुनस्तप–जपाद्युपायैरवश्यं मां चेटीरूपेण सेवाकरणार्थमापातयन्ति। यस्य गृहे आहारमात्रं गृह्णन्ति तस्याङ्गणे मया लक्षकोटीरूपेणापतनं कर्तव्यं भवति। पुनर्मुनयः शुक्ल-ध्यानेन ममेच्छाबीजानि संज्वाल्य केवलज्ञानं चोत्पादयन्ति तस्मिन्नवसरे विविधानि सुरवृन्दान्येकीभूय मम गृहं तेषां चरणयोरधो धारयन्ति, तस्योपरि स्थित्वा मम निर्मूलोच्छेदनरूपां देशनां ददति। बहून् आत्मसदृशान् कुर्वन्ति, परान् कांश्चित् देशविरतिं ददति। ते किं कुर्वन्ति ?–ये गृहे स्थिता अपि व्यवहारशुद्धा परिग्रहपरिमाणं कृत्वा सत्य–सन्तोषाश्रयेण राम-धिकां मां समुत्पादयन्ति। नीतिशास्त्रोक्तरीत्या निःस्पृहभावं दर्शयन्तः काम–भोगादिषु मां व्ययन्ति, समधिकं सहर्षं सप्तक्षेत्र्यां वपन्ति। अतिगाढतरवीर्योल्लासभावनाचूर्णक्षेपेण मां बन्धने क्षिपन्ति। प्रतिक्षणं सर्वजनसमक्षं मम निन्दां तिरस्कारं च कुर्वतः शृणोमि, तथापि तेषां गृहं त्यक्तुं न शक्ता, प्रत्युत वृद्धिमाप्तुकामा इव वसामि। एकेन पुनः कुशलेन पुण्यानुबन्धिपुण्य-बन्धेन मां बन्धे पातयन्ति, यस्य बलेन जन्मजन्मनि तेषां मम दासत्वं करणीयमापतति। प्रतिचरणन्यासं निधानं दर्शयन्त्या सर्वतो वृद्ध्या वर्धमानया निवसनीयं भवति। तेषां किमपि प्रतिकूलं कर्तुं न शक्ता। अन्ते पुनर्मां विगोप्य तृणवद् विहाय निर्वृतिपुरीं यान्ति। ईदृशान् तथाविधान् जिनशासनोपासकान् विहाय सर्वेऽपि संसारिणो जीवा मम किङ्करा विद्यन्ते। तान् अहं सहस्रशो दुःखानि ददामि तथापि मम चरणोपासनां प्रीतिं च न मुञ्चन्ति। मदर्थं तप–जप–कायक्लेशाद्यनेकधा पापानुबन्धिपुण्यं कुर्वन्ति।

१ कमलम्। २ कमलस्य।

परन्तु अहं तान् सर्वतो वृद्धिं दर्शयित्वा नरकावासे पातयामि, तिर्यक्षु वा। तेऽपि च सर्पादयस्तिर्यञ्चो माम् आवृत्य निधानादि सेवन्ते। ये केचन कष्टबलेन देवेषूत्पद्यन्ते तेऽपि परकीयं भूमिगतं मद्रूपं द्रव्यमाश्रित्य निष्कारणं तत्रैव तिष्ठन्ति, लोकांश्च मृत्तिकां कोकिलरूपेण वा दर्शयन्ति। तस्माद् हे भगवति वाणि! अखिलसंसारिणाम् अहर्निशं ममाख्या एव महत्त्वं गण्यते। केवलम् एके केचन मोक्षार्थिनो ये मनुष्यास्ते तवोपासने रताः। तवैव महत्त्वं गणयन्ति ते नराः"।

एवं लक्ष्म्योक्तं श्रुत्वा सरस्वती प्राह–'भगिनी! एकं तु तव महद् दूषणं यद् आत्मसेवकान् नरभवादिषु विभवादि दत्त्वा सुखं च दर्शयित्वा नरकाऽवटे पातयसि। निजाश्रितानां तु समुद्धरणमेव युक्तं महताम्'। एवं श्रुत्वा लक्ष्मीः प्राह–'भगिनि! विदुषी भूत्वा श्रुतजडत्वं किम् आविष्करोषि ?। केवलमहं नरकावटे न पातयामि, किन्तु मोहराजप्रयुक्तानि विषया–ऽविद्या–व्यसन–काम भोगादीनि नरकावटे पातयन्ति। मद्बलेन तु घनविवेकमतयः परमपदसाधनं कृत्वा चिदानन्दं प्राप्ताः श्रूयन्ते। शास्त्रेऽपि 'कनकाद् मुक्तिः' इति गीयते। एवं तु तवाख्या महाद्भुताः श्रुतकेवलिनोऽपि मोहराजप्रयुक्तप्रमादाचरणेन अनन्तजीवास्तिर्यक्षु परिभ्रमन्ति तत् किं तव दूषणम् ?'। इत्येवं श्रुत्वा स्मित्वा च सरस्वती प्राह–"भगिनि! एकं विवादभञ्जकं तव मम च महत्त्वपोषकं वाक्यं वच्मि तच्छृणु–'येषां केषाञ्चिद् आवयोराख्या सत्सङ्गत्यङ्गीकरणे विवेकलोचनलाभस्ते त्रिवर्गसाधनपूर्वकं परमानन्दपदमश्नुवते'। लक्ष्म्योक्तम्–'इदं तु सत्यम्'। एवं भग्ने विवादे उभे अपि स्वस्थानं गते।

॥ इति लक्ष्मी–सरस्वत्योः संवादः ॥

एवं पुराणादावप्युक्तत्वाद् भो भव्याः! शृण्वन्तु—

"दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य। यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति" ॥१॥

अतः सत्पुरुषाणां लक्ष्मीलाभे प्रधानफलं दानम्। भोगस्तु मध्यमम्। येन पुरुषेण द्वयोर्मध्ये एकतरमपि न कृतं तस्य तृतीया गतिस्तु भवत्येव। पुण्यबले पूर्णे जाते दुर्गतिभ्रमणं दत्त्वा लक्ष्मीस्तु यात्येव। उक्तं च—

"पृथिव्याभरणं पुरुषः पुरुषाभरणं प्रधानतरं लक्ष्मीः। लक्ष्म्याभरणं दानं दानाभरणं सुपात्रं च" ॥१॥

अतो भव्याः! अतिदुर्लभतरं मनुष्यावतारं धनं च लब्ध्वा सुपात्रदाने प्रयत्नः कर्तव्यः। यत् सधनं मानुष्यं हि लब्धं तद् दुग्ध-शर्करासंयोगो लब्धः। एतद् द्वयं लब्ध्वा अभय-सुपात्रा-ऽनुकम्पो-चित-कीर्तिदानादिषु कथं सफलं न क्रियते?। यतो धनलाभे इहलोके यावल्लक्ष्मीस्तावद् महत्त्वं, गतायां तु मानुष्यं तृणवद्, न कोऽप्युत्तरं ददाति। दाने दत्ता लक्ष्मीर्न याति, स्थिरा भवति। कदापि पूर्वसञ्चितबहुपापोदयेन गतायां सत्यामपि तस्या दातुर्महत्त्वम् इहलोके न याति, परलोके तु अवश्यं लोकोत्तरमहत्त्वमाप्नोति। यदा धनी कृपणतादोषेण दानमात्रं न ददाति तदा तस्य प्रभाते न कोऽपि नाम गृह्णाति। यदि च कोऽपि नाम गृह्णीयात् तदाऽन्यस्तस्योपालम्भं ददाति—'किमस्य नीचस्य नामग्रहणं करोषि?, अदृष्टकल्याणकोऽयम्'। इत्यादि अदातुः सहजफलम्। अतो भव्याः! उभयलोकसुखदायके दाने यत्नोऽवश्यं विधत्त इति हार्दम्"।

इति मुनिदेशनां श्रुत्वा अहं मनसि चमत्कृतश्चिन्तयामि—'अहो! अज्ञेन मयाऽतिदुष्करं नरभवं धनं च लब्ध्वा बहु हारितम्। किमपि ऐहिक-पारलौकिकं न विहितम्। केवलं दुर्गतिगमनस्यैव पुष्टिः कृता। कृपणतादोषेण इह किमपि न जग्धं भुक्तं च, केवलं

१ धनकर्मणो रूपधारकश्चारणः।

दीनवद् दुर्भरजठरपूर्तिः कृता। स्वयं न भुक्तं,पुत्रादीनामपि न भोगाय दत्तम्। न कीर्तिहेतवे याचकेभ्यो दत्तं,न च दीन–हीनोद्धरणं कदापि कृतम्, अतोऽवश्यं भवं सफलीकरोमि। इति कल्पनां ध्यात्वाऽऽगतोऽस्म्यहम्। भोः पुत्राः! मुनिवचनोपकारेण धनधान्यादिषु निर्ममोऽहं जातः। कृपणतादोषेण गतकालो दुर्गतिपोषाय विहितो मया। युष्मत्प्रभृतीनां च दान–भोगादीनामन्तरायकारकोऽहं जातः। युष्माभिः सुपुत्रत्वाद् ममाशयानुकूलो निर्वाहः कृतः। अतो हे वत्साः! साधुना धनादिकं सर्वम् अधिकरणत्वाद् बहुदुःखदायकतया ज्ञापितं, तेन धनादि पात्रसाद् कर्तुमिच्छामि। दानादिरहितोऽर्थः केवलम् अनर्थाय भवति, अतो दीनोद्धरण–सुपात्रपोषण–कुटुम्बप्रतिपालनरीत्याऽस्य भव्यं फलं गृह्णामि। तस्माद् युष्माकं त्यागभोगादिषु या इच्छा भवेत् सा कथनीया,सुखेनैव चाऽर्थो ग्राह्यः,मयाऽऽज्ञा दत्ता,पुनर्न प्रष्टव्यम्। अहं तु दानादिषु प्रगुणो भवामि"। इत्युक्त्वा स कूटधनकर्मा दीनादिभ्यो यथेच्छया धनं ददौ। तथा सीदद्भ्यः स्वजनेभ्यो याचकेभ्यश्च स्वेच्छातोऽप्यधिकं ददौ। एवं स्वल्पैरेव दिवसैरष्टौ धनकोट्यः कपटश्रेष्ठिना व्ययम् अकारिषत[1]। नगरे पुनर्भव्यवस्त्राभरणानि परिधाय सुखासनेऽश्वरथे वाऽधिरूढो गच्छति तदा कोऽपि बाल्यवयस्यः प्रियसखः पृच्छति–'भोः श्रेष्ठिन्! अधुना तवेदृशी उदारत्याग–भोगप्रवृत्तिः कथं संजाता?'। तदा पूर्वोक्तं कल्पितव्यतिकरमुक्त्वा उत्तरं ददाति तदा केऽपि भव्यजना वदन्ति–'निःस्पृहमुनिदेशनया को न प्रतिबुध्यते?, किमाश्चर्यमत्र?। पूर्वमपि श्रूयते शास्त्रे कालकुमार–दृढप्रहारि–चिलातिपुत्र–धनसञ्चयश्रेष्ठ्यादयः कुकर्मरताः कुमार्गपोषकाः कुमतिवासितान्तःकरणाः सप्तव्यसनसेवनप्रवणा महानिष्ठुरपरिणामास्तेऽपि मुनिदेशनया प्रबुद्धाः, तस्मिन्नेव भवे च जिनधर्ममाराध्य चिदानन्दपदं प्राप्ताः। तत्राऽस्य तु कियन्मात्रो दोषः?,

१ पुत्रादिनामित्यभाषत प्र०। २ अकारि प्र०।

केवलं कृपणतैव, सा मुनिवचसा गतैव। परन्तु अयं धन्यो अस्येदृशी आजन्मलग्ना कृपणता गता!। अस्मादृशानां पुनरीदृशी मतिः कदा भविष्यति?' इत्येवं स्तुवन्ति। केऽपि न वदन्ति–"अस्यायुः समीपमागतं दृश्यते येन आजन्मस्वभावविनिमयो जातः!। कालज्ञाने शास्त्रेऽप्युक्तमस्ति–आजन्मप्रकृतिरेकयैव हेलया प्रयत्नं विना विनिमयतां याति तदा स्वल्पमेवायुर्ज्ञेयम्"। यस्य मनसि यादृशं प्रतिभासते स तदेव वक्ति, को बहूनां मुखानि पिदधाति?। पुनः कस्मिंश्चिद् दिने राजद्वारं गत्वा बहुमूल्यमुपायनं कृत्वा प्रणिपत्य च अग्रे स्थितः। राजापि तद् अभिनवं महार्घम् उपायनं दृष्ट्वा रञ्जितः सन् सादरमालाप्य प्रतिवक्ति स्म–'भोः श्रेष्ठिन्! तव चित्ते ईदृशी उदारताबुद्धिः कथं संजाता?। पूर्वं हि प्रतिपदं लोकास्तव कृपणतादोषमाविष्कुर्वाणा आसन्, अधुना तु प्रतिक्षणं तव दान–भोगादिषु अत्युदारता श्रूयते तत्कथं संजातम्?, सत्यं ब्रूहि'। श्रेष्ठ्यपि पूर्वोक्तकल्पितमुनिदेशनादि प्रतिबोधकारणमवदत्। राजापि श्रुत्वा चमत्कृतः सन् वदति–'अहो! अचिन्तनीयां जीवस्य गतिं सर्वज्ञं विना को जानाति?'। इत्युक्त्वा यथोचितं प्रसादं दत्त्वा 'अस्मत्सदृशं कार्यं निवेदनीयं सुखेन, शङ्का न कार्या' इत्यादिवचनैः संतर्प्य विसृष्टः। सोऽपि प्रणामं कृत्वा उत्थितः, विचारयति च–'दानेन किं न भवति?, देवा अपि सानुकूला भवन्ति तत्र मनुष्याणां का कथा?'। इति विचारयन् गृहमागतः। अस्य तु प्रतिगृहं प्रतिपथं प्रतिग्रामं याचकजनैर्यशःशोभां विस्तारिता, सर्वत्र विख्यातो जातः।

अथ यत्र ग्रामे मूलधनकर्मा गतोऽस्ति तस्मिन् ग्रामे कोऽपि याचकः कूटधनकर्मणो याचित्वा इच्छाऽधिकधन–वस्त्रा–ऽऽभरणादि लब्ध्वा कूटधनकर्मणो यशो ब्रुवन् स्वग्रामं यियासुस्तत्रागतः। अथ चतुष्पथे मूलधनकर्मा एकस्य श्रेष्ठिनो हट्टे स्थितः सन् व्यापारादिवार्तां करोति तत्र पार्श्ववर्तिनि हट्टे स याचकोऽपि वस्त्राभरणभूषितो मार्गे गच्छन् केनाप्युपलक्षितेनालापितः। याचकोऽपि

तत्समीपमागत्य कूटधनकर्मणो यशो वर्णयितुं प्राह–'भो अमुकश्रेष्ठिन् ! लक्ष्म्याश्रिते लक्ष्मीपुरवरेऽधरीकृतकर्ण–बलिप्रमुखः,साक्षात् कुबेरावतारो मूर्तिमान् पुण्यप्राग्भारो वा किमु ?, ईदृशः समस्तदातृशिरोमणिर्धनकर्मा नाम्ना श्रेष्ठी निवसति। तेन मादृशानां बहूनां दारिद्र्योच्छेदः कृतः। वर्तमानसमये तु ईदृशो दारिद्र्यचूरको वाञ्छिताऽधिकदानपूरको मया न कोऽपि दृष्टः श्रुतो वा। अस्य मात्रा अयमेव जनितोऽस्ति। समस्तदातृगुणैर्भूषितो यादृशोऽयमस्ति तादृशो न कोऽपि भूतो न च भविष्यति !। किं बहु वर्ण्यते ?,ब्रह्माऽपि तस्य गुणान् वक्तुं न क्षमो भवति'। इयं वार्ता पार्श्ववर्तिहट्टस्थितेन मूलधनकर्मणा श्रुता। श्रुत्वा च स्वचित्ते चमत्कृतः सन् चिन्तयितुं लग्नः–'अहो ! मम नगरे धनी धनकर्मा तु अहमेवास्मि, अन्यस्तु न कोऽपि ईदृशो दृष्टः श्रुतो वा !। अहं तु अत्रैवास्मि। कस्माच्चिद् ग्रामाद् आगतो वा अयं पुनः कः ?'। इति साशङ्को याचकं प्राह–'त्वयोक्तो धनकर्मा कस्माद् ग्रामादागतोऽस्ति ?'। याचकेनोक्तम्–'आगत आगतः किं वदसि ?, तत्पुरस्यैव अमुकपाटकनिवासी। साक्षात् स रूपेण भवादृशोऽस्ति, गुणैस्तु देवेभ्योऽधिकतरः'। इति याचकोक्तं श्रुत्वा चित्ते महत्यार्तिं संजाता। 'अयं वनीपकः किं वक्ति ?, नगरे मत्सदृशो न कोऽप्यस्ति, तर्हि मम पाटके तु कुतो भवेत् ?'। इति ध्यात्वा पुनः पृष्टम्–"भो याचक ! त्वं यत् प्रलपसि तद् मम चित्ते न तिष्ठति, अतः पुनः पुनः पृच्छां करोमि, 'यतः शतजिह्वो याचकः'। प्रतिक्षणं पृथग्भावतया जल्पनं भवदीयजातीनां भवति। अत उच्यते त्वं यद् वदसि तत् कस्यापि मुखात् श्रुत्वा ? अथवा स्वयं दृष्ट्वा ?, अथवा भङ्गापानादिप्रमादाचरणं कृत्वा प्रजल्पसि ?। यतस्त्वदुक्तपाटकनायकस्तु अहमेव !। मत्सदृशधन–व्यवसायादिभिः समानधुरावाहकोऽखिले नगरे न कोऽप्यस्ति, पाटके तु कुत आगतः ?। केनापि कार्यो-

१ याचकः। २ पृष्टः प्र०।

देशेन अहमत्र आगतः, तस्यापि स्वल्पा एव वासरा जाताः सन्ति। अतस्त्वदुक्तं कथं संभाव्यते ?'। याचकेनोक्तम्—"किमर्थं वितण्डां करोषि ?। वयं याचका यथार्थवाचकाः, यथा दृश्यते तथैवोच्यते। हृदये मुखे च भिन्नाशयत्वेन जल्पनं भवदीयजातीनामेव दत्तं धात्रा। यदि न मन्यसे तदा तत्र गत्वा विलोकय, सर्वं ज्ञास्यसि। परन्तु नगरे भ्रमणं कुर्वता मया एतत्तु श्रुतम्—'अयं धनकर्मा पूर्वं महाकृपणोऽभूत्। अधुना तु दानगुणेन न कोऽपि अनेन सदृशो ज्ञातोऽस्ति'। अतो हे श्रेष्ठिन्! मया यदुक्तं तत् सर्वं सत्यं जानीहि। ममाऽसत्यजल्पने कोऽवसरः ?। यथा दृष्टं तथैवोक्तं मया, नात्र सन्देहः कार्यः। न्यूनाधिकं किमप्यहं न वेद्मि। कल्याणमस्तु तव, अहं यामि"। इत्युक्त्वा याचको गतः। श्रेष्ठिना चिन्तितम्—'इयं वार्ता तु उत्पातसदृशाऽसम्भावनीया, न केवलम् असत्याऽपि भवेत्, किञ्चिद् न्यूनाधिका तु भविष्यति, परं न मूलतोऽसत्या। अतोऽहं शीघ्रं यामि, चेत् कार्यं भविष्यति पुनरागमिष्यामि'। इति ध्यात्वा तद्दिनशेषे चलितो मार्गे कस्मिंश्चिद् ग्रामे उषितः, परं रात्रौ आर्तियोगाद् निद्रा नागता। आर्त्या रात्रिमतिवाह्य प्रभाते स्वपुरसम्मुखं चलितः। तदा कपटधनकर्मणा दैवप्रयोगेण ज्ञात्वा अग्रत एव द्वारपालकेभ्य उक्तम्—"भोः सेवकाः! अधुनाऽत्र नगरे बहुरूपिणो धूर्ता आगताः सन्ति। ते लोकान् विविधधूर्तकलया धूर्तयन्ति। केचित्तु कस्यापि गृहस्वामिनः सदृशं रूपं कृत्वा गृहान्तः प्रविश्य गृहसारं लात्वा गच्छन्ति। अतः सावधानतया स्थेयं, कोऽप्यज्ञातो गृहान्तर्विशन् वारणीयः'। अथ मध्याह्ने जाते मूलधनकर्मा स्वपुरं प्राप्तः, पुरं प्रविशन् लोकैर्दृष्टः। तं च दृष्ट्वा परस्परम् उपकर्णमागत्य कथयन्ति—'अहो! अद्यायं धनकर्मा, मूलवेषादि कृत्वा पादचारी च भूत्वा कुत आगच्छति ?'। इत्युक्ते एकेनोक्तम्—'नायं धनकर्मा, कोऽपि धनकर्मसमानरूपः पथिको याति'। एकेनोक्तम्—'त्वं सत्यं वदसि !। यतो मयाऽद्यैव प्रभाते सुखासनाधिरूढो बहुभिः सेवकैः परिवृतो गच्छन् दृष्टः'। तदाऽ-

न्येनोक्तम्–‘धनकर्मा तु अयमेव, यत एनं पश्यतो मम समग्रं जन्म गतमस्ति। यदि न भवेत् तदा होडां करोमि’। इति विविधवार्तां कुर्वन्ति, तद् मूलधनकर्मा किञ्चित् शृणोति। किञ्चिच्च मनसि चिन्तयितुं लग्नः–‘किमप्यत्र कारणं विद्यते!। परन्तु एकवारं गृहान्तः प्रविश्य सुस्थो भूत्वा पश्चाद् अस्य शुद्धिं करिष्यामि’। इति ध्यायन् शीघ्रं गृहाङ्गणं प्राप्तः, परं कोऽपि सेवको नोत्तिष्ठति, प्रणामं च न करोति। एवं दृष्ट्वा ‘केऽमी?’ इति विचिन्तयन् गृहे प्रवेष्टुं लग्नस्तदा सेवकैरुक्तम्–‘क्व यासि?, कस्य गृहे प्रविशसि? इति श्रुत्वा चमत्कृतेन धनकर्मणोक्तम्–‘भो अमुक! किं त्वं मां नोपलक्षसे? यतो बहुतरकालं मम सेवां कुर्वतां गतः। कथं तव अन्येषां च अद्य विपर्यासो जातः? तदा सेवकैरुक्तम्–‘याहि याहि, अन्यत्र धूर्तकलां कुरु, वयं तु विज्ञाः, ज्ञातो ग्रहो न पीडयति!’। श्रेष्ठिनोक्तम्–‘किं सर्वेऽपि स्वामिद्रोहका जाताः?। सप्ताष्टदिवसानां मध्ये विस्मृतिं गता यत् स्वस्वामिनमपि नोपलक्षन्ते’। सेवकैरुक्तम्–“कस्य स्वामित्वम्?,के तव सेवकाः?, अस्मत्स्वामी तु आवासान्तरे बहुशुभेन चिरंजीवी राजते, त्वं तु कोऽपि धूर्तः कलया गृहं मोषितुमागतः। अस्मत्स्वामिना तु अग्रत एवोक्तमस्ति ‘धूर्ताः समागताः सन्ति’। अतः शीघ्रमपसर अतः प्रदेशात्। यदि अस्मत्स्वामी ज्ञास्यति तदा त्वां विषमदशां प्रापयिष्यति”। एवं परस्परं विवदमानेषु प्रातिवेश्मिका आगताः। तदा श्रेष्ठिनोक्तम्–‘भो अमुकभ्रातरः! पश्यन्तु भवन्तो यदहं युष्माकममुककार्योद्देशमुक्त्वा अमुकग्रामे गतः। तत्कार्यं कृत्वा शीघ्रमागतः। एते बहुकालपरिचिताः सेवका अनुपलक्षका भूत्वा मम प्रवेष्टुं वारयन्ति’। इति तद्वाक्यं श्रुत्वा ते सर्वेऽपि विभ्रमे पतिताः विचारयन्ति, कोऽयं धनकर्मा? गृहमध्ये को वा?।अयमपि यद् वदति तत् सत्यं प्रतिभाति,गृहान्तर्गतोऽपि सत्यः प्रतिभाति!। अनयोर्मध्ये कः सत्यः को वाऽसत्यः?, विनाऽतिशयज्ञानिनं को जानीयात्?’। तदैकेनोक्तम्–‘गृहान्तः स्थितं श्रेष्ठिनं बहिर्नीत्वा उभयोः संयोगं कृत्वा पश्यन्तु;

सत्यासत्यविभागो भविष्यति'। तदा केऽपि कूटधनकर्मणः खान-पान-मिष्टवचनतर्पितास्तदधीना वदन्ति-'कोऽयं धनकर्मा ? स तु गृहान्तःस्थितो आनन्दं करोति। कोऽप्ययं तु धूर्तः समागतोऽस्ति'। तदा केनापि धीमता तत्त्वग्राहिणोक्तम्-'भ्रातरः! मच्चित्ते तु बहिर्गतोऽयं धनकर्मा सत्यः प्रतिभाति। कथम् ?-प्रकृति-प्राणयोर्विगमनं सहैव भवति। कस्यापि तत्त्वश्रवणेन प्रतिबोधनात् कयापि रीत्या परावर्तनं भवेत्, परं न मूलतो याति। तस्माद् अयं तु मूलप्रकृत्या दृश्यते, स तु प्रकृत्या अन्य एव भासते। कृपणोऽपि गुरूपदेशाद् दानादिकं करोति, तथापि योग्यायोग्यविभागग्रहणेनैव करोति, न तु इतस्ततो विकिरति। महता कष्टेन पापोद्यमेन च द्रव्यं मिलति, तस्य व्ययं यः करोति तस्यैव हृदयं जानाति। दानकरणं मरणसदृशमेव कथ्यते लोके। गृहान्तर्गतो धनकर्मा तु यथा कस्यापि धनं कोऽप्यवसरे कस्यापि वैरप्रकृतेर्हस्ते चटितं भवति स यथा दृशौ पिधाय लुण्टयति तथा लुण्टयति। अतो मम चित्ते तु अयमेव सत्यः प्रतिभाति'। इत्येवं कोलाहलं श्रुत्वा वृद्धपुत्रो बहिरागतः। तं दृष्ट्वा मूलधनकर्मणोक्तम्-'भो वत्स! त्वया गृहान्तः कः संगृहीतः ?'। इत्युक्ते सोऽपि विभ्रमे पतितश्चिन्तयति-'कोऽयमुपाधिरुत्थितः ?'। इति चिन्तयता मौनमाधाय गृहान्तर्गत्वा कूटधनकर्मणोऽग्रे सर्वो व्यतिकरो ज्ञापितः। सोऽप्युत्थाय 'मया ह्योदिने कथितं नाऽभूद् ग्रामे धूर्ताः समागताः सन्ति ?, तन्मध्यात् कोऽप्यागतो भविष्यति !। परन्तु असत्यं कथं निर्वक्ष्यति ?' इति वदन् बहिरागतः। सेवकाः सर्वेऽप्युत्थिताः। अथ कूटेन मूलश्रेष्ठिने उक्तम्-'कुत आगतोऽसि ?, रे धूर्त! कस्य गृहान्तः प्रवेष्टुमिच्छसि ?'। मूलधनकर्माऽवदत्-'अहमेव अस्य गृहस्य स्वामी, मदीया सम्पत्तिर्बहुतरकष्टेन मेलिताऽस्ति। परं त्वं कः ? यद् धूर्तकलया गृहान्तः प्रविश्य मम धनं लुण्टयसि ?। अतो निःसर बहिश्चतुष्पथे

१ यास्यति प्र०। २ तर्पिता प्र०।

साधुकाराऽभ्यर्णे, यथा आवयोः सत्यासत्यविभागो भवेत्। चौरस्य गतिश्चौर एव भवति'। कूटेनोक्तम्—'गृहस्थितः साधुकारः, बहिः-
स्थितो धूर्तः, इति सर्वे जानन्ति। अत उपराजं गत्वा, तव धूर्तस्य मुखं भ्रंशयित्वा, सर्वसमक्षं रासभारोहणपूर्वकं निगोप्य देशाद्
निष्काशयिष्यामि'। एवं विवदमानाभ्यां चतुष्पथे गत्वा साधुकारान् सम्मेल्य तेषामग्रे उभाभ्यां स्वस्वदुःखमुक्तम्। अथ तत्र चतु-
ष्पथे समस्तनगरवासिनो लोकाश्चित्रकृद्वार्तां श्रुत्वा सविस्मयमागताः। तत्र ये दुर्जनास्ते धनकर्मद्वयं दृष्ट्वा हर्षम् ऐयरुः, ये च सज्ज-
नास्ते खेदं गताः—'हा! संसारे कर्मणां विचित्रा गतिः, उदयगतिं च विषमां विना जिनागमं जिनं च को जानाति?। अधुना
पश्यन्तु भव्याः कीदृशं नृत्यं कारयति कर्मपरिणामः'। साधुकाराः सर्वेऽपि तौ दृष्ट्वा विस्मयं प्राप्ता वक्तुं लग्नाः—'अनयोर्द्वयोर्मध्ये
रोममात्रेणापि न्यूनाधिकत्वं नास्ति, तत् किं क्रियते?'। तदैकेन निपुणमतिनोक्तम्—'अस्य पुत्रादयः स्वजनाः पूर्वाऽनुभूतान् सङ्के-
तान् पृच्छन्ति तदा यो यथाभूतं वक्ति स सत्यः, इतरोऽसत्यः'। महाजनैस्तथा कृते मूलश्रेष्ठिना स्वानुभूतसङ्केता उक्ताः। तथा
अपरेणापि देवीसाहाय्याच्चूडामणिशास्त्रं विदित्वा सर्वेऽपि विशदरीत्या उक्ताः। अथ सर्वेऽपि महेभ्याः समसङ्केतपूरणं श्रुत्वा भग्न-
प्रतिज्ञाः संजाताः। 'अहो! समाकाराणां समाभिनयानां समवादकानां केनोपायेन सत्यासत्यविभागः क्रियेत?, तस्माद् यावदेतत्स-
दसद्व्यक्तिर्न भवेत् तावद् गृहान्तर्द्वयोर्मध्याद् नैकोऽपि प्रविशेत्'। इति महाजनैर्बलाद् निषिद्धौ द्वावपि अन्यान्यस्थाने स्थितौ प्रति-
दिनं प्रगे समुत्थाय विविधकलहगत्या कलहं कुरुतः। नित्यकलहकरणेन उद्वेजितैः पुरलोकैः पुनः संभूयोक्तम्—'युवां राजद्वारे गमनं
कुरुतम्। तत्र राज्ञः प्रतापेन पुण्याधिकबुद्धिबलेन च सत्यासत्यविभागो भविष्यति'। ततो जनप्रेरितौ राज्ञः समीपं गतौ। राजानं
नत्वा स्वस्वदुःखनिवेदनं च कृत्वा स्थितौ। राजापि पूर्ववत् समाकारौ समवादिनौ च ज्ञात्वा श्रान्तो मन्त्रिण आदिशत्—'अनयो-

न्यायं कुरुत'। मन्त्रिभिरपि अस्मिन् न्यायकरणे विविधवचनरचनया अनेकच्छलदृष्टान्ता दर्शिताः, पुनः पुनः प्रश्नकरण–वाक्छल–भयादयश्च दर्शिताः, परं क्लीबे तरुणीकटाक्षवद् निष्फलाः संजाताः। ततो विचारमूढतामापन्ना राज्ञोऽग्रे गत्वा उक्तवन्तः–'स्वामिन्! अस्माकं यावद् बुद्धिविलसितं तावद् अनयोः सत्यासत्यविभागाय प्रयुक्तं, तथापि न कापि शुद्धिरापतिता, प्रत्युत इयद्दिनधृतो बुद्धिगर्वो विफलतां गतः'। इत्येवं मन्त्रिणां वाक्यं श्रुत्वा सविषादं राज्ञोक्तम्–'यदि अस्मत्सभायाम् अनयोर्निर्णयो न जायते तदा ममैव महत्त्वहानिर्जाता, अतोऽधुना किं कर्तव्यम्?'। अस्मिन्नवसरे केनाप्युक्तम्–'स्वामिन्! बहुरत्ना वसुन्धरा कथ्यते, इदं भवदीयं पुरमपि महदस्ति। अत्र कोऽपि देवदत्तवरोऽतुलचातुर्यो वा चतसृणां बुद्धीनामाकरो बहुतरपुण्यनिधिर्वा पुरुषो भविष्यति, अतोऽस्मिन् पुरे किमपि अत्यद्भुतवस्तुप्रदानपणपूर्वकं पटहो वाद्यतां, तदा भवतां पुण्यबलेन किमपि तथाविधं पुरुषरत्नं प्रकटिष्यति, अनयोर्विभागं करिष्यति, भवत्सभाया महत्त्ववृद्धिश्च भविष्यति'। इति तदुक्तं श्रुत्वा राज्ञा आतुरत्वेन 'यः प्रतिभापटुः पुरुषश्रेष्ठोऽनयोः सत्यासत्यविभागं कृत्वा निर्णयति तस्य बहुधनयुक्ता धनकर्मणः सुता दीयते' इति अखिले पुरे पटहोद्घोषणा कारिता। अथ पटहोद्घोषणा त्रिक–चतुष्क–चत्वरेषु वाद्यमाना यत्र धन्यः परिवसति तत्रागता। गवाक्षस्थितेन धन्येन श्रुत्वा ईषद् विहस्य सभ्यानामग्रे उक्तम्–'एतावत्यां राज्ञो महत्यां सभायां केनापि निर्णयोऽपि न कृतः?'। सभ्यैरुक्तम्–'स्वामिन्! भवादृशैरतुलधीमद्भिर्विना कः करोति?'। इति श्रुत्वा धन्यः पटहं निषिध्य शीघ्रमुपभूपं गतः। राजापि अग्रतस्तम् उदन्तं श्रुत्वा हृष्टः, अवधारितवांश्च–'नूनमयं पुण्यधीरनयोर्यथार्थविभागं करिष्यत्येव'। सभागतं च धन्यं दृष्ट्वा राज्ञा सबहुमानं स्वसमीपे स्थापितः, व्यतिकरश्च निवेदितः। धन्येनोक्तम्–'स्वामिन्! जगति सत्यधर्मसदृशो न कोऽप्यस्ति, यो हि विश्वासस्यायतनम्। स्वामिन्! अत्रानयोर्विभागो न केनापि

कृतः, परं सत्यधर्म एव सत्यासत्यविभागं करिष्यत्येव, अत इमौ[1] स्नानपूर्वकं दिव्यं कार्येते। तत्र यः सत्यो भविष्यति स सुखेन दिव्यं करिष्यति, नेतरः'। इति धन्योक्तं राज्ञाऽप्यनुमतम्। तदा धन्येन एकः सनालकः करक आनायितः, सभायां स्थापितश्च। अनेकलक्षलोका विलोकनार्थमागताः। तौ द्वावपि सभायाम् आनायितौ, राज्ञः सम्मुखं स्थापितौ। ततो धन्येनोत्थाय तौ प्रत्युक्तम्–'युवां स्नानं कृत्वा धौतिकां परिधायात्र सभायां त्वरितमागमनं कुरुतम्'। ताभ्यां तथा कृते पुनर्धन्येनोक्तम्–'युवयोर्मध्ये यो सत्यधर्मप्रभावेण अस्य मुखेनाऽन्तः प्रविश्य नालकेन वहिर्निःसरति स सत्यो धनकर्मा, नाऽपरः'। इति श्रुत्वा कूटधनकर्मा तु हर्षितः–'भव्यं संजातं, देव्या बलेन अहं करकान्तः प्रविश्य नालकेन वहिरेत्य सत्यो भवामि। पश्चात् सधनं गृहं मदीयमेव'। मूलधनकर्मा तु चिन्तायां पतितश्चिन्तयति–'अतिलघुकरक[2]प्रवेशन–निर्गमने द्वे अपि सुदुष्करे, अमुना न्यायेन किं भविष्यति?' इत्यार्तौ पतितः। पुनर्धन्येनोक्तम्–"भो देवी-देवाः! यद्यहं सत्यस्तदा अस्मिन्नेव करकमध्ये प्रवेश्य निर्गमनशक्तिं देयासुः" इत्युक्त्वा दिव्यं कर्तव्यम्[3]। तत्र यः सत्यो भविष्यति स निर्गमिष्यति"। इत्युक्त्वा विरते धन्ये कूटधनकर्मा देवीबलेन करकान्तः प्रविश्य नालकेन निर्गतः। निर्गत्य च यावद् राज्ञः पादस्पर्शनं कर्तुं लग्नस्तावता धन्येन तस्य शिखां गृहीत्वा स रुद्धः, यतो व्यन्तराधिष्ठितशरीरी शिखाग्रहणे गन्तुं न शक्नोति। उक्तं च धन्येन–'स्वामिन्! अयं तव चौरः, इतरस्तु सत्यः। अयं तु केनापि देवी–देवबलेन निर्गतः, परन्तु असत्यः। एषा हि विडम्बनाऽनेन कृता, अन्यस्य गृहसारं व्ययितं, विगोपितं च'। इति धन्यवचः श्रुत्वा राज्ञा चौरं ज्ञात्वा स्वसेवका वधाय आदिष्टाः। सेवकैश्च सद्यो गृहीतश्चिन्तयति–'अधुना कापट्यं न चलति। स्वरूपप्रकटनेन जीवामि, नान्यथा'। तदा

१ अनयोः प्र०। २ करकगत–प्र०। ३ करोतु।

विफलमायोऽसौ मन्दीभवन्मतिर्नन्दी श्रेष्ठिरूपं परित्यज्य मूलस्वरूपं विधाय सभान्तः स्थितः प्राह–"श्रूयतां सर्वेऽपि जना मम कथनम्–अनेकवर्षपूर्वेऽसद्वन्दिजनमेलके स्वस्वकलाकौशल्यप्रकाशनावसरे केनाप्युक्तम्–'अमीभिः सर्वैरुक्तां स्वस्वकलां तदा सत्यां जानामि यदाऽमितधनस्य धनकर्मणो गृहे गत्वा याचनां न कृत्वा एकदिननिर्वाहमात्रमपि भोजनं लात'। इति तदुक्तं श्रुत्वा मया प्रतिज्ञा कृता–'यदि अस्य पार्श्वाद् एकदिननिर्वाहिकभोजनं गृह्णामि तदा समुदायदाने मया त्रिभागो ग्राह्यः, नान्यथा'। इति प्रतिज्ञां कृत्वाऽस्य गृहे गत्वा आशीर्वादं च दत्त्वा मया एकदिनभोजनं याचितम्। तदाऽनेनोक्तम्–'अद्यावसरो नास्ति, अतः प्रगे दास्ये'। पुनरन्यदिने गते 'प्रगे दास्ये' एवमुक्तं श्रुत्वा तृतीयदिवसे गतः। तथापि तदेवोत्तरं 'प्रगे दास्ये'। एवं मया अनेकवर्षान् यावद् याचितः, परं किमपि न लब्धम्। याचकवृन्दानि भ्रष्टप्रतिज्ञं मां हसितुं लग्नानि। तदा मया चिन्तितम्–'मुधा मया प्रतिज्ञा कृता, महत्त्वं गमितम्!, भ्रष्टप्रतिज्ञस्य जीवनं विफलम्'। इति ध्यात्वा अस्यैव मितंपचस्य अभोग्यां सम्पदं भोग्यतामानेतुं मया देव्याराधनं कृतम्। बहुभिरुपवासैर्बहुभिश्च क्लेशैर्देव्याः प्रसादो लब्धः। तदा श्रेष्ठिनो ग्रामगमनावसरं लब्ध्वा श्रेष्ठिनो रूपं कृत्वाऽस्य गृहे प्रविष्टः। तत्र स्थितेन मयाऽस्य कमला सफलीकृता, तत्राप्यस्यैव नाम यशश्च वर्धितम्। हीनदीनप्राणिनां समुद्धारः कृतस्तत्राप्यस्यैव पुण्यम्, 'यस्याज्ञं तस्यैव पुण्यम्' इति लोकोक्तेः। मया तु भोजनमात्रमेव कृतम्। अवरोधादिषु किमपि अनुचितं न न कृतं मया, येनाहं राज्ञो धर्मस्य न अपराधभाजनं भवामि। केवलम् अस्य नाम्नः कीर्तिर्वर्धिता। कोऽत्र मम दोषो येन वधायादिशति राजा?"। इति भट्टोक्तं श्रुत्वा राजप्रमुखाः सर्वेऽपि सभ्याः सविस्मयं हसन्तः प्राहुः–'भो भट्ट! त्वया साधु अभ्यधायि। कार्पण्यरोगस्य त्वां विना

१ ममात्रासं पुरा मया वर्षत्रिंशताभ्यन्तरे अस्माकं संघि–प्र० । २ वर्षप्रमाणमासं । ३ कार्पण्यरोगपीडितस्यास्य ।

कोऽपरो भिषग्वरो भवति ?। ईदृशानाम् ईदृशी एव शिक्षा घटते, परमत्र भट्टस्य न कोऽपि दोषः'। राज्ञाऽपि कोपं त्यक्त्वा प्रसत्तिपात्रं भूत्वा बन्दी बन्धनाद् मुक्तः। यथोचितं प्रीतिदानं दत्त्वा विसर्जितः। याचकोऽपि प्राप्तधनशर्माणं धनकर्माणम् एवंमन्त्रशात् 'भोः श्रेष्ठिन्! पुनरीदृशो भट्ट-भिक्षुकैः सह विरोधो न कार्यः, हृदयं च दयादानादिना कोमलं रक्षणीयम्। कृपणता तु इह परत्र च केवलं दुःखैककारणमस्ति। यत उक्तं च शास्त्रे—

"भोक्तव्यं च प्रदेयं च कर्तव्यो नैव संग्रहः। कीटिकासञ्चितं धान्यं तित्तिरिः पश्य भक्षयेत्" ॥१॥

एवं शिक्षां दत्त्वा गतः। श्रेष्ठी सलज्जवदनो भूत्वा भूपं नत्वा प्रहृष्टान्तःकरणो बहुजनयुतो गृहं गतः, यतो विकटात् सङ्कटाद् मुक्तः को न मोदते ?। अथ गृहागतेन श्रेष्ठिना राज्ञो वचस्तदुपकारं च स्मृत्वा दुष्टानां शङ्कनीयाय धनसारस्य कनीयसे सुताय सहर्षं सोत्सवपूर्वकं गुलमालिनी स्वकनी परिणायिता, बहु च धन-वस्त्रादिकं दत्तम्।

अथ धन्यः कियद्दिनानि तत्र स्थित्वा पुना राजादीन् आपृच्छ्य षड्भिर्भार्याभिरावृतः श्रीराग इव षड्भिः प्रियाभिर्युक्तो राजगृहनगरं प्रति प्रस्थितः। मार्गे बहूनां नराधिपानाम् उपायनानि गृह्णन् प्रसादं च ददत् क्रमेण राजगृहनगरोपवनं प्राप्तः। अथ श्रीश्रेणिको राजा चरमुखेन धन्यागमनं श्रुत्वा चतुश्चमूयुक्त आकारणाय सम्मुखमागतः। जामातरं सहर्षमालिङ्ग्य कुशलक्षेमालापं च विधाय महामहेन पुरप्रवेशः कारितः। पौरैश्च अत्यद्भुतपुण्यप्राग्भारं दृष्ट्वा सगौरवं श्लाघितः। भर्तुरागमनं श्रुत्वा पितृगृहस्थिते सोमश्री-कुसुमश्रियौ अप्यागते। भर्तुश्चरणौ च आनम्य अन्तःपुरेऽमरसुन्दरीजित्वरीणां षण्णामपि सपत्नीनां यथाविधि मिलनं कृतम्। कुशलालापपृच्छायां शालिभद्रस्वस्रोक्तं धन्यचरित्रं श्रुत्वा चमत्कृते, परमानन्दं च प्राप्ते। अथ ताभ्यां षड्भिः सहगामिनीभिश्च,

अष्टभिः सिद्धिभिर्योगीव सोऽष्टभिः पत्नीभिः सह सौख्यं दोगुन्दुकाऽमरवद् विलसति स्म। स भूरिभाग्योऽसुखयुजि विदेशेऽपि कीर्ति-श्रीसखीं भोगभङ्गीं किं न बुभुजे ?, अपि तु भुक्तवानेव। यद् अष्टभिः प्रियाभिः सह राजोपपदगृहपुरे-राजगृहपुरे पुरन्दर इव रेजे तद् दानधर्मस्य प्रसादं बुध्यताम्।

॥ इति श्रीमत्तपागच्छाधिराजश्रीसोमसुन्दरसूरिपट्टप्रभाकरविनेय-श्रीजिनकीर्तिसूरिविरचितस्य पद्यबद्धश्रीधन्यचरित्रशालिनः श्रीदानकल्प-द्रुमस्य महोपाध्याय-श्रीधर्मसागरगणिनामन्वये महोपाध्याय-श्रीहर्षसागरगणिप्रपौत्रमहोपाध्याय-श्रीज्ञानसागरगणिशिष्याल्प-मतिग्रथितगद्यरचनाप्रबन्धे कन्याचतुष्टयपरिणयन-राजगृहप्रवेशवर्णनो नाम सप्तमः पल्लवः।

अथ अष्टमः पल्लवः

अथाष्टमे पूर्वोक्ता चण्डप्रद्योतभूपाद् युक्तियुक्तिप्रकाशिनी अभयशेषकथा वितन्यते। अथ चण्डप्रद्योतराज्ञो गृहे चत्वारि अनर्घाणि अद्वितीयानि रत्नानि सन्ति। यदुक्तं च-'जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद् रत्नमभिधीयते'। तत्रैकं तावद् लेखहारी लोहजङ्घनामा दूतः १। द्वितीयं शिवादेवीनाम्नी सतीनां प्रथमा-मुख्या अग्रमहिषी २। तृतीयं दिव्योऽग्निभीरुनामा देवाधिष्ठितो रथः ३। चतुर्थम् अनलनामा गन्धहस्ती ४। एतैः स्फुरत्प्रभावैश्चतुर्दन्तैरैरावत इव चतुर्भी रत्नैः कृत्वा सर्वभूभुजामर्च्यः प्रद्योतो राजाऽधिकतरं द्योतते।

तत्र लोहजङ्घनामा दूत एकस्मिन्नपि दिने पञ्चविंशतियोजनानि याति। स लोहजङ्घोऽन्यदा राजाज्ञया मुहुर्भृगुपुरं प्रस्थितः, य एकेनैव दिनेन भृगुपुरे गच्छति, पुनर्द्वितीयदिने स्वाम्युक्तं कार्यं प्रतिलेखादिकं लात्वा एकेनैव दिनेन उज्जयिनीं याति। तत्रासौ शीघ्रं गतागतैर्भृगुपुरीजनान् मार्गस्थितग्रामजनांश्च आहार-कर्मकरण-धूमयन्त्रपानाद्यर्थम् उद्वेजयति। तदुक्तवस्त्वानयतां किञ्चिद् विलम्बो भवेत् तदा तान् कुट्टयति। प्रद्योतराज्ञ इष्टत्वाद् न कोऽपि तेषां विज्ञप्तिं शृणोति। एवं नित्यं गमनागमनैः खेदिता भृगुपुरीजनाश्चिन्तयन्ति-'अयं राज्ञो मान्यत्वाद् न खेद्यते मार्यते च, परम् अस्य नित्यशः पीडा कथं सोढुं शक्यते ?। अयं नित्यमागच्छति गच्छति च, अथास्य दुःखस्य उपायः कोऽप्यस्ति ?'। इति मन्त्रणां कुर्वतां कुबुद्धिकुशलैरुक्तम्-'भो भो लोका! एतद्दुःखं तु शिवस्य ब्रह्मकपालमिव पृष्ठलग्नं न कदापि च्छुट्यते, न कोऽपि चाऽस्य रावं शृणोति। तस्माद् अस्य दुःखस्य मोचनोपाय एक एवास्ति, नान्यः कोऽपि'। जनैः पृष्टम्-'क उपायः ?'। तैरुक्तम्-'अस्मै शम्बलं कयापि रीत्या संस्कृतविषमिश्रं प्रभाते दीयते। स तद् लात्वा मार्गे दूरं गत्वा यथावसरे भक्षयिष्यति, जलपानं च कृत्वा अग्रतो गच्छन्नेव मार्गे पतित्वा मरिष्यति, तदा अस्माद् दुःखाद् मुच्यते'। तत् सर्वजनैर्मानितम्। तादृशं आम्नायकृतसंस्कारजनितं विषमिश्रितं शम्बलं निष्पाद्य अग्रतो रक्षितं यत् परीक्षणकुशलोऽपि सविषं ज्ञातुं न शक्नुयात्। यदा लोहजङ्घ आगत्य द्वितीयदिने पुनः प्रस्थितस्तदा तैर्मार्गपाथेयास्ते मोदका दत्ताः। स तान् लात्वा चलितः। अवसरे क्षुधार्तो जातस्तदा एकस्मिन् सरस्तीरे भोक्तुमुपविष्टः। यावता ग्रन्थिं छोटयति तावता शकुनैर्निषिद्धः। तेन क्षुधार्तेनापि न जग्धम्। शकुनशास्त्रे कुशलत्वेन ज्ञातम्-'शकुनशास्त्रे निषिद्धं कार्यं न कर्तव्यमेव'। बुभुक्षितश्च अग्रतश्चलितः। कतिचिद् मार्गमुलङ्घ्य पुनर्भोक्तुं स्थितः। पुनः शकुनैर्निषिद्धः। एवं तृतीयवारमपि। ततः पक्षिरुतज्ञेन दूतेन निर्धारितम्-'पक्षिरव एतत्कार्यं निषे-

धयति, पुनः शकुनानि च वारयन्ति, अतो मया मार्गे न भोक्तव्यम्, गृहे गत्वैव भोक्तव्यम्, यद् भाव्यं तद् भवतु'। इति निर्धार्य अग्रे चलितः। बुभुक्षाक्षामकुक्षिरपि साहसमवलम्ब्य महताऽऽयासेन शिथिलीभूताङ्गोपाङ्गो निस्तेजआननो वेपथुधारग् नत्वा राज्ञोऽग्रे स्थितः। राजापि तं तथाविधं दृष्ट्वा विस्मयापन्नः पृच्छति–'भो लोहजङ्घ! किमद्य शिथिलगात्रस्त्वं दृश्यसे?। किं कापि तव शरीरे रोगार्तिर्जाताऽस्ति येन ईदृशो दृश्यसे?। किमस्ति?, सत्यं वद'। तेनोक्तम्–'स्वामिन्! तव प्रसादवतो मम लोहजङ्घस्य न कापि रोगार्तिर्भवति। परमहं क्षुधार्तिपीडितोऽस्मि, तेन ईदृशीं दशां प्राप्तः'। राज्ञोक्तम्–'मम राज्ये तव पाथेयं किं न मिलितम्?'। तेनोक्तम्–त्वत्प्रसादेन बहुतरं पाथेयमस्ति, परं मया न जग्धम्'। राज्ञोक्तम्–'कस्मात्?'। तदा तेन पथो व्यतिकरो निवेदितः। राज्ञोक्तम्–'तत् पाथेयं ममाग्रे आनय'। तेन तत्पाथेयं राज्ञोऽग्रे मुक्तम्। राज्ञापि ते मोदकाः स्वहस्तेन सर्वतो निरीक्षिताः, परं दूषणं किमपि न ज्ञातम्, सुगन्धिराजद्रव्यमिश्रितत्वाद् नासिकायाः प्यायनं जातम्। पुनस्तत् शम्बलं विशेषनिर्णयाय ये परीक्षणकुशलास्तेषां हस्ते दत्तम्। तैरपि विविधप्रकारैः शास्त्रोक्तैः स्वबुद्ध्या च परीक्षितं, परं कैरपि तस्य हार्दं न लब्धम्। केनापि निर्विषभाजने क्षिप्तं, तथापि दूषणं न ज्ञातम्। ततः सर्वै राज्ञ उक्तम्–'एषु मोदकेषु विषादिदूषणं नास्ति'। तदा राज्ञाऽभयकुमारायोक्तम्–'अस्मिन् पाथेये भक्ष्यमाणे लोहजङ्घः पुनः पुनः शकुनैर्निषिद्धः, तेन अस्मिन् शङ्का समुत्पन्ना, परं दूषणं तु न केनापि प्रकटीकृतम्। तेनाहं पृच्छामि–शुद्धा अशुद्धा वा अमी मोदकाः?। यत् त्वं सर्वेषां निपुणानामग्र्योऽसि, निर्धारं कृत्वा वद'। इति राज्ञोक्तं श्रुत्वा ईषद् विहस्य मोदकान् हस्ते गृहीत्वा औत्पत्तिक्यादिबुद्धिभिः द्रव्यानुयोगशास्त्रपरिकर्मितमत्या च तस्य पाथेयस्य हार्दं लब्धम्।

१ पोषणं–पुष्टिः।

शिरोधूननपूर्वकं राज्ञ उक्तम्–'अस्मिन् पाथेये द्रव्यसंयोगजो दृष्टिविषसर्पोऽस्ति'। अभयोक्तं श्रुत्वा चमत्कृतचित्तो राजाऽऽह–
'अभय! त्वया तु कापि अनिर्वचनीया परीक्षा कृता यत् खण्ड–घृतादिनिर्मितेषु घनमोदकेषु सर्पः कया रीत्या प्रविष्टः ?'। तवोक्तं
श्रुत्वा सभ्या हसनं कुर्वन्ति। अस्माकं तु त्वदुक्ते प्रत्ययोऽस्ति–अभयो मिथ्या न वदति। अतः सत्यं सप्रत्ययं किमपि वद, येन एते
विलक्षवदना भवेयुः'। अभयेनोक्तम्–'राजन्! एषु मोदकेषु भग्नेषु प्रकटसर्पस्तु न दृश्यते, परं जलादिद्रव्यसंयोगे दृष्टिविषसर्प उत्प-
द्यते। तस्माद् य एतान् मोदकान् भुक्त्वा यदा जलं पिबति तदा उदरमध्ये सम्मूर्च्छिमः सर्प उत्पद्य मुखेन फूत्कारं करोति, तस्य
विषेण हृदयं ज्वलति, ततो भक्षको म्रियते। केनापि द्वेषबुद्ध्या गुप्तविषं निष्पाद्य मोदकेषु क्षिप्तम्। यद्यत्र भवतां प्रत्ययो न भवति
तदा वने गत्वा मोदकान् परीक्षयतु'। चमत्कृतचित्तो राजा अभयादिसभ्यजनयुक्तो वने गतः। तत्राऽभयादेशेन एका महती
लम्बायमाना भित्तिः कारिता। ततो भित्त्यग्रेतनभागे मोदका मुक्त्वा जलेन सिक्ताः। भित्तिपश्चाद्भागे आगत्य भित्त्यन्तरे सर्वे
स्थिताः। क्षणेन मोदकदले दृष्टिविषसर्प उत्पन्नः। उत्पद्य च यत्र यत्र नागो गतस्तत्र तत्र तस्य दृष्टिप्रसरणमात्रेण सम्मुखगता
वनतरवो जन्तवश्च सर्वेऽपि दग्धाः, स्वयमपि च वनज्वालया मृतः। तदा चमत्कृतचित्तेन राज्ञोक्तम्–'अहं तुष्टोऽस्मि त्वदुपरि, अतो
बन्धमोक्षं मुक्त्वा यथेच्छं वरं वृणु'। इति राज्ञोक्तं श्रुत्वाऽभयः स्माह–'मम वरदानं भाण्डागारे कुरु, यथावसरे ग्रहीष्यामि'।
राज्ञोक्तम्–'एवमस्तु'। पुनः सर्वे गृहमागताः। अभयस्य महती प्रशंसा जाता।

अथ प्रद्योतभूपतेः पुत्री नाम्ना वासवदत्ता त्रिषष्टिकलासु कुशला, परम् एकस्यां सङ्गीतरत्नाकराद्युक्तगीतकलायां न्यूनाऽस्ति।

---

१ 'तदहं संपादयामि' इत्यधिकः पाठः प्र०।

अतस्तत्पठनार्थं पाठकगवेषणेच्छया जनकायोक्तम्–'तात ! मम सङ्गीतशास्त्रपठनार्थम् अत्यद्भुतसङ्गीतशास्त्रपाठनपटोः कस्यापि अनन्यसदृशपाठकस्य गवेषणं कृत्वाऽऽनाय्य दीयतां शीघ्रम्'। राज्ञोक्तम्–'वत्से ! चिन्तां मा कुरु, स्वदेश–परदेशेषु गवेषयित्वा सबहुमानमाहूय त्वदीयेच्छापूरणं करिष्यामि। बहुरत्ना वसुन्धरा, अतो गवेषणां कुर्वतां संयोगो भविष्यति'। एवं पुत्रीं सन्तोष्य सभायामागत्य सचिवानामग्रे प्रोक्तम्–'भोः सचिवाः ! सङ्गीतशास्त्रविशारदं मार्गयन्तु'। ततः सचिवैरुक्तम्–"स्वामिन् ! वर्तमानसमये तु श्रीशतानीकपुत्र उदायन एव सर्वगान्धर्वागमपारगोऽद्वितीयोऽस्ति। यो गीतेन वीणानादेन च अनागसो[1] द्विपेन्द्रान् वशीकृत्य वने बध्नाति, ईदृशं तस्य कौशल्यमस्ति। यः कोऽपि आगत्य कथयति 'अद्योपवने हस्ती समागतोऽस्ति' तदा श्रवणमात्रेण एकाक्येव वने गत्वा गीतेन गजं वशीकृत्य वने बध्नाति। अतः स गजबन्धनव्यसनी बद्ध्वा अत्रानीयते"। राज्ञोक्तम्–'तत्कथं संजायेत ?। यतो मया पूर्वं श्रीवीराग्रे स पुत्रत्वेन स्थापितोऽस्ति, तदुपरि सैन्यप्रेषणं न युक्तम्। तेन विना तु कथमागच्छेत् ?'। सचिवैरुक्तम्–'स्वामिन् ! हस्तिच्छलेन प्राप्यते'। राज्ञोक्तम्–'कथम् ?'। तैरुक्तम्–'कूटो वस्त्र–वंशादिमयोऽङ्गोपाङ्गयुक्तोऽन्तःशुषिरो हस्ती निष्पाद्यते। अन्तः पादादिस्थानेषु भटा रक्ष्यन्ते। अन्तःस्थितैश्च तैः सत्यहस्तिवत् तरुपल्लवमोटन–मन्दगतिगमनादिकाः क्रियाः कुर्वन् कूटहस्ती वने भ्राम्यते। तदा वनेचरमुखाद् हस्त्यागमनं श्रुत्वा गजव्यसनी स नृपः सद्य उत्थाय एकाक्येव तत्रागत्य मोहनार्थं वीणां वादयन् गीतगानं करिष्यति। तदवसरेऽन्तःस्थैर्भटैर्गजभ्रमणादिमायां दर्शयित्वा स्वनिकटमाकर्षणीयः। ततः स्वविषयागतं मत्वा सहसा निर्गत्य गीतव्यसनी स नृपो बद्ध्वाऽत्रानेतव्यः। अत्रानीतश्च वसना–ऽऽसनदानादिना पुनः प्रसन्नीकर्तव्यः।

१ निरपराधान्।

ततः पश्चात् स पुत्रीं शिक्षयिष्यति"। इति मन्त्रिभिरुपायः कथितस्तदा राज्ञापि 'तदेव क्रियताम्' इत्यादेशः कृतः। सचिवैस्तां सर्वामपि रचनां कृत्वा कौशाम्बीनिकटोपवने मायागजो नीतः। स च इतस्ततः परिभ्रमणं कर्तुं लग्नः, अन्ये च भटा वेषान्तरेण दूरतरं स्थिताः। ततस्तं मायागजं परिभ्रमन्तं वनेचरैर्दूरतो दृष्ट्वा असत्यमपि सत्यं ज्ञात्वा उदयनराज्ञे ज्ञापितम्। सोऽपि श्रवणमात्रेणोत्थाय तं गजं बन्द्धुम् एकाक्येव तत्रागमत्। दूरतस्तं महान्तं हस्तिनं दृष्ट्वा गायन् वीणां च वादयन् उदयनो हस्तिनिकटं गन्तुं लग्नः। हस्त्यपि तरुपल्लवादिमोटनं त्यक्त्वा रागाकृष्ट इव शनैः शनैः पादन्यासं कुर्वन् मस्तकं च धुन्वन् सम्मुखमागच्छत्। अनुकूलं तं हस्तिनं दृष्ट्वा ध्यातुं लग्नः—'मम गीतकलया वशीभूतः शिरो घूर्णयन् सम्मुखमागच्छति, अतोऽधुना क्षणेन एनं वशीकृत्य बध्नामि'। इति चिन्तयन् साह्लादं गायन् यावता हस्तिनिकटस्थलं प्राप्तस्तावता सहसा अन्तःस्थैर्भटैर्दूरतरस्थितैश्च भटैर्निर्गत्य गृहीत्वा वनान्तरकुञ्जरक्षिते रथे क्षिप्तः, जात्यतुरङ्गमाश्च योजिताः। ते च अश्वाः प्रेरिता धावमाना अर्धघटिकया योजनमार्गमुल्लङ्घयन्ति। उदयनस्तु तत्क्रियां दृष्ट्वा चिन्तां कर्तुं लग्नः—'अहो! कर्मणां गतिं को जानाति?। एते भटा मां क्व नेष्यन्ति?, मम तु स्वशस्त्रं स्वोपघाताय जातम्। न जाने किं भविष्यति?'। इति चिन्तया दिग्मूढो वक्तुमपि न शक्नोति। एवं स्थाने स्थाने रक्षिते रथे आरोहणापरोहणक्रियया तृतीयदिने उज्जयिनीं नीत्वा प्रद्योतभूपत्यग्रे ढौकितः। प्रद्योतराजः स्वयमुत्थाय सादरं रथादुत्तार्य मिष्टवचनैराश्वास्य हृदयालिङ्गनपूर्वकं मिलित्वा समासने संस्थाप्येति वक्तुं लग्नः—'भो वत्सेश[1]! त्वया स्वचिन्ता न कर्तव्या। एतद्गृहं स्वगृहमिव गण्यम्। मया च किञ्चिद्दुष्टाभिप्रायेण न आनायितः, यतः पूर्वं हि मया त्वं पुत्रत्वेन स्थापितोऽसि, अद्यापि मम चित्ते

१ वत्सस्य—वत्सदेशस्येश!।

तदेवास्ति, अतो विकल्पं त्यक्त्वा सुखेनात्र स्थितिः कर्तव्या। यन्मया येन कारणेन च्छलं कृत्वा त्वमत्राऽऽनायितस्तच्छृणु—मम पुत्री वासवदत्ताऽभिधाऽस्ति। तया च स्वचित्तप्रसत्त्या अनेकशास्त्रकलाः शिक्षिताः, परम् एकया सङ्गीतशास्त्रकलया न्यूनाऽस्ति। तया च मां प्रत्युक्तम्—'सङ्गीतशास्त्रनिपुणमध्यापकं मां मेलयतु'। इति तदुक्तं श्रुत्वा सभायां समस्तसुधीसभ्यानामग्रे गवेपणार्थं वार्ता कृता तदा ये ये शास्त्रविशारदा अनेकदेशाटनेन चातुर्यचरणास्तैः सर्वैरपि त्वत्प्रशंसा कृता यद्—'अधुना तु उदयनराज एव सङ्गीतशास्त्रेपु रसशास्त्रेपु च एकोऽद्वितीयोऽस्ति, एतत्सदृशो न कोऽप्यस्ति'। एतच्छ्रुत्वा मया ध्यातम्—यदि तस्यामन्त्रणार्थं प्रधानपुरुपान् प्रेपयामि तदा सोऽपि स्वराज्यस्थितसुखमग्नो ममादेशं मानयेद् वा न। कः स्वायत्तत्वं मुक्त्वा परतन्त्रत्वे पतति ?। न च मम तव विरोधोऽस्ति। मम च त्वया सह युद्धकरणमनर्हमस्ति, यतः पूर्वं मया त्वं पुत्रत्वेनाङ्गीकृतोऽसि। अथ पुत्रीच्छा तु निफला भवति, अतो मया एतच्छलं कृत्वा आनायितः, नान्यत् किमप्यस्ति, अतः सुखेन स्वगृहवद् अत्र स्थित्वा तां पाठयतु भवान्। परन्तु सा जवनिकान्तः स्थित्वा पठिष्यति, यतः सा काणाक्षी अस्ति, अतो लज्जया मुखं कस्यापि न दर्शयति, ततश्च जवनिकान्तः स्थास्यति'। इत्युक्त्वा बहुमानपूर्वकं खान–पान–वसन–मानादिशुद्धिं निजेन समं कारयता वत्सेशः स्वसमं रक्षितः। अथ गणकोदिते शुभेऽहनि शास्त्रपठनमुहूर्तनिर्णयं कृत्वा राज्ञा वासवदत्तायै प्रोक्तम्—'वत्से! अमुकदिने त्वया शास्त्रारम्भः कर्तव्यः, परं गुरुमुखं त्वया नेक्ष्यम्। कथम् ?—समस्तशास्त्रविशारदोऽपि कर्मदोपेण चन्द्रः कलङ्केनेव कुष्ठरोगेणोपद्रुतोऽस्ति। राजवंश्यानां कुष्ठिमुखावलोकनं नीतौ निपिद्धमस्ति, तस्माज्जवनिकान्तःस्थितयैव पठनीयम्'। इति शिक्षयित्वा शास्त्रप्रारम्भस्तु कारितः। प्रत्यहं वत्सेशो वासवदत्तावासे गत्वा

१ ज्योतिर्विदकथिते।

भद्रासने स्थित्वा जवनिकान्तःस्थितामेव वासवदत्तां सङ्गीतशास्त्रमर्माणि पाठयति। साऽपि सविनयं स्वधिया शास्त्रमर्माणि गृह्णाति। उदयनोऽपि तस्याः प्रतिभापटुत्वं ज्ञात्वा सोत्साहं पाठयति।

अथान्यदिने गान्धर्वशास्त्रं पठन्ती ताल–मान–मात्रा–लय–विभावा–ऽनुभावा–ऽलङ्कारादिभी रसोत्पत्तिसमये अत्यन्तसूक्ष्म-दृष्टिभिरपि सूक्ष्मदृष्ट्या ग्राह्यत्वाद् द्वि–त्रि–चतुष्कृत्वः कथनेऽपि वासवदत्ता विशदरीत्या ग्रहीतुमशक्नुवती पुनः पुनः प्रष्टुं लग्ना। तदा वत्सराजः कथयन् श्रमेण श्रान्तः साक्रोशं तिरस्कारवचो वक्तुं लग्नः–'भोः काणाक्षि! नेत्रेण सह बुद्धिरपि नष्टा ?। अक्षिस्फोटे जाते किं हृदयमपि स्फुटितम् ?। हे शून्यचित्ते! मया पुनः पुनः कथितेऽपि कथं धर्तुं न शक्नोषि ?'। इति अध्यापकवाक्यानि श्रुत्वा कुमार्यपि सरोषमुक्तवती–"या स्वामिना मम मन्दबुद्धित्वहेतोर्धारणाऽपटुत्वं दृष्ट्वा आक्रोशवचनैः शिक्षा दत्ता सा तु मया मस्तके धृता, ममैव दोषोऽयम्। परन्तु 'काणाक्षी' इति कलङ्कं दत्त्वा जल्पनं भवादृशानां न युक्तम्। अतः परं न वाच्यम्। अक्ष्णः काण-त्वं तु पुराकृतपापोदये भवति। यतः—

"षष्टिर्वामनके दोषा अशीतिर्मधुपिङ्गले। टुण्टमुण्टे शतं दोषाः काणे संख्या न विद्यते" ॥१॥

"विना पापकर्मोदयं काणाक्षीति वचः कः श्रोतुं शक्नोति ?। आत्मनः पापोदयजन्यकर्मविपाकमनुभवन्नपि यः परस्याऽसद्दोषमु-द्भावयति स कापुरुषो ज्ञेयः। भवता पुराऽपि अन्यजन्मनि कियताम् असत्कलङ्कानि दत्तानि भविष्यन्ति, तेन कर्मणा इह जन्मनि कुष्टित्वं प्राप्तम्!, यस्य मुखं विलोकयितुमनर्हम्। पुनरिह जन्मनि असत्कलङ्कदानेन का गतिर्भविष्यति भवताम् ?"। इति श्रुत्वाऽ-

१ तीक्ष्ण बुद्धिभिरपि प्र०।

ध्यापकः प्राह—'भोः कुशिष्याग्रणीः! छात्राणां तु अध्यापकेन शिक्षायां दीयमानायां प्रतिवचो वक्तुमनर्हम्, तत्स्थाने त्वं तु कुष्टिलकलङ्कं दत्त्वा प्रतिवादिवद् अभिमुखं जल्पसि!'। यदि मम विमलनीरुजशरीरस्य अध्यापकस्य कलङ्कं दत्त्वा जल्पसि तदाऽन्यस्य कस्य मुश्वेस्तद् ज्ञातम्!'। कुमार्योक्तम्—'भो आर्य! कमलदललोचनाया मम काणाक्षित्वं कथमुक्तम्?'। उदयनः प्राह—'मया तु तव पित्रोक्तं श्रुत्वा ज्ञातम्'। कुमार्याह—'आर्य! ममापि पित्रोक्तम्'। इति परस्परं वावदतौ द्वावपि सशङ्कौ जातौ। ततो निर्णयार्थं पटीमुत्क्षिप्य परस्परं रूपमपश्यतां तदा द्वावपि चित्तपरमानन्दमेदुरौ जातौ। परस्परं च प्रशंसयितुं लग्नौ—'अहो! सौभाग्यसत्त्वं निर्मथ्य रूपं निर्मितम्। त्रैलोक्यसर्वस्वमिव धात्राऽतिशयचातुर्यं संघटितम्'। एवं परस्परं गुण–रूपरञ्जितौ प्रेमामृतप्लुतौ सविस्मयं वक्तुं लग्नौ—'अहो! राज्ञा आवाम् अतिशयवञ्चितौ'। इति परस्परं खेदविप्लुतावूचतुः—'आवां राज्ञा प्रथमतो वञ्चितौ, तद् आवयोरपि वञ्चने न कोऽपि दोषः'। अथ कुमारी प्राह—'अस्मिन् भवे मम भवानेव भर्ता'। उदयनोऽप्याह—'ममापि त्वमेव प्राणप्रिया'। इति निश्चित्य मिथोऽनुरक्तौ तौ काञ्चनमालाभिधां धात्रिकां विना केनाप्यज्ञातदाम्पत्यौ सुखेन यथेच्छया काम–भोगान् विलसतः। पठन–पाठनकरणं तु बहिर्वृत्त्या, अन्तर्वृत्त्या तु प्रवर्धमानस्नेहौ दम्पती इव सुरसुखोपमं वैषयिकसुखं भुञ्जाते।

एवं कियत्यपि गते काले एकदा प्रद्योतभूपतेर्हस्तिरत्नम् अनलगिरिगजो जातमदो महालानमुन्मूल्य समस्ते पुरे महावातात् सागरे पोतवद् इतस्ततो गृह–हट्टान् ध्वंसयन् भ्रमति। गजेन खेदिता लोकाः स्थाने स्थाने पूत्कुर्वन्ति। त्रिपथ–चतुष्पथ–महापथेषु हस्तिभयाद् न कोऽपि निःसरति, चेत् कोऽपि अवश्यकार्यार्थी निःसरेत् स त्वरया कार्यं कृत्वा गृहान्तर्याति। अथ राजाज्ञया बहवः सुभटा गजदमनकलाविज्ञास्तेऽपि स्वस्वकलां विकलां च कृत्वा श्रान्ताः, परं न केनापि हस्ती वशीकृतः। नगरलोकानां महतीं पीडां

दृष्ट्वा प्रद्योतेनाऽभयः पृष्टः—'असौ मद्राज्यजीवनं गजः केनोपायेन वशो भवेत् ?' । इति राज्ञा पृष्टेऽभयोऽवक्—'राजन् ! यदि वत्सराजो वीणावादनपूर्वकं मधुरस्वरेण गानं करोति तदाऽयं हस्ती वशमायाति, नान्यथा' । तदा प्रद्योतेन वत्सराजमाहूयोक्तम्—'भोः कलानिधे ! एतेषां नगरलोकानामुपरि कृपां कृत्वा तथा स्वानुभूतां रागकलां स्फोरय यथाऽयम् अनलगिरिर्वशीभूतः सरलतां बिभ्राण आलानबन्धमङ्गीकरोति । त्वां विनाऽपरं न कमपि पश्यामि य इदं गजभयं निवारयेत् । अतो बहूनां जीवानामभयं दत्त्वा गजम् आलाने नीत्वा स्वकीयं क्षात्रविरुदं सान्वर्थं कुरु' । ततो वत्सराजेनोक्तम्—'महाराज ! अयम् अनलगिरिः अत्युत्कटमदेनापूरित एकाकिगानकरणेन न वशमायाति, अतो यदि वासवदत्ता पटावृता सुखासने स्थिता मया सह गानं करोति तदाऽयं गज उभयोः[1] स्वरमिश्रितगम्भीरग्राममूर्च्छनया मूर्च्छितो वशमायाति' । तदा राज्ञोक्तम्—'तथैव कुरु, परं गजं वशमानय' । ततो राजाज्ञया वासवदत्ता पटावृता सुखासने स्थित्वा गता । अथ वत्सराजेन वासवदत्तया च गजसमीपे गत्वा, वीणावादनपूर्वकम् उभाभ्यां स्वरमेलनं कृत्वा तथा गीतगानमालापितं यथा गजः स्वयं मदं त्यक्त्वा तयोर्मुखाग्रे शिरो धुन्वन् आगत्य स्थिरो भूत्वा स्थितः । वत्सराजेनापि घटिकाद्वयं प्रबलगीतगानेन तर्पितः सरलतामापन्नः, तदा कुमारः फालां दत्त्वा उपरि चटितः । पश्चात् सुखेन आलानं नीत्वा दृढबन्धनैर्बद्ध्वा भूपोपकण्ठं गत्वा निवेदितम् । राज्ञा च तौ अतीव श्लाघितौ, विसर्जितौ च । पुना राजाऽभयस्य बुद्धिकौशल्यं दृष्ट्वा तुष्टो वदति—'हे सुबुद्धिनिधे ! गृहगमनं मुक्त्वा यथेप्सितं वरं वृणु' । तदाऽभयेन पूर्ववत् स वरो न्यासीकृतः ।

अथोऽन्यदा ऋतुराजागमे[2] मुदा राजा नगरोपवने गान्धर्वगोष्ठिमारेभे । तस्मिन्नवसरे वत्सराजमन्त्री नाम्ना यौगन्धरायणो निज-

१ उभयोः । २ वसन्तागमे ।

स्वामिनः शुद्धिं लब्ध्वा तत्रागतः। उज्जयिन्यां यत्किञ्चिद् वेषं कृत्वा त्रिपथ–चतुष्पथेषु परिभ्रमन् इति वदति—

"यदि तां चैव तां चैव तां चैवायतलोचनाम्। न हरामि नृपस्यार्थे नाहं यौगन्धरायणः" ॥१॥

इत्येवं वदन् नगरे परिभ्रमति, परं भावार्थं न कोऽपि वेत्ति। अथान्यदा राजवाटिकायां निर्गतः प्रद्योतो राजा तच्छ्रुत्वा क्रुद्धः[1], परं भावाऽनभिज्ञत्वात् क्रोधः शमितः। यद्वा तद्वा वेषादिकं दृष्ट्वा चिन्तितम्–'कोऽपि भ्रान्तचित्तो दृश्यते!, अतो यत् तत् प्रलपति'। अथैकदा प्रद्योतेन चिन्तितम्–'मम पुत्रीं वासवदत्तां पाठयतो वत्सराजस्य प्रभूतवासराः संजाताः, ततोऽद्य तस्या गीत-विद्याकलां पश्यामि, अनयोरुद्यमः कीदृशः फलीभूतोऽस्ति?'। इति ध्यात्वा राज्ञा प्रधानपुरुषमुखेण वत्सराजायादिष्टं यद्–'भवता प्रभाते वासवदत्तां सहादायाऽत्रोपवने आगन्तव्यम्। भवदीयोद्यमप्रसादः कीदृशो निष्पन्नोऽस्तीति द्रष्टुं समीहाऽस्ति, इति हेतो-रागन्तव्यम्'। वत्सराजेनाऽप्युक्तम्–'वरम्, आगमिष्यामि'। पुना राज्ञा दासीमुखेन वासवदत्तायै ज्ञापितम्–'प्रगे पाठकेन सहोपवने आगन्तव्यम्, प्रभूतदिनाभ्यस्तकला च दर्शनीया। सर्वे गीत–सङ्गीत–रस–रागकलाविशारदा अत्रागमिष्यन्ति, अतस्त्वयाऽवश्यम् अध्यापकमादाय आगन्तव्यम्'। ततो वासवदत्तयापि 'ओम्' इत्युक्त्वा विसर्जिताः। अथ यथावसरज्ञेन सुबुद्धिना वत्सराजेन वासव-दत्तां प्रत्युक्तम्–'प्रिये! अद्य कारागाराद् निःसर्तुमवसरोऽस्ति, यतो राज्ञा बहिरागमनादेशो दत्तः। अत आवयोर्वेगवतीम् इभी-मारुह्य स्वगृहगमनकालोऽस्ति। पश्चाद् ग्रामाद् बहिर्निःसरणाज्ञा कदा भविष्यति?, अतश्चिन्तितं कुर्वः। यतो यथार्थनाम्न्या वेगवत्या वेगस्याग्रे कोऽश्ववारादिः पृष्ठतो धावितुं प्रभवेत्[2]?'। इति वत्साधीशोक्तं वासवदत्तयाऽपि इष्टं वैद्योपदिष्टमिव मानि-

१ निर्गतेन प्रद्योतेन राज्ञा तच्छ्रुत्वा क्रुद्धं परं भावानभिज्ञत्वात् पुनः शमितः। २ प्रभवति प्र०।

तम्। ततो वासवदत्तया वेगवती आनायिता। अस्मिन्नवसरे कमपि अन्धमपि विशदनिमित्तज्ञं द्रव्यदानपूर्वकं प्रसन्नीकृत्य यौगन्धरायणेन पृष्टं यद्–'इयं वेगवती ईप्सितस्थले निर्विघ्नं यास्यति ?'। तदा तेन निमित्तकुशलेनोक्तम्–'एषा वेगवती योजनशतं गत्वा नूनं प्राणान् त्यक्ष्यति। विघ्नं पुनरस्याः पृष्ठेऽनलगिरिः करिष्यति, ततो विघ्नध्वंसनार्थं चतस्रोऽस्या मूत्रघटिका उभयोः पार्श्वयोर्द्वे द्वे स्थाप्याः'। इत्याम्नायं नैमित्तिकेनोक्तं लब्ध्वा यौगन्धरायणेन तथैव कृत्वा वेगवती सज्जीकृता। प्रभूतदानेन पुनरन्धस्तोषितः। 'कस्याप्यग्रे न वक्तव्यम्' इत्युक्त्वा च विसर्जितः। अथ वत्सराजो, घोषवती वासवदत्ता, धात्री काञ्चनमाला, हस्तिमिण्ठो, वसन्तकश्च एते वेगवत्यामारूढाः। यौगन्धरायणकृतसंज्ञया चलितो वत्सपतिः। क्रमेण नगराद् बही राज्ञ उत्तरणवाटिकां यावद् आगतस्तदा क्षात्राचारधुरीणः क्षात्रधर्मपरिपालनार्थं स्वमिति ज्ञापयामास–'यतो वासवदत्ता काञ्चनमाला मिण्ठो वसन्तकाख्यो वेगवती घोषवती च एते वत्सराजेन स्वेच्छया नीयन्ते, अतो यः शूरो भवेत् स एषां मुक्तये धावतु'। इत्येवं तारस्वरेणोद्घोषणां कृत्वा वेगवती त्वरितगत्या प्रेरिता शीघ्रं गतिं कुर्वती चलिता। अथ प्रद्योतप्रमुखैः समग्रै राजलोकैस्तच्छ्रुतम्। प्रद्योतः कोपाकुलो भूत्वा सेवकानादिशत्–'अरे! धावत धावत, आशु ममापराधी गृह्यताम्, ममाग्रे चानीयताम्'। इति राज्ञोक्तं श्रुत्वा मन्त्रिप्रमुखा आहुः–'महाराज! स तु वेगवत्यारूढो गच्छति, तं ग्रहीतुं कः शक्नोति ?'। तदैकेन मन्त्रिणोक्तम्–'स्वामिन्! अस्याः पृष्ठेऽनलगिरिर्मुच्यते, विनाऽनलगिरिं तस्या गतिं न कोऽपि रोद्धुं समर्थः'। राज्ञोक्तम्–'एवमस्तु, परं स गृहीत्वा अत्रानेतव्यः'। तदा भटयुक्तं स्वकीयपुत्रमारोह्याऽनलगिरिः पृष्ठे मुक्तः। अतित्वरितगत्या प्रेरितोऽनलगिरिः पञ्चविंशतियोजनेषु गतेषु वेगवत्या मिलितः। तदा दूरतस्तम् आगच्छन्तं दृष्ट्वा वत्सराजेन एका मूत्रघटी तत्र मार्गे स्फोटिता। मूत्रवासनया मूर्च्छितो हस्ती

मूत्रं जिघ्रन् स्थितः। भटैर्बहुधा प्रेरितोऽपि पदमात्रं न चलति। घटिकामात्रं मूत्रगन्धेन प्यायनीभूतोऽग्रे चलितः। वेगवत्या तु घटिकान्तरे बहुः पन्था उल्लङ्घितः। पुनरपि पञ्चविंशतियोजनेषु गतेषु वेगवत्या मिलितः। पुनस्तथैव घटी स्फोटिता, पुनर्घटिकान्तरं जातम्। एवं तावति तावति मार्गे वत्सराजेन घटीं स्फोटं स्फोटम् अनलगिरिगती रुद्धा। एवं घटीचतुष्टये पूर्णे जाते पुनरनलगिरिर्मिलितः। अथ प्रद्योतपुत्रेण वत्सराजमारणाय चापे बाणमारोपितम्, तदा वासवदत्तया उत्थाय स्वान्तरितं वत्सराजं कृत्वा भ्रातृसम्मुखं स्थिता। तदा प्रद्योतपुत्रेण विमृष्टम्—'भगिनी स्वान्तरितं कृत्वाऽग्रतः स्थिता!, भगिनी कथं हन्यते?'। इत्येवं विचारं कुर्वतो घटिकामात्रविलम्बे जाते वत्सपत्तनमागतम्। वेगवती धावन्ती वत्सपत्तनमध्ये प्रविष्टा तदा प्रद्योततनयोऽपि विलक्षवदनस्तां मुक्त्वा पश्चात् चलितः। वत्सराजप्रमुखा वेगवतीपृष्ठतः समुत्तीर्णाः श्रमापनोदं कर्तुं लग्नास्तावता क्षणाद् वेगवती मृता। वत्सराजो वासवदत्तया सह सहर्षं राजमन्दिरं प्रविष्टः।

अथ प्रद्योतपुत्रेण गत्वा सर्वो व्यतिकरो निवेदितः। तं श्रुत्वा क्रोधाद् धमधमायमानो युद्धाय सामग्रीं कर्तुं समीहते, तावता एकेन मुख्यमन्त्रिणा राज्ञे विज्ञप्तिः कृता—'राजन्! अधुना युद्धादिकरणमनुचितम्; यतस्तया स्वेच्छया भर्तृभावेनायं वरोऽङ्गीकृतः, सा कथं तं मोक्ष्यति?। तथा केनापि उपायेन च्छलेन वा आनीयते परम् अन्येनाङ्गीकृताम् उपभुक्तां च कः कुलीनो ग्रहीष्यति?। प्रत्युत अनया तु भवदीया चिन्ताऽपहृता, स्वयंवरादिप्रभूतद्रव्यव्ययो न कारितः। स्वानुरूपं वरं निरीक्ष्य वृता, किमप्ययुक्तं न कृतमस्ति। अयमपि च उच्चकुलो राजपुत्रो विद्यानां कलानां चैकनिधिः। ईदृशो गवेषणयाऽपि न प्राप्यते, अत इदं योग्यं युगलमस्ति। अधुना युद्धादिकरणम् अपयशसे जायते, मूर्खता च प्रकटीक्रियते। तस्मात् सकलसामग्रीयुक्तप्रधानपुरुषैस्तत्र गत्वा पाणिग्रहणं

कार्यते। एतद् युक्तमस्ति, नान्यत् किमपि'। राज्ञाऽपि मन्त्रिवचनात् शान्तेन भूत्वा वत्सेशाय वासवदत्ता दत्ता। सर्वं सुस्थं जातम्।

अथान्यदा अवन्त्याम् अग्निभयं समुत्पन्नम्। गृह–हट्टादिश्रेणिर्दृश्यमाना ज्वलित्वा भस्मीभवति। जलादिना विध्याप्यमानोऽपि अग्निर्न विरमति। एकस्मिन् स्थले विध्यापितोऽनेकेषु स्थलेषु ज्वालमालाकुल उत्तिष्ठति। जनैरनेकधा देवी–देवानां भोग–पूजो–त्सवादि मानितं, परं न किमपि विरामं ददाति, प्रत्युत अधिकतर उत्तिष्ठति। केचिद् राजकीया अपि दग्धाः। रात्रौ न कोऽपि सुखेन स्वपिति। तदा प्रद्योतेन दर्शितबुद्धिकौशल्याय अभयाय पृष्टम्–'भो धीनिधे ! कोऽपि अग्निशमनोपायो विद्यते नवा ?'। तदाऽभयेनोक्तम्–'अस्ति प्रतिक्रिया, शृणुत–अग्निरेवौषधम् अग्नेः, अतो नवीनमग्निं समुत्पाद्य पूजादिकं च कृत्वा भवता गीतगान–वादित्रादिपूर्वं वर्द्धाप्यते तदा शान्तिर्भविष्यति'। इत्युक्ते राज्ञा च तथा कृते शुद्धतन्त्रप्रयोगेण अग्निः शमितः। अग्निभयं निवृत्तम्। प्रद्योतस्तत् प्रत्यक्षं दृष्ट्वा पुनस्तुष्टो वरं दातुम्, अभयेन पूर्ववत् स वरो न्यासीकृतः।

अथान्यदा अवन्त्याम् अशिवं समुत्पन्नम्। रोग–शोक–भूताद्यनेकोपद्रवाः समुत्पन्नाः। तेन नागरिका बहुतरपीडया पीड्यन्ते, अनेके जनाः श्मशानगृहं प्रयान्ति। समस्तपौरजनान् अतिदुःखैः पराभूतान् दृष्ट्वा पुनरभयाय राज्ञा पृष्टम्–'भोः सर्वविद्या–कलारत्नाकर ! एते महाऽशिवोपद्रवोपद्रुताः, कोऽपि तन्निवारणोपायोऽस्ति ?'। अभयेनोक्तम्–'अस्ति, तथाहि–सर्वाः कृतसमस्तशृङ्गारा राज्य आस्थानसद्मनि आगच्छन्तु। तत्र दृष्ट्या या देवं[1] जयति तया देव्या[2] बलिविधानं कृत्वा सर्वेषु गोपुरेषु बलिः क्षेप्यः। तदा च अशिवविधातॄणां प्रेतादीनां त्रासैश्चतुर्दिक्षु अशिवं निवर्त्स्यति'। द्वितीयदिने राज्ञा तथा कृते शिवादेव्या स जितः। अथ परमशील-

१ भवन्तम्। २ राज्या।

व्रतधारिण्या शिवादेव्या स्नानादिविधिपूर्वकं बलिं निष्पाद्य, शान्तिमन्त्रादिभिश्च मन्त्रयित्वा, नमस्कार-वज्रपञ्जरस्तोत्रादिना आत्मरक्षां विधाय, सर्वेषु पुरद्वारेषु बलिरुत्क्षिप्तः। तीर्थजलादिना पुरस्य परितः शान्तिजलधारा दत्ता। एवं सर्वान् क्षुद्रदेवान् सन्तर्प्य गृहमागता। सद्योऽशिवं च रोगादि निवृत्तम्। अथ प्रद्योतस्तत् तथाविधं निरुपद्रवं दृष्ट्वा पुनः प्रसन्नीभूय अभयकुमाराय चतुर्थं वरमदात्। ततोऽभयो राजानमाह-'राजन्! अद्य चतुरोऽपि मम वरान् ददातु'। राज्ञोक्तम्-'मार्गय'। तदा बुद्धिकुशलेनाऽभयेनोक्तं यद्-'अहं शिवाङ्कगोऽनलगिरौ तिष्ठामि, भवांश्च मिण्ठीभूय तिष्ठतु, अग्निभीरुरथदारुकृतचितां च प्रज्वाल्य अन्तः प्रविशामः। एवं मम चतुरोऽपि वरान् प्रापयतु'[1]। एवम् अभयोक्तं श्रुत्वा प्रद्योतो विषण्णो वरान् दातुमशक्नुवन् हस्तौ योजयित्वेत्याह-'भो अभय! तव बुद्ध्यग्रे कस्यापि न चलति, हारिता वयं, जितं त्वया[2]। अतो यद् रोचते तत् कुरु?'। अभयेनोक्तम्-'अधुना तु गृहगमनरुचिः प्रवर्तते'। प्रद्योतेनोक्तम्-'एवमप्यस्तु'। इत्युक्त्वा भव्याभरण-वस्त्रादिदानपूर्वकं शिष्टाचारं कृत्वा विसर्जनं कृतम्। अभयोऽपि मातृष्वसृप्रभृतीनां शिक्षां लात्वा राजगृहगमनसमये पुनः प्रद्योतं नत्वेति वक्तुं लग्नः-"महाराज! भवता कपटधर्मच्छलेनाहम् अत्रानायितस्तत्र विस्मृतं मया, तस्मादधिकं वालयिष्यामि, परन्तु धर्मच्छलं विना, न प्रच्छन्नचौरवृत्त्या, किन्तु मध्याह्नादर्वाक् समस्तभवदीयराजकीयजनेषु पश्यत्सु सकलनगरजनेषु च पश्यत्सु। भवांश्च स्वकीयसामन्त-सुभटानां नगरजनानां चाऽग्रे, 'भो भोः सामन्ताः सुभटा! भोः पुरजना! माम् अभयो बलेन गृहीत्वा याति, किं पश्यथ? मां मोचयत' इत्येवं पूत्करणं करिष्यति परं न कोऽपि मोचयिष्यति। अनया रीत्या सर्वजनसमक्षं भवन्तं गृहीत्वा यास्यामि, अतो भवता सावधानतया स्थातव्यम्। धीमता

---

१ 'चत्वारोऽपि वराः प्रापिताः'। २ जितस्त्वम्।

सह बुद्धिवितरणं कृत्वा तथा स्थेयं यथा मदुक्तसङ्कटोल्लङ्घनं भवेत्" । मानबहुलेन प्रद्योतेनोक्तम्–"वरं वरम्, याहि याहि !, अधुना सर्वं ज्ञास्यते । एकवारं तु माञ्जर्या मुखमिव आनायितोऽसि तत्तु विस्मृतम् ! । पुनः कालेन चटकिकाशिशुवद् आनाययिष्यामि ! । वाग्बद्धेन मया मुक्तो यासि अतस्त्वं प्रस्फुलनं करोषि । दृश्यतां यद् वक्रकटिलङ्को मत्कोटको गुडगुणीं लातुमीहते ! । शतयोधानां सहस्रयोधानां कोटिसामन्तसुभटानां मध्यगतं मां गृहीत्वा गमनप्रतिज्ञां करोषि ! । ज्ञातं तव सामर्थ्यम् !" । अभयेनोक्तम्–'कार्यं कृत्वा प्रमाणं करिष्यामि, अधुनोक्ते किं प्रयोजनम् ?' । इत्युक्त्वा राजगृहं प्रति प्रतस्थे । कियद्भिर्दिनैर्मगधमण्डनं राजगृहपुरं प्राप्तः । अग्रतश्चरैः श्रीश्रेणिकाय वर्द्धापनिका दत्ता–'स्वामिन् ! बुद्धिबलेन प्रद्योतं जित्वा, मालवदेशेषु कीर्तिस्तम्भं स्थापयित्वा, बहुतरजनानामुपकृतिं कृत्वाऽभयो निर्भयमागतः' । श्रेणिकोऽपि पुत्रागमनं श्रुत्वा उल्लसितरोमाञ्चकञ्चुको भूत्वा वर्द्धापनिकां च दत्त्वा महामहोत्सवेन दानमानेन च अभयस्य सम्मुखमागतः । पितुरागमनं दृष्ट्वाऽभयोऽपि वाहनादुत्तीर्य पादविहारेणागत्य तातपादयोर्निपतितः । पित्राऽपि स्वहस्ताभ्यामुत्पाट्य, गाढस्नेहेन गाढालिङ्गनपूर्वकं मस्तकं चुम्बित्वा, हर्षाश्रुजलप्लावितलोचनेन दृष्ट्वा, सगद्गदं कुशलक्षेमवार्तामात्रं च कृत्वा, हस्तिस्कन्धे आरोप्य, धवलमङ्गलाद्यनेकमङ्गलक्रियाप्रवर्तनपूर्वकं पुरप्रवेशः कारितः । अभयागमनेन मगधाधिपः पीयूषमयूखाऽभ्युदये[1] क्षीरोदे[2] इव प्रमोदभरनिर्भरो जातः । तदा पुरजन–महाजन–स्वजनादीनां गमनागमनेन विशालोऽपि राजद्वारमार्गः सङ्कीर्णो जातः । राजवर्गीयजनानां च उपायनानि लात्वा, तांश्च सुखक्षेमवार्तालापनपूर्वकं हर्षवीटकानि दत्त्वा विसर्जनं करोति । एवं यो यथागतस्तं तथाविधं सुखप्रश्नादिकमापृच्छ्य विसृजति । अथ धन्योऽपि राज्ञा सह

---

१ चन्द्रोदये २ समुद्रः ।

सम्मुखमागतोऽस्ति, राज्ञा च स समासने निवेशितोऽस्ति।'क्रमेणावसरं प्राप्य धन्योऽपि बहुतरमुपायनं कर्तुं लग्नः, तदा राज्ञा भ्रूसंज्ञया तद्ग्रहणं निषिद्धम्। अभयेन तद् ज्ञात्वा धनशपथादिमहाग्रहेण किञ्चिद् वचनरक्षणमात्रं गृहीतम्। चिन्तितं च–'अयं कोऽपि अभिनवः सज्जनपुरुषो दृश्यते। राजापि स्नेहेन बहुमानेन चालापयति। यथावसरे ज्ञास्यामि, परं गुणनिधिस्तु प्रतिभासते'। अथ सर्वेऽपि शिष्टाचारपूर्वकं प्रसन्नीकृत्य विसर्जिताः, ततः परं स्वकीयगृहगतसेवकादयश्चालाप्य विसर्जिताः। अथ भोजनावसरे जाते सभ्यान् विसर्ज्य राजा भोजनायोत्थितः। अभयेन सह भोजनं कृत्वा, रहसि स्थित्वा, 'कपटश्राद्धी कपटेन गृहीत्वा गता' ततः प्रभृति यज्जातं यच्चाऽनुभूतं तद् आगमनपर्यन्तं राज्ञा पृष्टम्। अभयेन तत् तद् रथस्थापनादिं सर्वं राज्ञोऽग्रे निवेदितम्। राजापि तच्छ्रुत्वा शिरो धूनयन् विस्मितचित्तो वक्तुं लग्नः–'वत्स! ईदृशात् सङ्कटात् त्वमेव निःसरेः, नान्यः। वर्तमाने तु बुद्ध्या जगति त्वमेव अद्वितीयो दृश्यसे। एवं समग्रवार्ताकथने कियन्त्यपि वासराणि व्यतीतानि।

अथैकदा अभयेन पितरं प्रति पृष्टम्–'तात! तवात्र राज्यनिर्वहणं सुखेन संजातम्?, कापि चिन्तार्तिस्तु न जाता?'। राज्ञोक्तम्–'वत्स! त्वयि गते राज्यध्वंसनप्रबला उत्पाता उत्थिताः, परन्तु असमानधीनिधिना एकेन सज्जनपुरुषेण धन्येन बुद्धिबलेन पराजिताः, राज्यं च दीप्तिमत् कृतम्'। अभयेनोक्तम्–'कतमो धन्यो यो भवता प्रशस्यते?'। राजाह–'यस्त्वदागमनदिवसे तव पार्श्वे स्थितः, प्राभृतकरणसमये च मया भ्रूसंज्ञया यस्योपायनग्रहणं निषिद्धम्। यतोऽस्य गुणानुरागरञ्जितेन मया पुत्रिका दत्ताऽस्ति, अतो जामातृत्वाद् दातुं योग्यो, न ग्रहीतुम्'। अभयेनोक्तम्–'के के गुणाः सन्त्यस्मिन्?'। राज्ञोक्तम्–''वत्स! अयं सतां मान्यो धन्य

औत्पत्तिक्या धिया तु तव तुल्यकक्षतामवगाहते। सौजन्यगुणेन अद्वितीयो जगति, यतोऽनेन खलु विश्वे विश्वेषामपि [1] भूमिभृताम् [2] अंशुभिरिन्दुनेव [3] बुद्धिगुणैरुपकृतिः कृता। पुनस्तेजस्विनां प्रधानेन अनेन खलु मम प्राज्यं राज्यं निधानेन भूतलमिव अधिकतरं बभौ। भाग्यलक्ष्मीसखेन अनेन खलु ताः सर्वा अपि राजधान्यः सर्वाऽवसरसावधानत्वेन मुखेन वपुःश्रिय इव अलङ्कृताः। तथा अनेन खलु धन्येन स्वगृहाद् निर्गत्य विदेशेऽपि स्वदेशवत् कस्यापि श्रेयसः पाकाद् अद्भुतभोगसुखश्रियो भुक्ताः। तथा पुनरनेन खलु स्वभाग्याप्ताऽपरिमितधनेन अकृतज्ञा अपि विगलद्धनाः स्वभ्रातरोऽनेकशः सविनयं सहर्षं प्रौढिमापिताः। तथा खल्वनेन अत्रागतेन श्रेष्ठिनः शुष्काऽपि वाटिका दृष्टिप्रसरमात्रेण अभिनवपल्लव–पुष्प–फलादिशोभया शोभनीकृता। तथा पुनरनेन त्वयि अवन्तिनगरे गते रवौ प्रोषिते विधुना द्यौरिव मम राज्यस्थितिर्द्योतिता। तथा पुनरनेन समस्तव्यवहारिशिरोमणिर्गोभद्रनामा श्रेष्ठी धूर्तकृतकपटकुयुक्तिकारायां पतित आत्मीयपटुप्रतिभाशालिन्या बुद्ध्या मोचितः। तथा खल्वनेन आलानमुन्मूल्य निर्गतं मम सिञ्चानककरिवरं मदोत्कटत्वेन नगरं ध्वंसमानं गजदमनशिक्षाकुशलत्वेन स्वायत्तीकृत्य आलाने बद्ध्वा सर्वजनानामुपकारः कृतः। गुणनिधेरस्य कियतां गुणानां वर्णनं करोमि ?, रूप–सौभाग्य–विज्ञान–विनय–चातुर्याद्यनेकगुणानामाकरोऽयमेवास्ति। तथा निष्कारणोपकारं नैमित्तिकवचनं च श्रुत्वा कुसुमश्रेष्ठिना, धूर्तवचनकारागारमोचनं स्मरता गोभद्रेण, तथाऽनेकोपकारगुणस्मरता मयाऽपि च प्रीतिवल्लिवृद्ध्यर्थं पुत्री दत्ता। भो वत्स ! अस्य गुणांस्त्वं तदा ज्ञास्यसि यदाऽनेन सार्द्धं संवासपरिचयो भविष्यति"। इत्येवं पितुर्मुखाद् धन्यगुणश्लाघां श्रुत्वा गुणानुरागिणां धुर्योऽभयस्ततः प्रभृति प्रमोदेन गुणहेतोर्धन्यस्योपरि गाढानुरागी जातः।

---

१ सर्वेषाम्। २ नृपाणाम् [पक्षे] पर्वतानाम्। ३ किरणैः।

अथ द्वितीयदिनेऽभयः स्वयम् अतुच्छं प्रेम दधानो भ्रातृकसम्बन्धत्वाद् धन्यगृहं गतः। धन्योऽपि अभयागमनं श्रुत्वा सहसा समुत्थाय कियतीं भूमिं सम्मुखमागतः। अभयो वाहनादुत्तीर्णः। गाढालिङ्गनपूर्वकं द्वाभ्यां सहर्षं जोत्कारणमनं कृतम्। ततो गृह-प्रवेशनार्थं 'चलताऽत्रतो गृहं युयम्' इति शिष्टाचार-बहुमानपूर्वकं गृहे नीत्वा भद्रासने स्थापयित्वा इति वक्तुं लग्नः—'अद्य सेवको-परि महती कृपा कृता। अद्यास्माकं गृहेऽनभ्रवृष्टिः संजाता। प्रमादवतो गृहे गङ्गा स्वयमेवागता। पवित्रीकृतं मम गृहं निजागम-नेन। धन्योऽद्य मम दिवसो यद् भवत्पादानां दर्शनं जातम्। परं भवता इयान् श्रमः किमर्थं कृतः?, अहं तु तव सेवकोऽस्मि, निर्देशकारी अस्मि, भवता निर्देशमात्रः कृतोऽभविष्यत् तदाऽहं भवतामादेशं शिरसि धृत्वा भवच्चरणाग्रे किं नागतोऽभविष्यम्?'। इत्येवं विज्ञप्तिं श्रुत्वाऽभयो धन्यस्य हस्तमाकृष्य समासने निवेशयेति वक्तुं लग्नः—'भो इभ्यवर श्रेष्ठिन्! एवं मा वद। यद् भवान-स्माकमुभयतः पूज्यः, लौकिकेन लोकोत्तरेण च। कथम्?—यत् त्वं लौकिकसम्बन्धेन भ्रातृकोऽसि, तथा लोकोत्तरेण श्रीजिनाज्ञया-ऽलङ्कृतोऽसि। जगज्जनानाम् अस्माकं चोपकारकारी असि। अतो भ्रातृक! तव दर्शनं कृत्वा कृतकृत्योऽस्मि। ये जिनाज्ञायां धृतप्रति-बन्धा दृढभक्तिकास्ते तु शिवार्थिनां पूज्यतमा ज्ञेयाः। लौकिकसंबन्धेन यः स्नेहः स संसारस्यैव वृद्धिहेतुः। यः पुनर्लोकोत्तरसम्बन्धेन स्नेहः स मुक्तेरेव हेतुः, बोधिनैर्मल्यहेतुश्च। अतो युयमस्माकम् उभयतः पूज्यतमाः। किञ्च, तातपादैर्भवदागमनेन शुष्कवननव-पल्लव-धूर्तदमन-गजदमन-राज्यस्थितिस्थिरीकरणादिः, तथाऽनेकशः कृतज्ञनिर्भाग्यबन्धूनाम् अमितसमृद्धिं दत्त्वाऽपसरणादिर्व्यति-करः सर्वः कथितः। तच्छ्रुत्वा मम हृदयं तु विस्मय-पुलक-प्रमोद-हर्ष-स्नेहेन अतीव निभृतमभूत्, अधुना यावद् उल्लासो हृदि

१ सम्बन्धाविच्छेदकारणम्।

न माति । वयं तु सुरद्रुम-कामगवी-चिन्तामणि-चित्रवल्लिमिलनादधिकं भवदीयसङ्गमं मन्यामहे । अत इयं राज्यर्द्धिः समृद्धिरहं च स्वकीया एव गण्याः, नात्र सन्देहः कर्तव्यः' । इति मन्त्रिगिरं श्रुत्वा धन्य आह-'मन्त्रिराज ! भवादृशाः सज्जनाः प्राप्तगुणाः कृपार्द्रहृदयाः कृतज्ञाः परगुणपरमाणुं पर्वतकरणशीला एव भवन्ति । गुणलेशेऽपि कृते सज्जनास्तस्य महत्त्वमारोपयन्ति । परन्तु अहं कियन्मात्रः ?, निगममात्रोऽहम्[1]; मत्तः किं भवति ? । अगण्यपुण्याढ्यानां भवतां पुण्येन सर्वं भवति । सेवको यो जयमाप्नोति तत् स्वामिनां पुण्यं ज्ञेयम्' । इत्येवं परस्परप्रशंसनमन्त्रेण परस्परहृदयावर्जनकार्मणेन च गाढतररागानुबन्धी प्रेमसम्बन्धः संजातः । तद्दिनात् प्रतिदिनमिलनं जिनयात्रादिगमनं राजसभाऽलङ्करणं वनोपवनादिप्रेक्षणं च अवश्यमुभाभ्यामेव कर्तव्यम् । केनापि कार्यवैयग्र्येण यद्दिने मिलनं न भवति तद्दिनं महार्तिकृद् भवति । एवं महामात्यः श्रीदेन[2] ईश्वर इव धन्येन प्रीतिसौख्यमनुभवति, षड्विधं च प्रीतिलक्षणं पूर्णमावहति । एकजीवस्य रूपद्वयमिव तौ सुखेन कालं निर्गमयतः ।

अथैकदा पाश्चात्यरात्रिसमये शय्यायां सुप्तेन अभयेन चिन्तितम्-'अहो ! मया उज्जयिनीतो निर्गच्छता प्रद्योताग्रे पणं कृतम् । अद्यापि प्रतिज्ञा न पूरिता । उक्तवाक्यस्य प्रतिपालनैव पुरुषत्वम्, अतस्तत्प्रतिपालनोद्यमोऽधुना अवश्यं कर्तव्यः' । प्रभाते संजाते राज्ञे धन्याय च तत्सर्वं निवेद्य सामग्रीं कर्तुं लग्नः । प्रथमं द्वे वेश्ये जातीयवरतरुण्यौ, वयसा षोडशवर्षप्रमाणे, पुरुषरञ्जनकलासु अतीव निपुणे, भ्रू-नेत्रा-ऽऽस्यादीनां हाव-भाव-विभ्रम-कटाक्षाकर्षणकलायां सुररमणीनां जित्वर्यौ, रूप-यौवनभृते, कोकिलकण्ठ्यौ तरुण्यौ संगृहीते । तथैको मुखनेत्रादिविलासैः प्रद्योतानुकारी पुरुषः सार्द्धं गृहीतः । तस्य प्रचुरं धनं दत्त्वा यदग्रे करणीयं तत्सर्वं

१ वणिग्मात्रः । २ कुबेरेण ।

प्रच्छन्नवृत्त्या शिक्षापितम्। ततश्च तद्देशक्रयविक्रयार्हाणि क्रयाणकानि वरवस्त्राणि विविधानि च रत्नानि गृहीतानि। गृहीत्वा च अनेकशकटो–ष्ट्र–बलिवर्दादिषु यथायोग्यं भृतानि। तथा दूरदेशान्तरभाषाकुशलानां तादृग्वेष–नेपथ्यानि कारितानि। आत्मनापि तथा वेषो भृतः। एवं सर्वां सामग्रीं कृत्वा, राज्यकृत्यं धन्यमस्तके दत्त्वा, स्वयं च राजानमापृच्छ्य, भव्यदिवसे शुभमुहूर्ते भव्यशकुनैरुत्साहितेन राजगृहाद् मालवदेशोन्मुखं प्रयाणं कृतम्। तत्र द्वे वरतरुण्यौ वस्त्रावृते रथे स्थापिते। कियन्तः सुभटा अग्रतः पृष्ठतश्च चलन्ति। वृद्धश्रेष्ठिकास्तस्य रथस्य परिचर्यायां मुक्ताः। यदा कोऽपि पृच्छति तदा रथिकाः सुभटा वदन्ति–'अन्तःपुरम्'। एकस्यां दोलायां प्रद्योतानुकारी पुरुषः शिक्षितानुकूलं यद्वा तद्वा वक्ति। स्वयं भव्याश्वरथे देशान्तरीयप्रवरनेपथ्यभूषितस्तिष्ठति। अग्रेऽनेके सुभटा धावन्ति, पृष्ठतश्च क्रयाणकादिभृतशकटोष्ट्रादीनि सुभटैः परिवृतानि चलन्ति। इत्येवम् अविच्छिन्नप्रयाणकैरवन्तीं प्राप्तः। भव्यं प्राभृतं लात्वा अनेकैर्देशान्तरीयवेषधरैः सुभटैः परिकरितो राजसभायां गतः। उपायनमग्रे धृत्वा राजानं प्रणम्य यथास्थाने स्थितः। भूपोऽपि अद्भुतमुपायनं दृष्ट्वा प्रसन्नो भूत्वा सादरं तं प्रत्युवाच–'भोः श्रेष्ठिन्! कस्माद् देशाद् आगतो भवान्?'। तदा श्रेष्ठी करौ कुड्मलीकृत्य उवाच–''स्वामिन्! अतिदूरादागताः स्मः। यत्र रामचन्द्रेण समुद्रोल्लङ्घनाय सेतुर्बद्धोऽस्ति तत्र पृथ्वीभूषणं नाम नगरम्। तत्राऽरिमर्दनो नाम राजा प्रबलप्रतापाऽन्वितो राज्यं करोति। तन्नगरवास्तव्या वयम्। तस्मिन् पुरे प्रवहणपथेन अनेकजातीयानि अनेकगुणकारकाणि क्रयाणकानि वस्त्र–पात्रादीनि चागच्छन्ति। अथाऽन्यदा विविधदेशान्तराणां वार्तां श्रुत्वा तद्दर्शनोत्कण्ठा संजाता। चिन्तितं च मनसा–'यदि प्रचुरतरक्रयाणकानि लात्वा देशान्तरेषु यामि तदा महान् लाभो भावी, विविधदेशदर्शनं च भविष्यति। शास्त्रेऽप्युक्तम्—

"देशाटनं पण्डितमित्रता च वाराङ्गना राजसभाप्रवेशः ।
अनेकशास्त्रार्थविलोकनं च चातुर्यमूलानि भवन्ति पञ्च" ॥१॥

इति पञ्च चातुर्यमूलान्युक्तानि । अतो देशान्तरगमने कार्यद्वयं भवति[1] । इति संप्रधार्य क्रयाणकभृतशकटादीनि लात्वा नगरान्निर्गता वयम् । वर्षद्वयं यावद् मार्गे गच्छन्तोऽनेकपुर–नगरो–पवन–पर्वतादीनि नवनवाचार–नेपथ्य–तीर्थादीनि च पश्यन्तो मनसि प्रसत्तिं प्राप्नुमः । षण्मासात् पूर्वं भवदीयराज्यवर्णनं कृतं केनापि पथिकेन यद्–'वर्तमानसमये यादृशी उज्जयिनीपुर्याः शोभाऽस्ति तादृशी न कुत्राप्यस्ति, साक्षाद् अमरपुरीव भाति । यत्र च अखण्डशासनः षोडशराजाधिराजानामधिपः श्रीमान् चण्डप्रतापो नाम्ना चण्डप्रद्योतो वासव इव राज्यम् अतिशुभनीत्या करोति । तस्यां पुर्यां कस्यापि कर्मोदयेन रोगादिकं विनाऽन्योपद्रवस्य नामापि न ज्ञायते । यदि वा आश्चर्यं द्रष्टुकामाश्चेत् तदा उज्जयिन्यां गन्तव्यम्, यस्या दर्शनेन पुरा दृष्टानि सर्वाणि माणिक्याग्रे काचवद् भास्यन्ति' । इति तदुक्तं श्रुत्वा अन्यदेशं गन्तुकामा अपि अत्रागता वयम् । परं यादृशं कर्णैः श्रुतं तादृशमेव दृष्टम् । अत्युग्रपुण्यवतां न्यायैकदृष्टीनां भवतां दर्शनं संजातम् । पावनीभूते अद्याक्षिणी । पुण्यवतां दर्शनं महते गुणाय भवति" । इत्युक्त्वा विरते श्रेष्ठिनि प्रद्योतः स्वप्रशंसया प्रस्फुलितः[2] । 'भोः श्रेष्ठिन् ! भवादृशानामागमने वयं प्रसन्नाः स्मः । सुखेनात्र स्थातव्यम्, यथेच्छया व्यापारः कर्तव्यः । युष्माकं कार्यं चेद् भवेत्[3] तदा सुखेनात्रागत्य निवेदनीयम्' । इत्युक्त्वा प्रवरवस्त्राणि बीटकानि च दत्त्वा शुल्काधिकारिणामादिष्टम्–'अस्य श्रेष्ठिनोऽर्धं शुल्कं ग्राह्यम्, नाधिकम्' । इत्युक्त्वा विसृष्टः[4] । अभयेनापि राजमार्गे अनेकगवाक्ष–द्वारयुतं नातिव्यक्तं

१ भान्ति प्र० । २ प्रस्फुलीभूतः प्र० । ३ भविष्यति प्र० । ४ विसर्जितः प्र० ।

नातिगुप्तम् ईदृशं रम्यं गृहं राजमन्दिरसदृशं भाटकेन गृहीत्वा तत्र निवासः कृतः। 'अभयचन्द्रश्रेष्ठी' इति नाम प्रख्यापितम्। एकं महास्थानं, तत्र स्थितो वाणिज्यं करोति। निजचातुर्यवार्तया पुरजनान् रञ्जयति। गृहे गृहे जनास्तस्य गुणवर्णनं कुर्वन्ति–'कोऽपि अदृष्टपूर्वोऽयं सज्जनशिरोमणिः श्रेष्ठी आगतः, धन्यास्ते देशा यत्रेदृशाः सज्जनाः परिवसन्ति'। गृहमध्यद्वारे द्वारपालका नित्यं तिष्ठन्ति, न कस्यापि मध्ये प्रवेष्टुं ददति। कथयन्ति यद्–असाकं देशे कुले चेदृशी स्थितिः'। अथ प्रद्योतानुकारिपुरुषः शिक्षापितः–"त्वमद्य नंष्ट्वा चतुष्पथादौ गच्छ। मार्गे यद्वा तद्वा प्रलपनं कुरु, ग्रथिलक्रियां कुर्वन् इतस्ततः परिभ्रम। पश्चादहं तव ग्रहणार्थमागमिष्यामि तदा त्वया वेगेन नंष्ट्वा दूरतो धावनं कर्तव्यम्। द्वि–त्रि–चतुर्घटिकायां जातायां हस्ते आगन्तव्यम्। हस्तागमनानन्तरं पुनर्नंष्ट्वा गन्तव्यम्। लोकानामग्रे वक्तव्यम्–'अहं प्रद्योतो नराधिपः, मम ग्रहणाय अभय आगच्छति तं वारयन्तु'। इत्युक्त्वा धूल्याद्युत्थापनं कर्तव्यम्। पश्चादहं त्वां बलाद् गृहीत्वा खट्वायां बद्ध्वा गृहे नेष्यामि तदा त्वया येषां तेषां लोकानां सुभटानां च पुरत एवं वक्तव्यम्–'भो भो लोका! भोः सुभटा! मां प्रद्योतराजं बद्ध्वाऽतो गृहीत्वा च अभयो याति, अतो यूयं किं न मोचयथ?'। इत्येवं खट्वायां स्थितेन पुनः पुनः प्रलपनं कर्तव्यम्। अन्तराऽन्तरा किमपि यद्वा तद्वा प्रलनमपि कृत्वा पुनरहं प्रद्योतनराधिप इत्यादि जल्पनं कर्तव्यम्। एवं प्रत्यहं क्रिया कर्तव्या। नित्यं खट्वायां बद्ध्वा गृहे नेष्यामि। पश्चाद् गृहमध्ये आगत्य सुखेन स्थेयं, यथेच्छया भोजनादिकं कर्तव्यम्", इति शिक्षयित्वा रक्षितः।

प्रभाते संजाते स तथा कर्तुं गृहाद् नंष्ट्वा चतुष्पथे भ्राम्यति, पूर्वशिक्षितं च वक्ति। लोको ग्रथिलक्रियां दृष्ट्वा हास्यं करोति।

१ एका महत्यास्थानसभा प्र० ।

शतसहस्रमितानि जन–बालवृन्दानि पृष्ठे लग्नानि परिभ्राम्यन्ति। यदि कोऽपि पृच्छति 'कस्त्वम् ?' तदा वक्ति–'अहं प्रद्योतनामा नराधिपः, समस्तदेश–ग्राम–नगराणामहमधिपः, एते सर्वेऽपि मम सेवकाः'! इत्येवं यत्तत् प्रलपति। लोकैर्निर्धारितम्–'नूनं वातूलोऽयम्, हृत्कमले प्राणाभिधानवायुविकृतिर्जाता दृश्यते, तेनायं विकलात्मा यत्तत् प्रलपति'। एवं त्रि–चतुष्पञ्चघटिकानन्तरं श्रेष्ठी सेवकैः सह पादविहारेण धावन् चतुष्पथे समागतः। निजनिजहट्टस्थिता लोकास्तादृशं दृष्ट्वा विस्मितमनसः साशङ्कं समुत्थाय श्रेष्ठिसमीपं गत्वा नत्वा च विज्ञप्तिं कर्तुं लग्नाः–स्वामिन्! भवादृशानां महेभ्यवराणाम् आतपसमये पादविहारेण किमागमनप्रयोजनम् ?। किमपि त्वरितप्रयोजनं भवति चेद् एते सेवका आदिश्यन्ताम्। तेषां वक्तुमयोग्यं चेद् अस्माकं समादिश्यताम्। एते सर्वेऽपि नगरवासिनो जना भवदीयगुणैः क्रीता दासाः स्मः। भवदीयादेशमात्रेण भवदुक्तकार्यकरणाय मनो–वाक्–कायैः प्रगुणाः स्मः, नात्र सन्देहः। ईदृशो दुर्जनः कोऽस्ति यो भवदुक्तकार्यकरणाय प्रमाद्येत् ?। भवादृशानां जगदुत्तमानां ग्रीष्मर्तुमध्याह्नकाले ईदृक्कष्टकरणं तु न युक्तम्, अतोऽतिशीतलच्छायम् अस्माकं हट्टमलङ्क्रियताम्। पूज्यपादानामागमनेन हट्टमपि पावनं भविष्यति। तत्र स्थित्वा कार्यं समादिश्यतां, शिरोवलेन तत्कार्यं क्षणार्द्धेन करिष्यामः'। एवं गुणैर्वशीभूतानां जनानां भाषितं श्रुत्वा साश्रुलोचनः श्रेष्ठी सगद्गदमिति प्रतिवदति–'भो भ्रातरः सज्जना! यद्भवद्भिरुक्तं तत्सत्यम्। त्रिधा जानामि सर्वेऽपि मम शुभचिन्तकाः, मदुक्तकार्यकरणतत्पराः। सर्वेऽपि ममोपरि पूर्णकृपां रक्षन्ति। परन्तु ममैकं महद्दैवमापतितमस्ति, तेन दुःखेन प्रेरितो मध्याह्ने धावन्नागतः, न तु धनाय लोभाय च'। जनैरुक्तम्–'किमीदृशं दैवम् ?'। श्रेष्ठिनोक्तम्–'द्वित्रिमासेभ्योऽस्माकं प्राणप्रियस्य समस्तगृहचिन्ताकारकस्य परमविनयगुणयुक्तस्य सर्वकार्येष्वतिनिपुणस्य गृहमण्डनभूतस्य प्रद्योतनाम्नो मम लघुभ्रातुः केनापि रोगेण वायुप्रयोगेण

भूतादिदुष्टदेवप्रयोगेण वा प्रकृतिर्विकृतिर्जाताऽस्ति। तेन न सरलं जल्पति, न च सरलं भोजनं करोति। अहर्निशम् अस्य पार्श्वं न मुञ्चामः। कदापि क्षणमपि कस्मैचित् कार्याय इतस्ततो गच्छन्ति सेवकादयस्तदाऽयं वञ्चयित्वा बहिर्निःसृत्य इतस्ततो धावति, ग्रथिलत्वञ्जल्पति, वल्गति च। नित्यं तु गृहपाटके परिभ्रमति, ततो गृहीत्वा गृहे नीत्वा यत्नेन रक्षामि। अद्य नंष्ट्वा क्वचिद् गतः, शुद्धिर्न लब्धा। तेन दुःखेन आतपेऽपि निःसृतोऽस्मि, नान्यत् किमपि प्रयोजनम्'। तदा केनाप्युक्तम्–"अमुकचतुष्पथे भवदुक्तस्तादृशः परिभ्रमति, ग्रथिलत्वं च करोति। 'अहं प्रद्योतो राजा नगरस्वामी, एते मम सेवका' इत्यादि प्रजल्पति। लोकवृन्दानि पृष्ठे भ्राम्यन्ति, विकलत्वं च कारयन्ति। सोऽपि लोकानां धूल्याच्छोटनं करोति"। एवं तद्गिरं श्रुत्वा अश्रुपातं कुर्वन् लोकैः सह तत्र गतः। श्रेष्ठिसेवकैर्जनैश्च मिलित्वा गृहीतः, पुनः क्षणेन अवसरं प्राप्य नष्टः, पुनस्तैर्गृहीतः, परम् अग्रे न चलति, तदा स्वगृहात् सेवकैः खट्वा आनायिता। ततो गृहीत्वा खट्वायां संस्थाप्य बन्धनैश्च बद्ध्वा सेवकाः खट्वामुत्पाट्य गृहमानेतुं लग्नास्तदा खट्वायां स्थितः पूर्वशिक्षितं यत् तत् प्रजल्पति। तद् दृष्ट्वा लोका वदन्ति–'अहो! ईदृशगुणवतः श्रेष्ठिनोऽपि महद्दुःखं दृश्यते। असारे संसारे कोऽपि पूर्णसुखेन सुखितो न भवति। कस्य किमपि दुःखं भवत्येव'। ईदृशेन कैतवेन गृहे नीतः। जना विसर्जिताः। सर्वेऽपि श्रेष्ठिनश्चिन्तां कुर्वन्तो गृहं गताः। एवम् एकदिनान्तरे कदापि दिनद्वयान्तरे करोति, पुनः श्रेष्ठी पूर्ववत् क्रियां कृत्वा गृहे नयति, एवं प्रतिदिनं कुर्वन् प्रतिचतुष्पथं प्रतित्रिकं प्रतिचतुष्कं प्रतिपाटकं यावत् प्रतिगृहं प्रतिगोपुरं प्रत्युपवनं प्रतिवाटिकं सर्वत्र विदितो जातः। यत्र यत्र गच्छति तत्र तत्र लोकास्तं दृष्ट्वा परस्परं कर्मणां निन्दापूर्वकं श्रेष्ठिनः स्तुतिं कुर्वन्ति–"अहो! विचित्रा कर्मणां गतिः। ईदृशः सर्वत्र सर्वरीत्या सुखितोऽपि श्रेष्ठी यद्दुःखमनुभवति तद्दुःखं शत्रोरपि माऽस्तु। धन-धान्यादिसर्वसुखैः पूर्णोऽपि भ्रातृदुःखेन पिडितो न

गणयति रात्रिं, न गणयति दिवसं, न गणयति आतपं, न गणयति शीतं, न च गणयति खानपान-स्वपनादिसुखम्। भ्रातृदुःखेन दुःखित एकाक्येव सामान्यजनवत् प्रत्यटव्यां परिभ्रमति। सेवकाः कुत्रचित्, स्वयं कुत्रचिद्, दासजनाः कुत्रचिद् ग्रहगृहीता इव परिभ्राम्यन्ति। दैवीं गतिं स्फोटयितुं न कोऽपि समर्थः।" एवं सर्वत्र विख्यातिर्जाता। पूर्वं तु यदा निर्गतोऽभूत्, श्रेष्ठी च तच्छुद्ध्यर्थं पृष्ठतो धावितोऽभूत् तदा शतसहस्रमाना जना गृहानयनं यावत् पृष्ठतो लग्ना आगता अभूवन्। पश्चात्तु बहुदिनेषु जातेषु न केऽप्यागच्छन्ति, गृहस्थिता एव श्रेष्ठिनो दुःखस्य तर्सिं कुर्वन्ति। यदि कोऽपि अविदितवार्तः 'किमिदम्?' इति पृच्छति तदा पुरजना उत्तरं ददाति–'भ्रातः! कर्मणां गतिरीदृशी। पश्चात् श्रेष्ठिगुणवर्णनपूर्वकं सर्वव्यतिकरं ज्ञापयन्ति। अत्र किमाश्चर्यम्?, नित्यमीदृशीं कर्मगतिमनुभवति श्रेष्ठी'। श्रेष्ठी रोगी च प्रवाहपतितत्वान्न कोऽपि तद्दर्शनार्थमुत्तिष्ठति। ईदृग्जनपरिचितेन श्रेष्ठिना गृहस्थितयोर्द्वयोः पण्याङ्गनयोरेवं शिक्षा दत्ता–"कल्ये राज्ञोऽश्ववारिका निर्गमिष्यति। तस्मात् पूर्वं वस्त्राभूषणपरिधानाद्यद्भुतरचनया षोडशशृङ्गारान्[१] कृत्वा ताम्बूलेन मुखं भूषयित्वा गवाक्षे प्रवरभद्रासने स्थातव्यम्। यदा हस्तिस्कन्धाधिरूढो नृपो दृष्टिपथमायाति तदा कटाक्षबाणैः सुतरां वेध्यः। हाव-भाव-विभ्रमैः पातयितव्यो यथा कुसुमायुधोऽङ्गप्रत्यङ्गं व्याप्नोति, तथा कर्तव्यं यथा स युवामेव ध्यायति, युवामेव पश्यति। किं बहुना? स्वकलास्फोरणेन गमनागमनसमये स्वचरित्रविलासेन वशीकर्तव्यः" एवं शिक्षयित्वा ते रक्षिते। ततो द्वितीयदिने राज्ञोऽश्ववारिकावसरे ते द्वे अपि स्नान-मज्जनादिपूर्वकं षोडश शृङ्गारान् कृत्वा पञ्चसौगन्धिकेन च ताम्बूलेन मुखं भूषयित्वाऽग्रतो राजमार्गगवाक्षे भव्यभद्रासने स्थिते। ततो घटिकाद्वयानन्तरं राजा तस्मिन् मार्गे निर्गतः। गन्धहस्तिस्कन्धाधिरूढो

१ 'षोडशशृंगारादिवस्त्राभूषणपरिधानादिअद्भूतरचनां कृत्वा' इति प्रत्यन्तरे।

यावता गवाक्षसमीपमागतस्तावता ते द्वे अपि दृष्टिपथमागते। ताभ्यामपि हावभावपूर्वकं राजाऽवलोकितः, तदा परस्त्रीलम्पटो राजापि चमत्कृतः सादरमवलोकनं कर्तुं लग्नः। मनसि च विचारयितुं प्रवृत्तः—'स्वरूपतर्जितरम्भे कन्दर्पकटकभम्भे च कस्य भाग्यवत इमे तरुण्यौ ?'। इति ध्यायन् पुनः पुनः पश्यन् गच्छति। ततस्ताभ्यां राज्ञः सरागदृष्टिं ज्ञात्वा विशेषतः सादरम् अनिमेषाऽवलोकनम् अर्धोन्मीलितचक्षुषाऽवलोकनं मुखमोटनं सस्मितावलोकन—न्यग्भूयावलोकनो—र्ध्वीभूयावलोकनं कपाटाऽन्तरास्थगनं च कृत्वा पुनः पुनः प्रकटीभवनाय परस्परं बाहुभ्यां कण्ठपार्श्वकरणाद्यपरिमितहाव—भाव—विभ्रम—कटाक्ष—विक्षेपादिस्त्रीचरित्रसङ्कटे पातितः कामबाणप्रहारैर्जर्जरीकृतः। राजा चिन्तयति—'किमिमे नागवध्वौ ?, वा किन्नर्याविमे ?, वा विद्याधर्याविमे ?, के वा भविष्यतः ?। कस्येदं धवलोन्नतं गृहम् ?। कः परिवसत्यत्र ?। केनोपायेनाऽनयोः संयोगो भवेत् ?। यद्यनयोर्मिलनं स्यात् तदा त्विदं जन्म सफलं, नान्यथा'। एवं सर्वं ध्यायन् मिण्ठो भ्रूसंज्ञया शिक्षितः—'मन्दगत्या हस्तिखेटनं कुरु'। तेनापि तथा कृतम्। अग्रे गच्छन् वक्रीकृतग्रीवस्तत्संयोगचिन्तया विधुरोऽनिमेषदृष्ट्यावलोकते[1]। ताभ्यामपि तस्य तथावस्थां दृष्ट्वा विशेषतो विपलिप्तैर्मारमार्गणैर्मारित आलस्याङ्गमोटन—जृम्भाकरण—परस्परालिङ्गनाद्यदृष्टपूर्वैः स्त्रीचरित्रविभ्रमैः पूर्णरागभावं ज्ञापयित्वा 'यदिमे ममोपरि पूर्णरागवत्यौ केनोपायेन मिलतः ?' इत्याशाशङ्कटे पातितः। ततस्तेन राज्ञा यावद् दृष्टिपथमायाते तावदवलोकनं कृतं, ततः परं प्राणान् तयोः पार्श्वे मुक्त्वा एकेन देहमात्रेणाग्रतश्चलितः। ततस्ताभ्यां सर्वो व्यतिकरः श्रेष्ठिने निवेदितः। श्रेष्ठ्यपि प्रसन्नीभूत आयतिकर्तव्यतया एवं शिक्षां दातुं लग्नः—"कल्ये पुनः परस्त्रीलम्पटोऽत्रैवागमिष्यति, तदा पुनर्विशदरीत्या कटाक्ष—विक्षेप-हस्ताभिनयादिना

१ —वलोकयन् गच्छति।

आवर्ज्य विह्वलो भवति तथा कर्तव्यम्। यतो विषयानुरक्तत्वेनैवं जानाति–'इमे द्वे मामेव ध्यायतः, ममोपरि पूर्णरागे स्तः, यदाहं वक्ष्यामि तद्दिनेऽङ्गीकरिष्यत एव' एवं प्रतीतिः कार्या। तथा च द्वि–त्रिदिवसैः पूर्णविह्वलो भविष्यति तदा कथञ्चिन्मिषं कृत्वा दूतिकां प्रेषयिष्यति। तदा दूतिकोक्तं श्रुत्वा प्रथमं मिष्टवचनैस्तर्पयित्वा यथायोग्यं किमपि खान–पानादिना आवर्ज्य तद्गृहशुद्धिर्विशदरीत्या ग्राह्या। ततः परं कथमपि वाक्यचातुर्येण 'सङ्गमोऽतिदुर्लभतरः प्रतिभासते' तादृशं वक्तव्यम्। 'यतोऽस्माकम् आजन्मतोऽद्य यावद् न केनापि सह चतुरक्षिमिलनं जातं, विना भर्तारं न कस्याप्यग्रे वाग्विलासः कृतः। न ज्ञायते केन पूर्वकृतकर्मसम्बन्धेन राज्ञा सह प्रेमोदयो जातः?। परं भगिनि! तस्य मिलनं तु अतिदुष्करं कथं निर्वक्ष्यति?। अस्माकं गृहनिवासस्थिती राज्ञोऽन्तःपुराद् अतिविषमा'। इत्यादिवचनरचनयाऽतिदुष्करं मिलनं पूर्णरागित्वं च दर्शयित्वा यथाऽऽतुरो भवति तथा कर्तव्यम्। पुनर्दूत्यग्रे वाच्यम्–'अस्माकमुपरि अवितथरागो भवति चेत् तदाऽसदुपायसङ्कटे पततु। अस्मदुक्तदृशकष्टमङ्गीकरोति चेत्तदा कथमपि मिलनं भविष्यति, नान्यथा। त्वयापि यथावसरं आप्यागन्तव्यं, न बहुशः''। एवमभयेन सर्वं तयोः शिक्षापितं, ताभ्यां च तत्सर्वमवधारितम्।

तथा पुनर्द्वितीयदिनेऽपि राजा तस्यैव गवाक्षस्याभ्यर्णे भूत्वा निर्गतः। ताभ्यां पुनः कटाक्षादिपञ्चशरविशिखैर्विविधविधानैर्विशदरीत्या विद्धो जर्जरीकृतः। स च विषमासु[1] कामावस्थासु पतितो विचिन्तयति–'इमे सुररमण्यधिकतरस्वरूप–चातुर्ययुक्ते द्वे कथमपि हस्ते समायातश्चेत् तदा वरम्'। एवं प्रतिक्षणमनुतापं[2](पेन) तप्यमानः प्रासादमागतः। चिन्तितं च–'चेत् कापि निपुणाऽवसरज्ञा वाक्कु-

१ 'दशापि (स्वपि) कामावस्थायां पतितो विचिन्तयति' इति प्र०। २ 'अनुतापं तप्यता चिंतितं' इति प्र०।

शठा दूतिका किमपि मिषं कृत्वाऽनयोरभ्यर्णे गच्छेत्, अनयोराशयश्च चलेत् तदा कथमपि मनोरथपूर्तिर्भवेत्'। एवं विचिन्त्यैका दूतीकर्मकुशला दूतिकामाहूय तस्या अग्रे 'अमुकचतुष्पथे अमुकसाधुकारवेश्मसमीपे महावासे उदयदिक्सम्मुखवातायने' इत्यादिसर्वमनुभूतम् ईप्सितं च निवेदितम्। 'तस्मात् त्वं चातुर्येण किमपि मिषं कृत्वा, तद्गृहे गत्वा, तत्कुलादिकं ज्ञात्वा, तयोर्हृदगतप्रेमपरिमाणं च ज्ञात्वा एहि'। दूती प्राह—'स्वामिन्! इदं महाविषमं कार्यमस्ति। यतोऽपरिचितसाधुकारस्य गृहे गमनमतिदुष्करं, तत्रापि तस्य गुप्तवार्ताग्रहणमतिदुष्करतरम्। ईदृग्महाविषमं कार्यं भवता निर्दिष्टं, तथापि भवच्चरणकृपया स्वचातुर्यविस्फोरणेन च भवदादेशपरिमाणेन सर्वां तच्छुद्धिं ज्ञात्वा भवदग्रे निवेदयामि तदा मम प्रणामो ग्राह्यः'। इत्युक्त्वा दूती राज्ञः समीपान्निर्गता। नृपोक्तचतुष्पथे गत्वा इतस्ततः सर्वत्रावलोकनं कृतम्। पश्चात् तन्निवासिजनानां पृष्टम्—'कस्येयं वातायनावलिः?, कोऽत्र निवसति?'। तैरुक्तम्—अस्य महावासस्य मुखं तु प्रतीच्याम् अमुकपाटके वर्तते, तत्र तु देशान्तरीया निवसन्ति। तत्रैको दाता भोक्ता परोपकारनिरतः श्रेष्ठी षण्मासादर्वाग् आगतोऽस्ति। किं वर्ण्यते तस्य सौजन्यम्?। तस्य बहुतरः परिकरोऽस्ति, तन्मध्यात् तदाज्ञया कोऽपि स्थितो भविष्यति, परं विशदं न ज्ञायते। एतानि वातायनावलीनां द्वाराणि तु प्रायेण स्थगितान्येव लक्ष्यन्ते, कोऽपि कदापि नात्र तिष्ठति'। इति श्रुत्वा दूतिका चिन्तयितुं लग्ना—'तादृशी शुद्धिस्तु न लब्धा, चेद् गृहमुख्यद्वारे गम्यते तदा विदितं भविष्यति'। इति ध्यात्वा पुनः परावृत्य शनैः शनैः शुद्धिं कुर्वती तद्गृहद्वारं गता। तत्र तु राजद्वारमिव घनैः पुरजनैः सेवकैश्च रुद्धं दृष्ट्वा प्रातिवेश्मिकगृहे किञ्चिद् उपलक्षणं निष्कास्य तेन सह वार्तां कुर्वत्या पृष्टम्—'भो! अत्र महावासे को वसति?'। तेनोक्तम्—'दूरदेशान्तरादागतः श्रेष्ठी परिवसति, परं सर्वगुणैः सम्पन्नः श्रेष्ठिशिरोमणिः परोपकाररसिक ईदृशो न कोऽपि दृष्टिपथमागतोऽभूत्'। पुनर्दूत्या पृष्टम्—'अस्मान्तः

पुरमस्ति नवा ?' । तेनोक्तम्—'अस्ति, परं न कमपि प्रवेष्टुं ददाति । अहं तु श्रेष्ठिनः पार्श्वे शतशो यातः, परं नान्तःपुरम् । तस्य देशस्येदृश्येव स्थितिः । महद्भिरुपलक्षणैर्महत्या च प्रीत्या स्त्रीजनः कदापि प्रवेशं प्राप्नोति, पुरुषस्तु नैव । अस्य श्रेष्ठिनोऽत्र निवसतः किञ्चिदधिकषण्मासा जाताः, परं मम जाययापि एक–द्विवारमेव प्रवेशः प्राप्तोऽस्ति' । एतत्सर्वव्यतिकरं प्राप्य दूतिकयापि राजानं गत्वा निवेदितम्—'स्वामिन् ? महाकष्टसाध्यं कार्यम् , तत्रापि कार्यभवने भजना ज्ञायते । भवदीयादेशो मया पणीकृतः, अतोऽहं यावद् भविष्यति तावत् करिष्यामि, पश्चात्तु भवदीयभाग्यबलम् !' । राज्ञोक्तम्—'मदीयं भाग्यमस्त्येव, यतस्तयोः सरागदृष्ट्यनुमानेन ज्ञायते, अतस्त्वमुद्यमं कुरु, सफलो भविष्यत्येव' । दूत्योक्तम्—'महाराजेनोक्तं तत्तु सत्यं, परं तत्र प्रवेशोऽतिदुष्करः । विचक्षणा वणिग्जातिः, सा वञ्चयितुमतिदुष्करा, परम् उद्यमे तु न किञ्चिन्न्यूनतां करिष्यामि' । इत्युक्त्वा दूतिका स्वगृहमागता । चिन्तयति च—'राज्ञोऽग्रे मया पणस्तु कृतः, परन्तु निरुपलक्षिते गृहे केनोपायेन प्रवेशो भविष्यति ?' । इति चिन्तार्णवे पतिता दूती । दिनत्रये गते राज्ञः समीपमागत्य अन्तःपुर्याश्चतस्रः सख्यो मार्गिताः, पञ्चषाः पुरुषाश्च । तान् लात्वा स्वगृहमागत्य, एकस्मिन् महति भाजने विविधसुखभक्षिकापुञ्जैर्द्राक्षा–ऽक्षोटक–वदाम–सितोपला–नालिकेरखण्डैश्च स्थालमापूर्य, अत्यद्भुतचीनांशुकेनाच्छाद्य, एकस्याः प्रवरतरुण्या हस्ते [1]समुत्पाट्य स्वयं पुनर्महत्तरिका भूत्वा गीतानि गायन्ती, अग्रतः पृष्ठतश्च राजपुरुषैरावृता, [2]श्रेष्ठिगृहं प्राप्य यत्रान्तःपुरद्वारं तत्र गता । तत्रान्तःपुरद्वाररक्षकपुरुषैः पृष्टम्—'किमिदम् ?' । तदा सा दूती अग्रतो भूत्वा वक्तुं लग्ना—"ह्यो दिने राज्ञः कुलक्रमागतदेव्या महोत्सवो गतः, अद्य तस्या देवतायाः शेषा विभज्यन्ते, अतो राज्ञा महत्या प्रीत्या श्रेष्ठिनो गृहे विमुक्ताऽस्ति । उक्तं

१ समुत्पाटयित्वा । २ 'श्रेष्ठिगृहद्वारं प्राप्ता' इति प्र० ।

च राज्ञा-'श्रेष्ठिनोऽन्तःपुरं गत्वा श्रेष्ठिनीहस्ते दातव्यः' अतो वयं तं दातुमागताः स्मः"। ततो द्वारपालकैरुक्तम्-'श्रेष्ठिनो निर्देशं विना प्रवेष्टुं न दद्मः। परं यूयं राजकीयास्तस्मात् श्रेष्ठिनमापृच्छ्य प्रवेष्टुं दद्मः, अतोऽत्रैव क्षणं स्थीयताम्'। इत्युक्त्वा एकेन सेवकेन श्रेष्ठिसमीपं गत्वा सर्वं निवेदितम्। तेनोक्तम्-'तासामग्रे कथय-श्रीमद्राज्ञा महती कृपा कृता, परन्तु एकया मुख्यसख्याऽन्तःपुरे गत्वा दातव्यम्। सत्कारस्तु सर्वासामेव कर्तव्यः, परमस्माकं कुलस्थितिरियमेव'। इत्येवं श्रेष्ठिनोक्तं वाक्यं सेवकेनागत्य तस्यै कथितम्। 'भवतीनां मध्याद् एकैवाऽन्तःपुरे यातु इति श्रेष्ठ्यादेशः'। ततः सा दूती स्वयं स्थालं लात्वाऽन्तःपुरं गता। दूरात्तयोः स्वरूपं दृष्ट्वा चमत्कृतचित्ता चिन्तयति-'अहो! अनयोः स्वरूप-चातुर्य-लावण्यै राजा विभ्रमे पतितोऽस्ति तत्र किमाश्चर्यम्?। अनयोर्हाव-भावादि दृष्ट्वा को मुनीन्द्रो वा मूर्खेन्द्रो वा स्थिरचित्तो भवेत्?'। इति ध्यायन्ती तयोरभ्यर्णे गत्वा स्थालमग्रे ढौकयित्वा प्रणामं कृत्वा शिष्टाचारपूर्वकं वक्तुं लग्ना-"भाग्यनिधी! राज्ञा स्वयं देवार्चनमहोत्सवस्यायं शेषोऽतिप्रीत्या मुत्कलापितोऽस्ति, युवाभ्यां सुखप्रश्नश्च पृष्टः। युष्मद्गृहस्वाम्युपरि बहुतरं प्रसन्नचित्तोऽस्ति, अतिबहुतरं च रागं बिभर्ति। 'यो गृहपतिरीदृशोऽस्ति तस्य गृहिण्यौ अपि तादृश्यौ भविष्यतः, अतस्तयोः सबहुमानं सुखप्रश्नः कार्यः' इति श्रीमुखेन मया सार्धं कथापितम्"। इति श्रुत्वा पूर्वशिक्षिताभ्यां द्वाभ्याम् ईषद् विहस्योक्तम्-"भवत्या यदुक्तं तत् सत्यम्। राज्ञः कृपया प्रजालोकानां सुखं भवति। परन्तु पुरुषप्रधानो व्यवहारः, पुरुषानधिकृत्य प्रशस्तिवाक्यकथनं समाश्वासकारि दृश्यते, परन्तु भवत्या यदुक्तं 'राज्ञा युवयोः सुखप्रश्नः कृतः' तत्तु 'अवसरोचितं सर्वत्र प्रियं च वक्तव्यम्' इति नीतिनिपुणानां भवतीनामेव वाक्चातुर्यम्। यतो वयं क्व? राजा क्व?। क्वचित् कथञ्चिदुपलक्षणं भवेत्, ततः प्रथमं परस्परमिलनं भवेत्, ततः पश्चात् प्रियसम्भाषण-सन्देशादिकथनं संभाव्यते, नान्यथा। आवाभ्यां

तु राजदर्शनमपि न कृतं तर्हि सुखप्रश्नः कुतः सम्भाव्यते ?" । एवं तयोरुक्तं श्रुत्वा दूत्या ईषद्विहस्य, इतस्ततो विलोक्य, विजनं दृष्ट्वा, तयोरुपकण्ठं गत्वोक्तम्—"वरं वरम्, साधुकारवध्वौ भूत्वा ईदृशमेवाऽत्यन्तापलपनं क्रियते चेत्तदा सत्यस्थितिः कुत्र ?। तं वराकं नयनविलासविभ्रमे पातयित्वा मनो–वाक्–कायादिसर्वस्वं लुण्टयित्वा स्वायत्तीकृत्य अधुना तत्सर्वमपलपनचातुर्यं किं दर्शयथः ?। 'शशकस्य चतुर्थः पादो न भवेद्' इति किं बालं ज्ञापयतः ?। मम तु सर्वं विदितमेव। प्रसूतिकारिकाग्रे जठरापलपनं कियच्चलति ?। यद्दिनतो भवत्योर्दर्शनं संजातं तद्दिनतः स खान–पान–शयन–निद्रादिकं सर्वं त्यक्त्वा ध्येयप्रियो योगीव सर्वत उदासी तिष्ठति, युवामेव ध्यायति, पुरः पृष्ठे ऊर्ध्वम् अधः उभयपार्श्वयोश्च सर्वत्र युवामेव पश्याते, नान्यत् किमपि। एवं तस्य दुःखार्दितस्य विच्छायवदनादिकं दृष्ट्वा मया आग्रहेण पृष्टम्, यतोऽहं तस्य परिचारिका हृदयहार्दज्ञायिकाऽस्मि। ततो मदग्रे स्वं हृद्गतं दुःखमावेदितम्। तच्छ्रुत्वाऽहमपि तद्दुःखसंविभागिनी जाताऽस्मि। ईदृशीमवस्थामनुभवति तत्तु भवत्योर्मनसि न किमपि ?। अहो ! तस्य प्रेमार्द्रत्वम्, अहो ! युवयोर्हृत्कठोरत्वम् !। यतः षोडशमुकुटबद्धराजाधिराजानां नायको भूत्वा ईदृग्रागरक्तो युवां स्पृहयति अतस्तद्दुःखमसहमानया मया बुद्धिबलं कृत्वा युष्मत्सन्दर्शनार्थम् एतानि कारणानि सम्मेल्य महायासेन युवयोर्दर्शनं कृतम्। अतो युवां हृदयमार्द्रतरं कृत्वा मदुक्तं हृदि धारयतम्। 'यो यं स्मरति स तं सुतरां स्मरति' इति सज्जनप्रकृतिघोटको धावति, परमश्ववारो न जानाति दुर्जनप्रकृतिम्। तस्मात् कृपां कृत्वा तस्य मनोरथान् पूरयतम्। तस्य तु मनो–वाक्–काय–धन–जीवितव्याधिकतरे युवाम्। यादृक् तस्य युवयोरुपरि ध्यानैकत्वं तादृक् चेद् ईश्वरोपरि अध्यात्मवासनया ध्यानं भवेत् तदा मुक्तिरपि न दुर्लभा। अतः किं बहुना जल्पितेन ?, मदागमनं सफलं कर्तुमर्हतः" ।

इति दूत्योक्तं श्रुत्वा ते द्वे अपि दीर्घं निःश्वस्य प्राहतुः—"भगिनि ! किं क्रियते ?, आवयोस्तु 'अहिच्छच्छन्दरी'न्यायेन महद्दुःखमापतितम् । यत आवाम् इभ्यवरगृहे जाते, महेभ्यगृहे च परिणीते । पुरा कयाऽप्यस्य कुले ईदृशं कार्यं स्वप्नेऽपि न कृतम् । आवाभ्यां च अद्य यावत् प्राणनाथं विना न कोऽपि पुरुषो दृष्टः, केनापि सह वचनालापमात्रमपि नाभूत् । आवयोर्धवस्तु धर्म–नीतिमार्गेभ्योऽन्यत् किमपि न वेत्ति । अस्मद्गृहे दासी-दासादिः कोऽपि धर्म–नीतिविरुद्धं जल्पितुमपि न शक्नोति, करणं तु दूरतरमेव । अद्य यावद् गृहद्वारं[1] मुक्त्वा बहिः पादो न धृतः । रथादुत्तीर्य गृहं प्रविष्टे स्वः, तत् यदाऽन्नो–दकसम्बन्धे पूर्णे जाते स्वामी स्वगृहगमनायोद्यमं करिष्यति तदाऽऽवयोरपि निर्गमनं भविष्यति । किञ्च, अस्माकं गृहे कुलवृद्धा एका धर्मैकरता जरत्यस्ति, सा तु क्षणमात्रमावयोः पार्श्वं न मुञ्चति, प्रतिक्षणं च धर्मानुगां शिक्षां ददाति । कैरपि शुभशकुनैः प्रेरिता यूयमागताः, यतः साऽद्य स्वामिना कस्मिन्नप्यतिपरिचितगृहे लोकाचारार्थं प्रेपिताऽस्ति, तद् आवयोरियती मुत्कलेन हृदयेन वार्ता जाता, चेद् गृहे भवेत्तदा वार्त्ता कुतो भवेत् ?। ईदृश्यां गृहस्थितौ निवसावः । एवमेकदा दैवयोगेन मध्याह्ने विजने पाश्चात्यगृहगवाक्षे इतस्ततः परिभ्रमणं कुर्वत्यौ आगते, सा तु गृहकार्यव्यग्रा गृहकार्यं करोति । अस्मिन्नवसरे महाराजस्याश्ववारिका निर्गता । तदा च तूर्याणां शब्दं श्रुत्वा तद्दर्शनेच्छया गवाक्षद्वारमुद्घाट्य पटमपसार्य द्रष्टुं प्रवृत्ते। चेत् सा भवति तदा द्रष्टुं न ददाति, परं विजनत्वात् स्वेच्छया द्रष्टुं प्रवृत्ते । अस्मिन्नवसरे हस्तिस्कन्धाधिरूढो महीपतिर्गवाक्षसमीपं निर्गतस्तदा आवयो राज्ञश्च दृष्टिमेलापको जातः । तदा च केनापि पूर्वकृतकर्मणामुदयेन कोऽप्यनिर्वचनीयो यो रागोदयो जातस्तं स्वचित्तं जानाति ज्ञान्येव वा जानाति । राज्ञापि तादृश्यैवाऽनिमेषा दृष्टिरावयोरुपरि दृष्टिपथं

१ गृहदेहली ।

यावद् रक्षिता, पश्चात्तु मार्गान्तरत्वेन अक्ष्णोरदृश्यतां प्राप्ते। ततस्तद्विरहेण यद्दुःखमुत्पन्नं तद् वक्तुमपि न शक्यते। को जानाति कस्मिन् जन्मनि दृढतररागनिबद्धं कर्म इह जन्मन्युदितं ?, यत् क्षणमपि हृदयान्नोत्तरति। पुनर्द्वितीयदिनेऽपि दर्शनोत्सवो जातस्तदा तु पयसि सितोपलायाः क्षेपेणेव अतिदर्शनसुखमनुभूतम्। पुनः पूर्ववत् तद्वियोगे दुष्टव्रणे क्षारक्षेपादधिकतरं दुःखं समुत्पन्नम्। तद् विदितचौरमरणमातृवत् कस्याग्रे कथ्यते ?। इत्येवं तद्दिनतो नित्यं सर्षपतुल्यं सुखं, दुःखं तु मेरुतुल्यमनुभवावः। तद्दुःखवारणायात्मनो बहुतरा शिक्षा दत्ता–'हे जीव! त्वमन्तर्गडुमाशां किं करोषि ?, स्वर्गस्थितकल्पवृक्षफलेच्छावत् सर्वं निष्फलमस्ति। क्व त्वं ? क्व च राजा ?। केनोपायेन युवयोर्मिलनं भवेत् ?। जाति–कुल–स्वामि- गृह–लोक–वृद्धादिभयसङ्कटे पतितस्त्वम्, सोऽपि च विषमां लोक–राजनीतिमुल्लङ्घयितुमसमर्थः, तत्कथं सङ्गमः सम्भवति ?। किञ्च, इहलोकेऽतिगुप्तं पापं क्रियते तद् अतिदुर्गन्धलशुनादिगुप्तभक्षणवद् विदितं भवति तदा गृहस्वामिना गृहनिष्काशनं लोकभण्डनादि चाऽनेकदुःखौघपतनम्। परलोके तु कुम्भीपाकपीडन–तप्तलोहपुत्तलिकालिङ्गन–वैतरण्युत्तरण–च्छेदन–भेदन–ताडन–तर्जनाद्यनेकधानरकपालादिकृताऽवचनीयपीडासहनम्, तथा क्षणमप्यविरामं क्षुधादिदशवेदनासहनमवश्यं भवति, तत्र न कोऽपि मोचयति। ततोऽपि निगोदे यदनन्तं दुःखं तत्तु वचनाऽतीतम्। इत्येवं दुःखौघं क्षणमात्रसुखार्थं कोऽज्ञोऽङ्गीकरोति ?'। इत्येवं भगिनि! आवाभ्यां जीवस्य शिक्षा दत्ता, तथापि न विरतः[1]। पुनरश्ववारिकाऽवसरे आतोद्यानि श्रुत्वा मनो द्रष्टुं धावति, परं किं क्रियते ?, मध्यगतसूच्या चम्पकवद् विकल्पकल्पनाकल्लोलकदर्थनया क्लेशमनुभवावः। अतोऽसदागमनं तु नैव भवतीति सिद्धान्तः। तस्माद् हे भगिनि! तव चित्ते काप्यन्या बुद्धिः प्रभवति ?,

१. विरमति।

यथाऽऽवयोर्मनोरथस्त्वदागमनं च सफलं भवेत्"। इति तयोरुक्तं श्रुत्वा प्रकृत्या जडतां प्राप्ता पुनर्वक्तुमपि न शक्नोति। पुनः प्रेरणे साह–"स्वामिन्यौ! अहं किं वदामि?। राज्ञोऽग्रे वीटकं स्पृष्ट्वाऽत्रागता। अत्र तु ईदृशं विषमम्!, अतो ममैकतो व्याघ्र एकतो नदीव सङ्कटमापतितम्। अधुना तु युवयोर्हस्ते मम लज्जाऽस्ति, रक्षतं वा निमज्जयतं वा। शास्त्रे हि चतुराऽङ्गनाया बुद्धिर्निस्सीमा कथिता। यतः—

"अश्वप्लुतं माधवगर्जितं च स्त्रीणां चरित्रं पुरुषस्य भाग्यम्।
अवर्षणं चाप्यतिवर्षणं च देवो न जानाति कुतो मनुष्यः?" ॥१॥

इत्यादि व्यक्तम्। अतो युवयोर्यद् योग्यं प्रतिभाति तत् सत्यम्। युवयोरग्रेऽहं कियन्मात्रा?"। इति दूत्योक्तं श्रुत्वा ते अप्यूचाते–"सखि! इदमतिदुष्करं कार्यम्। आवाभ्यां तु गृहाद् बहिः पदमात्रं धर्तुं न शक्यते। पञ्जरगतशुकवद् निवसावः। सर्वेषां मर्यादा पालनीया। तस्मात् कोऽप्युपायो दृष्टौ नागच्छति येन चिन्तितं सफलं भवेत्। परन्तु एकोपायश्चेद् भाग्योदयेन सफलीभवति तदा तद्योगो मिलति। पञ्चदशदिवसानन्तरं विंशत्यनन्तरं वा इतो नगरात् पञ्चदशयोजनानामुपरि अमुकदेवस्य तीर्थमस्ति, तत्र अस्मत्स्वामिना कस्यचित् कार्यस्य सिद्ध्यर्थं पुराऽर्गला कृताऽभूत्, तत् कार्यं तु निष्पन्नम्, अतस्तत्र स्वयमेव वृद्धासहितो गमनेच्छां करोति। स यदि तत्र गमिष्यति तदाऽवसरोऽस्ति। तथापि आवयोस्तु तत्रागमनं न भविष्यत्येव, यतः पुरातनीया विश्वसनीयाः सेवकाः कस्यापि गृहे प्रवेष्टुं न ददति, आवयोस्तु गृहात् पदमात्रमपि बहिर्धर्तुं न ददति। परन्तु अस्मिन् महामन्दिरे गुप्तमेकं पिहितद्वारमस्ति, तद्द्वारतालकस्य कुञ्चिकाऽस्मत्पार्श्वेऽस्ति। यदि राजा सामान्यवणिग्वेषेण एकाकी आगच्छेत् तदा तु चिन्तितं सफलं भवेत्, ना-

न्यथा। अतः परं भवत्यापि अस्मत्पार्श्वे नागन्तव्यम्, यतोऽस्मत्स्वामी वृद्धा च महाशङ्कितौ वर्तेते। परम् एतेषां गृहमनुष्याणां मध्ये एकैव आवयोर्हृदयहारिका प्रियंवदानाम्नी प्रियसख्यस्ति अतीव निपुणा। सा च गम्भीरतया गुह्यं निगूहति, प्राणान्तेऽपि न कस्याप्यग्रे कथयति, अतो यथावसरे भवत्या अग्रे प्रेषयिष्यावः, सर्वं विशदरीत्या कथयिष्यति,तद् भवत्या राज्ञोऽग्रे निवेदनीयम्। यथार्हं निपुणतया राज्ञाऽत्रैकाकित्वेन गुप्तद्वारेण भूत्वाऽऽगन्तव्यम्, तदा च राज्ञ आवयोश्चेप्सितं फलवद् भविष्यति, तदा आवामपि सेवां करिष्यावः। परम् एषा वार्ता राजानं विना न कस्याप्यग्रे वाच्या। भवती सर्वतः कुशलाऽस्ति, अतो वक्तव्यमनुचितम्। परमावयोः पारवश्यमधिकतरमस्ति तेन भयेन पुनः पुनर्वच्वः। किं बहुना ?, अस्मल्लज्जा तव हस्तेऽस्ति, यथा कोऽपि न जानाति तथा कर्तव्यम्"। इत्युक्त्वा तया सह श्रेष्ठिनोऽनुज्ञया अधिकतराणि वस्त्र-धनादीनि दत्तानि, बहिः स्थिताश्च राज्ञो दासी-सेवका यथायोग्यं चिन्तितादधिकतरं दत्त्वा विसर्जिताः। ते सर्वे प्रसन्ना भूत्वा गताः। दूत्यपि सहर्षं मार्गे चिन्तयति-'मम भाग्योदयेनैतत् कार्यं हस्ते लग्नम्। कार्ये जाते राजा महाप्रासादं करिष्यति; एते अपि महेभ्याङ्गने स्तः, तेन सहर्षं घनं द्रव्यं दास्यतः'। तत उपराजं गत्वा दूत्योक्तम्-'स्वामिन्! मया तवादेशसिद्ध्यर्थं महाप्रयत्नेन-महाप्रयासेन कार्यं निष्पन्नप्रायं कृतं, परं ते तु अत्रागन्तुं न शक्नुतः। अहमपि तयोर्गृहे महाप्रयत्नेन गन्तुं शक्ता। राज्ञोऽन्तःपुरादपि तयोर्गृहान्निस्सरणं विषमम्, परं मया तव सेवाकारिण्या तव पुण्यबलेन वचनरचनया त्वद्विषये गाढमनुरागिण्यौ कृते। परन्तु सामान्यवेषेण एकाकिन्येव त्वयि गते कार्यं भविष्यति, यथाऽवसरेऽहं स्वामिनं ज्ञापयिष्यामि। तयो रूपं लावण्यं चातुर्यं सुभगत्वं च यथा भवता वर्णितं तस्मादधिकतरं दृष्टम्। अनयोर्दर्शने को न मुह्येत् ?। भवतः पुण्यबलेनैव कार्यं जातम्'। इति दूत्योक्तं श्रुत्वा सहर्षस्तां नृपः प्रत्युत्तरयितुं लग्नः-'भो विदुषि! अहं जानामि तव वाक्कौशल्यम्।

मयाऽपीदृशीं ज्ञात्वा त्वं प्रेषिता'। इत्युक्त्वा भूरिधन-वस्त्रादीनि दत्त्वा विसृष्टा। राजापि तद्दिनाद् आशागर्दभीपाशे पतितो महाऽनर्थरूपान् मनोरथान् कुर्वन् कल्पनाजाले पतितो मनसा उग्रकर्मबन्धान् प्रकल्पयति।

अथ ताभ्यां स सर्वो व्यतिकरः श्रेष्ठिने निवेदितः। तेन श्रेष्ठिनापि द्वितीयदिने सर्वानपि महेभ्यव्यापारिणः समाहूयोक्तम्—"मम गद् भ्रातृदुःखमस्ति तत्तु भवतां विदितमस्ति। घनैरपि औषधमन्त्रादिभिः सज्जो न भवति। एकदाऽस्मद्गृहे भिक्षार्थं दूरदेशादेकोऽतिथिः प्राज्ञः समागतः, स उपकाररसिको मद्दुःखं दृष्ट्वा वक्तुं लग्नः—'भोः श्रेष्ठिन्! किं वृथा प्रयत्नं करोषि?। अयं तु दुष्टदेवतयाऽधिष्ठितोऽस्ति, अतो न केनाप्युपायेन सज्जो भविष्यति। परं चेत्तव सज्जीकरणेच्छास्ति तदा त्वममुकतीर्थे गच्छ, तत्राशापुरीनाम्नी देव्यस्ति, तस्या देवालयाग्रे सर्वदोषघातकं सर्वापद्धरं नाम सरोऽस्ति, तत्र च एकविंशतिदिनानि यावत् स्नानं कारयित्वा देव्याः पूजनं कारय, तदा सर्वे दोषा विलयं यास्यन्ति'। इति तद्वचः श्रुत्वा एकमासमध्ये तत्र गमनार्थं मया विषमाऽवेला गृहीताऽस्ति, अतो मया त्वरया तत्र गन्तव्यम्। तत्र गमनागमने मासास्त्रयश्चत्वारो वा लगिष्यन्ति। तस्मात् सर्वे जनाः स्वकीयस्वकीयलभ्यं लात्वा गच्छन्तु, देयं च ददतु"। ततः सर्वे महेभ्या वक्तुं लग्नाः—श्रेष्ठिन्! सुखेन भवद्भिस्तत्र गम्यतां, देवताया आराधनं कृत्वा कुंडे स्नानादिकं च कृत्वा (कारयित्वा) स्वभ्रातुः दोषनिवारणं च कार्यतां, भवतां भ्रातुः सज्जीभवनेऽस्माकं महत् हर्षं, यतो भवतां भ्रातृदुःखविडम्बना द्रष्टुं न शक्यते। भवादृशानां सत्पुरुषाणामीदृशी विडम्बना न युज्यते। वयं तु प्रतिदिनमाशिषं दद्मो यद् श्रेष्ठिनो विडम्बना दूरीभवतु। लभ्यस्य चिन्ताऽस्माकं नास्ति, यतो भवतां पार्श्वे लभ्यं तद् अस्मद्गृहे एवास्ति। वयं तु भवद्गुणैः क्रीताः

१ निसर्जिता।

स्मः। अतस्तत्र गत्वा मनस ईप्सितसिद्धिं कृत्वा त्वरयाऽत्रागच्छन्तु, येन भवतामस्माकं च सर्वं सुखं जायते"। एवं महेभ्यानां वचांसि श्रुत्वा पुनः श्रेष्ठी प्राह-"भोः सज्जना भ्रातरः! मम त्रिधा प्रत्ययोऽस्ति यूयं यद् वदथ तत् सत्यमेवास्ति। यूयं सर्वेऽपि मम शुभ-चिन्तकाः। युष्माकं शुभचिन्तनेन मम कार्यं निर्विघ्नं भविष्यत्येव। परन्तु अयं व्यवहारोऽस्ति, ऋणं कस्यापि न रक्षणीयम्। जगति ऋणसमं दुःखं नास्ति। ग्रामान्तरगमने तु विशेषतो न रक्षणीयम्, यतः कालस्य कलनां न कोऽपि वेत्ति। कल्ये किं भविष्यतीति को जानाति?। अस्थिरः कायः, विद्युल्लताचञ्चलं जीवितव्यम्। आयुषि समाप्तिं गते तु भवान्तरे ऋणं दशगुणं शतगुणं सहस्रगुणं ततोऽप्यधिकं वा देयं भवति[1]। तस्मात् स्वस्वलभ्यं लात्वा गच्छन्तु। अस्माकं कार्यसिद्धिं कृत्वा पुनरागमने तथैवास्तु"। इत्येवं शिष्टो-पदेशपूर्वकं सर्वेषां देयं दत्त्वा निश्चिन्तो जातः। तेऽपि स्वस्वलभ्यं लात्वा श्रेष्ठिनः प्रशंसां कुर्वन्तः स्वस्वगृहं गताः। सर्वत्र नगरे विदितं जातं यद्-'अमुकदिने श्रेष्ठी बहिर्निःसरिष्यति, अमुकदिने च प्रयाणं करिष्यति'[2]। ततः श्रेष्ठिना मुहूर्तदिने शिबिरावासाः नगराद् बहिरुद्याने मोचिताः, रथ-शकटो-ष्ट्रादि च तत्रावासितं, तद्रक्षार्थं सेवकाः स्थापिताः। कूटग्रथिलोऽपि तत्रावासितः। प्रत्यहं श्रे[3]ष्ठी तत्र याति, किञ्चिद्वेलं तत्र स्थित्वा पुनरायाति। ग्रथिलोऽपि सङ्केतितसमये प्रत्यहं नंष्ट्वा नगरान्तरागच्छति, पूर्वोक्तयत्तद्वाचं प्रलपति, बहुधा ग्रथिलक्रियां च करोति। द्वित्रिघटिकान्तरे श्रेष्ठ्यपि सेवकैः खट्वां ग्राहयित्वा धावतः पृष्ठतो गच्छति, पूर्ववद् अति-कष्टेन खट्वायामारोप्य बद्ध्वा च 'अहं प्रद्योतो देशाधिपतिर्युष्मत्स्वामी, माम् अभयो गृहीत्वा याति, किं न मोचयन्ति भवन्तः?' इति वदन्तं ग्रामाद् बहिर्ग्राहयित्वा श्रेष्ठी गच्छति। तदा हट्टस्थिता लोकाः संप्रवदन्ते-'अनया विडम्बनया विडम्बितः श्रेष्ठी

१ 'शास्त्रे चोक्तं-इक्कस्स दसगुणा दव्वं इत्यादि' इति प्रत्यन्तरे अधिकः पाठः। २ 'इति वार्त्ता प्रथिता' इति अधिकः पाठः। ३ स्वयं।

तीर्थायं गच्छति, प्रत्यहमीदृशीं विडम्बनां कः सहते ?। धन्योऽयं श्रेष्ठी, धन्योऽस्य स्नेहो यो नित्यमीदृशं निर्वहति'। इत्येवं शृण्वन् श्रेष्ठी गच्छति आगच्छति, परं न कोप्युत्तिष्ठति, न च कोऽपि पृष्ठे गच्छति। यदा कोऽपि किमपि वदति तदाऽन्यो वदति—'किमाश्चर्यमत्र ?, इयं नित्यक्रिया सर्वेषामपि नागरिकाणां विदिताऽस्ति। पूर्वजन्मकृतकर्मणां विपाकमयं भुङ्क्ते, मनः स्थिरं मौनं च कृत्वा स्वकार्यं कुरु'। एवं कुर्वतामेकरात्र्यन्तरे प्रयाणदिनः समागतस्तदा ताभ्यां प्रियसखी दूतीगृहे प्रेषिता। तयापि तत्र गत्वोक्तम्—'कल्ये प्रथमचतुष्कघटिकाभ्यन्तरेऽस्तत्स्वामी प्रयाणं करिष्यति, सर्वेऽपि बाह्याभ्यन्तररक्षकजनाः कियत्यां भुवि वोलापनकार्यार्थं यास्यन्ति, ते च पाश्चात्यप्रहरे पुनरागमिष्यन्ति। अतः प्रभाते एकप्रहरदिने चटिते भूपेन सामान्यवणिग्वेषेण एकाकिनैवागन्तव्यम्। अहं पुनरामन्त्रणार्थमागमिष्यामि, अग्रतश्च दूरदूरगतिं करिष्यामि, ततो मम पृष्ठलग्नेन राज्ञा यथा कोऽपि न वेत्ति तथा वस्त्रादिना शीर्षमाच्छाद्य विजनद्वारदेशं यावद् आगन्तव्यम्। अहं त्वरयाऽग्रतो गत्वा द्वारमुद्घाटयिष्यामि। श्वः प्रहरद्वयं यावद् विजनं भविष्यति। मनसेप्सिता बहुमनोरथाः सफला भविष्यन्ति। अतो मां राज्ञः समीपे नयतु यथा सर्वं निवेदयामि"। इति तयोक्तं श्रुत्वा सहर्षं राज्ञः समीपं नीता। तत्र च तया सर्वं निवेदितम्। तच्छ्रुत्वा राज्ञा प्रमुदितेन वस्त्राभूषणादिकं प्रच्छन्नतया दत्त्वा सा विसर्जिता। विसर्जनावसरे तया पुनरुक्तम्—'तयोश्चेद् जीवापनं कर्तव्यं तदा न कस्याप्यग्रे वाच्यम्। ते एषाऽहं भवांश्चेति पञ्चैवैतां वार्तां जानीमः, षष्ठो न कोऽपि'। राज्ञोक्तम्—'खेदं मा कुरु, तथैव करिष्यामि'।

ततो द्वितीयदिने श्रेष्ठिना गृहान्तः प्रच्छन्नतया परितो भटा रक्षिताः। स्वयं तु महावासस्य चतुष्पथं गतः। द्वारास्थाने स्थित्वा विसर्जनार्थं महेभ्यदत्तश्रीफल-रूप्यकादीनि गृह्णाति, याचकादींश्च यथायोग्यं दत्त्वा विसर्जयति। एवम् एकयामचटिते दिवसे ताभ्यां

प्रियसखी सङ्केतितप्रदेशे राज्ञ आमन्त्रणार्थं प्रेषिता। राजाप्यग्रत एव दूत्युक्तसामान्यवणिग्वेषं धृत्वा तयोः संयोगमनोरथान् कुर्वन् एकाक्येव सङ्केतितस्थले स्थितोऽस्ति। तया च तत्र गत्वा दूरतो भ्रूसंज्ञया आह्वानं कृतम्। राजापि तद्दर्शनमात्रेण विजनपथे निःसृतः, सा चाऽग्रतश्चलति, सिंहावलोकनेन विलोकयन्त्या यावत् स्वगृहस्य विजनद्वारमागत्य हस्ततालिर्दत्ता तावता पूर्वसङ्केतसङ्केतिताभ्यां द्वाभ्यां द्वारमुद्घाटितम्। सहर्षं सुविनयदर्शनपूर्वकं राजाऽन्तर्नीतः। नीत्वा चोक्तं ताभ्याम्–'आगम्यतां स्वामिन्! आगम्यताम्। प्राणनाथ! अद्य सर्वेऽपि मनोरथाः फलिताः। अद्य गङ्गा स्वयं गृहमागता। अद्य मुक्ताफलैर्मेघवृष्टिः संजाता यो युष्माकं समागमः संजातः। इति शिष्टवचनैः सन्तर्प्य, हस्तं गृहीत्वा, बहुमानपूर्वकं चित्रशालायां नीत्वा सामान्यपल्यङ्के स्थापितः। पश्चात् ताभ्यामुभाभ्यां हलफलायमानाभ्यां गृहशालान्तर्गत्वा सङ्केतः श्रेष्ठिनो ज्ञापितो यत्–'कार्यं निष्पन्नम्'। इति ज्ञापयित्वा चित्रशालायां पुनर्गत्वा खान–पान–ताम्बूलपत्राणि अग्रे ढौकयित्वा क्षणं वार्तां कृत्वा पुनर्गृहान्तर्यातः, पुनः किमप्यद्भुतं वस्तु लात्वाऽऽगत्य वार्ता हास्यादिकं च कुरुतः। राजा तु तयोरत्यादरं पश्यन् रागान्धो जातः, नापरं किमपि विमृशति। एवं शिष्टाचार–हर्षोल्लापं कुर्वत्योर्घटिकामात्रे जाते ते पूर्वसङ्केतिताः पुरुषाः परितः समुत्थिताः–"भो भो गृहस्वामिन्यौ! गृहान्तः कोऽस्ति?, केन सह वार्ता–हसनं कुरुतः? श्रेष्ठिगमनमात्रेण किं मण्डितम्?' इत्येवं वदन्तः परितो धाविताः। तत्र च तं दृष्ट्वा वेष्टित्वा 'भो दुष्ट! कस्त्वं मरणप्रियोऽस्मत्स्वामिमन्दिरे हृष्टो भूत्वाऽऽगतोऽसि? अधुना तव काऽवस्था?' बध्नीत बध्नीतेमम्'। एवं तेषां वचांसि श्रुत्वा राजा तु दिग्मूढो जातः, न किमप्युत्तरं दातुं शक्नोति। ततस्तैः सेवकैः खट्वया सह बद्ध्वा कर्मकरैश्चोत्पाट्य गृहाद्

१ पूर्वकृतसंकेतिताभ्यां प्र०।

बहिर्निष्काशितः। रथ्यामुखं यावद् नीतस्तावता तु श्रेष्ठी महेभ्यैः परिवृतः, सहस्रशो नागरिकैः परिवेष्टितोऽग्रतः पञ्चशब्दवादित्राणि वादयन्, बन्दिजनैर्वीरुदानि पठ्यमानो, गायकजनैस्तारस्वरैर्गीयमानस्तत्रागतः। रथ्यामुखे श्रेष्ठिनं दृष्ट्वा राजा विमर्ष्टुं लग्नः—'किमिदम्? कोऽयमवसरः?'। इत्येवं विमर्शनं कुर्वतस्तद्वचनं स्मृतिपथमागतम्। 'इदम् अभयस्य तु विलसितं न हि भविष्यति?' इति विमृशता पुनः पुनः श्रेष्ठिनं समालोक्य निर्णीतं राज्ञा—'इयं तु अभयकृतप्रतिज्ञापालनक्रिया!। अहो अस्य बुद्धिकौशल्यम्!। कियतीं दम्भरचनां कृत्वा मां बद्ध्वा याति?। अतोऽत्र लज्जया कार्यं विनङ्क्ष्यति, एतान् पुरजनान् सेवकांश्च ज्ञापयामि यथा मां मोचयन्ति। पश्चाद् यद् भाव्यं तद् भवतु, अनेन दुर्बुद्धिना वञ्चितः पूत्करणं विना न च्छुटिष्यामि' इति ध्यात्वा पूत्कर्तुं लग्नस्तावता श्रेष्ठ्यपि आडम्बरपूर्वकं चलितः। राजा तु वदितुं लग्नः—अहो अमुकश्रेष्ठिन्! अहो अमुकग्रामाधिकारिन्!, भो भो नगरजनाः! मां मोचयत। अयमभयो मां गृहीत्वा याति, किं पश्यथ?, शीघ्रं मोचयत। भो भोः सामन्ताः! किं मां नोपलक्षयथ?। कपटेन मां गृहीत्वा याति, मोचयत!'। एवं पुनः पुनः पूत्करोति, परं नित्यं प्रवाहपतितश्रवणाद् न कोऽपि मनसि आदधाति। केचन जनास्तु वादित्रवादन—बन्दिजनवीरुदपठन—सङ्गीतश्रवणव्यग्राः श्रवणमेव न कुर्वन्ति, केषां तु बहुकोलाहलशब्देन बधिरीभूतदिगन्ततया तदुक्तं न कर्णगोचरीभवति। श्रेष्ठिना तु सर्वेषामग्रे प्रोक्तम्—'अहो! त्वरया नगराद्बहिर्गन्तव्यम्, अग्रे कुयोगो लगिष्यति। इति कृत्वा त्वरितगत्या नगराद् बहिर्निर्गतः। खट्वास्थितेन प्रद्योतेन बहुधा पूत्कृतं परं नित्यक्रियां मन्यमानैर्जनैर्न कैरपि कर्णे धृतम्। एवं नगराद् बहिः कियतीं भूमिमुल्लङ्घ्य स्वयं सर्वेषां पश्चाद्बालनमिषेण तत्र स्थितः। जनवृन्दं कोलाहलश्च तदैव स्तम्भितः।

१. विमर्शयितुं प्र०। २ च्छुट्यते प्र०। ३ कृत प्र०। ४ प्रत्युक्तं प्र०।

श्रेष्ठिना स्वसेवकेभ्य आदिष्टम्—'युष्माभिरिमं खट्वास्थितं भ्रातरमादाय त्वरितगत्या द्विघटिकाकालमात्रादर्वाग् नगरसीमा मोक्तव्या, यथा कुयोगस्पर्शो न लगेत्' ततः सेवकास्तां खट्वामादायाऽग्रतो धावन्तो गताः। श्रेष्ठिना सर्वजनानामग्रे पुनरुक्तम्—'अस्माकं तु एतत्सर्वकरणं भ्रात्रर्थेऽस्ति, नान्यथा'। सर्वैरुक्तम्—'सत्यं कथयति भवान्, वयं जानीमः। भवत्सदृशं स्नेहपात्रं को भवेत् यो नित्यं परिश्रमेणौषधादीनगणितोपायांश्च कुर्यात्? अतस्तत्र तीर्थे गत्वा स्वेप्सितसिद्धिर्देवताप्रसत्त्या शीघ्रं भविष्यति, भवतु एवं सर्वजनैराशिषो दत्ताः। ततः श्रेष्ठिना आतोद्यवादक–वन्दिगायकानां स्वस्वमुखमार्गितं दत्त्वा, सर्वेषां महेभ्यानां परस्परं नमस्कारादिना प्रयाणव्यवहारं च कृत्वा महाकष्टेन पश्चाद्वालिताः। तेऽपि स्नेहेन साश्रुलोचनास्तद्गुणान् प्रथयन्तः पुनः पुनः सिंहावलोकनं कुर्वाणाः पश्चाद्वलिताः। श्रेष्ठिनोऽपि स्वेप्सितकार्यसिद्धिर्जाता। हर्षेण रथारूढो मार्गे चलितः। यावत् स्वकीयसार्थेन मिलितस्तावता पञ्चयोजनपरिमितभूमिरुल्लङ्घिता। सार्थेनेत्थं मिलितः—योजनेऽर्धयोजने च स्थाने स्थाने पूर्वसङ्केतिता रथा–ऽश्व–भटो–ष्ट्रा रक्षिताः सन्ति, तत्र तत्र वाहन–भटानां विनिमयं कृत्वाऽविच्छिन्नधारया धावन् गच्छति। श्रान्ता वाहन–भटास्तत्रैव तिष्ठन्ति, तत्रस्थाश्चाग्रे सह यान्ति। अनया रीत्या मार्गमतिक्रामति, क्रमेण सार्थं प्राप्तः। ततोऽभयेन सेवकेभ्य आदिष्टम्—'खट्वायां स्थापितं राजानं बन्धनाद् दूरीकुर्वन्तु, महाश्वरथे आरोपयन्तु, बहुलैरश्ववारैः परितो वेष्टयित्वा चाटुवचनानि वदन्तः सूर्यातपत्रैश्चातपं वारयन्तः कुत्राप्यस्खलयन्तो मार्गमतिक्रमयन्तु। यद्यत् समादिशति तत्तत् सविनयं कर्तव्यम्। अहमप्यागच्छामि"। सेवकानां च तथा कुर्वतां दृष्ट्वा ज्ञाताशयेनापि प्रद्योतेन पृष्टम्—'कस्यादेशेन बन्धनान्यन्यथाकृतानि, महारथे च स्थापितः?'। सेवकैरुक्तम्—'अस-

१ करोति प्र०।

त्वाभ्यांदेशेन'। 'कुत्र युष्माकं स्वामी ?'। तैरुक्तम्—"स्वामी समागच्छति, इतो नातिदूरे वर्तते। यद्यत् पूज्यपादानां कार्यं भवेत् तस्य नः समाज्ञा दातव्या। एते सर्वेऽपि स्वकीयाः सेवका ज्ञेयाः"। इत्येवं वदद्भिस्त्वरितगत्या च गच्छद्भिर्दिनावसानं यावद् विंशतियोजनान्यतिक्रान्तानि। अभयोऽप्यागत्य मातृष्वसृपतिं प्रणम्य प्राह—'महाराज! मम बालकस्य प्रणामोऽस्तु। मया बालकेन स्ववचनपालनार्थं कृता एतेऽपराधाः क्षन्तव्याः। यूयं तु मम पूज्याः सेवनार्हाः, युष्माकं यदविनयेऽहं प्रवृत्तस्तन्मया महत्याशातना कृता, सा च कनकतुल्येन स्वामिना क्षन्तव्या। ये तु भवादृशा वृद्धा गम्भीराश्च ते शिशोरज्ञानविलसितं दृष्ट्वा न कोपं कुर्वन्ति, प्रत्युत हितमेव आचरन्ति। अहं शिशुर्युष्मदग्रे कियन्मात्रः ?। अहं युष्मदादेशकारकोऽस्मि। जगति मानभञ्जनं न कस्यापि प्रियम् महतां मानभञ्जनं तु महादोषभाजनम्। परं किं करोमि ? भवता धर्मच्छलेनाहं वञ्चितः। 'येषां संसारिजीवानां येन राग-द्वेषवशेन यादृशं दम्भविलसितं कृतं तैस्तादृशेन[1] बुद्धिप्रपञ्चेन प्रतिकृतिः कर्तव्यैव' इति नीतिशास्त्रम्। परमेकं धर्मच्छलं मुक्त्वा प्रतिकृतिः कर्तव्या। दम्भदोषस्तु प्राणिभिः सर्वत्रापि वर्जनीय एव, परं व्यवहारनिर्वहणे कथमपि कर्तव्यो भवति। स च लौकिकप्रपञ्चेन कर्तव्यो, न तु लोकोत्तरप्रपञ्चेन। लोकोत्तरदम्भस्तु महतां गुणवतां गुणान् पातयित्वा निगोदादिनारके क्षिपति। अतो मया तद्दर्शनार्थं बालचापल्यं कृतम्!" एवमभयोक्तं श्रुत्वा प्रद्योतः शिरःकम्पनपूर्वकम् ईषद्विहस्याह—'हे अभय! यत् त्वयोक्तं तत् सत्यम्। परं धात्रा सद्बुद्धेर्दुर्बुद्धेश्च पात्रं जगति त्वमेक एव कृतः। त्वद्बुद्धिप्रपञ्चस्य देवा अपि न हार्दमाप्नुवन्ति, तर्हि अस्मदादीनां का कथा ? तव रोमे रोमे शतसहस्राणां सदसद्बुद्धीनां निवासः। कस्त्वदग्रे स्वकीयबुद्धिगर्वं कर्तुं शक्तः ?। त्वया पूर्वं यदुक्तमासीत् तत् सवि-

[1] तादृगेव प्र०।

शेपं कृतम्। मयापि त्वदग्रे हस्तौ योजितौ! वहु जातम्! अधुना तु कृपां कृत्वा मां मुञ्च यथाहं मानं मुक्त्वा स्वगृहं यामि"। अभय आह–'स्वामिन्! एवं मा वदतु। यूयं तु मम पूज्यानां पूज्यतमाः, अहं तु तवाज्ञाकारकदासोऽस्मि, तवाऽनुचरप्रायोऽहम्, काऽपि हृदयेऽधृतिर्मा विधेया, अस्मद्गृहे भवदागमनं तु अमरद्रुम-देवसरिद्-चिन्तारत्नानामागमनमिव मन्यामहे। मम पितापि भवन्मिलनसमुत्सुकोऽस्ति, घनागमे कदम्बपुष्पमिव प्रफुल्लहृदयो भविष्यति। मम मातापि भगिनीपतेर्भवतो दर्शनेन चन्द्रदर्शनेन चकोरीवाऽतिहृष्टा भविष्यति। अतोऽहमीदृशच्छलेनाऽन्तरङ्गभक्तिवशाद् राजगृहं नेतुमिच्छामि। भवदागमनेन शर्करामिश्रितपयःपानमिव परमेष्टसिद्धिसंयोगो भविष्यति। तस्माद् विगतशल्यचित्तेन भवता मन्मनोरथतरुसफलीकरणार्थं सहर्षं तत्रागन्तव्यम्। अस्मिन्नर्थे मम चित्ते किमपि कूटं चेद् भवेत् तदा मम आराध्यपादानां शपथाः सन्ति। अहं तु मार्गे भवत्सेवां कुर्वन् राजगृहं सबहुमानं नीत्वा, युष्माकं मत्पितुश्च परस्परं निःशल्यां प्रीतिं कारयित्वा, कतिपयदिनानि युष्मच्चरणसेवामनोरथं पूरयित्वा, पुनरतिमानेनोज्जयिन्यां मुक्त्वा कृतार्थो भविष्यामि; अतः किमपि नान्तरं गण्यम्। मागधिका नरा अपि राजराजेश्वराणां दर्शनं कृत्वा पावना[1] भविष्यन्ति"। इत्यादि मिष्टेष्टवाग्भिः प्रद्योतस्तर्पित उल्लासितश्च स्वस्थीभूय मार्गे गच्छति। अभयः सप्तभिर्दिनै राजगृहाभ्यर्णे ग्रामे प्राप्तः। अग्रतोऽभयनरैः श्रीश्रेणिको वर्द्धापितः। श्रेणिकश्च तान् यथोचितं दानं दत्त्वा महत्या विभूत्या महाडम्बरेण च समस्तानपि राजकीयान् धन्यं च सह कृत्वा सम्मुखं निर्गतः। अथाऽभयेनापि प्रद्योतो[2] भव्याश्वरथे स्थापयित्वा, उभयतश्चामराभ्यां वीज्यमानः, अग्रतः सुभटसहस्रैर्गम्यमानो, वन्दिशतैर्बिरुदानि पाठ्यमानः, भृङ्गारिताऽनेकाश्वश्रेणिवाह्यमानो, अनेकजातीयातोद्यैर्वाद्यमानः, पृष्ठतः

१ पूता प्र०। २ भव्यसुखासने प्रद्योतं प्र०।

श्वेतातपत्रं धार्यमाणो, मगधवास्तव्यराजसामन्तादिभिः परितो वेष्ट्यमान, इत्येवं महामहेन राजगृहनगरसम्मुखं [1]चालितः। तावता मगधाधिपोऽपि सम्मुखमागतः। उभावपि परस्परं दृष्टिपथमागतौ स्वस्ववाहनादुत्तीर्णौ। कतिचित्पदानि पादविहारेणागत्य परस्परं कृतप्रणामौ गाढालिङ्गन-जोत्कारादि सबहुमानं सुखक्षेमवार्ताप्रच्छनादि च शिष्टाचारपूर्वकं कृत्वा द्वावपि प्रत्येकं समानहस्त्यारूढौ परस्परं वार्तालाप-संलापादि कुर्वन्तौ नगरासन्नमागतौ। तदा श्रेणिकेन अभयेन च बहुमानदर्शनाय प्रद्योतराजमग्रतः कृत्वा नगर-गोपुरप्रवेशः कारितः। स्वर्ण-रूप्यपुष्पैर्वर्धापयित्वा बन्दिजनानामीप्सितं दानं दत्तम्। त्रिपथ-चतुष्पथ-महापथ-राजपथेषु बहूनि हट्टा-ऽऽवास-मन्दिराणि द्वि-त्रि-चतु-ष्पञ्च-सप्तभूमिकानि देवावाससदृक्षाणि पश्यन्, इभ्य-महेभ्य-राजवर्गीय-प्राकृतजनादीनां प्रणामादि च गृह्णन् यावद् राजद्वारं समानीतः। ततो वाहनादुत्तीर्य श्रेणिकेन बहुमानकरणार्थम् अग्रतः कृत्वा प्रद्योतो राजद्वारं प्रवेशितः, तावताऽन्तःपुरीयपुरन्ध्रीवर्गेण मणि-मुक्ताफलैर्वर्धापितः। ततो द्वौ हस्तेन हस्तं गृहीत्वाऽऽस्थानमागतौ। परस्परस्याऽत्याग्रहेण शिष्टाचारपूर्वकं द्वावपि समानविष्टरे निषण्णौ। ततो राजवर्गीयजना धन्यप्रमुखा महेभ्याश्च न्युञ्छनकरणपूर्वकं प्राभृतमग्रतो धृत्वा प्रणामं च कृत्वा यथास्थानमुपविष्टाः। ततः प्रद्योतेन धन्यो दृष्टोपलक्षितः। आह च-"अहो धन्य! भवतोऽस्मत्पार्श्वात् प्रच्छन्नवृत्त्या गमने किं कारणम्?। अस्माभिस्तु न कोऽप्यनादरः कृतः, भवद्वचनमपि नोल्लङ्घितं येन कमप्यनापृच्छ्य सिद्धपुरुषवद् अलक्ष्यतया गतः। बहुभिः प्रकारैर्गवेषितः, परं न कुत्रापि लब्धः। भवद्विरहेणास्माकं महत्यार्तिर्जाता, तां तु कियतीं वदामः?। भवता पुनरत्रागत्य मगधाधिपनगरमलङ्कृतं, ततः परं कदापि लेखोऽपि सन्देशहारको वा कोऽपि न प्रेषितः, एतद्धि भवादृशानां

१ चलितः प्र०।

सज्जन–गुणिनां न घटते। सतां सप्तपदी मैत्र्यपि[2] प्राणान्तं यावन्निर्वहति। आवयोः स्वामि–सेवकभावस्तु लोकोक्त्या कथनमात्रोऽभूत्। मम मनसि तु अद्वितीयव्यसनसहायको भ्रातृतुल्यो वाच्याऽवाच्यकथनयोग्योऽन्तर्गतभाववेत्ता विश्वासभाजनमभूत्। ईदृशे स्नेहसम्बन्धे ईदृशमौदासीन्यं कथं न दोषाय? नेयमुत्तमानां रीतिः"। इति प्रद्योतराजस्य वचांसि श्रुत्वा धन्यः समुत्थाय प्रणामं च कृत्वा हस्तौ संयोज्य प्राह–'कृपानिधे! यत् पूज्यपादैरुक्तं तत्सत्यम्। ममैवाऽपराधिनो दोषः, स च स्वामिना क्षन्तव्यः। भवदीयकृपायाः प्रशस्तिं कथमहमेकमुखेन कर्तुं शक्नोमि? यत ईदृशं सेवकस्य दोषाच्छादनं, गुणाविर्भावकरणं, निरर्गलवृत्त्याऽऽजीविकादानं, सेवकोक्तवचसः सत्यापनं, सुरवृक्षवद् वाञ्छितपूरणं च कः कुर्यात्[3]?। भवत्कृपा प्रतिदिनं स्मृतिगोचरमायाति। अहं मम कर्मणाम् अशुभोदयप्रेरकेण गृहान्निष्काशितो, न तु स्वामिना। विषमा कर्मणां गतिः। ततो देशान्तरपर्यटनेन, स्थाने स्थाने गृहकरणव्यग्रतया, विसंस्थुलचित्तत्वेन, प्रतिदिनमधिकाधिकवात्सल्योपेक्षया, पराधीनतया, स्वामिनमनापृच्छ्य गमनलज्जया च अहं बालिश उदन्त–पत्रादीन् प्रेषयितुं न शक्तः। क्रमेणाऽन्नोदकसम्बन्धेन क्षेत्रस्पर्शनया प्रबलोदयेन चाऽत्रागतः। महाराजश्रीमगधाधिपकृपया सुखेनात्र वसामि। भवद्वद् स्वामिनामपि महती कृपाऽस्ति"।

ततः प्रद्योतराजो भम्भसारभूमिपतेः सम्मुखं निरीक्ष्य ईषद् विहस्य मस्तकं धूनयन् प्राह–"वरा भवदीया वशीकरणकला, यतो हस्ताभ्यां छायां क्रियमाणोऽपि, सप्ताङ्गराज्यधुराधुरि ध्रियमाणोऽपि अस्मान् विमुच्य अनाहूतो भवत्पार्श्वे आगतः। योऽस्मद्राज्यालङ्कारः स तु भवता केनचिद् वशीकरणप्रयोगेण वशीकृतः, यावद् अस्मन्नामापि न गृह्णाति, स्थिरीभूयाऽत्रैव निवसति,

१ 'अस्माकं मूलविस्मार्य मुक्ताः' इत्यधिकः प्र०। २ मैत्री सापि–प्र०। ३ करोति–प्र०। ४ परं–प्र०। ५ कुर्वन्नपि प्र०।

स्वप्नेऽपि नान्यत्र गमनसमीहां करोति। तस्माद् भवदीया काऽप्यद्भुता कला। यस्य राज्ञो वाम-दक्षिणहस्तौ द्वाविमौ बुद्धिनिधी धन्या-ऽभयौ तस्य भवतः का भीतिः ?, का दुःखचिन्ता ?। अतो भवतो भाग्यं महत्"। ततो मगधाधिपः प्राह-"स्वामिन्! भवता यदुक्तं तत् तथैवाऽस्ति। यतो भवताऽभयस्तत्रैव रक्षितस्तस्मिन् काले ये केचनोच्छृण्ठा धूर्तास्ते सर्वे सज्जीभूय नगरे विडम्बनां कर्तुं लग्नाः। एकेन धूर्तेन तु कूटकलया वचनरचनया चाऽहमपि चिन्ताऽवटे पातितः, न कोऽपि तं जयति। तस्मिन्नवसरेऽनेन धीनिधिनाऽऽगत्य स धूर्तः पराजितः, मम च निश्चिन्तता कृता। अनेनैकाकिनैव मम राज्यस्थिती रक्षिता। मयापि च उपकारच्छलेन स्वकन्यां दत्त्वा स्नेहसम्बन्धेन बद्धा रक्षितः, तथापि कियत्कालं मां धन-कुटुम्बानि च मुक्त्वा कुत्रापि गत आसीत्। अतो भवतापि मनसि न्यूनता नाऽऽनेया!। पुनरपि कियता कालेन कन्यापञ्चकम् उद्[3]वुह्य महत्या विभूत्याऽत्रागतः, तावताऽभयोऽप्यागतः। भवता सह स्नेहसम्बन्धवार्ता कदापि ममाग्रे नोक्ताऽऽसीत्, अतः स्वामिना शिक्षा दातव्या येन पुनरेवं न कुर्यात्"। प्रद्योतः प्राह-"मगधाधिप! अधुना नैवं करिष्यति। कथम् ?-जगद्वशीकरणकुशलस्य भवतोऽभयस्य च सङ्गतिपाशे बद्धो न कुत्रापि गमिष्यति, एष त्वस्माकं त्रिधा प्रत्ययोऽस्ति"। इत्येवं सभायां स्थितेन प्रद्योतेन राज्ञा श्रेणिकेन च धन्यश्लाघा कृता। ततः समये जाते सभ्यजनान् विसर्ज्य तौ द्वावपि भूपती धन्यं सह नीत्वा राजमन्दिरान्तर्गतौ तत्र राजसेवकैर्विविधाऽद्भुतप्रकारैः स्नान-मज्जनभोजनादिसामग्रीं निष्पाद्य विज्ञप्तिः कृता। ततस्ताभ्यां धन्येनाऽभयेन च सह राजस्नान-मज्जनविधिना सहस्र-लक्षपाकादिना अभ्यङ्गं कारयित्वा, पुष्पादिवासितजलैः शुद्धोदकैश्च स्नानं कृत्वा, अत्यद्भुतदेशान्तरीयभव्यपट्टकुलानि परिधाय, सर्वालङ्कारैर्विभूष्य,

१ विड्वरं प्र०। २ न्यूनं नानेयं प्र०। ३ उद्वाह्य प्र०। ४ कारयित्वा प्र०। ५ परिधाप्य प्र०। ६ विभूषयित्वा प्र०।

भोजनमण्डपेऽनेकराजवर्गीयसामन्तादिभिः सह यथार्हं भव्यासनानि अलङ्कृतानि । ततोऽष्टादशभेदव्यञ्जनाकुलाम् अनेकसुखभक्षिकादिमिष्टान्नयुतां रसवतीं भुक्त्वा, आचमनेन परमशुचीभूय, गृहान्तरास्थाने आगत्य स्थितौ । ततः पञ्चसौगन्धिकानि ताम्बूलवीटकानि लवङ्गैलाफलयुतानि भुक्त्वा मुखशुद्धिं विधाय सुखशय्यासु सुप्तौ । पुनरपि यथावसरे आस्थानमलङ्कृत्याऽनेकगीतगानकुशलैः कृतं गानं शृण्वन्तौ तिष्ठतः, पुनरवसरे च राजपाटिकायां द्वावपि महाविभूत्या निर्गतौ । तत्र च विविधविलासैः पुंष्पादिशोभां विलोक्य, अश्ववाहिकया खेलनं कृत्वा, पुनर्महाविभूत्या गृहमागतौ । सन्ध्यायां यथारुचि खान–पानादिकं कृत्वा, रात्रौ गायनकृतरागप्रबन्धं श्रुत्वा सुखनिद्रां भजतः । प्रभाते प्राभातिकरागगर्भितातोद्यशब्देन निद्रां जहीतः, प्राभातिककृत्यानि च कृत्वाऽऽस्थानमलङ्कुरुतः । एवं प्रतिदिनं श्रेणिको नवनववस्त्रा–ऽलङ्कार–वाहन–गीत–वादित्रा–ऽद्भुतरसवतीनिर्माणप्रमुखैः प्राघूर्णकाचारं कुर्वन् प्रीतिलतावर्धनं करोति । प्रतिदिनं निःशल्यतया हृद्गतां रहस्यवार्तां विधाय बद्धमूलां दृढप्रीतिं करोति, किमप्यन्तरं न करोति । एवं बहुभिः सेवाभिः प्रद्योतः प्रसत्तिभाजनं कृतः । द्वयोरेकराज्यमिव स्नेहसम्बन्धोऽभूत् । इत्येवं बहुदिनेषु संजातेषु प्रद्योतस्य स्वगृहगमनेच्छा संजाता । 'प्रच्छन्नप्रयोगेणाऽत्रानीतः, अतोऽधुना स्वगृहगमनं वरम्' इति विचिन्त्य श्रेणिकायोक्तम्–"राजन् ! सज्जनसङ्गत्या कालो गच्छन् न ज्ञायते, युष्माकं धन्या–ऽभययोश्च विरहं को वाञ्छति ?, परं किं क्रियते ?, राज्यं शून्यमस्ति, कस्यापि सत्यापनं कृत्वा नागतः, पुनश्छलेनागमनं संजातं तेन तत्र विविधरीत्या लोका वाच्चदिष्यन्ति, अतो ममाज्ञां ददातु भवान् यथा स्वदेशे यामि" । ततः पुनः श्रेणिकेनाऽभयेन च आग्रहं कृत्वा कतिचिद्दिनानि रक्षितः । पुना राज्ञा विसर्जनाज्ञा मांगिता । ततः

१ 'वने उपवने' इत्यधिकः प्र० ।

श्रेणिकेन विसर्जनसामग्रीं कृत्वा, अनेकगज–तुरग–रथा–ऽऽभूषण–वस्त्रादि दत्त्वा, विविधैर्नवनवदेशोत्पन्नपदार्थैस्तर्पयित्वा महाविभूत्या प्रद्योतो विसर्जितः। धन्येनापि अदृष्टपूर्वाणि वस्त्रा–भरणानि प्राभृतीकृतानि। ततः प्रद्योतो धन्याऽभयगुणवर्णनं कुर्वन् निर्गतः। श्रेणिक–धन्या–ऽभयप्रमुखा विरार्जनार्थं कतिचिद्भुवं गताः। तत्राभयेन स्वकृतदम्भरचनाऽपराधः क्षमितः। प्रद्योतः साश्रुलोचनो वक्तुं लग्नः–'अस्माकं त्वदीयदम्भरचना सुखाय संजाता, परं त्वद्वियोगो दुःखाय भवति'। अभयेनोक्तम्–"स्वामिन्! पुनरहं पूज्यानां चरणारविन्ददर्शनार्थमागमिष्यामि। ममापि पूज्यचरणविरहो दुस्सहोऽस्ति, परं किं क्रियते ?, राज्यभारभारितो निर्गन्तुं न शक्नोमि, तस्मात् सेवकोपरि सविशेषकृपा रक्षणीया"। इति परस्परं स्नेहनतिं कृत्वा बहुभिः सैन्यैः प्रद्योत उज्जयिन्यां प्रस्थितः। कतिपयैर्दिनैः क्षेमेणोज्जयिन्यां प्राप्तः। भव्यदिने महोत्सवपूर्वकं नगरप्रवेशः कृतः। तद्दिनतः श्रेणिक–प्रद्योतयोः परस्परं पत्रोदन्तप्रेषण–यथावसर-प्राभृतमोचनादिस्वजनस्थितिर्जाता। निजनिजस्थानयोर्द्वावपि सन्न्यायपूर्वकं राज्यं कुरुतः।

॥ इति प्रद्योताऽऽनयनाधिकारः ॥

॥ अथ धनसाराधिकारः ॥

अथ कौशाम्ब्यां स्थापितस्य पुत्रत्रययुक्तस्य धनसारस्याधिकारो लिख्यते–राजगृहे धन्या–ऽभयौ प्रतिदिनं प्रेमाधिकतया त्रिवर्गसाधनं कुर्वाणौ सुखेन कालं गमयतः। अथ ये कौशाम्ब्यां धन्यस्य त्रयोऽग्रजास्ते धन्याऽऽप्तपञ्चशतग्रामेषु उत्कटाम् अभाग्यरेखामिव स्वस्याज्ञां स्थापयन्ति स्म। तदा शनिदृष्ट्येव तदाज्ञया संश्रितेषु ग्रामेषु भाग्यहीनत्वात् परग्रामेषु वर्षन्नपि मेघो न ववर्ष, यतो

१ प्राभृतकगुत्कलापनादि–प्र०। २ स्वस्वनिष्ठगा प्राप्तेषु इत्यधिकः पाठः प्र०।

भाग्ययोगेन ईप्सितमेघवृष्टिर्भवति, ततस्तद्ग्रामवासिनः केचिद् लोका वृष्टेरभावात् स्वस्वाजीविकार्थं स्वकीयचतुष्पदानामाजीवनवृत्त्यर्थं च अन्यान्यग्रामेषु गताः, यथा फलरहितान् वृक्षान् त्यक्त्वा पक्षिणो वृक्षान्तरेषु यान्ति। तृण–धान्यक्षये उदरवृत्त्यभावेन सरसि सलिलाऽभावे जलचरजीवा इव गजाश्वादयः केचिद् बुभुक्षया केचिद् [1]रोगोत्पत्त्या मृताः, विना पूर्वसञ्चितसुकृतं सम्पदः स्थातुं न शक्नुवन्ति। सेवका अपि अप्राप्ताऽऽजीविकास्तान् विमुच्याऽन्यत्र गताः। दुष्कालत्वात् क्षुधातुरैर्भिल्लैः समस्तास्तदाज्ञावशवर्तिनो ग्रामा उद्वसीकृताः। तथा उद्वसान् ग्रामान् ज्ञात्वा न कोऽपि सार्थस्तन्मार्गे समागच्छति। लोकानां च गमनागमनविरहे केन सह क्रय–विक्रयं कुर्युः?, अतो व्यापारिणोऽपि महानगरं गताः। केचित्तु रात्रौ क्षात्रं दत्त्वा भिल्ला गृहं मुष्णन्ति तद्भयाद् नष्टाः। केचित् सामान्या वराकाः कर्मकरवृत्त्याजीविकाः, तान् महाजनाभावे कः कर्मकरवृत्तिं कारयति?, इति तेऽपि नष्टाः। एवं निर्भाग्ययोगतो यावद् देहमात्रनिर्धना जातास्तदा चिन्तयितुं लग्नाः–"वयं कौशाम्ब्यां गत्वा शतानीकपार्श्वात् सैन्यं लात्वा भिल्लादीनां शिक्षां दद्मः। यतो गमनसमये धन्येन राज्ञे उक्तमस्ति–'मद्ग्रामाणां कुटुम्बस्य च सन्तती रक्षणीया, साहाय्यं च करणीयम्'। इति हेतोस्तत्र गत्वेप्सितं कृत्वा सुखं स्थीयते"। एवं संप्रधार्य कौशाम्ब्यां गन्तुं सज्जीभूतास्तावद् नगर्यां तस्यामेव रात्रौ अकस्माद् अग्निरुत्थितः, तं च प्रबलवायुप्रेरितं न कोऽपि विध्यापयितुं समर्थः। तदग्न्युपद्रवेण पितुर्वेश्मानि सर्वाणि भस्मसाज्जातानि, न किमपि गृहेभ्यो निर्गतम्, केवलं यथा तथा कृत्वा धनसारः स्त्रियश्च देहमात्रा जीवन्तो निर्गताः। तत् कस्यापि मुखेन श्रुत्वा प्रभाते यावदागतास्तावत् सर्वाणि राजमन्दिरादिमहा–लघुगृहाणि भस्माऽवशेषाणि दृष्ट्वा परमोद्वेगं प्राप्ताः। परस्परं मुखानि विलोकमाना निःश्वासान् मुञ्चन्ति।

१ दुष्कालत्वात् इत्यधिकः पाठः प्र०।

एवं मनस्यार्तिं कुर्वतां पित्रोक्तम्—"पुत्रा ! अधुनाऽनयाऽलम्। पापोदयाद् अद्य भस्मावशेषं जातं तत् किं कर्तव्यम् ?, भव्यं भविष्यति, यस्य भाग्यवशेन अचिन्तितमपि अरण्ये वेलाकुलं भवति स धन्यस्तु संभृतं गृहं मुक्त्वा गतः"। एवं तातमुखाद् धन्यश्लाघां श्रुत्वा उद्दीप्तकषायास्तातस्य कठोरवचनैस्तिरस्कारं कर्तुं लग्नाः—"हुं ! ज्ञातम् !, अद्यापि तस्योपरि तव ममत्वमेवास्ति। यदि तव स गुणवान् पुत्रस्तदा त्वां मुक्त्वा कथं गतः ?। पश्य तव कृतघ्नत्वम् ; भरण—पोषणं अद्य यावद् वयं कुर्मः, प्रतिक्षणं तु तस्यैव स्वेच्छाचारिणः प्रशंसां करोषि। अहो अस्य दृष्टिरागधृष्टत्वम् !"। एवं बहुभिर्वचनैर्निर्भर्त्सनां कृत्वा कतिपयदिवसास्तत्रातिक्रान्ताः। तत्र स्थितानां स्त्र्यादीनामाभूषणानि विक्रीय निर्वाहं कुर्वतां शनैः शनैः किञ्चिद् धनमस्ति तदपि क्वचित् पतितं, क्वचिद् विस्मृतं, भूमिगतं तद् भूरूपं जातम्। एवं वर्तमाने पुनरेकदा रात्रौ गतबलं राज्यं ज्ञात्वाऽनेकशतभिल्लैर्धाटी पातिता। ते च सर्वमाभूषण—वस्त्रादिकं मुषित्वा गताः। ततो निःस्वाः खण्डितवसना जाताः। अयं संसारः पुण्योदये कतिपयदिवसैर्ऋद्धिपूर्णो भवति, पुनः पापोदये क्षणार्धेन तत् सर्वं याति। यथा घटी पूर्यमाणा षष्टिपलैर्जलैः पूर्णा भवति, रिक्ता तु क्षणमात्रेण जायते।

ततोऽन्यदाऽऽजीविकोपायमलभमानैर्गृहं गवेषयद्भिरेका हस्तमुद्रिका लब्धा। तां विक्रीय आजीविकार्थं सकुटुम्बा मालवमण्डलं गताः। तत्र गत्वा कस्यापि कृषिकारस्य गृहे कर्मकरभावेन निर्वाहं कुर्वन्ति। एवं तत्र निवसद्भिः किञ्चिद्धनं प्राप्तम्। तेन स्वयं कृषिकर्म कृत्वा धान्यमुपार्जितम्। तत्र गृहनिर्वाहयोग्यं धान्यं गृहे मुक्त्वा शेषधान्यस्य गोणीर्भृत्वा बलिवर्दैर्वाहयन्तो ग्रामाद् ग्रामं पुरात् पुरं भ्राम्यन्तो निर्भाग्यत्वाद् ईप्सितलाभमलब्ध्वा लाभमिच्छन्तोऽन्यदा मगधे राजगृहं गताः। तत्र चतुष्पथे धान्यगो-

१ घटीन्गारोन गच्छति—प्र०।

णीरुत्तार्य धान्यपण्यं ग्रष्टुं लग्नाः। तत्रापि अनेकदेशादागतं धान्यं समर्घं जातमिति श्रुत्वा निराशा जाताः। निर्भाग्याणां सर्वत्राऽविहितो विधिर्भवति। यतः—

"अन्यद्विचिन्त्यते लोकैर्भवेदन्यदभाग्यतः। कर्णे वसति भूपार्थोत्कीर्णे दारिद्रिणां मलः" ॥१॥

यत्र भाग्यहीनस्तत्र आपदोऽप्यग्रतो यान्ति। यतः—

छित्त्वा पाशमपास्य कूटरचनां भङ्क्त्वा बलाद् वागुरां, पर्यन्ताग्निशिखाकलापजटिलाद् निःसृत्य दूरं वनात्। व्याधानां शरगोचरादतिजवेनोत्प्लुत्य धावन् मृगः, कूपान्तः पतितः करोति विमुखे किं वा विधौ पौरुषम्?॥१॥

अथ तत्र भग्नाशा धान्यं विक्रेतुं चतुष्पथे स्थिताः, परं केनापि सह मूल्यस्य सत्यङ्कारो न भवति, तेन मार्गे धान्यगोणीनां वृन्दम् अनुत्साहतो यथा तथा पातितमस्ति। अन्येद्युर्विविधातोद्यवादकैर्बोध्यमानः, पत्त्यश्वादिपृतनावृतो, बन्दिवृन्दैरनेकवीरुदानि पठ्यमानोऽश्ववारिकया नृपसभाया आगच्छन् धन्यो निजाग्रयायिभटेन अश्ववारिकास्खलनमाशङ्क्य यथा तथा पतितगोणीनां स्थाने योजनाय मार्गस्य सरलताकरणाय च कम्बया ताड्यमानान् क्षीणलक्ष्मीकान् दुर्दशां प्राप्तान् स्वबान्धवान् भिया द्रुततरं धान्यगोणीरपसारयतोऽद्राक्षीत्। दृष्ट्वा च 'ईदृक् किम्?' इति संभ्रान्तस्वान्तो विचिन्तयति—"अहो! एतान् मम बान्धवान् राज्य–धन–सुवर्ण–रूप्यादिनवविधपरिग्रहभरभारितगृहान् पञ्चशतग्रामाधिपत्ययुक्तान् अनेकशतसामन्त–सुभट–गजा–ऽश्व–पत्तिभिः सेव्यमानान् मुक्त्वाऽहमत्रागतः। हा! एतावद्दिनानां मध्ये ईदृशीमवस्थां प्राप्ताः। एवं कथं संभवेत्?। अथवा विचित्रा कर्मणां गतिः। दृढर-

१ मृगबन्धनीम्!

सनिबद्धस्य पुराकृतकर्मण उदयं स्फेटयितुं न कोऽपि शक्नोतीति जिनागमवाक्यं नान्यथा भवति। अन्यैरप्युक्तम्—

"कृतकर्मक्षयो नास्ति कल्पकोटिशतैरपि। अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" ॥१॥

चक्रवर्त्यादिभिरपि विविधदुर्दशाऽनुभूता, तदेदृशानां का कथा ?"। इति विचिन्त्य पुनर्विभावयितुं लग्नः—"अहो! अहमीदृक्सांसारिकसुखैः संपन्नः, एतान् पुनरग्रजांस्त्रीनपि किम् ईदृग्दुर्दशामनुभवतो द्रष्टुं शक्नोमि ?"। इति स्वान्तरभक्तितः प्राह—'भो भोः सेवका! एतान् परदेशादागतान् व्यापारिणो मा मारयत, एतेऽस्मद्गृहे प्रीत्याऽऽनेतव्याः'। इत्यादेशं कृत्वा चालिताऽश्ववारिका स्वगृहं प्रति। पृष्ठतः सेवकैस्तेषां प्रोक्तम्—"रे रे पारदेशिकाः! चलन्तु अस्मत्स्वाम्यावासे शीघ्रम्, स्वामिनाऽऽज्ञा कृताऽस्ति यद् एते आनेतव्याः"। ते तु श्रुत्वा भीताः प्रोचुः 'किं करिष्यति गृहं नीत्वा ?'। सेवकैरुक्तम्—'अरे! भयं मा प्राप्नुत, यद् अस्मत्स्वामी गृहागतं कमपि न दुःखं प्रापयति, प्रत्युत तस्य दुःखं स्फेटयति'। इत्युक्तेऽपि ते मनाक् शङ्कमाना धन्यस्य सौधं गताः। सेवकैस्तान् सभायां नीत्वा 'स्वामिनाऽऽहूता एते आगत्य प्रणामं कुर्वन्ति' इति विज्ञप्तिः कृता। तदा धन्येनोक्तम्—'भो व्यापारिणः! कुत्रत्या यूयम् ?'। तैरुक्तम्—"स्वामिन्! मालवमण्डले वसामः। आजीविकालाभार्थं गोधूमगोणीर्भृत्वा बलीवर्दान् लालाऽत्रागताः, परन्तु अत्र धान्यं समर्घं तेन लाभो न जातः, प्रत्युत हानिर्दृश्यते'। धन्येनोक्तम्—'आदित एव मालवदेशे वसथ अन्यदेशादागता वा ?'। तैरुक्तम्—'न हि न हि, अन्यदेशवास्तव्याः, उदरवृत्त्यर्थं तत्र गताः'। धन्येनोक्तम्—'पूर्वं वास्तव्यस्थानं क्व ?'। तैरुक्तम्—'स्वामिन् किं कथ्यते कर्मणां गतिः ?, यत्रोदरवृत्तिर्जाता स एव आत्मीयो देशः'। धन्येनोक्तम्—'युष्माकं पितरौ संस्तः ?'। तैरुक्तम्—'संस्तः धन्येनोक्तम्—'तौ कुत्र स्तः ?'। तैरुक्तम्—'यत्र ग्रामे निवसामस्तत्र पितरौ स्त्रियश्च सन्ति'। धन्येन चिन्तितम्—'पश्यतु !, दारिद्र्यो-

पद्रवपीडिताः प्रत्यक्षस्थितं मां नोपलक्षयन्ति, प्रत्युत भयमाप्नुवन्ति'। तदा धन्येनोत्थाय ज्येष्ठभ्रातॄन् अग्रतः कृत्वा प्रणामपूर्वकमुक्तम्—'किमहं नोपलक्षितः?, युष्माकमहमनुजो धन्यः'। इत्युक्त्वा गृहे नीत्वा, सेवकैरभ्यङ्ग—स्नान—मज्जनादिकं कारयित्वा, अत्यद्भुतवस्त्रालङ्कारान् परिधाप्य, वृद्धभ्रातॄन् अग्रतः कृत्वा सहर्षं सविनयं यथोचितं विविधाऽद्भुता रसवती भुक्ता। आचमनं च कृत्वा गृहान्तर्भव्यासने यथोचितं भ्रातॄन् निवेश्य, पञ्चसौगन्धिताम्बूलादिकं च दत्त्वा, अतिबहुसत्कारपूर्वकं हस्तौ योजयित्वा, कौशाम्बीं मुक्त्वा मालवगमनादिस्वरूपं पृष्टम्। तैर्ग्रामोद्वसनादि सर्वं स्वरूपं प्रोक्तम्। तत् सम्यग् अवगम्य धन्यस्तान् इत्यभाषत—'भोः पूज्या! अधुना पूर्वानुभूतं दुःखं मा स्मरन्तु चित्तप्रसत्त्याऽत्र स्थातव्यम्। इयं लक्ष्मीरिदं सौधम् इमेऽश्वा इमे द्विरदा इमे ग्रामा भवदीयाः, अहमपि भवदीयोऽनुचरोऽस्मि, अतो यथेप्सितं तद्भात। किञ्च, या लक्ष्मीर्बन्धूनां भोगोपयोगिनी न जाता सा लक्ष्मीर्न प्रशस्यते। यथाऽब्धिवेलायामतिबहुतरं जलं, परं तीरस्थानामनुपकारि, तद्वद् बन्धूनामनुपभोग्या लक्ष्मीर्निरर्थका। तथा मेरोः स्वर्णसंपत्तिवत् प्राप्ता रमा[1] मे न रोचते, या चिरकालं परितो भ्राम्यतो मित्रस्यापि[2] अनुपकारिणी—कस्यापि कार्ये नायातीत्यर्थः। तस्माद् हे पूज्या! माम् अनुगृह्णीत, यूयमत्र तिष्ठत, इमां रमां चिरं स्वेच्छया त्याग—भोगैः सफलीकुरुत, इमां मम शिशोः समीहां पूरयत"। इति विनय—भक्तिगुणगर्भितां धन्यस्य गिरं श्रुत्वा मानदोषदुष्टा असूयाज्वलितान्तःकरणास्तेऽप्यूचुः—"भ्रातः! वयं लघोर्मध्ये न स्थास्यामः, यतो लघोर्मध्ये तिष्ठतामस्माकं वृद्धत्वं याति यतः सहस्रांशुः[3] षोडशार्चिर्गृहे[4] वसन् किं न नीचः स्यात्?। अतो पितुर्धनं विभज्याऽस्माकं देहि यद् वयं पृथग्गृहं लात्वाऽत्र निवसामः"। इति तदुक्तं श्रुत्वा विवेकी स्वगुणसङ्ख्यामसुञ्चन्

१ लक्ष्मीः। २ (मेरुस्वर्णसंपत्तिपक्षे) सूर्यस्य, (रमापक्षे) सुहृदः। ३ सूर्यः। ४ शुक्रगृहे।

सरलाशयो धन्यः प्राह–एवं भवतां चित्तप्रसत्तिस्तदाऽतिवरम्, मया तु भवदाज्ञा प्रमाणीकर्तव्या'। इति विज्ञप्य भाण्डागारिकं समाहूय आज्ञा कृता यद्–अमीषां त्रयाणामपि पूज्यपादानां प्रत्येकं चतुर्दश चतुर्दश स्वर्णकोटीर्देहि'। इत्याज्ञां श्रुत्वा 'अतिवरं, प्रमाणं मे स्वामिवचः' इत्युक्त्वा प्रणामं च कृत्वा तान् त्रीन् प्राह–'आगच्छत यूयम्, स्वाम्याज्ञया ददामि स्वर्णकोटीः'। ततस्ते धनग्रहणाय भाण्डागारिकमनुगताः। तदा ये सभ्याः परिजना अन्यलोकाश्च धन्यस्य गुणैस्तेषां दोषैश्च चित्ते चमत्कृतास्ते बाहुमुत्तम्भ्य वादीन्द्रा इव परस्परं वावदन्ति–"मात्सर्यं निःस्वता चेदं द्वयमेषां कोटिप्राप्तम्[1], तथा धन्यस्य बन्धुस्नेहो वदान्यत्वं चेदं द्वयं कोटिप्राप्तम्[2]। इह जगति जनाः स्वकीयं परकीयं वा धनं ग्रहीतुं वाञ्छन्ति, ईदृशास्तु बहुलाः, परं ये स्वभुजोपार्जितं प्रभूतवित्तम् अरिभ्योऽपि प्रयच्छन्ति ते जगत्यतिदुर्लभतराः"। अथ धन्याज्ञया भाण्डागारिकेण त्रयाणां प्रत्येकं चतुर्दश चतुर्दश कोटी स्वर्णं दत्तम्। तल्लात्वा गच्छन्तो मुद्गरकरैस्तद्धनाऽधिष्ठायकसुरैर्वीरभटैस्तस्करा इव द्राग् द्वारे रुद्धाः[3]। तेषां चाग्रतः प्रत्यक्षतया स्थित्वा प्रोक्तुं लग्नाः–'रे रे निर्भाग्यशेखरा! दुर्जनाः! खलाः! पुण्याढ्यधन्यधनस्य न यूयं भोगमर्हथ। आसां श्रीणां धन्यात्मा धन्य एव यथेप्सितं भोक्ता, नान्यः, यथा तरङ्गिणीनां सर्वासां भोक्ता ध्रुवं रत्नाकर एव। शास्त्रेऽपि प्रबलपुण्यवतां भोग्या लक्ष्मीरिति प्रसिद्धिः। यदि यूयं तस्य सेवापरास्तत्पुण्यनिश्रया निवसथ तदा तु ईप्सितं सुखं प्राप्नुवन्तो दृश्यध्वे, परन्तु 'धनं लात्वा पृथग्गृहे स्थित्वा स्वेच्छया धनं भुञ्जाम' इतीच्छापूरकवासरो न भूतो न भविष्यति च। भो भो जडधियो मूर्खाः! वारचतुष्टयम् अमितधनं भुक्त्वाऽयं गतः, पश्चात् तद्धनेन के के भोगा भुक्ताः?। अद्यापि शिक्षा न प्राप्ता अयं तु सच्छेखरः

१ इति निर्धारितं इत्यधिकः पाठः प्र०। २ इति निश्चितं इत्यधिकः पाठः प्र०। ३ विविधमुद्गरा दिहेतिहस्तैः प्र०।

कृतापराधेऽपि सौजन्यं न मुञ्चति । यूयं कृतघ्नाऽग्रण्यो निर्लज्जा यद् धन्यकृतशतशोऽप्युपकारा विस्मृताः । यदि भवतां सुखेच्छा तदा तमेव समुपास्तां, भव्यं भविष्यति" । इति सुराणां वचांसि श्रुत्वा संजातप्रतिबोधा धनं मुक्त्वा व्यावृत्य ते गृहं गताः । धन्यं प्रति च वक्तुं लग्नाः–"वत्स ! त्वमेव भाग्यवान्, त्वमेव गुणनिधिः, वयं तु निर्भाग्या मूढबुद्धयः, अद्यैव सुरमुखाज्ज्ञात-बोधाः । हे जगन्मित्र ! इयन्तं कालं यावद् मात्सर्यान्वितैरस्माभिस्तामसैः पक्षिभिरिव तव महिमा न ज्ञातः । हे बन्धो ! शारदिनार्कबिम्बेन सह खद्योतपोतका इव भाग्यहीना वयं त्वया सह मुधा स्पर्धां व्यधाम । बुद्धि–विवेक–पुण्यरहितानामस्माकं मानौत्सुक्येऽन्तर्गडौ जातेऽपि अद्य यावत् त्वं कुलकल्पतरुरस्माभिर्नोपलक्षितः । चिन्तामणिः काचवद् गणितः, तत्सर्वमस्मदीयाऽज्ञानविलसितं त्वया क्षन्तव्यम् । त्वं तु गुणरत्नमहोदधिः, वयं तु च्छिल्लरप्रायाः स्मः । अधुना तु पूर्वं यत् त्वदुपरि प्रतिकूलप्रवर्तनं कृतं तत् स्मृत्वा स्मृत्वा महती लज्जा जायते, कथं तवाऽग्रे मुखं दर्शयामः ?" । एवं धन्यस्तेषां वचांसि श्रुत्वा सविनयमिति प्राह–"भोः पूज्याः ! यूयं मम गुरवः, अहं युष्मदीयाऽनुचरप्रायोऽस्मि । एतावन्ति दिनानि ममैव दुष्कर्मोदयो यद् भवतां कृपा नाऽभूत् । अधुना तु शिशूपरि भवतां चित्तप्रसत्तिर्जाता तेन मम सर्वं समीहितं पूर्णं जातं, न किमपि न्यूनमस्ति । एतद्धनम् एतद् गृहम् एषा सम्पत्तिश्च युष्मदीया, अहमपि युष्मदीयाज्ञापालकोऽस्मि, अतो यथेच्छं दान–भोग–विलासादिषु धनं व्ययितव्यं, न किमपि न्यूनमस्ति, शङ्का न विधेया" । इति सविनयं मिष्टवचनैस्तर्पितास्तेऽपि वीतमत्सराश्चित्तप्रसत्त्या त्याग–भोगादिषु धनविलासं कर्तुं लग्नाः ।

ततो धन्येनाग्रजानां मालवमण्डले पितुर्निवसनग्रामनामादिकमापृच्छ्य स्वकीयविश्वस्तप्रधानपुरुषान् अनेकरथा–ऽश्व–पत्तिपरिकर-

१ तामसपक्षिपक्षे–सूर्य !।

युतांस्तत्र संप्रेष्याऽतिबहुमान-यत्नैस्तत्रस्थौ पितरौ तिस्रोऽपि भ्रातृजायाश्चानायिताः। 'राजगृहोपवनं यावदागता' इति ज्ञात्वा महत्या विभूत्या चतुर्भिरपि भ्रातृभिः सम्मुखं गत्वा पितरौ नत्वा दान-मानादि कुर्वद्भिर्महोत्सवेन नगरप्रवेशः कारितः। महाभक्त्या गृहं नीत्वा भव्यासने स्थापयित्वा चत्वारोऽपि भ्रातरः पुरुपार्था इव पितरौ नेमुः। तदा च त्रयोऽप्यग्रजा वक्तुं लग्नाः-"भोः पितरः! एतावद्दिनानि यावद् युष्मदीयानि हितशिक्षावचनानि अस्माभिर्नाऽङ्गीकृतानि, प्रत्युत कुलकल्पतरुकल्पभ्रातुरुपरि मात्सर्यं धृतं, तेन प्रद्वेषदोषाऽनन्तरमेव दुःखमपि प्राप्तम्; देवतया प्रतिबोधो दत्तस्तदाऽस्मद्हृद्गतम् अज्ञानं नष्टम्। अधुना तु अस्यैव भाग्यबलेन सुखसम्पत्तिविलासं कुर्मः। अतो महान् युष्मदाज्ञाखण्डनरूपोऽपराधः कृतस्तं क्षमयामः। यूयं क्षमणाऽर्हा, अतोऽपराधः क्षन्तव्यः"। धन्येनापि सर्वं गृह-धन-सम्पत्त्यादिकं पितुरायत्तीकृतम्, स्वयं निश्चिन्तो भूत्वा पितृभक्तिं करोति, यत औदार्यं पितृभक्तिश्च महतां कुलव्रतमस्ति। अथ समग्रे नगरे धन्यगुणवर्णना प्रवृत्ता। राज्ञापि पुत्रत्रयसंयुतं धनसारमाकार्य वस्त्राभूषणैः सत्कार्य बहुमानं दत्तम्। एवं माता-पितृ-सहोदरैरन्वितः क्ष्मापजामाता गुणोत्करैरखिलजनमान्यो धन्यः पूर्णं सौख्यमन्वभवत्।

इत्येवं प्रतिदिनं धन-धान्य-ऋद्धि-समृद्धिसमेतैः प्रवर्धमानैः यशस्कीर्त्यादिभिः कियत्यपि काले गतेऽन्यदा राजगृहोपवने दूरीकृताऽहस्तमोभरो विश्वपदार्थप्रकाशकृत् सूर्य इव धर्मघोषाभिधः सूरिराट् साधुवृन्दपरिवृतस्तत्रागमत्। अथ श्रीगुर्वागमनं श्रुत्वा भक्तिसारा दौरात्म्यनिर्मुक्ता[1] धनसारादयः पौरा विगतस्पृहं गुरुं नमस्यितुं जग्मुः। ततः पञ्चाभिगमनादिवन्दनविधिपूर्वकं गुरुमभिवन्द्य उचितस्थाने धर्मश्रवणपिपासया सम्मुखं स्थिताः।[2] तदा गुरुरपि तान् श्रवणार्थिनः संवीक्ष्य चतुर्गतिक्लेशसमूहनिवारकं चतुर्विधं

१ दौरात्म्यप्रमादं च मुक्त्वा प्र०। २ गुरुपददर्शने इत्यधिकः पाठः प्र०।

धर्मं गृणाति स्म। तथाहि–"सर्वसमीहितसम्पदाम् उद्भेदा दानादयो धर्मभेदाः प्रत्येकं विधिना श्राद्धेन आराधिताः कल्पद्रुमवत् फलन्ति। तत्र दानधर्मश्चतुर्णामपि धर्माणां मध्ये प्रथमः। यतो जिनधर्मस्य मूलं दयैवोक्ता, सा तु अभयदानरूपा। यतः—

³अभयं सुपत्तदाणं अणुकंपा उचिय–कित्तिदाणं च। दोहिं पि मुक्खो भणिओ तिन्नि वि भोगाइया दिन्ति ॥१॥

इत्यादि। दानगुणेन इह–परलोके जगद्वल्लभो भवति। दानी यद् यत् समीहते तत् तत् सर्वं मुखाग्रे आगच्छति। दृश्यते च दानेन इच्छामात्रविलम्बः सम्पदायाः। दात्रा नगरं शोभते। तत्र दाता सुपात्रदानेन विशेषतः पुण्यं यशश्च बध्नाति। यतः–

"पृथिव्याभरणं पुरुषः पुरुषाभरणं प्रधानतरा लक्ष्मीः। लक्ष्म्याभरणं दानं दानाभरणं सुपात्रं च" ॥१॥

दानं क्वापि निष्फलं न भवति। यथा—

"पात्रे पुण्यनिबन्धनं तदितरे प्रोद्यद्दयाख्यापकं, मित्रे प्रीतिविवर्धकं रिपुजने वैराऽपहारक्षमम्।
भृत्ये भक्तिभरावहं नरपतौ सन्मानपूजाप्रदं, भट्टादौ च यशस्करं वितरणं न क्वाप्यहो! निष्फलम्" ॥१॥

इत्यादि व्यक्तम्। चित्त–वित्त–पात्रमिति त्रिशुद्ध्या यद्दत्तं तस्य फलं न कोऽपि वक्तुं शक्नोति। यथा—

⁴रिसहेसरसमं पत्तं निरवज्जं इक्खुरससमं दाणं। सेयंससमो भावो हविज्जइ पुण्णरेहाए ॥१॥

---

१ 'श्रीजिन' इत्यधिकः पाठः प्र०। २ कथयति।

३ अभयं सुपात्रदानं–अनुकम्पा उचित–कीर्तिदानं च। द्वाभ्यामपि मोक्षो भणितस्त्रीण्यपि भोगादिकान् ददति ॥१॥

४ ऋषभेश्वरसमं पात्रं निरवद्यमिक्षुरससमं दानम्। श्रेयांससमो भावो भवति पुण्यरेखया ॥१॥

भयवं रसेण भवणं धणेणं भुवणं यसेण पूरियं सयलं। अप्पा निरुवमसुक्खेण सुपत्तदाणं महग्घवियं ॥२॥

सुपात्रदानं स्तोकमपि महाफलाय भवति वटबीजाद् वटवृक्षवत्। यथा धनदत्तेन पूर्वभवे एकवारमेव दत्तं सुपात्रदानं सकलसमृद्धिप्रापकं जातम्। एवं गुरुणा गदिते धनसारादिभिः सविनयं पृष्टम्—'भगवन्! कोऽसौ धनदत्तः?, कया रीत्या च दानं दत्तम्?, प्रसादयतु तच्चरित्रम्'। गुरुराह—

॥ अथ धनदत्तकथा ॥

"पूर्वे पृथ्वीभूपणनाम्नि नगरे केरलनामा[1] राजकुमारोऽभवत्। सोऽन्यदा राजपाटिकायां गतः। अस्मिन्नवसरे महाभाग्योदयेन तस्मिन्नगरे जगद्गुरुस्तीर्थङ्करः सुराऽसुरैः परिवृतः समवसृतः। तदा स कुमारः प्रातिहार्या-ऽतिशययोः शोभां दृष्ट्वा सहर्षं वन्दनाय गतः। तत्राऽभिगमपूर्वकं जिनं नत्वा उचितस्थाने निविष्टः। तदा जगद्गुरुणा भव्यजनोपकाराय अनादिभ्रमनिवारणाय च देशना प्रारब्धा। तथाहि-"चतुरशीतिलक्षयोनिगहने संसारे परिभ्रमणं कुर्वतां प्राणिनां दशभिर्दृष्टान्तैर्दुर्लभं मनुष्यत्वम्। तत्रापि आर्यक्षेत्र-आर्यकुल-पूर्णायु-रिन्द्रियपटुता-नीरोगता-सद्गुरुसंयोग-श्रवणकुशलता-श्रवणेच्छा-कदाग्रहत्यागादिर्दुर्लभो धर्मप्राप्तौ सामग्रीसंयोगः। तमपि लब्ध्वा अनादिशत्रुलोभ-कामविवशो जीवो हा! मुधा गमयति कालम्। तत्राऽर्थः सर्वाऽनर्थमूलं ज्ञातव्यम्। यतः—

भगवान् रसेन भवनं धनेन भुवनं यशसा पूरितं सकलम्। आत्मा निरुपमसौख्येन सुपात्रदानं महार्धितम् ॥२॥

१ केरलेतिनाम्ना प्र० ।

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे। आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखसाधनम् ॥१॥

अर्थो बहुभिः क्लेशैर्बहुभिश्च पापैः पूर्वपुण्ययोगोदयाल्लभ्यते तदा तद्रक्षणेऽपि महद्दुःखम्; यतो धनस्याऽनेकानि भया

यदुक्तम्—

"दायादाः[1] स्पृहयन्ति तस्करगणा मुष्णन्ति भूमिभुजो, दूरेण च्छलमाकलय्य हुतभुग्[2] भस्मीकरोति क्षणात्
अम्भः प्लावयते क्षितौ विनिहितं यक्षा हरन्ति ध्रुवं, दुर्वृत्तास्[3]तनया नयन्ति निधनं[4] धिग् धिग् धनं तद् बहु"।

कदाचित् पापोदयाद् नष्टे धने लोकव्यवहारा–ऽऽजीविका–द्रव्यसुखविरहभयाद् महाविषादं शोकं चाप्नोति नरः। अनेकवि
कल्पाकुल आर्त्तं रौद्रं च ध्यायन् दुष्टाष्टकर्माणि चिनोति। श्रीनाशात् कातरत्वेनाऽध्यवसायमूढो मरणमपि प्राप्नोति, मृत्वा च नरक-
निगोदादिषु अपरिमितं दुःखमाप्नोति। तथा कदाचित् सुकृतोदयाद् धनं प्राप्तं, जन्मन आरभ्य मरणं यावच्च स्थिरीभूतं; तदा प्रकृ
त्या दुष्टाशया लक्ष्मीः काम–भोगाय प्रेरयति। कामासक्तश्च जीवः कामभोगार्थं षट्कायवधबहुलानि सप्त व्यसनानि सेवते। तानि
सेवमानः पुनरनन्तसंसारभ्रमणशीलं पापं च कर्म बद्ध्वा भवपूरणं च कृत्वा नरकाऽवटे पतति। यत एकैकेन्द्रियवशाद् प्राणी महादुःख-
माप्नोति तदा पञ्चेन्द्रियवशगो जीवो दुःखमाप्नुयात् तत्र किमाश्चर्यम्?। तस्मात् सर्वदुष्टार्थप्रेरिका लक्ष्मीः शरदण्डवत् प्राणिप्राणहारिका
समस्तदोषाणां जननी"। इत्येवं धर्मोपदेशपद्धतौ जगद्गुरुणा प्रोच्यमानायां केरलो राजपुत्रः समुत्थाय सविनयं करसम्पुटेन प्रणामं
कृत्वा त्रिजगद्गुरुं जिनेन्द्रं प्रति प्रश्नं करोति स्म–"स्वामिन्! भवता तु लक्ष्मीः सर्वदुःखनिबन्धनं हेयतयोपदिष्टा। परं हस्त्यश्वरथा-

१ गोत्रीयाः। २ अग्निः। ३ दुराचाराः। ४ विनाशम्।

दिविभूत्या रमणीयां, पुरतः प्रसर्पदनेकपदातिवर्गसङ्कुला, सर्वजनानां दर्शनीया, चतुरभोगिनाम् अभिगमनी, समस्तैहिकसुखनिधिकल्पा एतादृशी लक्ष्मीः कथं त्यक्तुं शक्यते ?" । भगवता भणितम्—"कुमार ! अनादिसंवाससम्बन्धयोगत इन्द्रियवशगानां संसारिजीवानां परम् इष्टमिन्द्रियसुखम्, तच्च लक्ष्म्यधीनं, तस्मात् सर्वेषां संसारिणां लक्ष्मीरतीव प्रिया । परं लक्ष्मीः खलवद् जीवाय अतिदुःखदायिनी भवति । यथा खलः प्रथमं मिष्टवचनादिना परस्याऽऽवर्जनं कृत्वा, सर्वस्वं ज्ञात्वा तस्य दुर्बुद्धिं न दत्त्वा कुकार्ये प्रवर्तयति । ततः खलो राजाग्रे कुकार्यप्रवर्तनत्वरूपस्य पैशून्यं कृत्वा कारागारे पातयति । पुना राजादीनामग्रे किमपि उच्च–नीचवचनरचनां कृत्वा तस्य कश्चिद् दण्डं दत्त्वा तस्याग्रे तु महाभयं दर्शयित्वा सर्वस्वं गृह्णाति । रङ्कवत् स्वाधीनं च कृत्वा रक्षति । स मनुष्यस्तु जानाति–'ममैष एव हितकारकः, अन्यः कोऽपि न' । पश्चात् खलस्तमावर्ज्य दरिद्रं च कृत्वा गृहाद् निष्काशयति, सम्मुखमपि न पश्यति । ततः स्थानभ्रष्टो मनुष्योऽनेकानि दुःखान्यनुभवति । एवं लक्ष्मीरपि दुःखदायिनी । तस्याश्चरित्राणि शृणु–एषा लक्ष्मीर्मरणदानदक्षा दया–दान–संवरादिधर्मविपक्षा । सा हि प्रथमं तावद् महाक्लेशाल्लभ्यते, लब्धाऽपि दुःखेन पाल्यते । धनसंरक्षणं संरक्षणानुबन्धिरौद्रध्यानस्य मूलम् । लक्ष्म्या लालिता नरा एकां लक्ष्मीमुपार्जयितुं प्रवर्तमानाः कुलमर्यादां न गणयन्ति, न शीलं शीलयन्ति, शीलवतो न बहु मन्यन्ते, न गणयन्ति वृद्धत्वं वा, न श्रुतमामनन्ति, न धर्ममीहन्ते, न च आचारचिन्तां चिन्तयन्ति, न च जाति–कुल–धर्म–देश–विरुद्धाचरणलज्जाम्, न च लक्षणापलक्षणं गवेषयन्ति, न शुचिकर्म रक्षन्ति । पुष्पमालादिभिर्बहुयत्नेन मानपूर्वकं सेव्यमाना अपि क्षणमात्रेण विघटयन्ति । चाण्डालवद् विनयादिगुणयुक्तं पुरुषं न स्पृशन्ति । मदिरापानवद् उन्मत्ता इतस्ततो भ्रमन्ति । अनेकगुणकलितानामपि लक्ष्म्या संगतानां पुरुषाणाम् एवंविधा कथमपि प्रकृतेर्विकृतिर्जायते ।

लक्ष्मीवन्तो नरा ज्वरगृहीता इव यत् तत् प्रलपन्ति, बाढमाकुलचित्ता भवन्ति। तथा धनवन्तः सलिलेन पङ्कमिव दाक्षिण्यं प्रक्षालयन्ति–कस्यापि मुखं न रक्षन्तीत्यर्थः। धूमसञ्चयेन चित्रवल्लीमिव हृदयं मलिनीकुर्वन्ति। यदुक्तम्—

भक्तद्वेषो जडे प्रीतिररुचिर्गुरुलङ्घने। मुखे च कटुता नित्यं धनिनां ज्वरिणामिव ॥१॥

भोः कुमार! लक्ष्मीस्तावद् राज्य–शोकनिबन्धनम्। राज्यं पुनः पातालमिव दुष्पूरं–केनापि पूरयितुं नाऽलम्, खलसङ्गतिरिव विरसावसानं, पणाङ्गनाप्रीतिवद् अर्थवल्लभं, तरुणी–तरुणप्रलोकनमिव चञ्चलस्वभावं, क्षणद्युतिविलसितमिवाऽचिरालोकम्, अबुधवचनमिव दारुणपरिणामं, सन्ध्याभ्ररागविलास इव अज्ञातोत्पत्तिनाशं, पयोधितरङ्गपतिततैलमिवाऽस्थिररचनाविस्तारं, करण्डस्थापितसर्प इवाऽप्रमत्ततया पालनीयं, प्रतिक्षणमार्त–रौद्रविकल्पमूलम्। लक्ष्मीविंकारकारणं, राज्यलक्ष्मीः पुनर्विशेषतो विकलतानिदानम्। यतो राज्यलक्ष्मीपरिकरिताः पुरुषा विशाललोचना अपि अन्धवत् सम्मुखमागतं न प्रेक्षन्ते–परमुखाद् जानन्ति। सश्रवणा अपि समासन्नजल्पितं बधिरवद् न शृण्वन्ति। सवदनाः स्पष्टरसनाश्चापि मूकवद् न ददति प्रतिवचनम्। अपि च, ये राजवर्गीया राज्ञा सह मन्त्रणकारका धूर्ता धृष्टबुद्धयस्ते अतिकूट–कपट–माया–शपथकरणादिभी राज्ये लब्धगुरुप्रसरा मधुलिप्ते हस्ते यावन्मानास्तिला लगन्ति तावन्मानैः शपथैः, 'शत्रुनिग्रहः कर्तव्य इति राजनीतिः' इत्याद्यधर्मवाक्यैश्च राजानं विभ्रमयन्ति–धूर्तास्ते दुर्बुद्धिं ददतीत्यर्थः। एवं राज्यमदमत्तचित्ता निरङ्कुशाः सन्तापितसकलजना विषयान्धा धर्मरागं धर्मप्रवृत्तिं च भञ्जन्ति। अर्थलुब्धे

१ भक्तः–सेवकान्तेषां द्वेषः, (पक्षे) भक्तमन्नं तद्द्वेषः। २ जडे–मूर्खे प्रीतिः, पक्षे डलयोः सवर्णत्वात् जले रुचिः। ३ गुरूणां–पित्रादीनामुल्लङ्घने, (पक्षे) गुरु लङ्घनम्–उपवासस्तस्मिन्। ४ कटुभाषित्वम्, (पक्षे) कटुत्वम्। ५ परवंचन प्र० अधिकः पाठः।

रनुजीविभिरसत्यवचनोपमानाद्याडम्बरैश्च संस्तुताः सन्तो देवेभ्योऽप्यात्मानमधिकतरं मन्वते। एवं राज्यगुरुगर्वगरलगलितविवेका न नमन्ति देवं न पूजयन्ति च, न सेवन्ते मुनिवरं, न शृण्वन्ति शास्त्रं, न मातुः पितुः सज्जन–कुल-वृद्धादीनां च लज्जां गणयन्ति। तथाऽसुन्दरमपि स्वकीयभणितम् अतीवसुन्दरतया स्थापयन्ति। आत्मकृतममङ्गलमपि मङ्गलतया स्थापयन्ति। सुन्दरमपि परोक्त-वचनम् असुन्दरतया स्थापयन्ति। तमेव पुरुषं पार्श्वे स्थापयन्ति, तस्यैवोक्तं शृण्वन्ति, स एव पार्श्वस्थितो वक्तुं शक्नोति, अभिनवं वस्तु खान–पान–वस्त्र–द्रव्यादिकं च तस्यैव ददति, तमेव आत्मीयमित्रतया सज्जनतया शुभचिन्तकतया च जानन्ति, तस्यैव बहु-मानं कुर्वन्ति, तेन सह गोष्ठिं कुर्वन्ति, हृद्गतं सर्वं तस्यैव कथयन्ति, यो राज्ञोक्तं 'तहत्ति' इति भणति, यो राजानं दैवतमिव स्तौति, यो राज्ञो भुजाबलपराक्रमं दानादायुदारतादिकं च अतिशयोक्त्या वर्णयति। एतैराचारैः कृत्वा राज्ञो वल्लभा भवन्ति; न पुनः सत्य-वादिनः, प्रतिवचनेन शिक्षादायका, आयतिहितकृतो वा। तस्माद् हे कुमार! एतादृश्या राज्यलक्ष्म्या बहुविकारकरणशीलायाः प्रतिबन्धोऽबुधानां भवति, न तु बुधानां तत्त्वज्ञानां पूर्वापराऽऽय–व्ययदर्शिनां भवति। अत्रार्थे एकं कथानकं शृणु सावधानमनाः। यथा सुचिवोद–श्रीदेवाभिधौ वयस्यौ व्यवहारिणौ लक्ष्म्या गुरुकौ कृत्वा उच्चैः पदं प्रापितौ, पुनस्तावुभावपि लक्ष्मीस्थिरीकरणार्थं शुचित्वं पूजादिकं च बहुमानं कुर्वन्तावपि लक्ष्म्या तृणवद् अकिञ्चित्करौ कृतौ। तद्यथा—

॥ सुचिवोद–श्रीदेवकथानकम् ॥

भोगपुरे नगरे सुचिवोद–श्रीदेवाभिधानौ द्वौ वणिक्पुत्रौ पृथक्पृथक्पाटके परिवसतः। तयोः पित्रोः परम्परागता महालक्ष्मीः

१ तस्यैवापत्सहायीबंधुत्वेन गणयन्ति प्र० अधिकः पाठः।

सुखेन गृहग्रामं पालयति। तयोर्मध्ये यः सुचिवोदस्तस्य शौचधर्मे रतिः। प्रतिदिनं करकृतसजलताम्रभाजनः परिभ्रमति। यत्र यत्र याति तत्र तत्र प्रथमं भूपीठमासनं वा चुलुकजलेनाच्छोट्य पश्चात्तत्र तिष्ठति। गृहकार्यार्थं यद् यद् वस्तु आनयति तत् तत् सर्वं जलशौचं कृत्वा गृहमध्ये नयति। अन्यदा तस्य गृहे मातङ्गाः समागताः। तस्य गृहिण्या लक्ष्मीवत्या पृष्टम्–'किमर्थमागताः ?'। तैरुक्तम्–"पूर्वं सुचिवोदपित्रा अस्माकं व्याजेन दीनारा दत्ता अभूवन्। बहुतरकाले गतेऽस्माकं दीनारसम्पत्तिर्जाता, अतस्तदृणमोचनाय सव्याजदीनारलेखं कारयित्वा सर्वानपि देयदीनारांश्च लात्वा आगताः स्मः, अतः सुचिवोदः कुत्र गतः ?"। लक्ष्मीवत्योक्तम्–'अधुना मध्याह्नकालोऽस्ति, अतो गृहोपरितनभूमौ सुखनिद्रया सुप्तोऽस्ति; उत्थापयामि'। मातङ्गैरुक्तम्–"निद्राच्छेदे महापापम्। यतः–'निद्राच्छेदी पङ्क्तिभेदी' इत्यादि। अत इमान् दीनारान् भवत्येव गृह्णातु, जागरिते सति सर्वं निवेद्यम्"। इत्युक्त्वा एकस्मिन् भाजने दीनारान् दत्त्वा गता मातङ्गाः। अथ सुप्तोत्थितः सुचिवोद उपरितनभूमितोऽधस्ताद् आगतः। लक्ष्मीवत्या स्वामिने मातङ्गव्यतिकरः प्रोक्तः। सुचिवोदेनोक्तम्–'ते दीनाराः कुत्र ?'। तयोक्तम्–'अमुकभाजने'। सुचिवोदेन दीनारान् दृष्ट्वा पृष्टम्–'लक्ष्मीवति! जलयोगः कृतो न वा ?'। तयोक्तम्–'लक्ष्मी–सरस्वत्योः संयोगे दीनारा भवन्ति, तत्र जलयोगकरणे किं प्रयोजनम् ?' इति श्रुत्वा भृकुटिभङ्गभीषणो भूत्वा क्रोधेनाऽवोचत्–"क्षयं यान्तु इमे दीनाराः, निपतन्तु उत्करे गिरिकन्दरे वा!। गृहे तव शौचं नास्ति।[1] पवित्रं मद्गृहं मलिनीकृतं त्वया"। इत्युक्त्वा वामपादेन दीनारा दूरतः प्रक्षिप्ताः। तदा लक्ष्म्या चिन्तितम्–"एष पापोदयाद् अयोग्यो यो मां गृहे समागच्छन्तीं वामपादेन प्रस्खलति।[2] अतस्त्यक्तव्यं मयाऽस्य गृहम्। तथा कर्तव्यो मया एष यथा उदरवृत्तिमपि

१ नास्ति शौचं भवद्गृहे इति प्र०। २ यद् मम गृहं समागच्छन्ती वामपादेन प्रस्खलिता इति प्र०।

कर्तुं न शक्नुयात्। दारिद्र्यपूर्णं च गृहं कर्तव्यम्"। इति विचिन्त्य मुक्तं सुचिवोदगृहं लक्ष्म्या। सहसा अतिस्तोकदिनमध्ये गतं सर्वं धनम्, न किमपि गृहे स्थितम्। यद् यद् आजीविकार्थं व्यापारादिकं करोति तत्र तत्र विपरीतं भवति। धने गते यस्य सेवादि करोति तस्य किमप्यशुद्धं भवति—अमङ्गलं भवति—ततस्तं निष्काशयति। एवं स्वजनवर्गाणां शेषजनानां चाऽनिष्टतरो जातः। प्रतिदिनं निर्वाहयोग्यमन्नमपि गृहे नास्ति। क्षुत्क्षामकुक्षिः परिभ्राम्यति। लक्ष्मीवती तु अन्नमात्रदुर्लभत्वात् पितुर्गृहं गता। एषोऽपि दुःखपरम्पराऽनलदह्यमानमानसः किमपि निर्वाहं कर्तुमशक्तो ग्रामं त्यक्त्वा देशान्तरं चलितः। ग्रामाद् ग्रामं भ्राम्यति, यत्र यत्र व्यवसायादिकं कर्तुं प्रारभते तत्र तत्र विपरीतभवनात् प्रबलं महादुःखं भवति। कस्यचित् सेवाकरणे प्रवर्तते तदा कथमपि चौर्यादिकलङ्कश्चटति, ततः स निष्काशयति। एवं बहुषु ग्राम—देशेषु बहुकालं यावद् भ्रमणं कृतम्, परं सर्वत्र विफलव्यवसायत्वाद् भग्नाशः सन् पुनरपि देशसम्मुखं चलितः।

एकदा निरशनः कष्टेन मार्गमतिवाह्य क्षुधया पीडित एकस्मिन् नगरासन्नदेवकुले क्षुधाकुलः मार्गश्रमेण ग्लानशरीरः सखेदं यावन्निषण्णोऽस्ति तावद् एको मातङ्गस्तत्रागतः। स च मूलमण्डपे गत्वा यक्षाय प्रणामं कृत्वा मण्डपे उपविष्टः। सुचिवोदोऽपि क्षुधा—तृषाखिन्नशरीर एकस्मिन् देवालयकोणे पतितः पश्यति मातङ्गचरितम्। ततो मातङ्गः प्रणामं कृत्वा आडम्बरतः पूजाविधानं कर्तुं प्रवृत्तः। मण्डलं चालिख्य यक्षिण्याः पूजोपचारः कृतः, स्मृतश्च मन्त्रजापः। क्षणान्तरे समागता यक्षिणी। भणिता मातङ्गेन—"भगवति! सकलसमीहितं प्रकटीकुरु, मम कृते च विलासभवनं कुरु"। यक्षिण्या तथैव निर्वर्तिता भवन—भोजनादिसामग्री। ततः सुररमणी-

१ कर्पूरवत्—अधिकः प्र०। किमपि प्र०।

वृन्देन मातङ्गस्य सुगन्धितैलादिनाऽभ्यङ्गयित्वा, वरसुगन्ध्युद्वर्तनेन उद्वर्तयित्वा, पुष्पादिवासितोष्णजलेन स्नानं कारयित्वा, सुकुमारसुगन्धिकाषायिकवस्त्रेणाऽङ्गं लुञ्छयित्वा, शुद्धचीनांशुकैः परिधाप्य, विविधैराभूषणैर्भूषयित्वा, प्रवरासने संस्थाप्य, सुवर्ण-रत्नभाजने विविधरसनिष्पत्तिकां देवनिर्मितां रसवतीं भोजयित्वा, आचमनादिना मुख-हस्तादिशुचिं कारयित्वा, रत्नखचितसुवर्णपल्यङ्के सुकुमारतूलिकास्तीर्णे देवशयने स्थापयित्वा, अतिसुगन्धिद्रव्यमिश्रितप्रवरताम्बूलं दत्त्वा मातङ्गः प्रसन्नीकृतः। एवं सुररमणीभिर्गीत-नृत्याद्यनेकविलासान् विलसन् मातङ्गोऽद्भुतसुखनिमग्नस्तिष्ठति। यावदेकघटिका रात्रिर्गता तावत् सम्पन्नकार्येण सर्वं विसर्जितम्। पुनस्तथैव देवकुले स्थितः। एतत्सर्वं सुचित्रोदेन दृष्टम्। दृष्ट्वा च चिन्तयितुं लग्नः-"अहो! एष मातङ्गो विद्यारत्नमहोदधिरचिन्त्यशक्तिकश्च। अथास्य सेवां करोमि। सेवया प्रसन्नीभूतो मम दारिद्र्यं मूलत उन्मूलयिष्यति"। इति विचिन्त्य सेवां कर्तुं प्रवृत्तः-पृष्ठे लग्नो भ्राम्यति, निवस्तुकामस्याग्रत आसनं ददाति, तस्याग्रे सावधानमनास्तिष्ठति, मुखनिर्गतवचनमात्रेण तत्कार्यं निपुणतया करोति; एवं यथा तस्य चित्तं प्रसन्नतां भजते तथा करोति। उत्थातुकामस्य उपानहौ पादयोः परिधापयति, मार्गे गमनं कुर्वतः सविनयं सेवकवत् पृष्ठतः शुश्रूषमाणश्चलति, तस्य उपकरणभारं चोत्पाटयन् पदे पदे 'क्षमा क्षमा' इति शब्दं वदन् अनुचरति। एवं चिरकालसेवनयाऽऽवर्जितं मातङ्गस्य मानसम्। अथान्यस्मिन् दिने मातङ्गेन भणितः सुचित्रोदः-"भो भद्र! केन कारणेन ममाऽनिर्वचनीयां सेवां करोषि?, प्रसन्नोऽस्मि तव सेवया; अतस्तव हृद्गतमाशयं वद यथाऽहं तवाशां पूरयामि"। तदा सुचित्रोदः प्रणामपूर्वकं हस्तौ संयोज्य वक्तुं लग्नः-"स्वामिन्! अहं दारिद्र्यपीडितोऽस्मि। अतिदारिद्र्येण पराभूतो गृहात् निर्गतः। परं दारिद्र्यं मम पृष्ठे लग्नं, कथमपि पार्श्वं न मुञ्चति। उक्तं च—

"[1]रे दारिद्द वियक्खण[2]! वत्तां[3] एक सुणिज्ज। अम्हें देसांतर चालस्युं तुं घरसार करिज्ज" ॥१॥

"[4]पडिवन्नुं गिरुयां तणुं निरवहें नेट निवांण। तुमें देसान्तर चालतैं अमें पिण आगै ठाण" ॥२॥

"तथा हे स्वामिन्! अर्थार्थिना मया सकले महीमण्डले भ्रान्तं, परं कुत्रापि द्रव्यमात्रं किमपि न प्राप्तम्। ततोऽसंप्राप्तवित्तो भग्नाशः सन् पश्चाद् गृहसम्मुखं प्रस्थितः। साम्प्रतं पुनः किञ्चित्पुराकृतशुभकर्मभवितव्यतानियोगेन युष्माकं दर्शनं जातम्। भवताम् अतुलसामर्थ्यं मत्वा सेवां कर्तुं प्रवृत्तोऽस्मि। चेद् भवतो दर्शनेन सेवया च मम दारिद्र्यं न गमिष्यति तदाऽन्यः को मां दारिद्र्यसमुद्रात् तारयिष्यति ?। अतो मया कृतनिश्चयेन सेवाऽऽरब्धा। तस्माद् हे स्वामिन्! प्रसादं कृत्वा मां दारिद्र्यसमुद्राद् निस्तारयतु"। इति सुचिवोदवचनानि श्रुत्वा प्रसन्नचित्तेन मातङ्गेनोक्तम्–'तुष्टोऽस्म्यहं तवोपरि, गृहाणेमां यक्षिण्याराधनविद्याम्'। ततः सुचिवोदेनोत्थाय 'महान् प्रसाद' इत्युक्त्वा प्रणामः कृतः। ततो मातङ्गेन चित्तप्रसत्त्या यक्षिणीमन्त्र आम्नायपूर्वकं दत्तः। स च सविनयं गृहीतः सुचिवोदेन। पुनर्मातङ्गेनोक्तम्–'अत्रैव मम साहाय्येनाऽमुं मन्त्रं साधय यथा तव निर्विघ्ना सिद्धिर्भवेत्। तदा सुचिवोदेन साधितस्तत्साहाय्याद् मन्त्रः कृतार्थमात्मानं मन्यमानेन। ततो मातङ्गेनोक्तम्–'याहि त्वं स्वगृहे, ईप्सितं कुरु', इत्युक्त्वा विसर्जितः। सुचिवोदोऽपि मातङ्गं नत्वा चलितो निजगृहाभिमुखम्। मार्गे गमनं कुर्वन् अनेकान् मनोरथान् कल्पयन् कतिपयदिवसैरागतः स्वगृहे। प्रथममेव कृता यक्षिणीसाधनसामग्री, चतुष्किकायामालिखितं मण्डलम्, तस्मिन् लिप्तः यक्षिणीविदितः पूजोपचारः। तत्र स्थित्वा यावता मन्त्रं स्मरति तावता मन्त्रस्य मुख्यपदं विस्मृतम्[5]–'ममाधुना का चिन्ता ?' इत्यतिहर्षपूरितमानसतया मार्गेऽनेकशत-

१ दरिद्रिणा दारिद्र्यं प्रत्युक्तम्। २ विचक्षण!। ३ वार्ताम्। ४ दारिद्र्येणोक्तम्। ५ नवं पठितं साधनसिद्धं च इत्यधिकः प्र०।

मनोरथकरणौत्सुक्येन न व्यग्रचित्ततया मन्त्रपदं विस्मृतम्। बहुना प्रकारेणोहापोहः कृतस्तथापि आवरणदोषात् स्मृतिपथे नागतं मन्त्रपदम्। ततः फालभ्रष्टमर्कटवद् विलक्षो जातः। पुनरपि ग्राम-नगरो-पवनेषु मातङ्गं गवेषयता बहुभिर्दिनैर्लब्धा शुद्धिर्यद् अमुकस्थानेऽस्ति मातङ्गः। ततस्तस्य मातङ्गस्य समीपे गतः। यथावस्थितं दृष्ट्वा पृष्टं मातङ्गेनागमनप्रयोजनम्। तेनापि कथितो मन्त्रपदविस्मरणव्यतिकरः। तं च श्रुत्वा उत्पन्नकरुणः प्राह-"भो भद्र! त्वं विस्मरणशीलोऽसि, विद्या तु एकस्यैकवारं देया, न द्वितीयवारमिति गुर्वाज्ञा। चेद्दीयते तदा आवयोर्द्वयोरपि निष्फला भवति। तेनेमां विद्यां तु अधुना दातुं न शक्नोमि, त्वद्दुःखमपि द्रष्टुं न शक्नोमि, तेन गृहाणेमं विद्याऽभिमन्त्रितं पटम्, स्वतः सिद्ध एष पटः, धूप-दीपादिभिः पूजयित्वा यत् प्रार्थ्यते तद्ददाति, ईप्सितं च पूरयति; अत एनं गृहीत्वा व्रज स्वगृहं, सुखी भव"। इत्युक्त्वा दत्तो मातङ्गेन पटः। तेनापि स प्रणामपूर्वकं गृहीतः। ततो मातङ्गाज्ञया चलितो निजदेशाभिमुखम्। मार्गे स्वतःसिद्धं पटं प्राप्य मनसि विचारयितुं लग्नः-"अधुना सर्वसमीहितदायकः पटो दत्तः। किञ्चित्पूजनमात्रं कृत्वा ईप्सितं लप्स्ये, सर्वे मनोरथा मम फलवन्तो भविष्यन्ति। दुर्जनानां मुखानि मलिनीकरिष्यामि। नगरे पुनर्मे महत्त्वं भविष्यति। ततो यैः खलैर्ममापद्दशायां दुर्वचनान्युक्तानि तेषां शिक्षां दास्यामि। अतः शीघ्रं गच्छामि गृहे, चिन्तितं च फलवत् करोमि"। एवं मनोरथान् कुर्वन् औत्सुक्यात् क्षुद्रसार्थेन सह चलितः। अथ निजग्रामाद् दिनद्वयान्तरितपथं यावद् गतस्तावद् मिलितास्तस्कराः, तैः सार्थो लुण्टितः, तस्य पटोऽपि तस्करैर्गृहीतः। पुनर्विलक्षः सन् पश्चाद् वलितः। तं मातङ्गं गवेषयन् कतिपयदिवसैः पुनर्मिलितः। मातङ्गपादयोर्लग्नः। पृष्टं तेन-'पुनः कथमागतः?'। ततस्तेन कथितः पटव्यतिकरः। तस्य दैन्यं दृष्ट्वा मातङ्गस्य करुणा प्रादुर्भूता। ततस्तेन दत्तो विद्याभिमन्त्रितो घटः कामघटसंज्ञितः, कथितश्च तस्य पूजनविधिः।

अथ सुचिवोदो मातङ्गं नत्वा सहर्षं चलितो निजदेशाभिमुखम्। कतिपयदिवसैर्गृहं प्राप्तः। तत्र चतुरस्रं गोमयमण्डलं कृत्वा धूप-दीप-पुष्पा-ऽक्षत-चन्दनादिभिर्घटं पूजयित्वा घटः प्रार्थितः। अथ यत्प्रार्थितं तत्सर्वं घटेन दत्तम्। प्रसन्नीभूतः सुचिवोदश्चिन्तयितुं लग्नः-'स्वजनादीन् आमन्त्र्य भोजयामि यथाऽखिले पुरे विख्यातो भवामि, पश्चाद् गृह-भूपणादीनि प्रार्थयिष्यामि'। इति विचिन्त्य भोजनसामग्री प्रार्थिता। दैवानुभावेन सर्वा सामग्री प्रकटीभूता। ततः स्वजनादीन् आमन्त्र्य भोजनं कारयितुं लग्नः। ते सर्वेऽनुपमां दिव्यां रसवतीं भुञ्जाना प्रशंसां कर्तुं लग्नाः। ततः कियद्भिः स्वजनसम्बन्धिबन्धुवर्गैर्बहुमानपूर्वकं पृष्टः-'भो भाग्यनिधे सुचिवोद! इमाम् अभुक्तपूर्वां दिव्यां रसवतीं कुतो भोजयसि? । ईदृशी तु केनापि पूर्वं न भोजिता, नापि अग्रे भोजयिष्यते। मर्त्यलोके देवलोकसुखास्वादस्त्वया भोजितः। धन्यस्त्वं, सर्वेषु जनेष्वग्रणीर्दृष्टः, नान्यः कोऽपि भवादृशो दृष्टः। परं कथय, ईदृशी तव शक्तिः कुतः? कस्य महिमा?"। ततः सुचिवोदस्तेषां वचनैर्दर्पितो मानाऽऽवेशेन मदमत्तो गृहान्तर्गत्वा तं घटं स्कन्धे कृत्वा स्वजनानां मध्यगतो हर्षेण विकलचैतन्यो नृत्यन् मुखेन जल्पितुं लग्नः-"अहो! ममाऽस्य घटस्य प्रभावेण प्रनष्टं दारिद्र्यम्। भोजनं तु कियन्मात्रम्? ईदृशानि भोजनानि तु अस्य घटस्य प्रभावेण प्रतिमासं भोजयिष्यामि!। अधुना को मम तुलनां करिष्यति? अस्ति कोऽपि चेत् प्रकटीभवतु, पश्यामि तस्य सामर्थ्यम्"। एवं गर्वपूरितहृदयस्य औत्सुक्याद् व्याकुलचित्ततया सहर्षं नृत्यतस्तस्य स्कन्धात् पतितो घटः, भग्नः, शतशः खण्डानि जातानि। ततो भग्नाशो विलक्षवदनः शोचयति। लोकाः पुनस्तस्य मुखं दृष्ट्वा प्रतिगृहं प्रतिजनं हास्यं कुर्वन्ति। मूर्खकथायां प्रवर्तमानायाम् अस्यैव दृष्टान्तो दीयते। तद् दृष्ट्वा हृदये ज्वलन् पुनरपि ग्रामान्निर्गतः, मातङ्गं च गवेपयितुं लग्नः। बहुभिर्दिनैर्मातङ्गो मिलितः। तस्य कथितः सर्वो व्यतिकरः। मातङ्गोऽपि तच्छ्रुत्वा ईषद्विहस्य भाले

हस्तं दत्त्वा प्राह–"धिक् तव मूर्खत्वम्! सर्वसमीहितदातृवस्तु न तादृशं मूर्खं विना जनमध्ये कोऽपि प्रकटीकरोति। भो जडधीः! वारत्रयं तव मनोरथसाधिका स्वभावसिद्धा विद्या शिक्षा च दत्ता, तथापि तव मूढस्य दारिद्र्यं न गतम्। पुनरागतः। अतः परं मम पार्श्वे नान्यद् मन्त्रादिकमस्ति, एतावन्मात्रैव मम पार्श्वे विद्याऽस्ति, सा च सर्वाऽपि तुभ्यं दत्ता, अधुना मम पार्श्वे नागन्तव्यम्, गच्छ यथेच्छम्"। इत्युक्त्वा विसर्जितः मुनिवोदो विच्छायवदनो गतः स्वगृहम्। दिनम् आर्त्याऽतिवाह्य रात्रौ प्रसुप्तो यावद् निद्राभिमुखो जायते तावता एका मध्यवयाः श्वेतवसना वरतरुणी गृहमध्ये सम्मुखमागच्छन्ती दृष्टा। ततस्तेन ससम्भ्रममुत्थाय तस्याश्चरणौ नत्वा पृष्टम्–'भगवति! का भवती?, किमर्थमागता?'। तया भणितम्–"या त्वया वामपादेन–'अशुचिरियम्' इति जुगुप्सां कृत्वा दूरोत्क्षालिता साऽहं तव गृहलक्ष्मीः"। तेन भणितम्–'अधुना क्व वससि?'। तया भणितम्–"यस्य स्पर्शनाहं 'अशुचिरियम्' इति जुगुप्सां कृत्वा त्वया दूरप्रक्षिप्ता तस्य मातङ्गस्य गृहे निवसामि"। तेन भणितम्–'को मातङ्गः?'। देव्योक्तम्—"यस्य सेवां कुर्वता त्वया बहुतरा दिना अतिक्रान्ताः, यस्य मार्गानुलग्नेनोपानहादि परिवहता त्वयाऽऽत्मा परिक्लेशितः, तस्य पार्श्वे गच्छामि"। तेनोक्तम्–'किमर्थमागताऽत्र?'। तया भणितम्–'तव शौचधर्मदर्शनार्थं, यत् कीदृग् असौ शौचं रक्षति'। इत्युक्त्वाऽदर्शनं गता लक्ष्मीः। मुनिवोदस्तु लज्जाऽवनतकन्धरोऽतिक्लेशेन प्राणवृत्तिं कुर्वाणः सकलजनहसनीयो जातः। यत्र यत्र गच्छति तत्र तत्राऽस्य मूर्खत्वं कामकुम्भभग्नत्वस्वरूपं चोक्त्वा परिहास्यं कुर्वन्ति जनाः। अयं च श्रुत्वा हृदये ज्वलति, परं निर्धनत्वाद् दुःखेन कालनिर्गमनं करोति। तस्माद् हे कमलकुमार! इदंपर्यवसाना लक्ष्मीरतिशौचकरणेनापि स्थिरा न भवति। अथ सेवया पूजयाऽपि च

१ निर्माल्यशोधक प्र०।

भक्तिमतस्तवोपरि अनुरक्ताया अपि मम गमनमवश्यं भविष्यति, अतस्तव वियोगदुःखेनैवंविधाऽस्मि; यतः पुण्यैर्विना मम स्थिरत्वं न भवति। शास्त्रेऽप्युक्तम्–यः कोऽपि सल्लक्षणः पुत्रो दासो वा पशुर्वा पुत्रवधूर्वा आगच्छति तदागमनमात्रेण सर्वतोऽनाहूता लक्ष्मीः सङ्केतितमनुज इव समभ्येति, स्तोकनैव च कालेन गृहं समृद्ध्या सङ्कीर्णं भवति। यदा पुनः कोऽपि निर्लक्षणः पूर्वकृतपापभरः पुत्रः पुत्री वा सेवको वा तिर्यग् वा आगच्छति तदागमनमात्रेण यत्नेन रक्षिताऽपि लक्ष्मीर्नश्यति। यतः पुण्य–पापोदयेन अचिन्तिता लक्ष्मीरागच्छति गच्छति च। यतः—

"पुण्योदयाद् भवेल्लक्ष्मीर्नालिकेरफलेऽम्बुवत्। अज्ञाता हि पुनर्याति गजभुक्तकपित्थवत्" ॥१॥

अतोऽनीप्सितमपि मम गमनं भविष्यति, तेन मम मुखे वैवर्ण्यं जातम्"। श्रीदेवेन पृष्टम्–'भगवति! कुत्र गमिष्यसि ?,। लक्ष्म्योक्तम्–"अत्रैव नगरे पूर्वजन्मनि दत्तमुनिदानः पूर्वकृतकर्मणाम् अप्राप्तोदयकालत्वाद् वर्जितविशालभोगो भोगदेवः सार्थवाहः परिवसति। अधुना तस्य प्राप्तपुण्योदयकालत्वाद् 'भोगदेव' इति नाम्नः सान्वर्थकरणार्थं तस्य गृहे गमनं भविष्यति"। इत्युक्त्वा तिरोभूय लक्ष्मीस्तस्य गृहं गता। अथ भोगदेवसार्थपतिगृहे गमनाद् लक्ष्मीस्तस्य गृहे कतिपयदिनाभ्यन्तरे धन–धान्य–सुवर्ण–रत्न–मणि–माणिक्यादिसमृद्धिं विस्तारयितुं लग्ना। यत्र यत्र स वाणिज्यं करोति तत्र तत्र ईप्सिताद् अधिकतरं प्राप्नोति। सर्वत ऋद्ध्या संकीर्णं गृहं जातम्। नगरमध्ये महाजनवृन्देषु महत्त्वं जातम्। राजद्वारे च राज्ञा सन्मानं दत्तम्। गृहाङ्गणम् अश्व–सुखासन-दास-दासी-मित्रभिर्व्याप्तत्वाद् दुष्प्रवेशं, यशःप्रतिष्ठाभिर्धवलितं समस्तपुरं च। भोगदेवस्तु लक्ष्मीं लब्ध्वा मार्गणादधिकं ददाति, उपकारं च करोति; तेन जगद्विख्यातयशा जातः। स्वयं च वस्त्राभरणैर्देव इव कृतस्फारशृङ्गारोऽश्व–सुखासनादिवाहनारूढोऽनेकश-

भक्तिमनस्त्वयोपरि अनुरक्ताया अपि मम गमनमवश्यं भविष्यति, अतस्तव वियोगदुःखेनैवंविधाऽसि; यतः पुण्यैर्विना मम स्थिरत्वं न भवति। शास्त्रेऽप्युक्तम्—यः कोऽपि सल्लक्षणः पुत्रो दासो वा पशुर्वा पुत्रवधूर्वा आगच्छति तदागमनमात्रेण सर्वतोऽनाहूता लक्ष्मीः सङ्केतितमनुज इव समभ्येति, स्तोकेनैव च कालेन गृहं समृद्ध्या सङ्कीर्णं भवति। यदा पुनः कोऽपि निर्लक्षणः पूर्वकृतपापभरः पुत्रः पुत्री वा सेवको वा तिर्यग् वा आगच्छति तदागमनमात्रेण यत्नेन रक्षिताऽपि लक्ष्मीर्नश्यति। यतः पुण्य–पापोदयेन अचिन्तिता लक्ष्मीरागच्छति गच्छति च। यतः—

"पुण्योदयाद् भवेल्लक्ष्मीर्नालिकेरफलेऽम्बुवत्। अज्ञाता हि पुनर्याति गजभुक्तकपित्थवत्" ॥१॥

अतोऽनीप्सितमपि मम गमनं भविष्यति, तेन मम मुखे वैवर्ण्यं जातम्"। श्रीदेवेन पृष्टम्–'भगवति! कुत्र गमिष्यसि ?,। लक्ष्म्योक्तम्–"अत्रैव नगरे पूर्वजन्मनि दत्तमुनिदानः पूर्वकृतकर्मणाम् अप्राप्तोदयकालत्वाद् वर्जितविशालभोगो भोगदेवः सार्थवाहः परिवसति। अधुना तस्य प्राप्तपुण्योदयकालत्वाद् 'भोगदेव' इति नाम्नः सान्वर्थकरणार्थं तस्य गृहे गमनं भविष्यति"। इत्युक्त्वा तिरोभूय लक्ष्मीस्तस्य गृहं गता। अथ भोगदेवसार्थपतिगृहे गमनाद् लक्ष्मीस्तस्य गृहे कतिपयदिनाभ्यन्तरे धन–धान्य–सुवर्ण–रत्न–मणि–माणिक्यादिसमृद्धिं विस्तारयितुं लग्ना। यत्र यत्र स वाणिज्यं करोति तत्र तत्र ईप्सिताद् अधिकतरं प्राप्नोति। सर्वत ऋद्ध्या संकीर्णं गृहं जातम्। नगरमध्ये महाजनवृन्देषु महत्त्वं जातम्। राजद्वारे च राज्ञा सन्मानं दत्तम्। गृहाङ्गणम् अश्व–सुखासन-दास-दासी-मन्त्रिभिर्व्याप्तत्वाद् दुष्प्रवेशं, यशःप्रतिष्ठाभिर्धवलितं समस्तपुरं च। भोगदेवस्तु लक्ष्मीं लब्ध्वा मार्गणादधिकं ददाति, उपकारं च करोति; तेन जगद्विख्यातयशा जातः। स्वयं च वस्त्राभरणैर्देव इव कृतस्फारशृङ्गारोऽश्व–सुखासनादिवाहनारूढोऽनेकश-

तभटैः परिकीर्णश्चतुष्पथमार्गे गच्छति, तत्र सर्वे महेभ्या उत्थाय न्यग्भूय प्रणामं कुर्वन्ति, गते च गुणवर्णनं कुर्वन्ति, यथा—"परदुःखभञ्जनशीलस्यास्य सफलं जीवितम् , अनेन प्राप्ता ऋद्धिर्वरतरा, यतः प्रतिदिनं परोपकारप्रवणोऽस्ति। अस्य नामग्रहणेऽपि भव्यं भवति। नगरमण्डनोऽस्ति"। इत्यादि गुणवर्णनं कुर्वन्ति जनाः। एवं त्रिवर्गसाधनपरः सुखेन कालं गमयति। तस्य कलत्रं भोगवती नाम्ना। अन्यदा तस्या अभ्यर्णे गत्वैवं वक्तुं लग्नः—"प्रिये! यथेष्टं दानं देहि, मा विलम्बं कृपणतां च कुरु। तथा यथेप्सितानि वस्त्राणि आभरणानि च कारय, मदीया शङ्का न कर्तव्या, ऐहिकभोगे विलासे च कृपणत्वं न कार्यम्। किं बहुना ?; यावत् पुण्यं तावल्लक्ष्मीः, पूर्णे पुण्ये शतयत्नैरपि न स्थास्यति, अतः पुण्यं कुरुष्व। उभयलोकसाधनेन लक्ष्मीः सफला भवतीति निःशङ्कतया ज्ञातव्यम् ; अतः प्रिये! दान-भोगादिना साम्प्रतं श्रीफलं लाहि, पश्चात् परलोकहिताय चारित्रं ग्रहीष्यावः। यतो हे प्रिये! करिकर्णवत् चपला लक्ष्मीः, तस्या विश्वासो न कर्तव्यः। यद्दत्तं यद्भुक्तं यच्च परोपकारकार्ये आगतं तत् स्वकीयं ज्ञेयम् , अन्यत् सर्वं परकीयं पापहेतुः, यतो भवान्तरेऽपि तज्जन्यस्य पापस्याऽविरतप्रत्ययिकः पापविभाग आगच्छति। तस्माद् अस्खलितं दानं दीयतां, स्वेच्छानुरूपो भोगश्च कर्तव्यः"। एवं स्वयं दानरसिका भोगवती भर्त्राऽधिकतरं दानायोत्साहिता ततः प्रभृति विशेषतः सुपात्रदानादि सोत्साहं दातुं लग्ना। यः कोऽपि यद् यद् मार्गयति तत् तत् तस्य ददात्येव, कस्यापि नकारं न करोति। एवं कियानपि कालो गतः।

अन्यदा तत्र पुरोद्याने लोकालोकपदार्थप्रकाशनप्रभाकरः श्रीकेवलिभगवान् समवसृतः। तस्य वन्दनार्थं महती पर्षद् निर्गता। भोगदेवोऽपि तच्छ्रुत्वा सहर्षं भोगवत्या समं वन्दनायागतः। केवलिनि दृष्टे पञ्चाभिगमपूर्वकं वन्दनां कृत्वा स्तुत्वा च यथोचितस्थाने

स्थितः। ततो भगवता संसारनिर्वेदनी धर्मकथा दत्ता[1]। ततोऽवसरं प्राप्य भोगदेवेन विज्ञप्तिः कृता–'भगवन् ! दानस्य किं फलम् ?'। केवलिना भणितम्–'भो देवानुप्रिय ! अस्मिन्नर्थे विशालपुरे सञ्चयशीलसार्थवाहस्य दुर्गतपताकाऽभिधानः कर्मकरः प्रष्टव्यः'। भोगदेवेन 'तहत्ति' इत्युक्तम्[2]। अवसरे देशनायामुपरतायां यथाऽऽगतास्तथा गता लोकाः। कतिपयदिनानि तत्र स्थित्वाऽन्यत्र क्षेत्रे विहर्तुं गतः केवली। ततो भोगदेवः केवलिवचनसत्यापनार्थं भोगवतीं सह कृत्वा रथादिवाहनारूढो बहुभिः सेवकैः परिवृतो विशालपुरे गतः। तत्र पुरे प्रवेशं कुर्वता भोगदेवेन भवितव्यतायोगेन दुर्गतपताकगृहिणी नाम्ना दुर्गिला कस्मैचित् कार्याय[3] मार्गे गच्छन्ती दृष्टा। ताम् आमन्त्र्य भोगदेवेन पृष्टम्–'भद्रे ! त्वं सञ्चयशीलसार्थवाहस्य गृहं जानासि ?'। तयोक्तम्–'आगच्छतु मत्पृष्ठे, दर्शयामि तस्य गृहम्'। [4]क्रमेण तया सञ्चयशीलसार्थवाहस्य गृहं दर्शितम्। तत्र[5] गृहद्वारवेदिकायां सञ्चयशीलसार्थवाहस्य प्रिया धनसुन्दरी स्थिताऽस्ति। तां दृष्ट्वा भोगदेवेनोक्तम्-'सुभगे ! इदं सञ्चयशीलसार्थवाहगृहम् ?'। तयोक्तम्-'इदमेव'। भोगदेवेनोक्तम्-'श्रेष्ठ्यस्ति गृहमध्ये?'। तयोक्तम्-'चतुष्पथे गतोऽस्ति'। पुनर्भोगदेवेनोक्तम्–'भाग्यवति ! भवतां गृहे दुर्गतपताकाभिधानः कोऽपि कर्मकरोऽस्ति ?'। तया भणितम्–'स्तोकदिनेभ्यः प्राग् आसीत्'। भोगदेवेनोक्तम्–'अधुना कुत्र गतः ?'। तयोक्तम्–''साम्प्रतं तु तस्य मृतस्य नव मासाः संजाताः, नवमो मासो गच्छति मृतस्य। [6]भवादृशानां महेभ्यानां तेन सह किं प्रयोजनम् ?''। भोगदेवेनोक्तम्-'केवलिकथितवृत्तान्तः'।

---

१ 'यथा संसारे अनादिम्प्रियं इन्द्रियसुखमिष्टं लगति' इति प्रत्य० अधिकः पाठः। २ कृतं प्र०। ३ कार्यार्थं प्र०। ४ ततो भोगदेवो दुर्गिलामग्रतः कृत्वा गतः' इत्यधिकः पाठः प्रत्यन्तरे। ५ 'श्रेष्ठिनी धर्मकथां चतुर्द्धा आक्षेपणीं विक्षेपणीं संवेदणीं निर्वेदनीं [कुर्वाणा] तत्र' इत्यधिकः पाठः प्र०। ६ 'धनसुंदर्या भणितं' इत्यधिकः पाठः प्र०।

अत्रान्तरे सञ्चयशीलसार्थवाहोऽप्यागतः। परस्परं शिष्टाचारपूर्वकं जोत्कारः कृतः, मिलितौ च। पश्चात् सुखक्षेमवार्ता पृष्टा। भोगदेवेन चिन्तितं मनसि–"केवलिवचनं नाऽन्यथा भवति, अतोऽत्र निवसत एव सन्देहो नङ्क्ष्यति; यतोऽमूढलक्ष्यं केवलिवचनं सत्यं गुणकृच्च भवति, अतोऽत्र निवसनं युक्तम्"। इति संप्रधार्य सञ्चयशीलं प्रत्युक्तम्–'श्रेष्ठिन्! अस्माकमेकं सुन्दरगृहं भाटकेन भवान् ददातु'। सञ्चयशीलेनापि स्वगृहपार्श्ववर्ति स्वकीयमेव महद्गृहं दर्शितम्। भाटकं कृत्वा तत्र स्थितो भोगदेवः।

अन्यदा सञ्चयशीलस्य पत्नी अन्तर्वत्नी धनसुन्दरी नवमासादिगर्भस्थितौ पूर्णतां प्राप्तायां प्रसूता, पुत्रो जातः। सर्वेषां गृहवर्तिमनुष्याणाम् अपुत्रकाणां पुत्रप्राप्तिहेतोरुत्साहः संजातः। श्रेष्ठी तु चतुष्पथे गतोऽस्ति। तत्रैकया चेट्या महालाभाशया धावन्त्या चतुष्पथे गत्वा हट्टस्थितस्य श्रेष्ठीनः सहर्षं वर्धापनिका दत्ता। अथ तेन कृपणगुरुणा तच्छ्रुत्वा 'भव्यं जातम्' इत्युक्त्वा विसर्जिता। केऽपि महेभ्यास्तच्छ्रुत्वा चमत्कृतचित्ता मुखेऽङ्गुलिं क्षिप्त्वा परस्परमुपकर्णं वक्तुं लग्नाः–"अहो! अस्य कृपणत्वं धृष्टत्वं निर्लज्जत्वं च!, त्रयोदशद्रव्यकोटिस्वामिनः ईदृशं कृपणत्वम्!। यतो वृद्धावस्थायां कुलसन्ततिरक्षको महत्याशया पुत्रो जातः, परं न काऽपि वर्धापनिका दत्ता!। कीदृशोऽयं निर्लज्जः ?, कीदृशमस्य वज्रकर्कशं हृदयम् ?"। तत्रैकेन मुखरेणोक्तम्–'श्रेष्ठिन्! पुत्रवर्धापनिकायां किं दत्तम्!'। श्रेष्ठिनोक्तम्–"किं दीयते ?' किं जातम् ?। मानुषी मनुष्यं प्रसूते तत्र किमाश्चर्यम् ?। कोऽपि लाभः संजातः ?, प्रत्युत सूतिकासमयप्रतिपालनाय अनेकक्रयाणकानां घृत–गुडादीनां च बहुव्ययो भविष्यति। ततः पुत्रपालने महान् व्ययो भविष्यति। पुत्रेण मम वित्तव्ययस्य द्वारमुद्घाटितम्!"। तच्छ्रुत्वा सर्वेऽपि चतुष्पथस्थिता हसितुं लग्नाः। दास्या तु विलक्षवदनया गताशया गृहमागत्य तद्व्यतिकरो धनसुन्दर्यग्रे निवेदितः। सन्ध्यायां गृहमागतः श्रेष्ठी तदा गृहमानुषैः सर्वैरपि सार्थवाहं प्रत्यु-

क्तम्–"स्वामिन् ! भवता किं कृतम् ?, भवतोऽपुत्रस्य पुत्रो जातः, वर्धापनिका न काऽपि दत्ता !, चतुष्पथे स्थित्वा किञ्चिल्लज्जाऽपि नागता ?" । इति श्रुत्वा पुनस्तत्रापि पूर्ववद् उत्तरं दत्त्वा बहिर्निर्गतः, कपर्दिकामात्रोऽपि व्ययो न कृतः । अन्यदा शुचिकर्मणि निवृत्ते धनसुन्दर्या कुलवृद्धया च परस्परं मन्त्रणं कृतम्–'श्रेष्ठी तु ईदृशेऽप्यवसरे किञ्चिदपि व्ययं न करोति, शिलाकर्कशं हृदयं कृत्वा स्थितो निर्लज्जः । अस्माभिस्तु गोत्रजुहारणादि ज्ञातिगोत्रीयाणां च भोजनकारापणं विना कथं मुखं दर्शयितुं शक्यते ? । गतोऽवसरः पुनर्नायाति" । इति विचिन्त्य धनसुन्दर्या भणितं सार्थवाहस्य–"प्रियतम ! अपुत्रकाणामस्माकं महाभाग्योदयेन पुत्र आगतः, परं भवांस्तु दान–भोगभीरुकः प्राप्तेऽप्यवसरे किञ्चिदपि न करोति । ईदृशं कृपणत्वं कृत्वा भारभूतया लक्ष्म्या किं कर्तु-मिच्छति भवान् ? । पूर्णे आयुषि सर्वमत्रैव स्थास्यति, सार्थे तु केवलं द्रव्योपार्जितं पापं यास्यति । अवसरे द्रव्यव्ययकरणं विना ज्ञाति–स्वजनवर्गेषु कथं स्थातुं शक्यते ? । चेद् भवान् न करिष्यति तदाऽहं भूषणादिकं विक्रीय प्राप्तावसरे व्ययं करिष्यामि" । एवं धनसुन्दर्या सह गृहस्थितैर्मनुजैरपि उपालम्भो दत्तः । अथ सार्थवाहः सर्वेषामुपालम्भान् श्रुत्वा व्याकुलो जातः । महार्तौ पतितश्चि-न्तयति–"अहो ! यथा गृहिणी तथैव गृहपरिवारोऽपि जातः ! । किमेते जानन्ति ?, द्रव्यं किं नभसः पतति ?, किं वा तृणवद् उद्ग-च्छति ?, किं वा भूमेर्निर्गच्छति ? । द्रव्यं तु महाक्लेशेन प्राप्यते, एते तु द्रव्योपार्जनक्लेशं किञ्चिदपि न विदन्ति । हा ! एते ग्रह-गृहीता एतावन्तं द्रव्यव्ययं निरर्थकं करिष्यन्ति । एकमतीभूताः सर्वेऽपि एवं करणाय प्रवृत्ताः । अत्राहं किं करोमि ?, को मम सहायी भवति ? । यस्याग्रे कथ्यते स तु एषामेव पक्षं करोति । सर्वेऽपि भोजनरसिकाः, परद्रव्यव्ययकरणे को रसिको न भवति ? । एतावद्द्रव्यं पुनः कदा मिलिष्यति ? हा ! किं जातम् ?" । एवं महताऽऽर्तध्यानेन पराभूतो दिवसं यथा तथा निर्वाह्य

सन्ध्यायां कृतभोजनो रात्रौ प्रसुप्तः, परं चिन्तया निद्रा नागता; तेन भोजनस्याऽजीर्णं जातं, ततो विसूचिका जाता, तया महत्या वेदनया मृतः। मृत्वा च तस्मिन्नेव नगरे नागिलनाम्न आजन्मदरिद्रस्य नागिलानाम्न्या भार्यायाः कुक्षौ पुत्रत्वेनोत्पन्नः। परम् आजन्मतः पित्रोरनिष्टतां दृष्ट्वा खेदमुपयाति, न हर्षम्। एवं तत्र स्थितो महता क्लेशेन कालं निर्गमयति।

अथ धनसुन्दरी भर्तुर्मरणं दृष्ट्वा परमोद्विग्नत्वं प्राप्ता चिन्तयति–"धिगस्तु धनलोभम्, व्ययवार्ताश्रवणमात्रेण मरणं संजातम्। तस्य गतिः पुनः कीदृशी तत्तु ज्ञानी जानाति। 'लोभः सर्वविनाशक' इति जिनागमोक्तं सत्यमेव"। ततस्तस्य अग्निसंस्कारादिमरणकार्यं कृत्वा, पश्चात् कुलधर्मरीत्या च और्ध्वदेहिकं कृत्वा, शुभे दिवसे स्वजनान् सन्तोष्य स्वजनकुटुम्बसाक्षिकं पुत्रस्य 'धनदत्त' इति नाम दत्तम्। कुलाधारभूतः स कुमारो बहुभिर्यत्नैः पाल्यमानः सप्ताष्टवार्षिको जातः। अथ तस्य बालकस्य गृहाद् गृहं परिभ्रमतः परिजना–ऽनेकवस्त्रा–ऽऽभूषण–मन्दिरश्रेणि–शयनस्थानादीनि पश्यत एवं संजातम्–'एतत्तु मया कदापि दृष्टमनुभूतं च'। एवमूहापोहं कुर्वतस्तदा ज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमेन जातिस्मरणं समुत्पन्नम्, तेन पूर्वभवानुभूतं सर्वं प्रत्यक्षतया ज्ञातम्। ततः पूर्वपुण्यविलसितं संस्मृत्य स्वमत्या एकं दोधकं कृत्वा उत्साहेनैवं भणति। यथा—

"दाण जो दिन्नं मुनिवरह चडिओ तं पत्तइ तो मि। रंकस्स वि सह संपडिय जं धण तेरहकोडि" ॥१॥

एवं यत्र तत्र प्रतिदिनम् ऊर्ध्वीकृतभुजः प्रलपति। एवं भ्राम्यन् पार्श्ववर्तिभोगदेवसार्थेशगृहे गतः। तत्रापि उदात्तस्वरेण स दोधकं वदन् नृत्यति। एवं श्रुत्वा दृष्ट्वा च भणितं भोगदेवेन–"भो धनदत्त भ्रातः! त्वं किं जल्पसि?, कोऽस्य जल्पितस्य भावार्थः? यद् भवति तद् यथार्थं वद'। धनदत्तेन भणितम्–"तात! जीवस्य भावार्थं कथयामि तच्छ्रुयताम्—

“अत्रैव पुरे दुर्गतपताकनामा मम तातगृहे मम जीवः कर्मकर आसीत्। स समस्तगृहकार्याणि अहर्निशं करोति। तस्य[1] प्रियाऽपि अस्यैव गृहे खण्डन–पेषणादिकमकरोत्। एवं महाप्रयासेन आजीविकापूर्तिं कुरुतः[2]। अथ स दुर्गतपताकोऽन्यमहेभ्यानां गृहेषु कस्मैचित् कार्याय गच्छति तदा तत्र भिक्षार्थमागतान् साधून् पश्यति। ते महेभ्याः प्रतिदिनं महत्या भक्त्या अशनादिचतुष्कदानाय साधून् निमन्त्रयन्ति। अत्याग्रहं पुनः पुनः कुर्वन्ति, अनेकवस्त्र–पात्रौ–षधादिग्रहणाय विविधभक्तिवचनैर्विज्ञप्तिं च कुर्वन्ति, परं साधवो निर्दोषं योग्यं च जानन्ति तद् गृह्णन्ति नाऽन्यत्। किञ्चिद् योग्यमपि निर्लोभतया न गृह्णन्ति। गोचर्यां भ्रमणं कुर्वतां प्रतिगृहं भिक्षार्थं विज्ञप्तिं कुर्वन्ति, मार्गम् अन्तरयित्वा चाहाराद्यर्थं निमन्त्रयन्ति, परं निःस्पृहाः साधवः केषाञ्चिद् गृहेषु प्रविशन्ति, केषाञ्चिद् गृहेषु न यान्ति। येषां गृहेषु आहारं गृह्णन्ति ते तु मनसि हर्षं दधाना निधिलाभादधिकं प्रमोदं प्राप्नुवन्ति, येषां गृहेषु न गृह्णन्ति ते तु अतिखेदं कुर्वाणा आत्मानं जुगुप्सन्ति–‘हा ! वयं निर्भाग्यशेखरा यद् अस्माकं गृहेषु मुनयो नागताः, आगतैरपि वा अस्माभिर्दीयमानं न गृहीतम्’ एवं पुनः पुनः पश्चात्तापं कुर्वन्ति। तत्सर्वं दुर्गतपताकः पश्यति विचारयति च–“अहो ! एते महापुरुषाः परमनिःस्पृहाः, यत ईदृशैर्महेभ्यैः सबहुमानं दीयमानमपि अतिमहामूल्यं मोदकादि न गृह्णन्ति, कस्यचित्तु रूक्षं नीरसं च गृह्णन्ति। धन्योऽमीषामवतारः, धन्याश्चैते दानरसिका ये भक्त्येण ईदृशान् पात्रमुनीन् पोषयन्ति, मया तु पूर्वजन्मनि न किमपि दत्तं तेन उदरभरणमपि दुष्करम्। महान् पापात्माऽहम्। ईदृशोऽवसरो मम कुतो मिलिष्यति यदहं दानं ददामि ?। साधुदानयोग्य आहारो मम कुतः ?, मम गृहे साधुश्च कुतः ?। मम नदी–नौकयोः संयोगः कुतः ?। चेद्[3] आहा-

---

१ मम प्र०। २ करोमि प्र०। ३ चेत् संयोगे साधुः गृह्णाति नवा तदा मम प्र०।

रादिसामग्रीसंयोगस्तदाऽपि साधुर्न गृह्णीयात् तदा मम मनोरथोऽन्तर्गडुः। केनापि भाग्योदयेन दानयोगः सफलो भवेच्चेत् तदाऽहं राज्यप्राप्तिमिव मन्ये। परम् ईदृशं भाग्यं मम कुतः ?। अयोग्योऽयं मनोरथः पुण्यहीनत्वात्"। एवमन्तराऽन्तरा यदा महेभ्यानां गृहेषु साधून् पश्यति तदा ईदृशान् मनोरथान् करोति, आत्मानं च निन्दति। एवं परिभावयतः कियति काले गते बहूनां गृहेषु विवाहादिविविधोत्सवाः समागताः। एकस्मिन् दिने दुर्गतपताक एकस्य परिचितगृहस्य पुरतो निर्गतः। तदा तेन गृहस्वामिना दृष्ट्वाऽऽहूय चोक्तम्—"भो दुर्गतपताक! त्वां भोजनाय निमन्त्रयामि, परं त्वत्स्वामी मद्गृहे तव भोजनं न मन्यते। 'यदि अद्य सेवकस्य भोजनार्थमाज्ञां ददामि तदा मद्गृहेऽप्यवसरे आगतेऽस्य सेवकस्य भोजनार्थं निमन्त्रणकरणमापतति' एतदाशयेन तव श्रेष्ठी मद्गृहे भोजनाय न प्रेषयति। त्वया सार्धं तु मम प्रीतिर्वर्तते, अत इमां भव्यसुखाशिकां गृहाण, चित्तप्रसत्त्या चाऽऽस्वादय"। इत्युक्त्वा स्नेहेन भव्यसुखाशिका भोजनमाना दत्ता। तां लात्वा स निर्गतः। मार्गे ताम् अत्यद्भुतां सुखाशिकां दृष्ट्वा चिन्तयितुं लग्नः—"अहो! अद्य मम मनोरथपूरणावसरोऽस्ति, यतोऽयमाहारो निर्दूषणः प्रशस्तः शुद्धश्चाऽस्ति। परम् ईदृशं मम भाग्यं कुतो यद् अस्मिन्नवसरे साधुसंयोगो मिलेत्, भक्त्याऽहं साधुभ्यो दद्याम्, साधवश्च कृपां कृत्वा मया दत्तं गृह्णीयुः, ईदृशं मार्गितमेघवर्षणं कुतो भवेत् ?"। एवं चिन्तयन् मार्गे चलन् इतस्ततः पश्यन् देयदानाय व्याकुलो गच्छति तावता प्रबलपुण्ययोगेन उग्रतपस्वी पारणके गोचर्यर्थं नगरे भ्रमन् दृष्टः। चन्द्रं दृष्ट्वा चकोर इव, उन्नतमेघं च दृष्ट्वा मयूर इवाऽतिहर्षभरभारितहृदय उल्लसितरोमाञ्चकञ्चुकः शीघ्रं शीघ्रं साधुसमीपं गत्वा हस्तौ संयोज्य विज्ञप्तिं कर्तुं लग्नः—"स्वामिन्! कृपानिधे! मम वराकस्योपरि कृपां

१ सुखासिकां प्र०।

कृत्वाऽमुं शुद्धमाहारं गृह्णातु। शङ्कादिदोषरहितो भवतां ग्रहणयोग्योऽस्ति, अतः पात्रं प्रसार्य मां निस्तारयतु"। ततः साधुनाऽपि निर्दूषितमाहारं ज्ञात्वाऽत्युग्रभावं च दृष्ट्वा पात्रं प्रसारितम्। सोऽपि प्राप्तनिधान इवाऽतिहर्षभरभारितहृदयः सुखभक्षिकादिकं सर्वमेकहेलयैव दत्त्वा स्तुतिं कर्तुं लग्नः–"कृपानिधे! यूयं धन्याः, युष्मदीयाऽवतारो धन्यः, धन्यं युष्मच्चरित्रम्। अद्य मम वराकस्योपरि महती कृपा कृता। तारितोऽहं संसारकूपाराद्, यतो मुनिदर्शनेन भवकोटिकृतं पापं नश्यति। पुनरपि कृपा कर्तव्या" इति स्तुत्वा नत्वा च परिपूर्णमनोरथो जातः। साधुरपि धर्मलाभाशिषं दत्त्वा पश्चाद्वलितः। दुर्गतपताकोऽपि पुनः पुनर्मुनिदानम् अनुमोदयन् गृहमागतः। तत्र च गृहकर्माणि कुर्वन्, पुलकितहृदयो मुनिदानं स्मरन्, आश्चर्यचकित इव रणरणयन्, चिन्तितकार्यस्य सिद्ध्येव हर्षयन् चिन्तयति–"अहो! मम भाग्ययोगेनाऽचिन्तितम् असम्भावनीयं कीदृग् जातम्? । एते निःस्पृहशिरोवतंसा मुनयो बहुभिर्महेभ्यैर्भिक्षार्थं निमन्त्रिताः कस्यापि गृहे गच्छन्ति परं न गृह्णन्ति, कस्यापि भाग्यवतो गृह्णन्ति, कस्यचित् सम्मुखमपि न पश्यन्ति। एतादृशैर्महद्भिरपि मम वराकस्य निमन्त्रणमात्रेणाऽवधारितं मद्वचनम्, प्रसत्त्या गृहीतं च मद्दत्तम्। अहो! मम भाग्यमुदितम्, अतः परं नष्टं मम दुर्गतत्वम्"। इत्यादि पुनः पुनरनुमोदयता पुण्यं पुष्टतां नीतम्। ततः श्रेष्ठिगृहे धनसुन्दरीपक्षीयसम्बन्धिगृहे विवाहोत्सवे सति भोजनार्थं निमन्त्रणमागतम्, स्वगोत्रीयस्यापि[1] गृहे विवाहोत्सवे सति भोजनार्थं निमन्त्रणमागतम्। ततः श्रेष्ठिप्रमुखास्तु स्वकीयपक्षे गन्तुमुद्यताः। तदा धनसुन्दर्योक्तम्–"अहं तु पितृपक्षीयसम्बन्धिगृहे यास्यामि, परं तस्य गृहं दूरतरमस्ति, अतो दुर्गतपताकं सह नीत्वा गमिष्यामि"। तच्छ्रुत्वा[2] श्रेष्ठिनाऽनुज्ञा दत्ता। ततः सा दुर्गतपताकेन सह तस्य गृहे गता। ततस्तेन सम्बन्धिना

१ स्वश्वसुरपक्षीयस्यापि निमंत्रणान्यागतानि प्र०। २ एवं गृहपतेरनुज्ञाप्य सा प्र०।

"बहुभिर्दिनैरागता' इत्युक्त्वाऽत्यादरभक्त्या भोजनार्थमुपवेशिता। उक्तं च तेन सम्बन्धिना-"भगिनि! अस्य त्वया सहाऽऽयातस्य मनुष्यस्याज्ञां कुरु; यतोऽयं तवाज्ञया जेमति, नान्यथा। मम गृहे तु किमपि न्यूनं न, सहस्रशो जेमन्ति, दिवसोऽपि बहुतरश्चटितः, दूरादयं त्वया सार्धमागतः, तस्य भोजनं विना गन्तुं न ददामि"। ततो धनसुन्दर्याऽपि ध्यातम्-'मया सार्धमागतस्य प्रयोजनं किं यदि क्षुधितो गृहं याति?'। इति विचार्याऽऽज्ञा दत्ता-'सुखेन यथेच्छं भुङ्क्ष्व'। ततो दुर्गतपताको भोजनार्थमुपविष्टः। गृहपतिनापि तस्या आज्ञाकारकं दृष्ट्वा प्रीत्याऽतिसरससुखभक्षिकादिभोजनं भोजितम्। दासेनाऽपि बहुदिनेप्सितं यथारुचि भव्यं भोजनं प्राप्य चित्तप्रसत्त्याऽऽकण्ठभोजनं कृतम्। भोजनाऽनन्तरं ताम्बूलादिकमास्वाद्य पुनः श्रेष्ठिन्या सह गृहमागतः। तां गृहे मुक्त्वा स्वोटजे गतः, तत्र च दानधर्ममनुमोदयति। अथ भोजनम् अतिमात्रया भुक्तं तेन रात्रौ अजीर्णं जातम्। रात्रिप्रथमयामे गते विसूचिका जाता, तेन महत्या वेदनया पराभूतश्चिन्तयितुं लग्नो यद्-'इयं प्राणहरा वेदना उत्थिता प्राणं हरिष्यति'। इति निश्चित्य ध्यातं तेन-"अस्मिन् भवे मया केवलं परकीयसेवा कृता, तदुक्तकर्माणि कृत्वा पापमर्जितम्, सुकृतं न किमपि कृतं यत् सार्थे आयाति। एकवारमेव तावद् मुनये दानं दत्तं, नान्यत् किमपि पुण्यमुपार्जितम्। धन्यास्ते इभ्या ये नित्यं मुनिदानाय यतन्ते। मया तु आजन्म एकवारमेव दत्तं, तच्च सफलं भवतु, तस्य मुनेः शरणं च भवतु"। एवं ध्यायन् मृतः। मृत्वा च तस्याः श्रेष्ठिन्याः कुक्षौ पुत्रत्वेनोत्पन्नः। प्राप्तकुमारवयसो मम पूर्वाऽनुभूतगृह-वस्तु-मनुष्यान् दृष्ट्वा जातिस्मरणं जातम्। यतो महर्षिदानफलेनाहम् अस्य गृहस्य स्वामी जातोऽतोऽहमेवं प्रजल्पामि-'दाण जो दिन्नं मुनिवरह' इत्यादि।

१ -त्रोऽहं प्र०।

एवं धनदत्तोक्तं श्रुत्वा चित्ते चमत्कृतो भोगदेवश्चिन्तयति–"अहो श्रीकेवलिगुरोर्ज्ञानम्[1]!, अहो संसारस्याऽकलनीयस्वरूपम्!, अहो सञ्चयशीलस्य मूढता कृपणता च!"। एवं संसारभावनया केवलिवचने प्रत्ययो जातः, दाने चाऽत्यादरो जातः। ततो भोगदेवो भोगवतीं प्रत्याह–"सुभगे! जातः केवलिवचनप्रत्ययः, यद्यपि जगत्स्थितिपरावर्तो भवेत् तथापि केवल्युक्तं नान्यथा भवति"।

अथाऽन्यदिने कश्चिद् गणधरनामाऽतिशयज्ञानधारी साधुः सञ्चयशीलगृहे भिक्षार्थं प्रविष्टः। तेन[2] स धनदत्तकुमारो नृत्यन् गाथां च समुच्चरन् दृष्टः। ततोऽतिशयज्ञानिमुनिना ज्ञानेन तद्व्यतिकरं ज्ञात्वा भणितम्–"भोः कुमार! एकान्तेन हर्षौत्सुक्यं न कर्तव्यम्। यतः—

"विपदि धैर्यमथाऽभ्युदये[3] क्षमा, सदसि[4] वाक्पटुता[5] युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ, प्रकृतिसिद्धम्[6]इदं हि महात्मनाम्" ॥१॥

इन्द्रोऽपि स्वकीयं पुण्यं वर्णयन् लघुत्वमाप्नोति।

"आप बडाई जे करे ते नर लघुआ हुंत। फीका लागें चटकमें ज्युं स्त्री कुच आप ग्रहंत" ॥१॥

शास्त्रे हि स्वगुण–परदोषयोर्वर्णनं सर्वथैव त्याज्यमित्युक्तम्। यतस्तव पिता सञ्चयशीलोऽदत्तदानोऽभुक्तधनौघोऽनेकानि पापस्थानानि समाचर्य धनसञ्चयम् अकरोत्। ततः परं धनसंरक्षणानुबन्धिध्यानैकतान आर्तध्यानेनायुरपवर्त्य मृत्वा चाऽस्मिन्नेव पुरे

---

१ अहो साधुदानस्य अपरिमितं फलं! इत्यधिकः पाठः। २ तेना प्र०। ३ उदयकाले। ४ सभायाम्। ५ वाक्यचातुर्यम्। ६ स्वभावसिद्धम्।

नागिलनाम्न आजन्मदरिद्रिणो गृहे पुत्रत्वेनोत्पन्नोऽस्ति। अकृतपुण्यत्वेन तत्रापि जननी–जनकयोरनिष्टोऽसंप्राप्तोदरपूर्णाऽन्नभोजनोऽतिदुःखेन कालं गमयति। यदुक्तं नीतौ धर्मशास्त्रे च—

"सपुंण्ण दिन्नु न धणिय धणु, गत्तुहि गोविय मुक्कं। न वि परलोओ न इह भवु, दुहिं वि प्पयारइ चक्खु"॥१॥

तथा—

"कंम्मयरो घरस्सामी, घरस्सामी तस्स चेव कम्मयरो। को सद्दहे खु एयं, अन्नो! विहिविलसियं विसमं!" ॥१॥

एवं साधुना धनदत्ताय हिता शिक्षा दत्ता। तां श्रुत्वा धनसुन्दरी पत्युः पापगर्तायां पतितत्वेन अतिगाढस्वरेण रोदनं कर्तुं लग्ना। साधुना पुनरुपदेशद्वारेण शिक्षा दत्ता–'महानुभावे! किमर्थमात्मानं खेदयसि?। संसारस्वभावो हि ईदृश एव, भवान्तरगंतं वस्तु स्वकीयत्वेन चिन्तितं न किमपि कार्ये आयाति। अनेकसहस्रदेवैः सेवितानां चक्रवर्तिनां भवान्तरगतानां कोऽपि चित्ते स्मृतिमात्रमपि न करोति। एप जीवः कदापि मनसा कारणमात्रेण कार्यं साधयति, बहूनां देवानामाधिपत्यं करोति; पुनः स एव जीवो जडरूपेपु एकेन्द्रियेपु वा तिर्यग्योनिपु श्व–गर्दभादिपु योनिपु समुत्पन्नो महादुःखं प्राप्नोति, तत्र कोऽपि देवस्तस्य सहायं न करोत्येव। एवं तिर्यग्योनिकोऽपि देवत्वं प्राप्नोति। चातुर्गतिका अपि जीवाः परस्परभवसन्तत्याऽनेकसम्बन्धैरुत्पद्यन्ते, नाऽत्र

---

१ पूर्त्तिकृदन्न–प्र०। २ स्वपुण्याय दत्तं न गाढं धनं, गर्तेपु गोपयित्वा मुक्तम्। नापि परलोकः नेहभवो, द्वाभ्यामपि प्रतारयति चक्षुः ॥१॥

३ कर्मकरो गृहस्वामी, गृहस्वामी तस्य चैव कर्मकरः। कः श्रद्दधीत खलु एतद्, अहो! विधिविलसितं विपमम्? ॥१॥

४ –गतेस्वकीयचिंतितं वस्तु प्र०। ५ 'तेनाधिकरणेन कृतं पापं त्वायाति' इत्यधिकः पाठः प्र०।

विस्मयः कार्यः। सर्वे जीवाः सर्वसम्बन्धैरात्मीया जाताः, स्वयमपि तैः सह सर्वसम्बन्धैस्तदीयो जातः, परन्तु एवं संसारस्वरूपं ज्ञात्वा संसारोत्तारणसमर्थे धर्मे मतिः कार्या। भवान्तरे गच्छतां जीवानां पुण्यं पापं च सह याति, नाऽन्यत्। अतो निपुणतया पुण्यकर्मणि प्रयत्नः कर्तव्यः। यद्धनं स्वहस्तेन धर्माय दानाय च व्ययितं तद्धनं भवान्तरे सहायाति, जघन्यतोऽपि दशगुणं फलं ददाति। अतिशुद्धतरशुद्धतमभावेन व्ययितं तत् शतगुणं सहस्रगुणं वा लक्षगुणं वा कोटिगुणं वा ततोऽप्यधिकं वा फलं ददाति। पापमतिरपि अनयैव रीत्या फलति। अतो दधि-घृतादीनां कारणं पय इव सर्वसुखानाम् अवन्ध्यं कारणं धर्म आश्रयणीयः"। एवं धर्मोपदेशरूपां शिक्षां दत्त्वा साधुरन्यत्र गतः।

ततो धनसुन्दर्या नागिलशौरमाहूय तस्मै भणितम्-"भो नागिल! नित्यं मम गृहे मद्गृहसम्बन्धि यत् कार्यं तत् त्वया कर्तव्यम्, तवाऽऽजीविकां दास्यामि। परम् एष बालकस्तव पुत्रोऽत्र नानेतव्यः। यदा वयःप्राप्तो भविष्यति तदा मम गृहकर्माणि तवैष दारकः करिष्यति, तावत्पर्यन्तम् अस्मद्गृहे कार्यं त्वमेव कुरु, आजीविकां च गृहाण"। तेनापि सोत्साहं मानितम्।

एवं कियत्यपि गते काले एकदा रात्रौ सुखप्रसुप्तेन भोगदेवेन महिलायुगलस्य परस्परमालापः श्रुतः। तत्रैकया भणितम्-'त्वं का?'। ततो द्वितीयया भणितम्-'अहं भोगदेवसार्थवाहस्य गृहलक्ष्मीरस्मि'। प्रथमया भणितम्-'तव कुशलं सुखं चाऽस्ति?' द्वितीयया भणितम्-"भगिनि! नवनवभोगविलासकार्यासक्तेन भोगदेवेन व्याप्रियमाणाया स्वामिकार्याज्ञाधारिकायाः कर्मकर्या मम कुशलं सुखं च कुतो भवेत्?। प्रतिक्षणं तस्य दासीवद् ईप्सितपूरणं कुर्वत्या अहोरात्रो याति, न घटिका-

१ फलति प्र०।

मात्रोऽपि विरामोऽस्ति। परं त्वं काऽसि?"। प्रथमया भणितम्–'अहं सञ्चयशीलसार्थवाहस्य गृहलक्ष्मीरस्मि'। भोगदेवलक्ष्म्योक्तम्–'तव सुखसंवासोऽस्ति?'। तया भणितम्–"भगिनि! नरकान्धकारकूपवद् महान्धकारगर्तायां गोपिताया अदृष्टचन्द्र–सूर्यकरनिकराया बन्दिन्या इव तमोवहुलकारागारप्रक्षिप्ताया मम कुतः सुखसंवासः?। निरन्तरं निरोधदुःखदुःखिता दुःखेन वसामि। किञ्च, त्वमपि दुःखिनी, तथापि मत्तस्त्वं सुखिनी। यतस्तव स्वामिना उत्साहेन दान–भोग–विलासादिषु कृतं लक्ष्मीव्ययं दृष्ट्वा लोकाः संप्रवदन्ते–'धन्योऽयं श्रेष्ठी; धन्येयं लक्ष्मीः, याऽनेकजीवान् दुःखात् समुद्धरति; नेत्रोत्सवं च पूरयति। अनया लक्ष्म्या वरतरं स्थानं गृहीतम्'। एवं सर्वजनैस्तव श्लाघा क्रियते। मम तु स्वामिनस्त्याग–भोगवर्जितां प्रवृत्तिं दृष्ट्वा लोका वदन्ति–'धिगस्तु इमं श्रेष्ठिनम्, धिगस्तु इमां लक्ष्मीं, मलिनेयं लक्ष्मीर्या कस्यापि कार्ये नायाति। दुष्टेयं लक्ष्मीर्निष्फला, अस्याः प्राप्तितोऽप्राप्तिर्वरतरा, अतोऽस्या नामग्रहणेऽपि दुष्टं किमप्यनुभूयते'। इत्यादि क्षतस्योपरि क्षारतुल्यं श्रोतुं न शक्नोमि। तव तद्दुःखं नास्ति, कर्णसुखं चास्ति"। एवं परस्परं तयोर्वार्तां श्रुत्वा भोगदेवेन चिन्तितम्–"अहो! द्वे अपि दुःखिते!। अस्याश्चपलेति सान्वर्थं नाम, यतोऽस्याः स्थिरीकरणे जगति न कोऽप्युपायोऽस्ति। एषा लक्ष्मीर्न शौचसाध्या, शौचं कुर्वतामपि नश्यति। न च भक्तिसाध्या, भक्तिं कुर्वतामपि याति। न च यत्नेन संचितापि स्थिरत्वमुपैति। अर्थात् पुण्याधीना लक्ष्मीरिति हार्दम्। तस्माद् यावत् पुण्यं क्षीणं न भवति ततोऽर्वाग् अस्यास्त्याग एव शोभनः"। इति विचिन्त्य प्रगे सकलसामग्रीं कृत्वा भोगवत्या समं रथारूढः दास-सेवकादिभिः परिवृतः स्वनगरं प्रति प्रस्थितः। कतिपयदिनैः स्वगृहं प्राप्तः। ततो द्वितीयदिवसे भोगवतीं प्रति प्राह–"भोः सुभगे! मनुजभवं लब्ध्वा पूर्वपुण्योदयवशेनाऽपरिमितं धनं प्राप्तम्। तदप्यन्तरे यथेप्सितं जग्धं, पीतं, भुक्तं स्वेच्छया दत्तं, विलासेन व्ययितम्। न काऽपीच्छाया

अपूरणमस्ति। संसारवैभवे किमपि न्यूनं नास्ति तस्माद् यावत् पुण्यं न क्षीयते ततोऽर्वाग्[1] एनं त्यक्त्वा चारित्रं ग्रहीष्यावो यथा संसाराऽवटे न भ्रमावः। पुण्ये क्षीणे तु शतयत्नै रक्षिता लक्ष्मीर्गच्छत्येव। ततो यावन्न गच्छति तावत् प्रथमत एव त्यज्यते तद् वरतरम्"। इति पतिवचः श्रुत्वा भोगवती प्राह–"स्वामिन्! भवता यदुक्तं तत् तथैवास्ति, [2]अधुना संयमग्रहणसमयोऽप्यस्ति, लोकेऽपि प्रशंसास्पदं प्राप्यते, वयस उचितकरणे हि उभयलोकसिद्धिर्भवति। अतो भवता यच्चिन्तितं तत् सफलं [3]भवतु। अहमपि [4]भवतोऽनुगा चारित्रं ग्रहीष्यामि। पतिं विना गृहवसनं प्रेतवनप्रायं कुलवत्याः, अतस्त्वरयेप्सितं करोतु"। इति प्रियावचः श्रुत्वा द्विगुणसंजातसंवेगेन सकलेऽपि नगरे जिनमन्दिरेषु द्रव्यादीन् दत्त्वाऽष्टाह्निकमहोत्सवः [5]प्रारब्धः। भम्भा–भेर्यादिवादित्र–गीतादीनां ध्वनिभिः पूरितम् दिग्वलयम्। सकलेऽपि नगरेऽमारिपटहो वादितः। सप्तक्षेत्र्याम् अपरिमितं धनं व्ययीकृतम्। बहुभ्यो दीन–हीन–दुःखितजनेभ्यः पुष्कलधनदानेन तेषां दारिद्र्यं नाशितम्। स्वजन–कुटुम्बादयो यथेप्सितमर्पणेन सन्तोषिताः। ततः स्वजन–मित्र–ज्ञातिवर्गादीन् आमन्त्र्य, भव्यभोजन–ताम्बूल–वस्त्रा–भरणादिभिः सन्तोष्य, तेषां समक्षं कुटुम्बभारं ज्येष्ठपुत्रे संस्थाप्य सर्वेषां पुरत उक्तवान्–"मम स्थाने इमं मम पुत्रं भवतां समक्षं स्थापयामि, परं [6]भवद्भिर्मत्सदृशो गणनीयः, यतोऽस्य महत्त्वं तु भवतां हस्तेऽस्ति। कदापि स्खलेत् तदैकान्ते शिक्षां दत्त्वा सम्यक्तया रक्षणीयः"। इति स्वजनादीनामुक्त्वा पुत्रं प्रति प्राह–"वत्स! एते सर्वेऽपि आत्मीया हितचिन्तका आत्मीयपक्षपोषकाः सन्ति, अत एषामनुकूलत्वेन सदा प्रवर्तितव्यम्, न पुनः प्रातिकूल्येन। सदा दान–पुण्य–परोपकारपरायणेन भवितव्यम्। व्रत–नियमादिभिरात्मा शिक्षणीयः। यदा पुनरस्मदीयावस्था भवेत् तदा त्वयाऽपि

---

१ एनां प्र०। २ 'अतो' अधिकः पाठः। ३ करोतु प्र०। ४ तवा–प्र०। ५ मंडापितः। गीतगानवादित्रभंभाभेर्यादीनां–प्र०। ६ युष्माभिः प्र०।

अनया रीत्या भागवती दीक्षा ग्राह्या"। एवं सर्वान् समनुज्ञाप्य प्रवर्धमानपरिणामः शुभध्यानोल्लसन्मानसः शुभाध्यवसायवशाद् मनोरथमालां करोति–"अहं प्रगे जन्म–जरा–मरणादिदुःखरहिताया मुक्तेरवन्ध्यकारणं सकलकल्याणैकभाजनं संयमं ग्रहीष्यामि, गृहीत्वा च विविधतपः–संयम–विनयादिना चारित्रमाराध्य संसारं निस्तरीष्यामि"। इति भावनां कुर्वन् शयनगृहे सुप्तोऽस्ति। अर्धरात्रौ गतायां महिलारूपधारिणी लक्ष्मीर्भोगदेवं प्रत्याह–"त्वयाऽहं यदृच्छया दत्ता, भुक्ता, विलसिता, अमुञ्चन्ती च मुक्ता। मत्तो विरक्तमनाः संयमैकरसिको जातः, अतोऽहं त्वया छलिता। मयाऽनेके जनाश्छलिताः, परं त्वयाऽहं विप्रतारिता। भण, अधुना किं करोमि ?"। भोगदेवेनोक्तम्–'अधुना मम न किमपि कर्तव्यमस्ति, गच्छ यथेच्छम्[1]'। ततो गता सा। पूर्णे महोत्सवे आडम्बरपूर्वकं शिबिकारूढो भोगवत्या समं प्रशान्ताचार्यसमीपं गत्वा, गुरुदर्शने शिबिकां मुक्त्वा, हस्तौ योजयित्वा, गुरोरग्रे आगत्य, विधिपूर्वकं वन्दनां कृत्वा विज्ञप्तिं कर्तुं लग्नः–"हे कृपानिधे ! अहं राग–द्वेष–प्रमादादिना परितो जन्म–जरा–मरण–शोकादिवह्निषु दह्यमानान् लोकान् दृष्ट्वा संसारभयोद्विग्नमना रत्नकरण्डककल्पम् आत्मानं लात्वा नष्टो भवतां शरणमागतः, अतश्चातुर्गतिकदुःखविनाशनसमर्थं चारित्रं ददातु"। गुरुणोक्तम्–'भो देवानुप्रिय ! यथात्मनो हितं भवेत् तत् कुरु, मा कस्यापि प्रतिबन्धं विधेहि'। तत उत्तरपूर्वस्यां दिशि अशोकतरुतले गत्वा, आभरणालङ्कारादीन् विमुच्य, स्वयमेव[2] पञ्चमुष्टिलुञ्चनच्छलेन पञ्च प्रमादान् शब्दादीन् पञ्च विषयान् वा उन्मूल्य पुनरपि गुरोरग्रे गत्वा स्थितः। तदा गुरुणा मुनिवेषो दत्तः। तं वेषं मस्तके धृत्वा, सहर्षं परिधाय, गुरुचरणवन्दनं कृत्वाऽग्रे स्थितः। ततो गुरुणा यथाविधि पञ्चापि महाव्रतानि ग्राहितानि, रोहिणीकथासंभाषणपूर्विकां च शिक्षां दत्त्वा प्रमुदितः

१ यथेच्छया प्र०। २ 'स्वयमेव' इत्यधिकः पाठः।

कृतः। एवं भोगवत्यपि संयमं ग्राहयित्वा महत्तराऽऽर्यायै समर्पिता। 'इमां संयमप्रवीणां कुरु' इति कृत्वा महत्तराया निष्ठा कृता। अथ भोगदेवमुनिर्विविधश्रुत–संयम–तपो–ध्यानादिभिर्निरतिचारं चारित्रं समाराध्याऽन्तेऽनशनं कृत्वा सर्वार्थसिद्धविमाने त्रयस्त्रिं-शत्सागरोपमायुष्कः समुत्पन्नः। ततश्च्युत्वा विदेहे समुत्पन्नः। यथावसरे संयममाराध्य, घातिकर्मक्षयं कृत्वा, केवलज्ञानं प्राप्या-ऽनेकान् भव्यान् प्रतिबोध्य, अन्तेऽनशनं कृत्वा, योगनिरोधेन पञ्चह्रस्वाक्षरमात्रेण सकलकर्मक्षयं कृत्वा शिवं गमिष्यति। भोग-वत्यपि तथैव शिवं गमिष्यति।

अथ श्रीदेवो लक्ष्म्या परिहृतो, दरिद्रावस्थां प्राप्तो, द्रव्यं विना व्यापाराद्याजीविकोपायरहित उदरवृत्तिकरणार्थं परगृहे उच्च-नीचकर्माणि कुर्वन्, यथा तथाऽऽजीविकां कुर्वन्नपि त्रिकालं लक्ष्म्याः पूजनं करोति। तदा लोका अवस्थाद्वयं दृष्ट्वा श्रीदेवं प्रति वदन्ति–"भोः श्रीदेव! त्वया त्रिकरणशुद्ध्याऽन्यदेवान् परित्यज्य त्रिकालं भक्तिभरेण या पूजिता–अर्चिता सा तव लक्ष्मीः क्व गता?, कथं तव साहाय्यं न करोति?। पूर्वं तु त्वम् ऊर्ध्वभुजः सन् 'ममैका लक्ष्मीरेव देवता मान्या पूज्या, नाऽन्येषां देवानां नमस्कारमपि करोमि' इत्यकथयः"। एवम् एकेन उपहास्ये कृतेऽन्यो वक्तुं लग्नः–"भो भ्रातः! त्वमेवं कथं वदसि?। अस्योपरि तु लक्ष्म्या प्रसादः कृत एव। यतोऽनेकव्यापारादिव्यग्रतया लक्ष्मीं ध्यातुमन्तरायोऽभवत्, तद् दृष्ट्वा लक्ष्म्या ज्ञातम्–'मम भक्तिपरा-यणस्याऽस्य एतत् सर्वं धन–व्यापारादि ध्यानेऽन्तरायं करोति, तस्माद् एतदन्तरायकृत् सर्वं हर्तव्यं यथा ममाऽविरहितम् अविल-म्बितं स्मरणं कुर्यात्'। तस्मात् श्रीदेवी अस्योपरि प्रसन्ना एवास्ति, तया प्रसन्नया सर्वं हृतम्!। त्वं किं जानासि?, अस्य परीक्षां करोति लक्ष्मीः, स्तोकदिनान्तरे घनवृष्टिवद् अस्य गृहे धनवृष्टिं करिष्यति!"। इत्यादि लोका उपहास्यं कुर्वन्ति तच्छृणोति, निर्धन-

त्वात् किमप्युत्तरं दातुं न शक्नोति, मनसि च महाखेदं वहति। एवं दुःखेन निर्वाहं कुर्वतो बहुतरे काले गते श्रीदेवस्य गृहे एकः सुलक्षणवान् पुत्रोऽवतीर्णः। तस्य पुण्यबलेन पुनः समागता शनैः शनैर्लक्ष्मीः। ततः पूर्ववद् व्यवसायादि करोति, पूजनं च लक्ष्म्यास्तथैव करोति। एवं लक्ष्म्यागमनात् पुनरपि माननीयो जातः। लोकाग्रे वक्ति च–'दृश्यतां श्रीदेव्या भक्तिफलम्!' एवं कियत्यपि काले गते श्रीदेवेन भोगासक्तेन द्वितीयया प्रमदया सह पाणिग्रहणं कृतम्। स्त्री गृहमानीता। ततो दिनद्वयान्तरे रात्रौ प्रधानपल्यङ्कसुप्तेन एका वरतरुणी रुदती दृष्टा। तदा श्रीदेवेन तस्या अभ्यर्णं गत्वा पृष्टम्–'का त्वम्?, किं दुःखम्?, केन हेतुना रोदनं करोषि?'। तयोक्तम्–"अहं तव गृहलक्ष्मीः। रोदनकारणमिदं यत् त्वया सह वियोगम् अनिच्छन्त्यपि करोमि"। श्रीदेवेनोक्तम्–'कथम्?'। श्रीराह–"या त्वया द्वितीया स्त्री परिणीता सा पुण्यरहिता अलक्ष्मीरूपा निर्भाग्या, तया सह मम संवासो नास्ति। तस्याः पापोदयेन मम स्थातुं शक्तिर्न विद्यते। अनिच्छन्त्या अपि मम त्वद्गृहत्यजनमापतिष्यति"। इत्युक्त्वाऽदर्शनं गता लक्ष्मीः। ततः स्तोकदिनमध्ये शनैः शनैर्गता लक्ष्मीः। पुनरागतं दारिद्र्यम्!। पूर्ववद् लोकानां हास्यकारणं जातः। परसेवनादिमहादुःखसङ्कटे पतित उदरवृत्त्यादि कष्टेन करोति। एवं दुःखेनायुः प्रपूर्य भवार्णवे परिभ्रमणं करोति स्म।

हे कुमार! लक्ष्म्याश्चरितानीदृशानि सन्ति। तस्माद् मतिमता पुरुषेण अनुकूलं यज्जीर्यति तद् भोक्तव्यं, कस्यापि भोग–धनादिषु प्रतिबन्धो न कर्तव्यः। यतः सर्वमपि इन्द्रियसुखं पूर्वकृतकर्मोदयाऽऽयत्तम्, भाविनमुदयं स्फेटयितुं कः समर्थः?। '[1]कडाण कम्माण न मुक्खमत्थि' इत्यागमवाक्यं परिभाव्य, प्रतिबन्धो न कर्तव्यः। य उदयचिन्तकः स स्वकीयं मूढत्वमाविष्करोति। उत्त-

१ कृतानां कर्मणां न मोक्षोऽस्ति।

मैस्तु बन्धचिन्तैव कर्तव्या, न तु उदयचिन्ता, सा तु पूर्वतः कृतैवास्ति। तस्मात् सत्पुरुषेण परपुरुषासक्तिस्वभावायां लक्ष्म्यां युवतौ चाऽत्यन्तप्रतिबन्धो न कर्तव्यः। शौचप्रतिबन्धः सुचिवोदः श्रिया रोषेण त्यक्तः, अशुच्याकरस्य मातङ्गस्य सेवनोपासनयाऽपि तस्य दारिद्र्यं न गतम्, इह परत्र च दुःखितो जातः। द्वितीयेन श्रीदेवेन त्रिविधप्रत्ययेन पूजिता–अर्चितापि लक्ष्मीस्तं विमुच्य गता, इति सोऽपि लक्ष्म्या विप्रतारितः। तृतीयः सञ्चयशीलः, तेन महासंरक्षणानुबन्धिध्यानेन महायत्नेन रक्षितापि लक्ष्मीर्विमुखा रुष्टा दुर्गतिकारणं जाता। चतुर्थो भोगदेवः, स तु दानं ददत्, परोपकारं कुर्वन्, यथेच्छमुपभोगं च कुर्वन् आसीत्; तथापि तस्योपरि लक्ष्मीः प्रसन्नतां न प्राप्ता, प्रत्युत सेवनया श्रान्ता औदासीन्यं वक्तुं लग्ना। तस्माद् लक्ष्मीः स्वभावेन कस्यापि प्रतिबन्धं न करोति, केवलं पूर्वकृतपुण्यबन्धं यावत् तिष्ठति, न तु परतः। अनाकर्णितजिनागमतत्त्वाः सर्वेऽपि संसारिणो जीवा लक्ष्म्याः प्रतिबन्धसङ्कटे पतिताः सन्ति, यथैते च सुचिवोदादयस्त्रयोऽपि जीवाः संसारावटे पतितास्तथा दुःखसमुद्रे संसारे पतन्ति भ्राम्यन्ति च। सर्वे संसारिणो जीवाः प्रतिक्षणं लक्ष्म्यर्थं धावन्ति। 'अज्जं कल्लं परं परारिं' इत्याद्याशाकर्मणा परिकर्मिता लक्ष्म्याः प्रतिबन्धं न मुञ्चन्ति। लक्ष्मीस्तु कृतपुण्यं पुरुषं विना न कस्यापि सङ्गं करोति, यथा पणाङ्गना धनिनं विना नाऽन्यमिच्छति। एतेषां चतुर्णां मध्ये भोगदेव एव श्लाघ्यतमः, येन यथेच्छं त्याग–भोग–विलासादिना लक्ष्म्याः फलं लात्वा पुनः पुण्यबले विद्यमानेऽपि तृणवत् त्यक्ता। यया सर्वे जीवाश्छलिताः सा लक्ष्मीर्येन च्छलिता, अतः श्लाघ्यतमः। हे केरलकुमार! यो विद्यमानेऽपि धने हानिभयाद् न भुङ्क्ते न ददाति, नोचितस्थाने व्ययति, न किमप्युपकारकार्यं ख्यातिकार्यं वा करोति स सञ्चयशीलवद् भवति; भवे भवे च दारिद्र्यादिदुःखेन दुःखितः परिभ्राम्यति। ये इह लोके सञ्चयशीलसदृशाः पुरुषा दान–भोगादिपराङ्मुखास्ते करिकर्णचपलया लक्ष्म्या छलिता-

चतुर्गतिचारकेषु पतिता दुःखमनुभवन्ति । ये पुनः सत्पुरुषा लक्ष्मीप्राप्त्यनुरूपं दानं भोगं न कुर्वन्ति, परोपकारं न स्वसुखनिरपेक्षतया कुर्वन्ति ते उचितगणनायां गणनीया इह लोके लज्जां प्रतिष्ठां मानं महत्त्वं न संप्राप्य परत्र महर्द्धिकदेवेषूत्पद्यन्ते । ततोऽचिरेण कालेन संसारान्तं कुर्वन्ति । इह जगति ते पुरुषा विरलाः—स्तोका भोगवैराग्यपरा ये स्खलनगतिचञ्चलया लक्ष्म्या न स्खलिताः । यैः पुनस्त्याग–भोग–विलासो–पकारैर्लक्ष्मीरियं चर्चिता पश्चात् निर्माल्येति [illegible] न त्यक्ता, तेषां गुणा अद्यापि गीयन्ते । तस्मात् हे कुमार ! यावत् अनर्थदानदक्षा लक्ष्मीर्न त्यजति तावत् अग्रत एव त्यज्यमानायां महत्त्वं प्राप्यते । ये पुनरग्रतो लक्ष्म्या त्यक्तास्ते पुरुषा लघुत्वमिह लोके, परत्र चाऽतिलघुतमत्वं प्राप्नुवन्ति; यत् [illegible] । अतो यदि निराबाधसुखेच्छाऽस्ति चेत् तदा सर्वाऽनर्थ-मूलां राज्यादिपरिग्रहमूर्च्छां त्यक्त्वा संयमे रतिं कुरुत" । इति केवलिनो देशनां श्रुत्वा सर्वस्त्यक्तुम् अशक्यत्वात् आत्मनः परिकर्म-करणार्थं श्रावकधर्मं गृहीत्वाऽर्हन्तं च नत्वा कैरलो गृहं गतः । पुनः पश्चात्कालं यावत् सम्यक्त्वयुतं श्रावकधर्मं [illegible] संयम-सन्मुखः पाश्चात्त्ययामिन्यां धर्मजागरिकायां परिचिन्तयति—"पुरा श्रीजिनेश्वरदेशनया जागरितेनापि संयमाऽशक्तेन मया गृहिधर्मो गृहीतः । अद्य यावत् यथाशक्ति व्रतानि पालितानि । इन्द्रियसुखं तु यथेच्छं भुक्तं, किमपि न्यूनं नास्ति । अतो यदि मम कुश-लानुबन्धिपुण्यम् उदयेत् तदा ग्रामा–ऽऽकर–नगर–खेट–कर्बट–मडम्ब–द्रोणमुखेषु विहरन् जगच्चक्षुः श्रीजिनेन्द्र इह समभ्येति, तदा चाऽहं पूर्णमनोरथो महाभक्त्या श्रीजिनं नत्वा संयमप्रार्थनां करोमि । स तु करुणानिधिः सद्यः संयमं दास्यति । ततः संयमं

१ चर्चितोऽपि प्र० । २ [illegible] निर्माल्यं इति वियोज्य [illegible] छलिता प्र० । ३ [illegible] गृहिधर्मं गृहीत्वा गतः, अद्य यावत् प्र० । ४ यथेच्छया प्र० । ५ दास्यति प्र० ।

प्राप्य ईदृशेनोल्लासेन संयममाराधनं करोमि यथा पुनर्भवसङ्कटे पतनं न भवेत्" । एवं भावयतः प्रभातसमयो जातः । ततः शयनादुत्थाय प्राभातिकानि कृत्यानि कृत्वा आस्थानसभायां यावदागत्य स्थितस्तावता पूर्वदिगुद्यानपालकेन वर्धापनिका दत्ता- "स्वामिन्! अद्य सकलसुरा-ऽसुर-नर-खेचरनिवहसंसेव्यमानचरणकजैः श्रीमत्तीर्थङ्करैः स्वचरणन्यासैः पूर्वदिगुद्यानम् अलङ्कृतम् । सुरकृतप्रत्रयादिशोभया अशोकतरुशोभया भामण्डलमयूखशोभया च गतोपमानम् आश्चर्यमनिर्वचनीयं विभ्राजते । यः पश्यति स एव जानाति, परं न कोऽपि वक्तुं शक्नोति । तन्मध्ये सिंहासनस्थितो भगवान् पीयूषस्राविणीं देशनां दत्ते, यस्याः श्रवणमात्रेण यत्सुखमनुभूयते तत्तु न भूतं न भविष्यति" ।

इत्थम् उद्यानपालकवचः श्रुत्वा सूर्योदये चक्रवाक इव हर्षितो भूत्वा, आजीविकापूरणार्हं प्रीतिदानं दत्वा, चिन्तितमनोरथस्य सद्यः सफलभवनेन आत्मानं धन्यं मन्यमानो रोमाञ्चकञ्चुकः सर्वज्ञं वन्दितुं गतः । जिनदर्शने दशाऽभिगमसत्यापनपूर्वकं जिनमभिवन्द्य—

"अद्याऽभवत् सफलता नयनद्वयस्य, देव! त्वदीयचरणाम्बुजवीक्षणेन ।
अद्य त्रिलोकतिलक! प्रतिभासते मे, संसारवारिधिरयं चुलुकप्रमाणः" ॥१॥

इत्यादिस्तुतिं च कृत्वा यथोचितस्थाने स्थितः, अञ्जलिं कृत्वा सम्मुखः सन् देशनां च श्रोतुं लग्नः । प्रभुणापि मिथ्यात्वोग्रभुजङ्गविषोत्तारणनागदमनी कामदावानलविध्यापनैककादम्बिनी अनादिभवभ्रान्तिभेदिनी सहजानन्दप्रकाशिनी ईदृशी धर्मदेशना दत्ता ।

---

१ नन्दस्वरूप-प्र० ।

राजादिना अतितृपितेनाऽमृतपानमिव आकण्ठं कर्णपुटैर्भृत्वा पीता, तेनाऽनादिकषायक्लिन्नता नष्टा, अत्यद्भुतो वैराग्यरङ्गश्च प्रकटीभूतः। एवं शम-संवेग-निर्वेदादिगुणोल्लासेनोल्लसितो राजा सानन्दमुत्थाय हस्तौ योजयित्वा प्राह-"प्रभो! पुरापि प्रभुणा महानन्दपुरप्रापणाय तुरङ्गगतिकल्पः श्राद्धधर्मो ग्राहितः। अधुना तु भवत्कृपया भवनिर्वेदो जातः, तेन पवनगतिकल्पे चारित्रप्रवहणे आरुह्य मुक्तिपुरं गन्तुमिच्छामि। अतो दयां विधाय संयमं ददातु"। ततः प्रभुराह-'यथासुखम् आत्मनो हितं भवेत् तत् कुरुष्व'। ततो राजा जिनं नत्वा गृहं गतः। ततः स्वकीयाऽङ्गजस्य राज्यं दत्त्वा, सर्वतो राज्यव्यवस्थां कृत्वा, महाविभूत्या श्रीजिनचरणारविन्दं नत्वा वीर्योल्लासेन चारित्रं जग्राह। ततो ग्रहणासेवनया निर्दूषणं चारित्रमाराध्य घनघातिक्षयं नीत्वा, केवलज्ञानमुत्पाद्य, अनेकान् भव्यजीवान् प्रबोध्याऽन्तेनशनं कृत्वा, समस्तकर्ममूलं दूरीकृत्य शिवं जगाम।

॥ इति दानादिना त्रिवर्गसाधकाऽग्रणीकेरल-भोगदेवयोर्धनदत्तस्य च सम्बन्धः ॥

"तस्माद् भो भव्याः! पुण्यैकप्रतिबन्धां, संसाराऽवटपातकुशलां, भवसमुद्रे निमज्जतां शिलाकल्पाम्, अधिकतृष्णावर्धापनैकतानां, राज-चौरा-ऽग्नि-जलादिभयाम्, अष्टादशपापस्थानसेवनादिमहारम्भदम्भादिभिरुपार्जनीयां, समस्ताऽविरतिदोषैकखानिं, दुर्जनचरित्रस्वभावाम्, ईदृशीं बहुक्लेशसाध्यां गूढघातकारिकां लक्ष्मीं प्राप्य कः सुधीर्हर्षं प्राप्नोति?। यतो जीवा बहुभिः पापैः परदेशगमन-क्षुत्तृपासेवनादिभिश्च बहुभिः क्लेशैर्धर्माऽधर्मविचारणजडा लक्ष्मीसमुपार्जनाय प्रत्यहं प्रोद्यता भवन्ति, परन्तु यदि पूर्वकृतपुण्योदयो भवति तदा तु मिलति, न चेत् प्रत्युत मनो-वाक्-कायैर्बहु खिद्यन्ते। कदापि पूर्वपुण्योदयसाहाय्येन लक्ष्मीर्मि-

१ प्रकटितः, तेन प्र०। २ निबन्धनां प्र०।

लति तदा तत्संरक्षणाद्यनुबन्धिरौद्रादिध्यानेषु प्रवर्तयति, यैर्नरकान्धकूपपतनमेव भवति। एवं प्राणी पापकुटुम्बपोषणभ्रान्त्या बहुधनं संमेल्य मृत्वाऽधोगतौ समुत्पद्यते, ततः पुण्यहीनपुत्रादिहस्तेभ्योऽचिन्तितं कैश्चित् शत्रुभिर्लक्ष्मीर्गृह्यते, तया लक्ष्म्या ते यानि पापकर्माणि कुर्वन्ति तेषां विभागः परभवगतस्य जीवस्य आयाति। अत इह परत्र च दुःखैककारणं लक्ष्मीः, तस्या मिलने कः प्रमोदेत ?। यदि सद्गुरुवचसा लक्ष्मीं काशदण्डाद् इक्षुमिव सप्तक्षेत्र्यां वपति तदा सा परिकर्मितविषमिव सकलसमीहितैकनिबन्धनं भवति। यथा रूप्यं जले निमज्जति, रूप्यपात्रं तु तरति, तथा लक्ष्मीरुपकारतया व्ययिता संसारसागरोत्तारणे नौका भवति। लक्ष्म्या दानादिव्ययकरणे उपकारः पुण्यं च भवतीति जिनाज्ञा। वीतरागसेवातोऽपि जिनाज्ञापालनं वरम्। यतः सेवायाः फलं स्वर्गः, आज्ञायास्तु मुक्तिरेव। तस्माज्जिनाज्ञापूर्वकं यथाशक्ति[2] दानादिधर्मे प्रयत्नः कर्तव्य इति हार्दम्"।

इत्युक्त्वा विरते मुनीन्द्रे धनसारश्रेष्ठी शिरसि आरोपिताञ्जलिः सन् हृद्गताऽनेकान् संशयान् प्रष्टुं लग्नः—"भगवन्! केन कर्मणा ममायं धन्यः पुत्रोऽद्भुतानां सर्वासां सम्पदाम् एकस्थानं समभवत् ?। एते पुनर्ममात्मजा धनदत्ताद्यास्त्रयो विद्वांसोऽपि सम्पदं प्रापिता अपि पुनः पुनर्निःस्वाः कथं संजाताः ?। धन्येन सह एषां संयोगे वियोगे च, वह्निना सह संयोगे वियोगे च अयसां प्रभा इव क्रमेण रमा अभवन् नाऽभवंश्च कथम् ?। [3]सतीषु प्राग्रेखा एषा शालिभद्रस्वसाऽपि शीतातपादिवेदनां सहमाना किमु मृदम् अवहत् ?" एवं धनसारेण प्रश्नेषु कृतेषु वाचंयमाधीशः शुचिताऽञ्चितां वाचं प्रोवाच—"भो भद्र! कर्मणां गतिर्विचित्राऽनिर्वचनीया

---

१ अतो जिनाज्ञया लक्ष्मीव्ययकरणे उपकारत्वं च भजति, यतो प्र०। २ यथाशक्त्या प्र०। ३ तथा शालिभद्रस्वसाप्येषा सतीनां प्राग्रेखा कथं मृद्वहनं शीततापादिसहनं केन कर्मणाऽभवत् प्र०।

च। कर्मणा किं किं न भवति ?। जीवानां गतिं, कर्मणां परिणतिं, पुद्गलपर्यायाणाम् आविर्भाव–तिरोभावादिशक्तिं च जिनं जिनागमं वा मुक्त्वा को ज्ञातुं समर्थः ?। अत एतेषां प्राग्भवान् अवहितः सन् शृणोतु—

॥ धन्यादीनां प्राग्भवाः ॥

"अत्रैव भरते प्रतिष्ठानपुरे काचिद् विश्वदारिद्र्यसत्त्वैर्घटिता इव दासीव दुःखिता स्थविरा आसीत्। सा स्ववृत्तये परगेहेषु पेषण–खण्डन–भूमिमण्डन–जलाहरणादिक्रियां कुर्वती देहेऽतिदुःखं सहते। अस्या वृद्धाया निर्मलाशयो विनयी नयी दानरुचिः पुत्रोऽस्ति, स लोकानां वत्सरूपाणि आजीविकाकृते चारयति। एवम् अतिकष्टेन तौ निर्वाहं कुरुतः। ततः कस्मिंश्चित्पर्वदिवसे चारयित्वा वत्सरूपाण्यानयता प्रतिगृहं परमान्नभोजनं निष्पाद्यमानं शिशुव्रजैश्च भुज्यमानं सस्पृहेणामुना बालेन दृष्टम्। तस्याऽङ्गणस्थितस्य बालस्य वरभक्ष्यनिरीक्षणाद् भक्ष्यकारशुन इव दंष्ट्राणां गलनमासीत्। अथ स्वस्वगृहतो भोजनं कृत्वा निर्गता बालाः परस्परं वक्तुं लग्नाः—'भो अमुक! त्वया किं जग्धम् ?'। तेनोक्तम्—'क्षैरेयी'। अन्येनोक्तम्—'अद्य अमुकं पर्व वर्तते, तेन क्षैरेयी एव भुज्यते, नान्यत्'। ततः केनापि डिम्भेन वृद्धायाः पुत्रायोक्तम्—त्वया किं भक्षितम् ?'। तेनोक्तम्—'मया पर्युषितं घृष्टिप्रमुखं यत् तद् भक्षितम्'। ततो डिम्भा हसितुं प्रवृत्ताः—'अद्य क्षैरेयीं विना कथं भवति ?'। वृद्धायाः सुतेनोक्तम्—'मम मातृकया यद् दत्तं तद्भुक्तम्'। तदा केनाप्युक्तम्—'याहि मातृपार्श्वे, कथय—क्षैरेयीभोजनं देहि, अद्य पर्वदिवसोऽस्ति'। इत्येवं डिम्भानां वार्तां श्रुत्वा जातपायसभोजनमनाः स्वगृहे गत्वा मातरं प्राह—'हे मातः सुतवत्सले! घृत–खण्डादियुतं पायसभोजनं देहि'। सा प्राह—'हे वत्स! निर्धनस्य ते पायसं कथं स्यात् ?'। बालः प्राह—'हे मातः! यथा तथाऽवश्यं देहि'। इति पुत्रवचः श्रुत्वा वृद्धा चिन्तयति—"शिशोः सदसज्ज्ञानं

न भवति। शास्त्रेऽप्युक्तम्—

"बालको दुर्जनश्चौरो वैद्यो विप्रश्च पुत्रिका। अर्थी नृपोऽतिथिर्वेश्या न विदुः सदसद्दशाम्" ॥१॥

पुत्र! आत्मीयगृहे उदरपूर्णं भोजनं तदेव पायसम्। निर्धनानां वाञ्छितं कुतो भवति?"। बालः प्राह—'अद्य पर्वदिवसे पायसं विनाऽन्यत्खाद्यं न भवति, अतः कथमपि पायसं देहि'। वृद्धा चिन्तयति—"अहो! ममोत्कृष्टः पापोदयः, अयं शिशुर्न कदापि किमपि हठाद् मार्गणं करोति, यद् अहं ददामि तदेव भुक्त्वा याति। अद्य किमपि दृष्ट्वा श्रुत्वा वाऽस्येच्छा समुत्पन्ना, अतो ममाग्रे आगत्य मार्गणं करोति। परम् अहं कीदृशा निर्भाग्यशेखरा?, यद् एकस्य अन्धयष्टितुल्यस्याऽस्य क्षैरेयीमात्रभोजनदोहदपूरणं कर्तुं न शक्नोमि, धिगस्तु ममावतारम्"। इति ध्यात्वा दीनवत् सम्मुखं च दृष्ट्वा रोदितुं प्रवृत्ता, यतोऽबलानां बालानां च इच्छाऽपूर्तौ रोदनमेव बलमुक्तम्। ततो रुदतीं मातरं दृष्ट्वा बालोऽपि रोदितुं प्रवृत्तः। अथ तयो रोदनं श्रुत्वा प्रातिवेश्मिक्य आययुः। ताभिः पृष्टम्—"युवां द्वौ कथं रुदिथः?, दुःखं कथयतम्, यदि साध्यं भवेद् अस्माभिस्तदा स्फेटयामः"। तदा जरती सर्वं स्वकीयं दुःखमुक्त्वाऽकथयत्—'भाग्यवत्यः! निर्भाग्याणाम् ईप्सिताऽपूर्तौ रोदनमेवालम्बनम्'। एवं वृद्धावचः श्रुत्वा तद्दुःखदुःखितास्ताः प्राहुः—'वृद्धे! क्षैरेयीमात्राऽप्राप्तिदुःखेन मा रोदनं कुरु, एतत्तु अस्मत्साध्यं कार्यं जातमिव मन्यस्व'। तदैकया प्रोक्तम्—'दुग्धं तु मद्गृहेऽस्ति, त्वं प्रयोजनयोग्यं गृहाण'। द्वितीयया प्रोक्तम्—'निर्मलाऽखण्डकलमशालितण्डुला मम गृहे सन्ति, अहं ददामि, त्वं गृहीत्वाऽस्य बालस्येच्छापूरणं कुरु'। इत्येवं तयोर्वचः श्रुत्वा तृतीययोदितम्—'अतिशुभ्रमन्दाकिनीतटगतसिकताकल्पां खण्डाम् अहं ददामि, त्वं गृहाण'। चतुर्थ्योक्तम्—'अद्यैव तापितं स्वच्छं घृतं मम गृहे स्थितं, तदहं ददामि, त्वं गृहीत्वाऽस्य बालस्येच्छापूरणं

कुरु'। इत्येवं तासां वचांसि श्रुत्वा प्रसन्नचित्ता वृद्धा प्राह—'भो भाग्यवत्यः! इच्छापूरणे कल्पवल्लिकल्पानां भवतीनां कृपा संजाता तदा मम मनोरथः सफलः संजात एव इत्यहं मन्ये'। ताभिरुक्तम्—"सामग्रीं गृहीत्वा त्वरितं पायसं कृत्वाऽस्य बालस्येच्छापूरणं कुरु यथा बालः प्रसन्नचित्तो भवेत्"। अथ वृद्धया ताभ्यो दुग्धादिकां सामग्रीं लात्वा घृत-खण्डादिमिश्रिता क्षैरेयी प्रगुणीकृता, न हि पुत्रहितवत्सला माता सुतसमीहितपूरणाय विलम्बं कुरुते। ततो बालक आहूय भोजनायोपवेशितः, पायसेन च स्थालं संपूर्य बालकस्याग्रे ढौकितम्। बालकोऽपि तां क्षैरेयीमत्युष्णां ज्ञात्वा हस्तेन शीतलां कर्तुं प्रवृत्तः। मात्रा चिन्तितम्—"उज्ज्वलं दुग्धादिभोज्यमस्ति, अतो मम दृग्दोषो मा लगतु' इति ध्यात्वा स्नेहात् प्रातिवेश्मिकगृहे गता। बालकः पुनः सधूमां क्षैरेयीं शीतलां यावत् कुरुते तावत् तद्गृहवीथ्यां मासक्षपणपारणे कश्चिद् गुणनिधिकल्पो मुनिर्भिक्षार्थं प्रविष्टः। स च बालकेन गृहनिकटं व्रजन् दृष्टः। मुनिदर्शने संजातेऽस्य दानरुचिः समुत्पन्ना। भावयितुं च लग्नः—"अहो! अद्य समस्तपाप-सन्तापनाशनसमर्थो मुनिर्मम गृहाङ्गणनिकटमागतः। चेद् मम भाग्यानि जागृयुस्तदा मम निमन्त्रणे समागच्छेत्। विज्ञप्तिशतेन भिक्षाद्यर्थम् अनेके महेभ्या निमन्त्रयन्ति, परं साधवस्तत्र न यान्ति; यस्य तु भाग्यं समुदितं भवति तस्य गृहे यान्ति। मम निमन्त्रणेन यदि गृहं पवित्रयेत् तदा वरम्। यदि मम भाग्येन कथमप्यागच्छेत् तदाऽहं धन्यानां धन्यतमो भवामि"। एवं बालभावेऽपि वर्तमानस्य तस्य बालस्य कल्पतरोरिव स्वभावतो बहुमानपूर्वकं दानभाव उल्ललास। ततः सहर्षं मुनेः सम्मुखं गत्वाऽतिभक्त्या प्रणम्य कृताञ्जलिः सन् विज्ञप्तिं कर्तुं लग्नः—"स्वामिन्! मम गृहे शुद्धो निर्दोष आहारोऽस्ति, अतः कृपां कृत्वा स्वकीयचरणन्यासैः पवित्रयतु गृहाङ्गणम्"। एवं तस्याऽतीवदानभक्तिं ज्ञात्वा

१ 'कारणपरिपाकहेतोः' प्र० अधिकः पाठः।

विज्ञप्तिः स्वीकृता। ततः स बालो मुनिं गृहाङ्गणे नीत्वा, अतिप्रमोदेन भक्त्या च स्थालमुत्पाट्य, मुनिधृतपात्रे एकयैव धारया समग्रं पायसं दत्त्वा, सप्ताष्टपदानि मुनिमनुगत्य, पुनर्मुनिं नत्वा सत्त्वाधिक आत्मानं कृतकृत्यं मेने। तत आनन्दभरभारितहृदयो दानरसेन गतक्षुत्तृष्णो गृहमागत्य स्थाल्युपकण्ठे स्थितः पुनः स शिशुर्दानाऽनुमोदनं कर्तुं लग्नः—"अहो! अद्य घनं भव्यं जातं, महान् मम भाग्योदयः, अन्यथा मम रङ्कस्य गृहे मुनेर्दानयोग्यं भव्यं पायसं कुतः ?, तदवसरे मुनेरागमनं कुतः ?, आगतश्चेत् तथापि एतान् महेभ्यान् विमुच्य मद्गृहे कथमागच्छेत् ?; मम निमन्त्रणमात्रेण विज्ञप्तिर्मानिता एतद् असम्भाव्यं कुतो भवेत् ?। नूनं ममैव किमप्यतीव पुण्यमुदितम्, अनभ्रा वृष्टिः संजाता"। एवं पुनः पुनरनुमोद्य तत्पुण्यमनन्तगुणं व्यधात्। इत्येवं प्रमोदेन तत्र स्थितः स्थालीलेहनं करोति तावता प्रातिवेश्मिकगृहाद् माता आगता। लिहन्तं बालं दृष्ट्वा—"अहो! मम बालकेन स्थालीभृतं पायसं जग्धं, परम् अद्यापि तृप्तिर्न जाता!। नित्यं मम पुत्र एतावतीं क्षुधां सहते"। एवं क्षुधितं ज्ञात्वा पुनः पायसं पर्यवेषयत्। परं स बालो भोजनादपि दत्तं बह्वमन्यत, यथा धनी व्यापार्यमाणादप्यर्थाद् वृद्धिन्यस्तं बहु मन्यते। ततो बालोऽतिबहुमानपूर्वकदानाऽनुमोदनात् शर्महेतुतीव्ररसयुक्तं भोगफलं कर्म निबद्धवान्। तस्य च बालस्याऽतिमादकाहारभोजनाद् अजीर्णं समुत्पन्नम्, तेनाऽजीर्णदोषेण विसूचिका जाता, तया विसूचिकया पीडितोऽपि तत्समये मुनिदानं स्मरन् मृत्वा त्वत्सुतोऽयं धन्योऽजनि। मुनिदानप्रभावेणासौ यशसां महसाम् अद्भुतानां च सम्पदां क्रीडामन्दिरं संजातः। यतः सुक्षेत्रे उप्तं धान्यं शतगुणं भवति, पात्रे उप्तं तु बीजं वटबीजाद् वटवद् अनन्तगुणं भवति।

अथ भवान् त्रयाणाम् अस्याऽग्रजानां कृतकर्मपरिणामवैचित्र्यं प्राग्भवं च शृणोतु। तत्र धनसारादयोऽनिर्वचनीयाऽसम्भाव्यक-

र्मविपाकं श्रुत्वा चमत्कृतचित्ताः सप्रणामं 'तहत्ति' इति शब्दं ब्रुवाणा अञ्जलिं कृत्वा शृण्वन्ति। गुरुराह—"एकस्मिन् सुग्रामनामनि ग्रामे आसन्नासन्नधामानः क्षयगतद्रव्याः कुलपुत्रकास्त्रयो वयस्याः परिवसन्ति। ते त्रयोऽपि धनाऽभावेन अन्यव्यापाराऽलाभाद् वनगतदारुभिराजीविकाया निर्वाहं कुर्वन्ति। एकस्मिन् दिने त्रयोऽपि दारूणां ग्रहणाय स्वस्वगृहतो गृहीतशम्बलाः कम्बलप्रावरणा वनान्तरे गताः। तत्र तृतीयप्रहरारम्भसमये ग्रीष्मर्तुवर्त्तमानाऽतिनिदाघे तप्तभूमौ उग्ररविकिरणैर्व्याकुलीकृतजने कोऽपि महानुभावः क्षमासारः क्षमासारमुनिः संसारवारणं मासक्षपणपारणं कर्तुं ग्रामान्तर्गमनाय तत्र वनान्तरे आगतः। ते त्रयोऽपि तपःशोषितसर्वाङ्गं अस्थिचर्माऽवशेषकायं मूर्तिमद्धर्मरूपं तं मुनिं दृष्ट्वा नटवैराग्यवत् सर्वे दानवासनाऽनुकूलाः संजाताः। परस्परं च मन्त्रयन्ति—"अहो! अयं मुनिर्दूरवनाद् आगतोऽस्ति। निदाघमध्याह्ने उत्तप्तवालुकायां कथम् अतिदूरग्रामान्तर्यास्यति?। तत्रापि प्रतिगृहं भ्रमणेन चेद् निर्दूषणं मिलिष्यति तदाऽस्य ग्राह्यं भविष्यति, नान्यथा। तस्माद् आत्मीयपार्श्वे यत् शम्बलमस्ति तद्दीयते चेत् तदा वरतरम्"। एवं त्रयोऽपि विचार्य विनयेन मुनिमाहूय तच्छम्बलं सकलं मुनये ददुः। मुनिरपि शुद्धमाहारं ज्ञात्वा, गृहीत्वा, धर्मलाभाशिषं दत्त्वा स्वस्थानं गतः। तेषां त्रयाणां तु सायं यावद् दारुग्रहणप्रयासक्लेशेन प्रातर्भुक्तं तु सर्वं जीर्णम्, पुनः प्रबला क्षुद्वेदना प्रादुर्भूता। ततस्ते परस्परं पृच्छन्ति—'भोः किञ्चित् खाद्यं विद्यते नवा?'। तदा एकेनोक्तम्—'खाद्यं तु मुनये सर्वं दत्तम्'। ततः क्षुधितजठरा एव सर्वेऽपि सायं दारूणि संगृह्य स्वस्वगृहमागताः। तत्रापि नव्यमाहारकरणं विना किम् अद्युः?, ततस्त्रयोऽपि अनुतापपराः संजाताः—"अहो! मुनिदानफलम् अस्माकमिहैव संजातं, यतोऽद्य साम्प्रतं यावद् मुनिदानप्रभावात् क्षुधया म्रियामहे स्म!, न ज्ञायतेऽग्रे तु किं भविष्यति?। हा हा! वयमनेन साधुना मुग्धा वञ्चिताः। तत्समये त्रयाणां मध्यादेकस्यापि

बुद्धिर्नोत्पन्ना यत् प्रबलक्षुधायां लग्नायां किं भोक्ष्यामहे ?। अस्य तु मुनेर्नित्यं तपःकरणशीलस्य नित्याऽभ्यासवशाद् एकाद्यधिकदिने जाते न किमपि क्षूयते, अनभ्यासकानाम् अस्माकं पुनर्महद्दुःखं संजातम्!। हस्तेनोदरं संमर्द्य शूलमुत्पादितं, कोऽस्मादृशो मूर्खो भवेद् यो गृहं प्रज्वाल्य तीर्थं कुर्यात् ?"। एवं चतुर्वेलं दानं दत्त्वाऽपि सत्त्वविवर्जितैस्तैः पश्चात्तापेन रिक्तफलं[1] कृतम्। धनसार! ते त्रयोऽप्यायुःसमाप्तिकाले मृत्वा भवतः सुताः धनसारविवर्जिता[2] अभवन्। यद् दानं दत्त्वाऽपि पश्चात्तापादिदोषदूषिता अभवन् तत इहाऽसकृत् श्रियं नीता अपि निःस्वाः संजाताः, परं सर्वार्थसिद्धिकृतो दानधर्मस्य दूषितस्यापि मूलतो नाशो नैव भवेद् इति धन्येन सह संयुक्तानामेषां श्रीः स्थिरा भवति। तथा पुरा याभिः प्रातिवेश्मिकीभिः पुरन्ध्रीभिरखण्डनिष्कम्पाऽनुकम्पाऽध्यवसायतः शिशोर्दुःखं खण्डयितुं दुग्ध–तण्डुल–खण्डादिकं दत्तम्, तत् पुनर्बालेन साधवे दीयमानं दृष्ट्वा चाऽनुमोदितम्–"अहो! अस्य बालस्य कीदृशी दानरुचिः ?, यतोऽतिदुष्करतया लब्धामपि क्षैरेयीम् अखण्डधारया ददाति, धन्योऽयं बालः" इति परस्परमनुमोदितं, परं बालस्य मातुरग्रे नोक्तं, ता धन्यस्याऽष्टावपि एताः श्रियां पदं पत्न्योऽभवन्। तथा प्राच्यभवेऽनया विभवाढ्यया सुभद्रया रोषवशतया निजप्रियसखी 'रे दासि! मृत्तिकां वह' इत्याक्रोशिता, तस्य कर्मणो विपाकेनेह शालिभद्रभगिन्याऽपि मृद्वहनदुःखं भुक्तम्, यतो नाऽभुक्तं कर्म क्षीयते अन्यैरप्युक्तम्—

"इतैकनवते कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः। तत्कर्मणो विपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः! ॥१॥

एवं गुरुवचनं श्रुत्वा जातसंवेगाः केऽपि भव्या वेगाच्चारित्रमाश्रयन्, केऽपि गृहिधर्मम्। अपरैः सम्यक्त्वमङ्गीकृतम्। अन्यै

---

१ तुच्छफलम्। २ धनस्य सारस्तेन रहिताः।

रात्रिभोजनं त्यक्तं, कैश्चिच अभक्ष्यं वर्जितम् । अन्यैस्तु ब्रह्मचर्यं स्वीकृतम् । एवं देशनाऽतिफलवती जाता, यतो दृढमिथ्यात्ववतामग्रे धर्मदेशनादानं विलापतुल्यं ज्ञेयम् । उक्तं च—

"[1]अईयअत्थे कहिए विलावो, असंपहारे कहिए विलावो ।
वक्खित्तचित्ते कहिए विलावो, बहूकुसीसे कहिए विलावो" ॥१॥

अतस्तेषामुपदेशो न दातव्यः । निपुणश्रोतृसंयोगे उभयोश्चित्तं समुल्लसति । अथ धनसारोऽपि देशनां श्रुत्वा, कर्मविपाकं बुद्ध्वा, भवनिर्वेदं च लब्ध्वा, समुत्थाय, सूरिं चाऽभिनम्य विज्ञप्तिं कर्तुं लग्नः—"गुणनिधे ! संसारभ्रमणभूरिभयोद्विग्नोऽहं भवच्छरणं समाश्रितः, अतो ममोपरि कृपां कृत्वा चारित्रप्रवहणं ददातु, येन तदारुह्य भवोदधेः पारं यामि । भवतां महद् यशो भावि" । मुनिराह—'[2]जहासुहं देवाणुप्पिय !, मा पडिबंधं करेह' । ततो दूरीकृतपरिग्रहः सदारो धनसारोऽग्रजपुत्रत्रयान्वितः परिव्रज्याम् [3]ऊरीचक्रे । प्रियान्वितो धन्यः सूरिं पित्रादीन् मुनींश्च नत्वा [4]कर्मनिपूदनं श्राद्धधर्ममङ्गीकृत्य भक्त्या मुनीनभिवन्द्य स्वगृहमगात् । अथ स धन्यो गुरुकथितपूर्वजन्मदानधर्मं स्मरन् विशेषतो धर्मप्रवृत्तिं विदधाति । नित्यं मुनीभूतमाता–पितरौ तपसि रतान् ज्येष्ठबान्धवांश्च स्तुवानः सुखेन पुण्यविपाकं विलसन् कालनिर्गमनं करोति । हे भव्या ! मुनिदानधर्मफलानि पश्यत, यद् धन्यो यत्र गतस्तत्र अग्रत एव ढौकिता इव भोगा दृष्टिपथमायाताः । तथाऽनाहूतैरपि सुरवरैर्धन्याग्रजा धन्यस्य धनं गृहीत्वा गच्छन्तो

१ अतीताऽर्थे कथिते विलापः, असंप्रहारे कथिते विलापः । व्याक्षिप्तचित्ते कथिते विलापो, बहुकुशिष्ये कथिते विलापः ॥१॥
२ यथासुखं देवानुप्रिय !, मा प्रतिबन्धं कुरु । ३ अङ्गीचक्रे । ४ कर्मविनाशकम् ॥

रक्षिताः, शिक्षां दत्त्वा सानुकूलाः कृताः, न्यायमार्गं च प्रापिताः। तस्माद् इह-परलोकसुखार्थिनो जिनकीर्तितदानधर्मे उद्यता भवन्तु, येन सकलार्थसिद्धिर्भवेत्।

॥ इति श्रीमत्तपागच्छाधिराजश्रीसोमसुन्दरसूरिपट्टप्रभाकरविनेय-श्रीजिनकीर्तिसूरिविरचितस्य पद्यबद्धश्रीधन्यचरित्रशालिनः श्रीदानकल्पद्रुमस्य महोपाध्यायश्रीधर्मसागरगणिनामन्वये महोपाध्यायश्रीहर्षसागरगणिप्रपौत्रमहोपाध्याय-श्रीज्ञानसागरगणिशिष्याल्पमतिग्रथितगद्यरचनाप्रबन्धे ज्येष्ठबान्धवत्रयप्रीतिभवन-प्राग्भवश्रवण-पितृभ्रात्रादिचारित्रप्रापण-गृहिधर्मग्रहणवर्णनो नामाष्टमः पल्लवः ॥

अथ नवमः पल्लवः

अथैकदा राजगृहे नगरे[1] केऽपि वणिजो नेपालदेशतो नेपालदेशोद्भवान् लक्षमूल्यान् रत्नकम्बलान् लात्वा विक्रयकरणार्थमागताः। 'राजभोग्यं वस्तु' इति ज्ञात्वा[2] श्रेणिकक्षोणिपालाय नत्वा तस्मै रत्नकम्बला दर्शिताः। विज्ञप्तं च-"स्वामिन्! इमे रत्नकम्बला ऋतुत्रयेऽपि भोग्यतामायान्ति। तद्यथा-'वर्षाकाले अस्य कम्बलस्य तन्तवः परस्परम् अतीव सम्मिलिता भवन्ति, तेन वर्षाजलम् उपरि निपत्य भूमौ पतति, परं शरीरं रोममात्रं[3] नार्द्रीभवति, कम्बलः स्वयमपि च कमलपत्रमिव निरुपलेपो भवति। तथा शीतकाले

१ 'राजगृहपते राजगृहे ययुः' इत्यधिकः पाठः प्र०। २ 'टलकयित्वा' इत्यधिकः पाठः प्र०। ३ शरीरस्पर्शमात्रं प्र०।

नवमः
पल्लवः
पारदेशि-
कानामा-
गमनं
तत्सका-
शात् भद्रा-
गा रत्नकंबल
ग्रहणं

हेमन्ते उष्णतां भजति, एकेनैव प्रावृतेन क्षणमात्रे शरीरे प्रस्वेदः क्षरति। तथा उष्णकाले ग्रीष्मे शीतलत्वमाप्नोति, यदा देहे प्रावृतो भवति तदा चन्दनलेपनवत् देहे शीतलत्वं भवति। मलिने तु जाते अग्नौ प्रक्षिप्तो जातरूपकवत् शुद्धो निर्मलो भवति, अतो वर्षेषु रत्नत्वख्यातिर्जाता"। राज्ञा प्रोक्तम्—'किमेषां मूल्यम्?'। तैः प्रोक्तम्—'एकैकस्य सपादलक्षं भवति'। एवं वणिजां मुखात् मूल्यं श्रुत्वा विस्मितमानसो राजा प्राह—"भो भो वैदेशिकाः! भूरिमूल्यान् अमून् कम्बलान् वयं तु न लास्यामः, यतः परिधीयमानः कम्बल आभीरवेषशोभां ददाति, उत्तमजातीयानां कम्बलप्रावरणं न हि युक्तम्। गुणांस्तु यो जानाति स एव जानाति, परम् अस्य परिधाने सर्वे जनास्तुच्छजातित्वमेव प्रमाणीकुर्वन्ति, अतोऽलमस्तु एषां ग्रहणेन। किञ्च, राज्ये स्वर्णकोटिभिर्गजा-ऽश्व-नर-रत्नानां संग्रहः संग्रामे विजयं दत्ते, राज्यं च रक्षति; परं कम्बलाः किम्बलाः?, न किञ्चिदित्यर्थः"। इति क्षोणिपतेर्वाक्यं श्रुत्वा वाणिज्यकोविदा विच्छायवदना राजानं नत्वा उत्थाय गतोत्साहाः खोचारके गच्छन्तः परस्परं व्यापारालापं च कुर्वन्तः शालिभद्रमन्दिरस्याऽधो गच्छन्ति। वदन्ति च—"भ्रातरः! यदीदृशे महानगरे विक्रयो न जातस्तदा इतोऽधिकं किं नगरमस्ति यत्रेमे[1] रत्नकम्बला विक्रेष्यन्ते?। महाराजाधिराजः श्रेणिकराजोऽपि ग्रहीतुमशक्तस्तदा अस्मिन् देशे को ग्रहीता?"। एवं ब्रुवन्तो गच्छन्ति। अस्मिन्नवसरे शालिभद्रमाता भद्रा दासीवृन्दपरिवृता गवाक्षे स्थिता नगरस्वरूपं पश्यति। अथ तेषां व्यापारिणां वचनानि श्रुत्वा तया दासीं प्रत्युक्तम्—'याहि सत्वरम्, एते परदेशीया व्यापारिणो गच्छन्ति तान् अत्रानय'। इति भद्रादेशं लब्ध्वा तया चेट्या सत्वरं तत्र गत्वा तेभ्यः प्रोक्तम्—'भो व्यापारिणः! मम स्वामिनी आमन्त्रयति, अतस्तत्राऽऽगम्यताम्'। तत्रैको वाचालो वक्तुं लग्नः—'किमर्थं

१ यत्रेमान् रत्नकंबलान् ग्रहीष्यति प्र०।

तव स्वामिनी आह्वयति ?, वयं तत्रागत्य किं कुर्मः ?। अस्मदीयवस्तुनः प्रजापतिरपि ग्रहीतुमशक्तस्तदा त्वदीया जरती किं ग्रहीष्यति ?'। चेटी प्राह–"भवत्सदृशा अनेके व्यापारिणोऽस्मत्स्वामिन्या मन्दिरे आगता आगच्छन्ति च, ते सर्वेऽपि स्वस्वभाग्यानुसारेण लाभं लात्वा गच्छन्ति, न कोऽपि रिक्तो गच्छति। त्वं तु कोऽप्यभिनवो दृश्यसे, यतो व्यापारगतिं न वेत्सि। अनेकान् दर्शयेत्[1] तदा कोऽपि ग्राहको मिलति, परम् अदर्शने तु न कोऽपि मिलति"। तदाऽन्येनोक्तम्–'किमर्थं प्रलपसि ?, वयं व्यापारिणः, शतशो जना वस्तु शतकृत्वः पश्यन्ति, तदा कोऽपि ग्रहीता भवति, तत्र को रोषः ?। चलाऽग्रे दासि ! तव स्वामिन्याः पार्श्वे वयमागच्छामः'। इत्युक्त्वा ते दासीयुता भद्रागृहमागताः। मन्दिरान्तः प्रविष्टा इतस्ततः स्वर्ण–रूप्य–रत्नमयानि गृहशोभाकारकाणि तोरण–शालभञ्जिकादीनि दृष्ट्वा विस्मयमापन्नाः–'किमिदं नरमन्दिरं वा देवमन्दिरम् ?, गृहद्वारमात्रे ईदृश ऋद्धिविस्तरस्तदाऽस्य गृहस्याऽन्तः कीदृशं भविष्यति ?। नूनं रत्नकम्बलान् यथारुचि ग्रहीष्यति'। इति विचारयन्तो द्वितीयभूमौ गताः। तत्र तु सूर्यातपवद् रत्नैरुद्द्योतितं गृहं पश्यन्तो भद्राऽऽसन्नं गताः। भद्रयाऽपि सादरं शिष्टाचारं कृत्वा निवेशिताः। पृष्टं च–'युष्माभिः किमानीतम् ?'। तैरुक्तम्–'रत्नकम्बलाः'। भद्रयोक्तम्–'कीदृशास्ते ?'। ततस्तैर्ग्रन्थिमुत्कीर्य दर्शिताः। ततो भद्रयोक्तम्–'के गुणा एषाम् ?'। तैः पूर्ववत् स्वरूपमुक्तम्। भद्रयोक्तम्–'किं मूल्यमेषाम् ?'। तैरुक्तम्–'एकैकस्य सपादलक्षम्'। भद्रा प्राह–'द्वात्रिंशद्वधूनाम् एकैकसमर्पणहेतोरस्माकं तु द्वात्रिंशता प्रयोजनम्, भवद्भिस्तु षोडश सङ्ख्यया आनीताः। परं किं क्रियते ?, अत एतान् पाटयित्वा द्वौ द्वौ खण्डौ कुरुत, येन वधूनाम् एकैकखण्डं दास्यामि'। इति भद्रावाक्यं श्रुत्वा विस्मयमापन्ना ईषद् विहस्य परस्परमुपकर्णं वक्तुं लग्नाः–

[1] अनेकेषां दर्शयतां प्र०।

किमियं वातुला भ्रान्तचित्ता वा वदति ?। राजसदृशोऽपि यम् एकमपि ग्रहीतुमसमर्थोऽभूत् तस्येयं जरती वक्ति 'द्वात्रिंशत् कथं नाऽऽनीताः ?, पुनरेकैकस्य खण्डौ कुरुत'। किमियं वक्ति ?, अस्या वचने को विश्वासः समुत्पद्येत ?"। तदाऽन्येनोक्तम्—'किमत्रार्तिः क्रियते भवता ?, अस्याः कथनमात्रेण किं खण्डाः कृता अस्माभिः ?। धनं कुत्रास्ति ?, यदा धनं दास्यति ततः पश्चाद् यद् इयं वदिष्यति तत् करिष्यामः'। इति परस्परालापं कृत्वा—'मातर्वयं पारदेशिका गृहगमनोत्सुका उद्ग्राहिकया व्यवसायं न कुर्मः, रोक्यरूप्यकैर्व्यवसायं कुर्मः, अतस्तावद् धनं ददातु, पश्चाद् भवत्या आशयाऽनुकूलाः खण्डाः क्रियन्ते'। ततो भद्रया व्यापारिणां मनस्सु अधृतिं ज्ञात्वा ईषद् विहस्य भाण्डागारिकस्याज्ञा दत्ता—'येन नाणकेनैते प्रसन्नचित्तास्तन्नाणकं विंशतिलक्षरूप्यकसङ्ख्यया देहि'। भाण्डागारिकेणाऽपि तानाहूय श्रीगृहे गत्वा श्रीगृहद्वारमुद्घाटितम्। व्यापारिणो मध्ये प्रविष्टा यावत् पश्यन्ति तावता एकतो रूप्यकाणाम् अगणितपुञ्जाः पतिताः सन्ति, अन्यतो दीनाराणां पुञ्जाः पतिताः सन्ति, अपरतो मधुकरीणां समूहा यथा तथा पतिताः सन्ति, अग्रतः स्थाने स्थाने पट्टपञ्चाशन्नाणकानाम् अनेकपुञ्जाः पतिताः सन्ति, ततोऽग्रतो मुक्ताफलानां कोष्ठा भृताः सन्ति, ततोऽग्रतो हिरण्यकानाम्, ततोऽग्रतो माणिक्यगणानाम्, ततो नीलमणीनाम्, ततो वैडूर्यरत्नानाम्, ततो विद्रुमाणां पीरोजकानां रक्तमणीनां च। एवं चतुरशीतिरत्नानाम् अगणितसङ्ख्यां दृष्ट्वा विस्मयमापन्नाश्चिन्तयितुं लग्नाः—'किमिदं सत्यं वा स्वप्नं वा इन्द्रजालं वा कापि देवमाया वा ? किमस्ति ?, य एतासां श्रियां स्वामी स कीदृशो भविष्यति ?। अहो ! अस्य पुण्यप्राबल्यम् !। इयद्धनस्य स्वामी यच्चिन्तयेत् तत्कुर्यात्। धन्यमिदं राजगृहं पुरं यत्रेदृशा व्यवहारिणः परिवसन्ति। 'राजगृहम्' इति नाम सान्वर्थम्'। अथ तैर्यथारुचि नाणकं मार्गितं, भाण्डागारिकेण तद् लेख्यकं कृत्वा दत्तम्। नाणकं गृहीत्वा मनसि चिन्त-

पारदेशिकानामागमनं तत्सकाशात् भद्राया रत्नकंबलग्रहणं

यितुं लग्नाः—'अस्माभिरज्ञत्वेन नाणकस्याऽधृतिः कृता तन्न भव्यं कृतम्'। एवं मनसि लज्जमाना उपभद्रमागताः। भद्रयोक्तम्—'युष्माभिरीप्सितं धनं लब्धम् ?'। तैरुक्तम्—'मातः! तव प्रसत्त्या किं न प्राप्यते ?'। भद्रया पुनरुक्तम्—'एकैकस्य द्वौ द्वौ खण्डौ कुरुत, यतोऽस्मदीयपुत्रस्य द्वात्रिंशद् वधूट्यः, कम्बलास्तु षोडश, तत्कथं सङ्गतिम् अङ्गति ?, अतः खण्डान् कारयामि'। तच्छ्रुत्वा व्यापारिणश्चित्ते चमत्कृताश्चिन्तयन्ति—"अहो पुण्यप्रागल्भ्यम्, यः कोऽप्यन्यो यथा तथा कृत्वा एकं गृह्णाति स जीववद् यत्नेन रक्षति, पर्वादिदिने व्यापृणोति। इयं तु अग्रतः खण्डान् कारयति, तत्रापि न काचिद् विचारणा, अतो जगति पुण्याऽपुण्ययोर्महदन्तरं दृश्यते। 'बहुरत्ना वसुन्धरा' इत्युक्तिः सत्याऽस्ति"। ततस्तेषां कम्बलानां खण्डान् कृत्वा शालिभद्रस्य पुण्यं वर्णयन्तः स्वोत्तारके गताः। ततो भद्रया स्नानावसरे चेटीहस्ते द्वात्रिंशद्वध्वर्थं ते खण्डा दत्ताः। दासी तान् खण्डान् लात्वा स्नानगृहं गता। प्रतिवधु एकैकः कम्बलखण्डो दत्तः। ताभिरुक्तम्—'किमिदम् ?, किं कुर्मः ?'। चेट्या प्रोक्तम्—"श्रेष्ठिन्यः! अद्य पारदेशिका व्यापारिणः सपादसपादलक्षमूल्यान् रत्नकम्बलान् षोडश लात्वा मातुरग्रे आगताः। कम्बला दर्शिताः। मात्रा प्रोक्तम्—'द्वात्रिंशत् समानयत'। तैरुक्तम्—'मातः! इमे यत्र तत्र न भवन्ति। नेपाले ज्वलदिष्टकासु अग्नियोनिमूषकाः कदापि उत्पद्यन्ते, तेषां रोमाणि गृहीत्वा इमे निष्पाद्यन्ते। समस्तदेशे भ्रमणं कुर्वद्भिरेतावन्त एव लब्धाः, नाऽन्ये मिलन्ति। कस्मिन् कस्मिन् काले उत्पद्यन्ते, न सदा। एषां गुणा ऋतुत्रयेऽपि सुखदाः, अग्नौ क्षालने च शुभ्रा भवन्ति'। एवं मात्रा अतिनूतनम् अद्भुतं च वस्तु ज्ञात्वा, प्रतिकम्बलं सपादलक्षमूल्यं दत्त्वा षोडशापि गृहीताः। तत एकैकस्य द्वौ द्वौ खण्डौ कारयित्वा भवतीनां व्यापाराय[1] इमे खण्डाः प्रेषिताः"।

१ व्यापारणाय प्र०।

एवं दास्युक्तं श्रुत्वा ताभिस्ते खण्डा हस्ते गृहीताः। ऊर्णामयत्वेन कर्कशस्पर्शं ज्ञात्वा, मुखमोटनं कृत्वा, 'वयं परिधातुं न शक्नुमः, एते पादप्रोञ्छनमात्रे कार्ये आयान्ति नाऽन्यत्र' इत्युक्त्वा स्नानं कृत्वा, तैः खण्डैश्चरणतलानि प्रोञ्छ्य, निर्माल्यकूपिकायां क्षिप्ताः। चेट्यापि भद्राग्रे गत्वा सर्वं तज्ज्ञापितम्। भद्रयापि विहस्य प्रोक्तम्–'देवदूष्याणामग्रे एते कम्बलाः कियन्मात्राः?'।

अथ राज्ञः पट्टदेवी चिल्लणाभिधाना तद्वार्तां श्रुत्वा राज्ञोऽग्रे आक्रोशपूर्वकमित्यभाषत–"दृष्टोऽद्य मया भवतां स्नेहसम्बन्धः!, यद् यद् अभिनवं वस्तु परदेशतो भवदग्रे आयाति तत् स्वयमेव विलोक्य द्रव्यव्ययभीरुत्वेन बाह्यत एव भवान् विसर्जनं करोति, अन्तःपुरे तु दर्शनार्थमपि न प्रेषयति, तत्करणहार्दं मया लब्धम्–'यद्यन्तःपुरे दर्शयिष्यते तदा कदाचिद् अन्तःपुरस्त्रियो मार्गयिष्यन्ति, तदा च द्रव्यव्ययकरणमापतिष्यति!'। इति कृपणतादोषेण बहिरेव विसर्जनं करोतु सुखेन, परं स्नेहरीतिर्नैषा। यतः षड्ऋतुसुखदानक्षमा रत्नकम्बला आगता अभूवन्, ते च स्वयमेव विलोक्य विसर्जिताः, एकोऽपि कम्बलोऽस्मदर्थं तु न गृहीतः, अतो भवतां कृत्रिमः स्नेहः"। राज्ञा प्रोक्तम्–"नहि नहि कृपणताऽस्ति, मया तु एवं ज्ञातम्–अभिनवं वस्तु इति सत्यं परन्तु कर्कशस्पर्शोर्णजातीयत्वेन राज्ञीनां परिभोगाय चित्तप्रसत्तिकारका न भविष्यन्ति, इति हेतोर्विसर्जिताः, न तु द्रव्यव्ययभीरुतया"। राज्योक्तम्–'भवच्चित्ते चेद् एवं तर्हि एकं मार्गयित्वा मम समर्पयतु, चेद् अयं नागमिष्यति तदाऽहं भोजनं न करिष्यामि'। इति हठाग्रहं धृत्वा स्थिता। राज्ञाऽपि तस्या अत्याग्रहं ज्ञात्वा पुनरास्थानमागत्य अभयाय ज्ञापितं, यद् 'बाल–स्त्र्यादीनां हठो दुर्निवारः, अतो यथा तथा कृत्वा एकस्तु रत्नकम्बलो ग्राह्य एव'। ततो राजाज्ञया वाक्चतुरो वेत्री व्यापार्यभ्यर्णे प्रेषितः। स तत्र वणिजामभ्यर्णे गत्वा उवाच–'भोः साधुकारा व्यापारिणः! मगधाधिपः श्रीमुखेनाज्ञापयति, अतः सपादलक्षं मूल्यं गृहीत्वा एकं रत्नक-

पारदेशिकानामागमनं तत्सकाशात् भद्राया रत्नकंबलग्रहणं

म्बलं ददतु, नात्र कोऽपि सन्देहः, रोक्यद्रव्येण मार्गयति' । ततो वणिजः सम्मानपूर्वकमिति प्रत्युत्तरमभाणिषुः—"भो भद्र ! राज्ञेऽस्माकं सेवकानां सबहुमानं प्रणामो वक्तव्यः । विज्ञप्तिश्च वक्तव्या—यत् स्वामिना रत्नकम्बल आनायितस्तद् भवतो महती कृपा, परन्तु अस्माकं स्वामिनं नत्वा स्वोत्तारके गच्छतां शालिभद्रव्यवहारिणो मन्दिरस्याऽधो भूत्वा गमनं कुर्वतां 'पारदेशिका व्यापारिण' इति ज्ञात्वा शालिभद्रमात्रा आह्वाय्य पृष्टम्—'किं वस्तु विक्रीयते भवद्भिः ?' । तदाऽस्माभी रत्नकम्बला दर्शिताः । तया तु मुखमार्गितं मूल्यं दत्त्वा सर्वेऽपि गृहीताः । अधुना तु एकोऽपि कम्बलः सेवकानां पार्श्वे नास्ति, अतः किं कुर्मः ?[1] । सेवकास्तु प्रथमत आशां धृत्वा स्वामिनश्चरणमागताः, स्वामिना तु तदा इच्छा न कृता, तदाऽस्माभिस्तस्या अग्रे विक्रीताः । परन्तु धन्या स्वामिनयस्य च्छत्रच्छाया, यत्रेदृशा महेभ्याः परिवसन्ति; यत एकेनैव अस्माकं परदेशतोऽतिमहार्घवस्त्वानयनश्रमः सफलीकृतः । अन्यत्तु यद् आज्ञापयति तद् मस्तकबलेन प्रमाणीकरणप्रवणाः स्मः" । एवं प्रत्युत्तरं सम्मानं च कृत्वा वेत्री विसर्जितः । वेत्रिणापि उपभूपमागत्य सर्वं निवेदितम् । तदा श्रेणिकेनाऽभयेन च एकः प्रधानपुरुषः शालिभद्रमातुः पार्श्वे प्रहितः । सोऽपि तत्र गतः । देवभवनकल्पं गृहं दृष्ट्वा विस्मितचित्तो भद्राभ्यर्णं गतः । तयाऽपि अत्यादर-सम्मानपूर्वकम् आसने स्थापितः, पृष्टं चागमनप्रयोजनम् । तदा तेनोक्तम्—'ये भवत्या रत्नकम्बला गृहीतास्तन्मध्याद् एकं रत्नकम्बलं लग्नमूल्येन महाराजो मार्गयति[2], पट्टदेव्या आग्रहपूरणार्थमवश्यं प्रयोजनमस्ति, अत एकः कम्बलो दीयताम् ; लग्नमूल्यं च गृह्णातु' । एवं राजपुरुषोक्तं श्रुत्वा भद्रया प्रोक्तम्—"इदं धन-धान्य-गृहादिकं सर्वं राजकीयम्, अत्र मूल्येन किं प्रयोजनम् ?, अत्र मूल्यमार्गणमनुचितम् । चेत् परकीयः कोऽपि भवेत् तदा

१ वयं प्र० । २ महाराजो रोक्यमूल्येन यद्भवत्या गृहिता रत्नकंवला तन्मध्यादेकं कंबलं गृहितमूल्येन न न्यूनेन मार्गयति प्र० ।

तस्य मूल्यकथनं भवेत्। यद् महाराजस्य कार्ये आयातं तद् अस्माकं महान् भाग्योदयः। महाराजस्याज्ञानुकूलमेव सेवकैः कार्यं साध्यते तदा शतशः कार्याणि निष्पन्नानि। ईदृशैः कम्बलशतैर्महाराजस्य न्युञ्छनानि क्रियन्ते। यत् सेवकगृहस्थितं वस्तु स्वामिकार्यकरं भवति ततोऽधिकं फलं न किमप्यस्ति। धन्यः स दिवसो यद् अस्मदीयं वस्तु स्वामिचित्तप्रसत्तिकारकं भवति। परन्तु किं करोमि ?, महाराजस्यानेन कम्बलेन प्रयोजनमस्तीति न ज्ञातं पूर्वं मया। तेषां द्वौ द्वौ खण्डौ कृत्वा स्नुषाणाम् एकैकः खण्डो दत्तः, ताभिरपि 'एतैः कम्बलखण्डैः का शोभा ?' इत्यनादरपूर्वकं स्नात्वोत्थिताभिः सर्वाभिस्तैः खण्डैः पादाः प्रोञ्छिताः। अद्यैव पश्यतु भवान्, निर्माल्यकूपिकायां ते पतिताः सन्ति। यद्यपि तेऽग्नौ तापिता मलमुक्ताः शुद्धा भवन्ति, परन्तु निर्माल्यत्वं प्राप्तानां भोगोत्तीर्णानां तेषां महाराजस्योपायनं कथं कर्तुं शक्यते ?, अव्यापृतं वस्तु महीपत्यग्रे ढौकयितुं युज्यते, नान्यत्। अतः प्रणामपूर्वकं राज्ञोऽग्रे मयोक्ता विज्ञप्तिः कर्तव्या। अन्यच्च, यत्किमपि वस्तुजातैश्चेत् प्रयोजनं भवेत् तत्तु सर्वं स्वाम्यधीनमेवास्ति"। इति तस्य प्रत्युत्तरं कृत्वा, भव्यताम्बूल-वस्त्रादिना प्रतिपत्तिं कृत्वा, शिष्टाचारेण प्रसत्तिपात्रं च कृत्वा विसर्जितः। सोऽपि भूपा-ऽभयसमीपं गत्वा सविनयं सर्वम् अचीकथत्। तच्छ्रुत्वा राजाऽभयश्च विस्मयेन चमत्कृतचित्तौ जातौ। श्रेणिकः स्वचित्ते चिन्तयति-"अहो ! काऽप्यनिर्वचनीया पुण्यगतिः, पुण्ये पुण्ये महदन्तरम्। यतोऽहं स्वामी, अयं च मम सेवकः, परं पुण्ये महदन्तरम्, यद् अयं सेवकः सन् एकदिनमात्रे भोग्यं भुङ्क्ते तदहं वर्षेणापि भोक्तुमसमर्थः,। मम तु एक एव रत्नकम्बलो रणरणककारणमस्ति, अनेन तु षोडशाऽपि ते जीर्ण-शीर्णवस्त्रवत् पादप्रोञ्छनं कृत्वा परिष्ठापिताः, अस्पर्शत्वं च प्रापिताः। शुभ-शुभतरशुभतमाऽध्यवसायानाम् उदये विचित्रता श्रीजिनैः प्रोक्ता तत्सत्यमेव। परम् एकया वार्तयाऽहमपि धन्यतमोऽस्मि यद् मम

नवमः पल्लवः पारदेशिकानामागमनं तत्सकाशात् भद्राया रत्नकंबलग्रहणं

राज्ये ईदृशा भोगपुरन्दराः सुखविलासं कुर्वन्ति, तेन अहमपि सफलजीवितेन जीवामि। परम् ईदृशं भोगपुरन्दरत्वं पूर्वजन्मकृतश्रीजिनमार्गाऽनुकूलशुद्धतपस्या-दानादीनां फलमस्ति, अतोऽस्याराधकस्य दर्शनं करोमि, स कीदृशोऽस्ति। अतिपुण्यवतां दर्शनेन दिवसः कृतार्थो भवति"। इति विचिन्त्य अभयाय ज्ञापितम्-'त्वं तस्य गृहं गत्वा, सुकुमारवचनैस्तं प्रमुदितं कृत्वा, सम्मानपूर्वकं वहुयत्नैर्यथारुचि सुखासनादियानाऽधिरूढं कृत्वा, दिव्यवादित्रनिर्घोषाद्याडम्बरपूर्वकम् इहानय, यथाऽहं कृतधर्मस्य तस्य पुण्यवतो दर्शनं करोमि'। इति राजादेशं लब्ध्वा शुभपरिकरयुतोऽभयः सहर्षं शालिभद्रगृहं गतः। सेवकैरग्रत एव भद्रायै अभयागमनं ज्ञापितम्। भद्राऽपि स्वगृहवीथ्यां यावदभय आगतस्तावत् स्वयं वहुभिः सखी-दासीभिः परिवृता स्वगृहाङ्गणतः शतपदं यावत् सम्मुखमागता। तत्र अत्यादरपूर्वकं न्युञ्छनानि कृत्वा गृहान्तर्नीतः। भव्यासने स्थापयित्वाऽत्यद्भुतनवनवदेशोत्पन्नवस्तूनाम् उपायनानि कृत्वा, पुष्प-ताम्बूला-ऽत्तरादिभिः शिष्टाचारं कृत्वाऽग्रे स्थित्वा हस्तौ संयोज्य भद्रा प्राह-'अद्याऽस्माकं महान् पुण्योदयः, अद्य सुप्रभातदिवसः, अद्य पूर्णा मनोरथा यत् स्वामिभिरमात्यैः स्वचरणन्यासैर्गृहं पावनं कृतम्। स्वामिना एतावान् श्रमः कृतः ?, गृहे स्थितेनैव किमाज्ञा न कृता ?। स्वाम्यादेशश्रवणमात्रेण निर्दिष्टं कार्यं शिरोवलेन मया कृतमभूत्। सेवकानां हि स्वामिनिर्दिष्ट कार्यकरणे आज्ञामात्रविलम्बो भवति'। एवं भद्रावचः श्रुत्वाऽभयः प्राह-"यद् भवत्योक्तं तत्सत्यम्, अहं जानामि भवादृशानां कुलजानामियमेव स्थितिरस्ति; परन्तु मयापि स्वाम्यादेशः प्रमाणीकर्तव्यः। यतोऽद्य महाप्रसन्नचित्तेन राज्ञा मां प्रत्युक्तम्-'त्वं सपरिकरः शालिभद्रगृहं याहि, गत्वा च सुखप्रश्नं कृत्वाऽत्यादरेण यत्नपूर्वकम् अत्रानय येनाऽहं पुण्यशालिनः शालिभद्रस्य मुखं पश्यामि'। इति नृपादेशं प्राप्य शालिभद्रस्यामन्त्रणायाऽहमागतः। तेन शालिभद्रं मया सह संप्रेषयतु, यथाऽत्युत्सुकस्य राज्ञो मनोरथः

फलवान् भवेत्। प्रसन्नीभूतो राजा महत्त्वबीजं महाप्रसादं करिष्यति, तेन समस्तेऽपि पुरे भवद्गृहस्य यशः-प्रतिष्ठावृद्धिर्भविष्यति, दुर्जनानां च मुखम्लानिर्भविष्यति। अहम् एकत्र सुखासनेऽश्ववारिकां कारयित्वा, राज्ञः सम्मानं दापयित्वा, पुनरत्रैवानेष्यामि, अतः शीघ्रं मया समं प्रेषयतु। अन्ये केऽपि महेभ्या राज्ञो मिलनार्थं राजद्वारमागत्य बहुद्रव्यव्ययं कुर्वन्ति, आगत्य आगत्य पुनः पुनर्यान्ति, परं दर्शनं न प्राप्नुवन्ति; अस्मदादीनां सेवां विज्ञप्तिं च कुर्वन्ति, तथापि कस्यापि मिलनं भवति, कस्यापि मिलनं न भवत्येव। पुण्यवतो भवत्या पुत्रस्य मिलनार्थं तु प्रत्युत राजा आतुरोऽस्ति, अतोऽत्र न काऽपि शङ्का विधेया"। एवम् अभयवचनानि श्रुत्वा सहर्षं भद्रा प्राह-"स्वामिना यदुक्तं तत् सत्यमेव। भवादृशानां जगति रत्नभूतानां वचसि काऽधीरता ?, को मूर्खो विकल्पयेत् ?। अहमपि भवत्प्रसादेन जानामि-इह लोके लज्जा-प्रतिष्ठा-मान-महत्त्व-यशः-ख्याति-शोभा-समृद्धि-सुख-सौभाग्य-वैरिजयादीनामेकमेव राज्ञः सम्मानम् अवन्ध्यहेतुरस्ति। राजद्वारगमने सहजो विघ्नध्वंसो दृश्यते। यतः-

"गन्तव्या[1] राजसभा, द्रष्टव्या राजपूजिता लोकाः। यद्यपि न भवन्त्यर्थास्तथाप्यनर्था विलीयन्ते" ॥१॥

ततः कृपयाऽऽह्वयति नृपस्तत्र किं किं कथनीयम् ?, तत्तु परमपुण्योदयसूचकं सकलाऽभीष्टसाधकम् अहमपि वेद्मि। परम् अयं मम शालिरज्ञातराजसभाव्यतिकरः कदापि राजसभायां गतो नास्ति। राजसभायां षट्त्रिंशद् राजकुलीना नराः, तत्रायं किमपि न वेत्ति यद् अयं प्रथमं नमनीयोऽयं च पश्चाद् नमनीयः, राजसभायाम् एतद्वाच्यं भवति एतत्तु न वाच्यम्, पुनरत्रासने उपवेष्टव्यम् अत्र नैव, एवं किञ्चिदपि न वेत्ति। पुनस्तत्र बहवः सधना महेभ्या बहवो मन्त्रिमुख्या बहवश्च क्षत्रियोग्रकुलोत्पन्नाः स्थिताः सन्ति, एतेषा-

१ गन्तव्यं राजद्वारे प्र०।

मग्रतः कतमाः ?, वामतः कतमाः ? दक्षिणतः कतमाः ?, एषां ज्येष्ठः कतरः ?; कनिष्ठः कतरः ?; एषां मध्ये कया रीत्या स्थातव्यम् ?,
एतत्सर्वम् अनभ्यासात् शालिर्न वेत्ति, अतः कथं तत्रागत्य श्लाघनीयो भवेत् ?। महाराजस्य पूर्णकृपयाऽद्य यावद् घटिकामात्रमपि
परतन्त्रभावेन स्थितो नास्ति। अस्य पुना राजद्वारं यावदागमने सहस्रक्रोशपरिमितः श्रमो भविष्यति; अतो यदि एकान्तेन सेवकस्यो-
परि महाराजेन कृपाऽवधार्यते, 'सेवकः क्षणमपि दुःखितो मा भूत्' एवं चेद् महती कृपाऽस्ति तदा तु सेवकस्य मानवृद्ध्यर्थं स्वयमेव
श्रमं कृत्वाऽत्रागत्य स्वचरणन्यासेनेदं सेवकगृहं पवित्रयतु। तदा च अस्माकं सर्वेऽपि मनोरथाः पूर्णा भविष्यन्ति, सेवकश्च सर्वेष्वपि
इभ्येषु अधिकः श्लाघ्यतरो भविष्यति। स्वामिनां घटीचतुष्कमात्रश्रमेण सेवकस्य भवं यावत् सुख–मान–वृद्धिर्भविष्यति। एतद् मदुक्तं
भवतां प्रसादेन भवेद्, नान्यथा। यतो भूपतयो मन्त्र्यधीना भवन्ति। भवादृशाः परदुःखभञ्जकाः कृपालवः सज्जनाः परस्येप्सितं
कुर्वन्त्येव। अस्मिन् महानगरे सर्वेषां पुरुषाणां मध्येऽधुना तु द्वावेव पुरुषोत्तमौ भवतः, एकस्तु मम जामाता भवतां भगिनीपतिः,
द्वितीयो भवांश्च; यो हि परेषां मनोरथपूरणे कल्पद्रुमः। अतो यदि भवान् कृपां कृत्वा 'इदं करणीयमेव' इति हृदि अवधारयति तदा
तु जातमेव, नान्यथा। अस्मादृशानां वणिग्मात्राणां गृहे महाराजस्यागमनं कथं सम्भाव्यते ?, अतोऽस्मदीयगृहलज्जा भवदधीना, प-
श्चाद् यद् रोचते तत् करोतु"। अथाऽभयो भद्रोक्तं श्रुत्वा प्राह—"[2]भवत्या यदुक्तं तत् सत्यम्। परं युष्मदीयमनोरथपूरणेऽहं विलम्बं
[3]कुर्यामिति सर्वथैव न श्रद्धेयम्, यतो युष्माभिः सहाऽनेकधा सम्बन्धोऽस्ति। प्रथमस्तावत् श्रीमज्जिनचरणोपासका वयम्, द्वितीयः
शालिभद्रभगिनी मद्भगिनी च एकत्र गृहे विवाहिते, तृतीयश्च महाराजस्य गोभद्रश्रेष्ठी परमप्रिय आसीत्, तेन युष्मद्गृहोपरि तु महा-

१ मयोक्तं प्र०। २ भवतीभिः प्र०। ३ करोमीति प्र०।

राजस्य पुरातनी कृपाऽस्त्येव, अतो भवदीयं कार्यं तत् मदीयमेव जानामि, नाऽन्तरं गणयामि। परं यदि अत्यौत्सुक्येन तत्र गत्वा विज्ञप्तिं करोमि तदा सभायां केऽपि खला एवम् अलीकमुद्भावयेयुः—'भद्री कथमपि छद्मादिना वशीकृत्याऽस्य गृहे गमनार्थं प्रेरयति, तस्य पुत्रस्य प्रधानमनुष्यस्तु कोऽपि नागतः!'। केऽपि वाचाला वदेयुः—'महाराजस्याज्ञा प्रमाणमेव!, यदाज्ञां श्रुत्वा स्वेच्छया स तु नागतः, प्रत्युत राजानमाह्वयति। राजा यदि स्वयं गच्छेत् तदा राज्ञो महत्त्वं कुत्र स्थितम्?'। कोऽपि पुनर्जल्पेत्—'यदि महाराजो भूत्वा वणिग्गृहे गमनं करिष्यति तदाऽस्मदादीनां गृहे कथं नागमिष्यति?, प्रतिगृहगमने न राज्ञो लघुत्वं स्थास्यति'। एवं विविधजनजल्पने राज्ञो यद्यपि कृपाऽस्ति तथापि किं क्रियते?, राज्ञां चेतांसि क्षणस्थायीनि अस्थिराणि भवन्ति, अतः कदाचित् मनसि निःस्नेहागमने यद्वक्तं विरज्येत् वा न। अतो यदि ईप्सितं साफल्यं कर्तुं समीहाऽस्ति चेत् तदा मया सह शुभासने स्थित्वा राज्ञ उपकण्ठमागन्तव्यम्। तथागत्य भवत्या ममाग्रे विज्ञप्तिः कृता भवती तथ्यार्थं करणीया। तदवसरमेत्य अन्यो भूपालाकारोचित-वचनकथनेन भवत्याः कार्यं करिष्यामि। भवत्योऽपि तत्र स्थितौ भविष्यति सोऽपि प्रेरको भविष्यति। तत्रागमनेन भवत्याः कार्यं सिद्धमेव ज्ञेयम्"। ततो भद्राऽभयोक्तं श्रुत्वाऽत्यन्ततोषागमनवस्तूनि लात्वा गुप्तासनाभिरूढा बहुदासी-दासपरिवाराऽग्रेण सह राजद्वारं गता। यानतो गुप्तासनादुत्तीर्य सभान्तः प्रविश्य तावताऽभयेनाऽऽगमेन उपकण्ठे भूत्वा राज्ञे प्रोक्तम्—'स्वामिन्! शालिभद्रमाता विज्ञप्त्यर्थमागच्छति, सा स्वामिनाऽवधारणीया'। भद्राऽपि राज्ञः समीपमागत्योपायनमग्रे धृत्वा प्रणामं न कृताञ्जलिः स्थिता। राजा च सादरं प्रत्तासनका उपवेशनस्थानं दर्शयित्वा प्राह—'शुभगे श्रेष्ठिनि! स्वागतं तव, लीलापतेस्तव पुत्रस्य सौख्यमस्ति?'। भद्रा प्राह—'स्वामिनः कृपया सौख्यं लीलायितं न भवत्येव। चेत् स्वामिनः सुप्रसन्नदृष्टिरेव मस्तकोपरि जागर्ति को बाधितुं समर्थः?। पुनर्य-

स्योपरि पूर्णकृपादृष्टिर्जाता तस्यैहिकसुखविलासकरणे किमाश्चर्यम्,?, कस्तस्य विघ्नकृद् भवति ?'। पुना राजा प्राह–'भद्रे! मया निमन्त्रि-
तोऽपि तव लीलापतिः सुतः कथं नागतः ?'। भद्रा प्राह–"स्वामिन्! आजन्मतोऽद्य यावद् भवतां(ता) पूर्णकृपया लीलापतिः कृतः।
लीलाकरणमात्रमेव वेत्ति, नान्यत्। तस्य स्वरूपहार्दं बुद्धिनिधेरभयमन्त्रिराजो(जस्या)ऽग्रे निवेदितमस्ति; अतः स्वामिनः कृपा तु
अस्त्येव, पुनर्विशेषतः कृपामवधार्य सेवकस्य मन्दिरं पवित्रयतु। यत्र स्वामिनां पूर्णकृपा भवति तत्र किमपि विचारणीयं न भवत्येव,
यथा श्रीमद्रामचन्द्रश्चर्मकारपुत्रीमनोरथपूर्त्यर्थम् अनाहूतोऽपि स्वयमेव तत्र गत्वा, तस्याः श्वसुरगृहं यावत् स्वयं सह गत्वा, तत्र स्थाप-
यित्वा आगतः। एवमनेकधा प्रजाया लालन–पालनं कृतम्। ये भवादृशा महान्तो भवन्ति ते परमनोरथपूरणं विना नान्यत् किमपि
विचारयन्ति। अस्मादृशानां सेवकपरमाणुमात्राणां मनोरथपूरणे भवादृशानां महती गुरुतावृद्धिर्भवति, न काऽपि क्षतिः। 'अहो! अस्य
कृपालुत्वम्, अहो! अस्य सरलत्वम्, अहो! अस्य प्रजालालन–पालनम्' एवम् अनेकयुगं यावत् कीर्तिः स्थिरा भवति। अतः कृपां
कृत्वा मम विज्ञप्तिमवधार्य मन्दिरं पावनं कर्तव्यं स्वचरणन्यासेन यथासुखम्। भवतां गृहागमनेन लीलापतेर्भवतः सेवकस्य यथार्थ-
फलप्राप्तिर्भविष्यति; तस्य तु अत्रागमने सहस्रकोशपथकरणश्रमो भविष्यति। अतः परं तु भवदिच्छा प्रमाणम्। भवदीयाज्ञां को न
मन्यते ?, यथारुचि करोतु, अस्माभिस्तु भवदाज्ञा शिरोबलेन कर्तव्या"। इति भद्रावचांसि श्रुत्वा राज्ञाऽभयसम्मुखं दृष्टिः कृता।
तदाऽभयेनोक्तम्–'प्रजापालनतत्पराणां भवादृशानां तस्य गृहे गमनं युक्तमेव, न कापि वचनीयता। भवद्गमनेऽस्य पूर्णमनोरथो-
ऽनिर्वचनीयानन्दश्च भविष्यति, लोके च प्रजावात्सल्यजन्यकीर्तिप्रसरो भविष्यति, परन्तु भवतां यथा रुचिः'। तत्समये धन्येनाऽपि
अभयवचनं सत्यापितम्–'महाराज! मन्त्रिराट् शोभनं वक्ति, भवतां तत्र गमने प्रजावात्सल्यकरणेन कीर्तिः प्रवर्त्स्यति'। ततो राजा

भद्राया आमन्त्रणं श्रेणिकेनाङ्गीकृतं

भद्रां प्रति प्राह–'हे भद्रे ! त्वं सुखेन गृहं याहि, वयमागच्छामः'। इति राज्ञो वचः श्रुत्वा सहर्षं सुवर्णरत्नै राज्ञः शिरसि न्युञ्छनानि कृत्वा पुनः सुखासने स्थित्वा गृहमागता। स्वप्रधानपुरुषान् आहूयाज्ञा दत्ता, यद्–"आत्मीयगृहाद् राजद्वारं यावत् सर्वं मार्गं कचवरशोधन–सुगन्धिजलाच्छोटन–विचित्रपुष्पविकरणादिना दर्शनीयं कुरुत, त्रिपथ–चतुष्पथान् महामण्डप–ध्वज–पताका–तोरणादिभिरतिरमणीयान् रचयत, मार्गस्थां हट्टश्रेणिं विविधदेशोत्पन्नैः स्वर्णसूत्रपरिकर्मितवस्त्रैराच्छाद्य आश्चर्यकारिकां कुरुत, स्थाने स्थाने कृष्णागुरु–मृगमदा–ऽम्बरादिना धूपघटीं कृत्वा समस्तमपि मार्गं सुगन्धेन वासितं कुरुत, तथा स्थाने स्थाने पुष्पमालालम्बितान् हट्टान् कुरुत"। एवं भद्रादेशं प्राप्य ते तथा कर्तुं प्रवृत्तास्तावता पुत्रमोहमोहितेन सदा दत्तावधानेन गोभद्रसुरेण स्वशक्त्या भूस्थं राजगृहं स्वर्गोपमं कृतम्, यत् पश्यतां जनानां समग्रैर्दिवसैर्दृष्टिस्तृप्तिं नाप्नुयात्। ततो राजा अभयादिप्रधानपुरुषैः राजमान्यसामन्तादिभिर्महत्या सेनया च परिकरितो गीताऽऽतोद्यवादन–वन्दिविरुदपठनादिमहाडम्बरयुतो राजद्वारान्निर्गतोऽग्रे पश्यति तावता नगरशोभां दृष्ट्वाऽतिचमत्कृतः ससम्भ्रमं पार्श्वस्थान् प्रष्टुं लग्नः—'अहो ! ईदृशम् अतिरमणीयतरं पुरं केन कृतम् ?'। ततः सन्देशहारकैः पुरुषैरुक्तम्—'स्वामिनो गृहनिमन्त्रणहेतोर्भक्त्या भद्राकारितम्। अत्र तु किमप्याश्चर्यं नास्ति, अग्रे तु अनिर्वचनीया रचनाऽस्ति, तां तु यः पश्यति स एव जानाति, परं मुखेन यथार्थं वक्तुं न शक्यते'। राजादयस्तच्छ्रुत्वा विस्मयं प्राप्ता वदन्ति–'एतावता स्तोककालेन कः कर्तुं शक्नोति ?, अतो देवकृत्यमेवेदम्'। मार्गे यथा यथाऽग्रे यान्ति तथा तथा अभिनवाम् अदृष्टपूर्वाम् अनिर्वचनीयां रचनां पश्यन्ति। क्षणे क्षणे सैन्यजनाः पुरजनाश्च अत्यद्भुतदर्शनकौतुकाविष्टचित्ता आश्चर्यैकलीनाः स्तम्भिता इवाऽग्रे गन्तुं न शक्नुवन्ति। यदि कोऽप्यागत्य प्रेरयति–'चलत, अग्रतोऽपि बहुरमणीयमस्ति' तदाऽग्रे चलन्ति। पुनरन्यत्र गत्वा

कामप्यन्यरचनां दृष्ट्वाऽतिचमत्कृतचित्ता अनिमेषाः पश्यन्तो मनुष्या देवा इव बभुवुः। राजाऽपि हस्तिस्कन्धाधिरूढ इतस्ततो यत्र यत्र पश्यन्ति तत्र तत्र निरुपमाम् अश्रुतपूर्वां रचनां पश्यन् चित्ते महाश्चर्यं वहन् चलति। परम् एकतो यदा पश्यति तदाऽपरतस्तु अदृष्टं तिष्ठति, तदा च सेवकः प्रेरयति–'महाराज! इतोऽवधार्यताम्, कीदृग् दर्शनीयमस्ति?'। यावच्च तद् राजा वक्रमुखेन पश्यति तावता सेवको वक्ति–'देव एतद् अग्रगतं कौतुकं पश्यतु'। तदा पुना राजा बलेन दृष्टिं सरलां कृत्वाऽग्रतः पश्यति। एवं क्षणे क्षणे स्फारोदारां गोभद्रनिर्मितां शोभां पश्यन् मुहुर्मुहुराश्चर्यनिमग्न उत्फुल्ललोचन इतस्ततः पश्यन् विभ्रमे पतितः। 'कया रीत्या इदं निष्पादितं भविष्यति?' एवं पदे पदे शङ्कमानः पुनरग्रेऽभिनवाश्चर्यं पश्यति तदा ततोऽप्यधिकतरबुद्ध्या विचारयति, परं हार्दं न प्राप्नोति। एवं लीलावैभवं दृष्ट्वा दृष्ट्वा चिन्तयति–"किमिदं सत्यं वा स्वप्नं वा इन्द्रजालम्?। एतानि आश्चर्यकृद्वस्तूनि केन निर्मितानि?, कया रीत्या?, केन द्रव्येण?। निराश्रयाणि कथं स्थितानि?। अहो पुद्गलतावैचित्र्यम्!। विना जिनमतं कोऽस्य हार्दं ज्ञाताऽस्ति?, अतो जिनवचनं सत्यम्; यत आगमेऽप्युक्तम्–'जीवानां गतिवैचित्र्यस्य, पुद्गलानां पर्यायाविर्भावतिरोभाववैचित्र्यस्य, तथा कर्मणो बन्धो–दयवैचित्र्यस्य हार्दं जिनो वा जिनागमो वा वेत्ति, नान्यः'। अतस्तौ एव सत्यौ"। एवं विचारयन्, स्थाने स्थाने नवनवरचनां मण्डपान् शालभञ्जिकाकृतनृत्यादिमहाश्चर्याणि च पश्यन्, 'किमिमाः सचेतना अचेतना वा देवीनां रूपाणि वा?' एवं मुहुर्मुहुर्विचारयन्, पुनर्जिनमार्गज्ञानं सत्यापयन्, हर्षं प्राप्नुवन्, 'यद्यहम् अस्य गृहे नागतोऽभविष्यं तदा इमानि विचित्राणि अदृष्टा–श्रुतपूर्वाणि कौतुकानि कथम् अद्रक्ष्यम्?' एवं साह्लादं विकल्पयन्, सपरिच्छदो भूपो दिव्यश्रियोपशो-

मितं शालिभद्रआवासं आपत् । तत्र प्रथमद्वारप्रवेशे नीलरत्नदलोपशोभितसुवर्णकलशैर्भासुरम् अन्तरान्तरा अनेकवररत्नकृतैश्चित्र्यं तोरणत्रितयं भूभुक् प्रेक्षत । अथ सर्वे मन्दिरान्तः प्रविशन्तोऽग्रे यावता गच्छन्ति तावता अम्बुभ्रमकरं स्फाटिकरत्ननिर्मितं भूमितलं दृष्ट्वा केचिद् भद्रका अम्बुभ्रमेण वस्त्रं संवरितुं लग्नाः, तदा धीमताऽभयेन स्वकीयनैपुण्यदर्शनार्थम् अज्ञता-हास्यनिवारणार्थं च हस्तात् पूगफलम् अग्रतः पातितम्; भूमिसंयोगे शब्दायमानं श्रुत्वा 'स्फाटिकमयं भूमितलम्' इति निश्चित्य तेऽग्रतो गन्तुं प्रवृत्ताः । ततोऽग्रे दिव्यमणिमयस्तम्भैः संयुक्तम् अतिरम्यतरं स्थानं दृष्ट्वा चमत्कृतचित्तस्य भूपतेस्तत्र स्थातुम् अभिप्रायम् इङ्गितैर्ज्ञात्वा भद्रा कुलवधूभिः सह मणिमुक्ताफलैर्वर्धापयित्वा अनेकसहस्रलक्षसुवर्ण-रत्नैर्न्युञ्छनानि च कृत्वा कृताञ्जलिः सती विज्ञपयितुं लग्ना-'स्वामिन् ! उपरितना भूमिः पवित्रीक्रियताम् । अत्र स्वामिनः स्थितिकरणयोग्यं स्थानं नास्ति, यतोऽत्र तु द्वारपाल-पशुबन्धनादीनां स्थानमस्ति' । तच्छ्रुत्वा भूपश्चिन्तयति-"अहो ! पुण्यप्रकृतेर्भेदः, ईदृशं रमणीयतरं मम शयनस्थानमपि नास्ति । शुद्धाशय-बहुमानगर्भितदानादिधर्मसेवनफलम् ईदृशम् । यदुक्तं जिनागमे-'असङ्ख्याताऽध्यवसायैर्निष्पन्नमेकं प्रकृतिस्थानं, तदपि असंख्यातभेदभिन्नं प्रोक्तम्, तत्रापि रसभेदा अनन्ताः' । एवं विचित्राः पुण्य-पापयोर्भेदाः श्रीमज्जिनरुक्ताः, अतस्तद्वचनमेव सत्यम्" । एवं शुद्धोपयोगो भूत्वा सोपानमार्गेण उपरितनभूमौ सपरिच्छदो नृपतिश्चटितः । सा च विविधरत्नजटितगवाक्ष-मुक्ताफलग्रथितजालिकादियुता, स्थाने स्थाने सुगन्धिधूपादिना वासिता, विविधातोद्य-क्षेतिगणैश्च सर्वतो दर्शनीयाऽस्ति । तत्रापि भद्रयाऽऽगत्य विज्ञप्तम्-'पूज्यपादैरुपरितनभूमौ कृपा कर्तव्या; इदं तु दासी-दासा-ऽश्वधर-कुन्तधरा-ऽऽतोद्यवादकानां स्थानं स्वामियोग्यं

१ स· कीदृशः' इत्यधिकः पाठः प्र० ।

॥१८०॥

नास्ति' । पुना राजाऽतिचमत्कृतचित्तो विचारयति–'दृश्यतां पुण्यविलासः, मम स्थानतोऽप्यधिकानि दासादीनां स्थानानि, एष सर्वोऽत्यादरपूर्वकदानादीनां चमत्कारः' । एवं विचारयन् तृतीयभूमौ गतः । तत्र स्थानं विविधदेशोत्पन्नचीनांशुकप्रमुखाणां चन्द्रोदयैः सन्ध्याभ्रवद् रमणीयतरं, स्फाटिकादिविविधभासुरप्रस्तरै रचितविचित्रभूमितलम् अतीव शोभनं दृष्ट्वा राजा तत्र स्थातुमना अभूत् । तज्ज्ञात्वा पुनर्भद्रा प्राह–'स्वामिन् ! चतुर्थभूमिं पवित्रयतु, न हि इयं भूमिः स्वामिनः स्थातुं योग्या । इदं तु वाणिज्याऽधिकारिणां लेखकानाम् उद्ग्राहकाणां च सेवकानां स्थानम्' । तच्छ्रुत्वा राजा विचिन्तयति–'अहो ! पुण्यबलम्; यद् अहं राजा, अयं तु मदीया प्रजा, परं पुण्ययोरन्तरं महत् । अत्र विस्मयो न कर्तव्यः । पूर्वकृतभावाधिकदानादीनां फलं श्रीमद्भिर्जिनैरुक्तं तत् सत्यमेव' । इति विचिन्तयन् चतुर्थभूमौ चटितः । तत्र स्थानं रत्नखचितरमणीयस्तम्भश्रेणिविराजितम्, आयासभित्तिजटितरत्नमुकुराणां परस्परं प्रतिबिम्बनाद् मार्गभ्रान्तिकरं, स्थाने स्थाने बावनाचन्दना–ऽगुरु–मृगमदा–ऽम्बर–तुरुष्कादीनां धूपोद्गमवासनया परिपूरितघ्राणेन्द्रियं दृष्ट्वा सर्वेऽपि पुनः पुनर्मस्तकं धूनयन्ति । तदा मन्दारकुसुमग्रथितमालाऽवलम्बितजालिकाः स्पृष्ट्वा वायुरत्यामोदकरो मन्दं मन्दमागच्छति । ऊर्ध्वं चन्द्रोदये रत्नवल्लिवलये रत्नमयपत्र–पुष्पाणि को वर्णयितुं शक्नुयात् ? । तत्र झुम्बकेषु लहलहायमानमणि–मुक्ताफलादीनां विचित्रवर्णादीन् दृष्ट्वा चक्षुरेव न निवर्तते । स्थाने स्थाने नवनवरचनाऽनेकसङ्ख्ययाऽस्ति, तत्र किं किं पश्येयुः ?[1] । यत्र यः पश्यति तत्र तस्य दृष्टिः स्थिरीभूय लगति । ततो राजादयः स्वयमेव प्राहुः–'वयं तु अत्रैव स्थास्यामः, यतः स्थिरीभूय विलोकयेम' । ततो भद्रया राज्ञ आशयं ज्ञात्वा, रत्नमयं भव्यसिंहासनमानाय्य, उन्नते स्थाने स्थापयित्वा,

१ 'अतः परं किं भविष्यति' इत्यधिकः पाठः प्र०

विच्छायत्वको—स्त्रीणिकादिना संस्कार्यं निवासम्—'देव ! अलंक्रियताम् इदमागमनम्' । राजा तद्विलोकनं दृष्ट्वा 'किमिदम् ऐन्द्रं चान्द्रं वा ?' इति विमृशन् सिंहासने स्थितः प्राह 'भाग्यवति ! तव लीलापतिः पुत्रः क्व ?, अत्र समानय, यथाऽहं तस्य पुण्यनिधे-र्दर्शनं करोमि' । ततो भद्रया राजादेशं प्राप्य सप्तम्यां भूमौ गत्वा शालिभद्र आलापितः—वत्स ! अधस्तनभूमिं शीघ्रं समागच्छ, स्वागारे आगतं श्रेणिकं विद्धि' । एवं मातृवचः श्रुत्वा शालिः प्राह—मातः ! अत्र मे कथनीयं किम् ?, यथार्हं धनं दत्त्वा श्रेणिकं पण्यं गृहाण, त्वत्तः किमहम् अतिनिपुणः ?' । मात्रोक्तम्—'वत्स ! न तु पृथिव्याम् अतिमहार्घम् , अमूल्यमस्ति, भाग्येनाऽऽस्मा-स्वते' । शालिः प्राह—'एवं चेत्तर्हि मुखमार्गितं धनं दत्त्वा गृहाण, यथा परहस्ते न याति' । एवं पुत्रस्य वचनाद्भुताम् ऐश्वर्यली-लामालोक्य 'अहो ! अयं लीलापतिः पुत्रः कीदृशम् वक्ति ?' एवं विमृशन्ती जननी हृदि बाढं जहर्ष । स्वसुतम्—'एवम् एकान्तेन अतिभद्रकत्वं सरलत्वं च न शोभामावहति, योऽवसरोचितं जानाति सोऽतिनिपुणः, अत इमं किञ्चिद् नीतिवचः श्रावयित्वा जाग-रितं करोमि' । इति ध्यात्वा प्राह—"वत्स ! श्रेणिकः क्रयाणकं न, किन्तु तव स्वामी मगधदेशाऽधिपतिः । अस्मत्सदृशा अनेके तस्य सेवामहर्निशं कुर्वन्ति । अनेकमाण्डलिकभूप–सामन्त–श्रेष्ठ्यादयोऽपि अहर्निशम् आज्ञाशिरस्कतया तस्यैवाग्रे स्थिताः सेवन्ते । 'किमयं वदिष्यति ?' इति शुश्रूषोत्सुका हस्तयोजनपूर्वकं स्थिता दृश्यन्ते एते सर्वेऽपि जनाः । त्वमपि तस्य शुभदृष्ट्या स्नेहितां गुणविस्तारं कुर्वन्नसि । चेत्तस्य दृष्टिविपर्ययो भवेत् तदा कोऽप्यात्मनश्छायायाः समीपेऽपि न तिष्ठेत् । तस्मिन् तुष्टे सति सर्वेऽपि तुष्टा भवेयुः, रुष्टे च तस्मिन् कोऽप्यात्मीयोऽपि वार्तामपि श्रोतुं नोत्सहते । अतः स्वयम् अधस्तनमागत्य सविनयं प्रणिपत्य तं प्रसत्ति-

१ 'स्थितः, ततो राजा' इति प्र० । २ 'रुष्टेन' इत्यधिकः पाठः प्र० ।

पात्रं कुरु। तस्यागमनेन तव गृहशोभा वृद्धिमाप्ताऽस्ति, पुनस्त्वमागत्य विनयादिगुणदर्शनपूर्वकं महतीमुन्नतिं पाणौ कुरुष्व। स तु
त्वद्दर्शनसमुत्सुकोऽस्ति, तवागमनेनाऽस्य महती चित्तप्रसत्तिर्भविष्यति, जगदनुकूलं च बहुमानं दास्यति, अतः शीघ्रमागच्छ"।
इत्येवं मातुर्वचः श्रुत्वा मात्राधिकं हृदि दूनो विचिन्तयितुं लग्नः-"हा! ममापि स्वाम्यस्ति। अहो! एतावन्ति दिनानि तु अर्हन्तं
स्वामिभावेन जानामि; तं विना नाऽन्यं कमपि स्वामित्वेन जानामि; यस्याभिधानं प्रातरुत्थाय गृह्यते, भक्त्या च स्तुतिपूर्वकं यः
प्रणम्यते। चेद् मात्रोक्तो मादृशस्तुल्यकर-क्रमो ममापि स्वामी तदा मत्तोऽपि तस्य पुण्यं महत्तरं, मत्पुण्यं तु हीनतरम्। एवं परा-
धीनत्वे किं सुखम्?, संसारे पराधीनत्वाद् अन्यद्दुःखमधिकं नास्ति। मया तु पूर्वजन्मनि स्तोकतरमेव पुण्यमुपार्जितं, तेन परानुवृत्त्या
नमनादिकं कर्तव्यतया आपतितम्। ततोऽधुना मयेदृशं कर्तव्यं येन केनाप्यंशेन पराधीनत्वं न भवेत्"। एवं विचार्य मातुर्वचोऽल-
ङ्घनीयमिति कुलजानां रीतिमनुसृत्य, मातृभक्तिहानिर्मा भूयाद् इति आसनादुत्थाय मात्रा सह आवासादुत्तरितुं लग्नः। तदा ऊर्ध्व-
मुखेन श्रेणिका-ऽभयादयो द्रष्टुं प्रवृत्ताः। विकल्पयन्ति[1] च-'किमयं वासवो दोगुन्दुकदेवो वा?, मूर्तिमान् पुण्यप्राग्भारो वा?'।
अथ स देहद्युत्या गृहमुज्ज्वलयन्, चलत्कुण्डलाभरणाभ्यां शतशः क्षणद्युतीनां तेजांसि विस्तारयन्, वाग्-नेत्र-मनसां चापल्यं वार-
यन् राज्ञः समीपमागत्य विनयपूर्वकं लीलया राजानं प्रणनाम; यत उत्तमानाम् अयमेव क्रमः। कुमारागमनमात्रेण राज्ञाऽत्यादरपूर्वकं
परमप्रीत्या हस्तं संगृह्य[2] कुमारः स्वान्तिके स्थापितः। शालिभद्रस्य रूपा-ऽऽभरण-सुकुमारता-मधुरवाग्-हस्ताभिनया-द्युत्कृष्टपुण्यो-
दयविभ्रमे पतिताः सर्वेऽपि सभ्याश्चित्रस्था इव निश्चेष्टा जाताः, परस्परं वदितुमपि न शक्नुवन्ति, शिरोधूननमात्रामेव चेष्टां कुर्वन्तः

१ विचारयन्ति प्र०। २ 'बहुमानपूर्वकं' इत्यधिकः पाठः प्र०।

स्थिताः। राजाऽपि तं निरीक्ष्य कियतीं वेलां स्तम्भितो भूत्वा शिष्टाचारपालनार्थं साहसं धृत्वा हृदयं दृढीकृत्य प्रीत्या शालये सुखक्षेमोदन्तं पृष्टवान्–'वत्स! तव लीलाविलासा अविच्छिन्नाः सुखरूपा यथेच्छं निष्प्रत्यूहा वर्तन्ते ?'। कुमारेणोक्तम्–श्रीमद्देवगुरूणां प्रसत्त्या पूज्यपादानां कृपया च कथं न भवेयुः ?'। इति चन्दनशीतलं मधुरवाक्यं श्रुत्वा सोल्लासं राजा प्राह–"वत्स! त्वया न काऽप्यसमञ्जसा विधेया, यथेच्छं स्वमनोऽनुकूलो विलासोऽनुसर्तव्यः। यतस्त्वं तु अस्माकं प्राणाधिकवल्लभोऽसि, नेत्रवद् रक्षणीयोऽसि, मम राज्य–नगरे–श्रयीणां हार्दं समेधाऽसि; रङ्ककरगतरत्नवत् प्रतिक्षणं स्मरणीयोऽसि; अतो यथेच्छं विलासः कर्तव्यः, न काऽप्यधृतिर्विधेया। यत् किमपि कार्यं चेद् भवेत् तद् ममैव ज्ञाप्यम्, यद् घटिकासाध्यं तत् क्षणेन करिष्यामि। मम गृहं स्वगृहमिव गण्यं, न किमप्यन्तरं गण्यम्। तवेच्छाविलासे यः प्रत्यूहस्तन्मम महद्दुःखम्, अतो निःशङ्कं विलासः कर्तव्यः"। इत्युक्त्वा प्रत्ययोत्पादनार्थं शालेः पृष्ठस्थापनं कृतम्, यतो राजा यस्योपरि महती कृपा भवति तस्य पृष्ठस्थापनं करोतीति राजनीतिः। अथ राज्ञः कर्कशकरस्पर्शाद् गिरेर्निर्झरणवत् प्रस्वेदबिन्दवः स्रोतुं लग्नाः, शरीरं च मुष्टिगतशतपत्रपुष्पवद् म्लानत्वं प्राप्तम्। तद् दृष्ट्वा भद्रया भूपतये विज्ञप्तम्–'स्वामिन्! अयं पैत्तलिकदेवोऽस्ति, स्वामिप्रतापाग्नितापं धर्तुं न शक्नोति, अतोऽस्याज्ञा दीयतां यथा विलासभवने याति'। तदा राज्ञा सहर्षं बहुमानपूर्वकमाज्ञा दत्ता–'वत्स! सुखेन उपरितनावासम् अलङ्कुरु'। ततो भूपतेरादेशं प्राप्य शालिभद्रस्तत्क्षणं मोहेन मुक्तो भव्यात्मा लोकान्तमिव सप्तमं सौधं गतः। गत्वा च वैराग्यरङ्गपूरितहृदयः शय्यायां स्थितः। अथ भद्रया अञ्जलियोजनपूर्वकं सबहुमानं सपरिकरो राजा भोजनाय निमन्त्रितः। राज्ञापि अत्यादर–भक्तिं दृष्ट्वा मानितम्। ततो यानि शतशः सहस्रशो लक्षशः संस्कारैः परिकर्मितानि, यानि च शत–सहस्र–लक्षद्रव्यव्ययैर्निर्मापितानि, तैः शतपाक–सहस्रपाक–लक्षपाकतैलैर्मज्जनशालायां निपुणशिल्पिभि-

रभ्यङ्गः कारितः। ततः सुवासितोष्णतीर्थजलै राजस्नानविधिना स्नप्यमानस्य भूपतेः कराद् रुष्टकान्तेव मणिमुद्रिका कूपान्तः पतिता।
अथ स्नानं कृत्वा शुद्धमाञ्जिष्ठवस्त्रेण अङ्गलुञ्छनं कृत्वा प्रथमं बावनाचन्दनरसेन गात्रमनुलिप्तम्। पश्चात् शृङ्गारकरणावसरे आभूष-
णपरिधानं कुर्वता नृपेण मुद्रिका न दृष्टा, तदा तच्छुद्ध्यर्थम् इतस्ततो व्यलोकयत्; पुनः पुनर्हस्ताङ्गुलिं पश्यति। चिन्तयति च–'मम
राज्यसारं मुद्रारत्नं गतम्, किं क्रियते ?, कस्याऽग्रे कथ्यते ?, परगृहे चागत्य आलदानं न युक्तम्'। एवं यावता चिन्तयति तावता
दूरस्थया भद्रया स्वनैपुण्येन ज्ञातं यद्–'राज्ञः किमपि मुद्रादिकं गतं दृश्यते'। ततो भ्रूसंज्ञया दास्यै ज्ञापितम्–'जलयन्त्रेण भूषणा-
न्याकर्षय, यथा तत् प्रकटितं भवेत्'। दास्या तथा कृते नागरिकमहेभ्याऽभ्यर्णे आगतं निःस्वं ग्राम्यमिव अलङ्कारोच्चये मुद्रारत्नं
विलोक्य दासीं प्रति महीपः प्राह–'एते सदलङ्काराः कस्य ?'। दास्याह–'प्रभो ! नः प्रभोः शालिभद्रस्य प्रतिदिनत्यक्तनिर्माल्यमि-
दम्'। तच्छ्रुत्वा विस्मयमापन्नो राजा चिन्तयति–'अहो ! अनिर्वचनीया पुण्यगतिः, दृश्यतां स्वामि-सेवकयोः पुण्यान्तरम्। स्वस्वा-
ऽध्यवसायप्रबलतावैचित्र्यकृतधर्मस्य विचित्रं फलमिति जैनी गीर्मिथ्या न भवति'। ततो निजां मुद्रिकां गृहीत्वा, शुद्धवस्त्राणि परि-
धाय पूर्वरचिताऽऽसनादिसंस्कृते रमणीयभोजनमण्डपे आसनमलङ्कुरुते स्म। ततो गोभद्रगीर्वाणदत्तैर्विविधवस्तुभिर्निष्णातैः सुपकारैः
सज्जिता अष्टादशभेदव्यञ्जनव्याकुला नव्या दिव्या च रसवती सपरिवाराय राज्ञे भद्रया परिवेषिता। ततो राजादयः सर्वेऽपि
रसवतीमास्वादयन्तोऽभिनवाकारां सुसंस्कृतां विविधरचनाविशेषाम् अनास्वादितपूर्वां च दृष्ट्वा विस्मितहृदयाः 'किमिदं किमिदम् ?'
इति सूपकारान् पुनः पुनः पृच्छां कुर्वन्ति। भुञ्जानै रसवत्यास्वादश्लाघां च कुर्वद्भिस्तैर्यथेच्छम् उदराणि भृतानि। भुक्त्वोत्थिताश्च
ते सर्वेऽपि पुनरास्थाने स्थिताः। ततो रत्नजटिता स्वर्णचङ्गेरी पञ्चसौगन्धिकताम्बूलवीटकानि भृत्वाऽग्रे मुक्ता। ततो दिव्याऽत्तरा-

दीनाम् आच्छोटनं कृत्वा विविधवस्त्राभरणैः सर्वेऽपि सत्कृताः। राज्ञश्च विविधदेशोद्भवानि प्रवराणि वस्त्राणि, रत्नैः खचितानि विविधान्याभूषणानि, अनेकानि च दिव्यरत्नानि भृत्वा स्थाला उपायनीकृताः। तथाऽनेकानि अश्व-रथादीनि, एला-लविङ्ग-जातिफलादीनि स्वादिमानि, द्राक्षा-ऽक्षोटक-बदाम-पिस्तादीनि च खादिमद्रव्याणि अदृष्टपूर्वाणि उपायने कृत्वा नृपस्तोषितः। राज्ञापि भद्रायै चित्तप्रसत्त्योक्तम्—'भद्रे! तव लीलापतिः सुतोऽतियत्नतो रक्षणीयः। मत्सदृशं कार्यं चेद् भवेत् तदा सुखेन वाच्यं नान्तरं गण्यम्। मद्गृहं स्वगृहमिव गण्यम्, त्वया सार्धं मम सेव्य-सेवकव्यवहारो नास्ति। समग्रमपि राज्यम् आत्मीयमेव गण्यं, कयापि रीत्या शङ्का न विधेया। शालिभद्रस्तु मम देश-नगर-राज्यादीनां मण्डनरूपोऽस्ति, अतो ममातीव प्राणादप्यधिकोऽस्ति'। इति बहुमानं कृत्वा राजा निजधाम जगाम।

अथ शालिभद्रो शय्यायां मुखं गल्ले दत्त्वा उदासीनमनसा चिन्तयति—"मया हि पूर्वजन्मनि सुकृतं पूर्णं न कृतम्, श्रीमज्जिनाज्ञा च पूर्णभावेन नाराधिता; तेन इहभवे विषमिश्रितमिष्टान्नमिव पराधीनं सुखं संप्राप्तम्। परतन्त्रभावेन यत्सुखं तद्दुःखमेव ज्ञेयम्। मया हि पूर्वं मुक्तिपदं श्रीमज्जिनं विनाऽन्यः स्वामी कोऽपि ज्ञातो नासीत्, सोऽद्य ज्ञातः। पराधीनवृत्त्या जीवनं निरर्थकम्; अतोऽधुनाऽहं स्वाधीनचेतनां कृत्वा, स्वाधीनसुखसिद्ध्यर्थं श्रीमज्जिनाज्ञामग्रतः कृत्वा, गुरुचरणोपासनपूर्वकं श्रीमद्रत्नत्रयप्रापकं चारित्रमाराधयामि; येन स्वाधीनं स्वरूपरमणसौख्यं प्राप्यते। अतः परं मयेदमेव करणीयं, न विस्मरणीयम्। न विश्वसनीयोऽमृतमुखविषघटतुल्यो रतिराक्षसः। इदं हि सर्वमिन्द्रजालं, तत्र को विश्वासः?"। इति भावनां भावयति। अस्मिन्नवसरे देवदुन्दुभिनिनादः श्रुतः। तं श्रुत्वा पृष्टं सेवकजनानाम्-'भोः सेवकाः! देवदुन्दुभिरवः कुत्र संजायते?'। तैरुक्तम्—'स्वामिन्! अद्य भव्यजीवानां

तत्पश्चात्
शालिभद्र-
स्य वैरा-
ग्योद्भवः

प्रबलभाग्योदयेन वैभारगिरौ मोहतिमिरभास्करः श्रीवीरः समवसृतः, तेन देवैर्दिव्यभेरी वादिता[1]। अथ शालिः पुण्यपूतं तद् वीरजिनागमनं श्रुत्वा घनगर्जितं श्रुत्वा केकीव मुमुदे। ततः सहर्षं भक्तिसम्भारसंभृतः सदलङ्काराऽलङ्कृतः सारसारपरिवारं गृहीत्वा सुखासनाधिरूढः श्रीमद्वीरजिनं नन्तुं वैभारगिरिं जगाम। अथ श्रीवीरदर्शने जाते सुखासनादुत्तीर्य, पञ्चाभिगमपूर्वकं तिस्रः प्रदक्षिणा दत्त्वा, पञ्चाङ्गप्रणिपातेन नत्वा यथोचितस्थाने देशनापिपासितो भूत्वा स्थितः। ततः श्रीवीरेण संसारवासनाक्लेशनाशिनी आक्षेपण्यादिभेदचतुष्कगर्भिता देशना प्रारेभे। तद्यथा—

"आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं, व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालोऽपि न ज्ञायते।
दृष्ट्वा जन्म जरा-विपत्ति-मरणं त्रासश्च नोत्पद्यते, पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्" ॥१॥

"अनादिशत्रुपञ्चप्रमादवशगो जीवस्तत्त्वाऽतत्त्वं किमपि न वेत्ति। अन्यान्यगतितः समागत्य एकगृहे समुत्पन्नान् अज्ञानवशगो-जीवः स्वीयान् मन्यते, 'एते मदीया हितकारका' इति जानाति। तेषां पोषणाय अष्टादश पापस्थानानि सेवते। तद्दुःखेन दुःखितः, तत्सुखेन च सुखितः। 'एते मम पुत्र–बान्धवादय आयतिसुखदायका भविष्यन्ति' इति श्रद्दधानः प्रतिक्षणं तेषां तप्तिं कुर्वन् कालं निर्गमयति, कर्मणां दीर्घस्थितिं च पोषयति, परन्तु सुख–दुःखप्रापणं स्वकृतपुण्य–पापोदयबलेन भवति। चेत् पुण्योदयस्तदा सर्वेऽज्ञाता अनुपलक्षिता असम्भवनीया अतर्किता एवागत्य सेवां कुर्वन्ति, पापोदयश्चेत् तदा बहुदिनपरिचिता बहुदिनपोषिता प्राणन्ययेनापि पालिताः सुखमात्रप्रापका नैव भवन्ति, प्रत्युत शोचकारका भवन्ति। यथा सुभूमश्चक्रवर्त्यपि पापोदये जाते समुद्रे

१ 'स्वस्वकर्मोदयवशेन' इत्यधिकः पाठः प्र०।

तत्पश्चात् शालिभद्रस्य वैराग्योद्भवः

त्रुडितः, यः षट्खण्डभोक्ता, चतुर्दशरत्नानां पतिः, नवसेवधिस्वामी, द्विसहस्रयक्षेशमात्रेण कार्यनिष्पादकः। यस्य एकैकभुजे चत्वारिंशल्लक्षाऽष्टापदबलम्। यद् हस्तगतं कृत्वा स्थले इव जलेऽपि पादविहारेण गम्यते, अन्यत्तु हस्तगतं जलं द्विधा करोति, अन्यत्तु हस्तगतं कृत्वा आकाशे पक्षिवद् उड्डीयते, अन्यत्तु भूम्यन्तः प्रवेश्य ईप्सितस्थले निस्सारयति, अन्यत्तु मत्स्यवद् जलगतिं कारयति; एवंविधानि अनेकसहस्राणि विविधमहिमानि रत्नौषध्यादीनि मन्त्र-यन्त्र-तन्त्राणि च यस्य भाण्डागारेऽवर्तन्त। यस्य दक्षिणोत्तरश्रेणिनायकाः साधितगौरी-गान्धारी-प्रज्ञप्त्यादिमहाविद्या विमानयानचारकाः सदा सेवकवद् आदेशमात्रेण कार्यनिष्पादका आसन्। यस्य पार्श्वे जलगतिप्रवणा अनेकहयाः, यानपात्राऽधिकजलतरणसमर्थं च चर्मरत्नमासीत्। यः सदा पञ्चविंशतिसहस्रसुरैरसेव्यत। एतावदृद्धि-बलगर्वितोऽपि पापोदये जाते समुद्रे त्रुडितः सुभूमः। अस्यैव पूर्वं पुण्योदयवेलायामतर्कितम् अनाहूतं चक्रं भूत्वा हस्ते स्थितं, येन समस्तं भूतलं निर्जितम्; तदेव पापोदयावस्थायां विद्यमानमपि न कार्यसाधनाय प्रगुणं जातम्। तथा वासुदेवप्रश्ने श्रीनेमिनोक्तम्-'जराकुमारहस्तेन तव मरणम्'। तच्छ्रुत्वाऽतिदूनो जराकुमारो राज्यसुखं त्यक्त्वा वने गतः। परं पापोदयबलेन तेन बाणेन हतो हरिः। अतो यत् कुटुम्बस्योपरि वात्सल्यं तद् व्यर्थम्, तदर्थं प्रयासश्च निष्फलः। अनादिकालेन मोहभूपस्य वृद्धभ्राता कर्मपरिणामः, स च नटहस्तगतमर्कटवद् अहर्निशं नर्तयति, न क्षणमात्रं निवृत्तिं ददाति। तस्य साहाय्यकारका मोह-मिथ्यात्वा-ऽज्ञानादयो विविधबन्धो-दयो-दीरणादिपञ्जरेषु जीवान् क्षिप्त्वा क्लेशयन्ति। सर्वमपि कर्मक्लेशविचित्रताप्रबन्धं श्रीजिनो वेत्ति, परं वक्तुं सोऽपि न प्रवीणः। तस्मात् सहजसुखार्थिना प्रथमं श्रीजिनागमाभ्यासं कृत्वा, कर्मणां बन्धो-दयादिवैचित्र्यं सम्यग्रीत्यो-

१ -दिसकीलक कष्टप-।

पलक्षणीयम्। यत एकमेवाश्रवद्वारं पुण्य–पापरूपं सेवमानाः फलवैचित्र्यं प्राप्नुवन्ति; अध्यवसायानां बलवत्त्वात्, योगस्थानानां वीर्यस्थानानां चाऽसङ्ख्यातत्वात् सम–विषमस्वरूपेण विचित्रविपाको भवति। समग्रा अपि संसारवर्तिनो जीवाः सुखं दुःखं वाऽनुभवन्ति, तस्य दाता कर्मैव, नान्यः कोऽपि। ये हि अज्ञातकर्मस्वरूपा जीवा अन्यस्य कस्यापि सुख–दुःखदातृत्वं श्रद्दधति तद् मिथ्यात्वा–ऽज्ञानविलसितम्, तैश्च किञ्चिदपि धर्मो नोपलक्षितः, अनादिभ्रम एवायम्। तस्माद् धर्मदत्तवत् प्रथमं कर्मणः स्वरूपं ज्ञात्वा पश्चाद् यद् आत्महितं तदेवानुसर्तव्यम्"। स्वामिना इत्युक्ते सभ्यैः पृष्टम्–'स्वामिन्! कीदृशो धर्मदत्तः, येन कर्मकदर्थनां ज्ञात्वा स्वहितमाचरितम्?'। तदा स्वाम्याह—

॥ अथ धर्मदत्तकथा ॥

"इहैव भरतक्षेत्रे काश्मीराभिधो देशः। तत्र चन्द्रपुरं नाम नगरम्। तत्र न्यायैकनिष्ठो यशोधवलो नाम राजा राज्यं पालयति स्म। तस्य यशोमती देवी। तत्कुक्षिसमुद्भूतः प्रभूतगुणनिस्तन्द्रश्चन्द्रधवलो नाम कुमारः। स च सर्वेषु शास्त्रेषु पारीण ऐदंम्पर्यग्राही सर्वासु धनुर्वेदादिशस्त्रकलासु योजितश्रमो, विशेषतश्च शकुनशास्त्रेषु निपुणो बभूव। अन्यदा रात्रौ स्वकीयावासोपरितनभूमौ सुखनिद्रया सुप्तः। तत्र पाश्चात्यरात्रौ शिवाशब्दं शुश्राव। शिवारुतकुशलत्वाद् हृदि विचारं कुर्वता हार्दं लब्धं यत्–'एषा शिवा मम महान्तं लाभं वक्ति'। इति हृदि ध्यात्वा उत्थाय खड्गमादाय तच्छब्दानुसारेण श्मशानं जगाम। तत्रैकत्राऽग्निकुण्डमध्ये ज्वलन्तं शवनिष्पन्नं स्वर्णपुरुषं ददर्श। अथ तं दृष्ट्वाऽवसरज्ञः कुमारः समीपस्थसरसः पानीयमानीय, स्वर्णपुरुषं सिक्त्वा, कुण्डान्निष्काश्य,

१ रहस्यज्ञाता। २ शृगालीशब्दम्।

अन्यत्र स्थाने भूमौ निक्षिप्य, अभिज्ञानं च कृत्वा, पुनः स्वगृहमागत्य सुखनिद्रया सुप्तः। प्रभाते संजाते तूर्याणां निनादेन बन्दिनामाशीर्वचनेन च प्रबुद्धः। ततो देव-गुरुस्मरणपूर्वकं समुत्थाय, प्राभातिककृत्यानि कृत्वा, राजसभायोग्यानि वस्त्राभरणानि च यथास्थाने परिधाय, पारिपार्श्विकैः सह पितरं नन्तुं राजसभायां गतः। तत्र राजसभार्होऽभिगमसमर्थनपूर्वकं राजानं ननाम। ततः सर्वैरपि सभ्यैर्यथार्हं विनयपूर्वकं नमस्कृतः। राजा चाऽतिस्नेहयुक्तवाक्यैः सम्मानं दत्त्वा स्वनिकटासने संस्थाप्य सुखक्षेमवार्तां कर्तुं लग्नः, तावता प्रतीहार आगत्य हस्तयोजनपूर्वकमग्रे स्थितः। तदा राज्ञा भ्रूसंज्ञया पृष्टम्–'किमर्थमागतः स्वस्थानात्?'। प्रतीहारेण सविनयं विज्ञप्तम्–'स्वामिन्! कश्चिद् भव्यपुरुषो मस्तके रक्षाक्षेपपूर्वकम् अतिगाढस्वरेण 'मुषितोऽस्मि, मुषितोऽस्मि' इति पूत्करोति। अतिविह्वलश्चात्रागतो मया सिंहद्वारे रुद्धस्तिष्ठति। तस्य किमाज्ञा दीयते स्वामिना?'। एवं प्रतीहारवाक्यं श्रुत्वा राज्ञा चिन्तितम्–'व्यवहारशास्त्रेऽप्युक्तं यत्—

"दुर्बलानामनाथानां बाल-वृद्ध-तपस्विनाम्। पिशुनैः परिभूतानां सर्वेषां पार्थिवो गतिः" ॥१॥

इति हेतोर्यः कोऽप्यतिदुःखसङ्कटे पतितः स ममाऽभ्यर्णमेवागच्छति, नाऽन्यत्र कुत्रापि'। इति ध्यात्वा भ्रूसंज्ञया प्रतीहार आज्ञापितः। प्रतीहारेणाऽप्याज्ञां प्राप्य सिंहद्वारस्थितपुरुषस्योक्तम्–'सुखेन गच्छतु भवान्'। सोऽप्यादेशं लब्ध्वा राजसभान्तरागत्य नमस्कारपूर्वकं पुनस्तथैव पूत्कर्तुं लग्नः। तदा राज्ञोक्तम्–'भो दुःखित! त्वं स्वस्थो भूत्वा दुःखं निवेदय। किं तव किञ्चिद् गतम्?, केनापि दुष्टेन पराभूतो वा?, अथवा खात्रं दत्त्वा पश्यतोहरैः सर्वस्वं लुण्टितम्?, मार्गे आगच्छतो वा द्रव्यं चौरैर्मुषितम्?, गृहमध्यगतम् अतिप्रियं स्वाजीविकाद्रव्यं केनापि गृहमनुष्येण विश्वासघातं कृत्वाऽपलपितं वा?। एषां दुःखानां मध्ये तव किं दुःखमापतितं येन

पूत्करोषि ?। सत्यं ब्रूहि'। इति राज्ञोक्तं श्रुत्वा तेनोक्तम्—'देव ! अद्य रात्रौ मम स्वर्णपुरुषो गतः। किं कुर्वेऽहम् ?, किं जानामि यत्केनाऽपहृतः ?, क गच्छामि ?, अतः पुण्यनिधेर्भूपस्याग्रे निवेदयितुमागतः। यतः—

पञ्चमो लोकपालस्त्वं कृपालुः पृथिवीतले। दैवेनाहं पराभूतस्त्वमेव शरणं मम' ॥१॥

राजा तु तं कृशाङ्गं मलिनवस्त्रं च दृष्ट्वा बभाषे—"भोः पूत्कारकारक ! युक्तं वद। तवेदृशाकारस्य दारिद्र्यमूर्तेः स्वर्णपुरुषो न घटते। प्राप्तस्वर्णपुरुषस्य नरस्येदृशी अवस्था न भवति, यतोऽतुलभाग्यवतस्तस्य प्राप्तिर्भवति। प्राप्तस्वर्णपुरुषस्य नरस्य लक्षणानि प्रवराणि प्रकटान्येव दृश्यन्ते। यतः शृणु—

"कुचेलिनं दन्तमलाऽवधारिणं, बह्वाशिनं निष्ठुरवाक्यभाषिणम्।
सूर्योदये चाऽस्तमने च शायिनं विमुञ्चति श्रीर्यदि चक्रपाणिनम्" ॥१॥

अन्यच्च—"दक्षिणाभिमुखं शेते क्षालयत्यङ्घ्रिमङ्घ्रिणा। मूत्रमासूत्रयत्यूर्ध्वो निष्ठीवति चतुष्पथे" ॥१॥

इत्यादीनि नीतिशास्त्रे हीनपुण्यवतां लक्षणानि बहून्युक्तानि। 'यः पुरुषो द्वाभ्यां हस्ताभ्यां शरीरं कण्डूयति, दन्तैः श्मश्रूणि चर्वति' इत्यादीनि दारिद्र्यसूचकानि लक्षणानि यस्याङ्गे दृश्यन्ते तस्य महालब्धिसिद्ध्यादिर्न भवति, धनं घनं च न भवति। तव पार्श्वे तु एतल्लक्षणानि दृश्यन्ते, न तु धनसूचकानि। अतः सत्यमेव वद। अन्यत्किञ्चिद् यद्भवेत् तदेव कथय, किं वृथा प्रस्फुलितेन ?"। तदा सभ्यैरप्युक्तम्—"स्वामिना यदुक्तं तत्तथैवास्ति, परन्तु अस्यैव प्रष्टव्यम् 'केनोपायेन त्वया प्राप्तः ?'। तदाऽस्य जल्पने सर्वं विदितं भविष्यति"। एवं सभ्योक्तं श्रुत्वा राज्ञा पृष्टम्—'भोः पुरुष ! कथय, केनोपायेन कस्य साहाय्येन च स्वर्णपुरु-

पोपार्जनं मया कृतम् ?'। तेनोक्तम्–"श्रूयतां देव !

अत्रैव पुरे श्रीपतिः श्रेष्ठी। तस्य गृहे लक्ष्मीर्विलसति, या हि 'कमलावासा' इति नामापि निसस्मार। तस्य श्रीमती प्रिया। तद्युक्तः श्रीपतिः सुखेन परिवसति। अन्यदा सा श्रीमती स्वगृहमागतां निजसखीं पुत्रोल्लालनपरां वीक्ष्य निजाऽपुत्रतादुःखेन दुःखिताऽभूत्। यतः—

"अपुत्रस्य गृहं शून्यं दिशः शून्या अबान्धवाः। मूर्खस्य हृदयं शून्यं सर्वशून्या दरिद्रता" ॥१॥

ततो भोजनाऽवसरे गृहागतेन श्रेष्ठिना दुःखस्य कारणं पृष्टम्। तयापि भोजनानन्तरं दुःखकारणं कथितम्। सोऽपि दुःखितोऽचिन्तयत्—

"[1]गेहं पि तं मसाणं जत्थ न दीसन्ति धूलिधूसरा निच्चं। उट्ठन्ति पडन्ति रडन्ति दो तिन्नि डिंभाइं" ॥१॥

अन्यच्च—

"[2]पियमहिलामुहकमलं, बालमुहं धूलिधूसरच्छायं। सामिमुहं सुप्पसन्नं, तिन्नि वि पुण्णेहिं पावन्ति" ॥१॥

इति विचिन्त्य प्रियां प्रति प्रोक्तम्–'प्रिये! मा विषीद, पुत्रविषये करिष्याम्युपक्रमम्'। ततः श्रेष्ठी मन्त्र–तन्त्र–यन्त्र–देवीदेवपूजनादिकमिथ्यात्वे प्रवृत्तः। आर्ताः किं न कुर्वन्ति ?। यतः–

१ गेहमपि तत् श्मशानं यत्र न दृश्यन्ते धूलिधूसरा नित्यम्। उत्तिष्ठन्तः पतन्तो रुदन्तो द्वौ त्रयो डिम्भाः ॥१॥

२ प्रियमहिलामुखकमलं, बालमुखं धूलिधूसरच्छायम्। स्वामिमुखं सुप्रसन्नं, त्रीण्यपि पुण्यैः आप्नुवन्ति ॥१॥

"आर्ता देवान् नमस्यन्ति तपः कुर्वन्ति रोगिणः । निर्धना विनयं यान्ति क्षीणदेहाः सुशीलिनः" ॥१॥

अन्यच्च—

इहलोइयम्मि कज्जे, सव्वारंभेण जह जणो कुणइ । ता जइ लक्खंसेण वि, परलोए तहा सुही होइ ॥१॥

अन्यदा तस्य मित्रेण धनमित्रेणोक्तम्—'मित्र ! मा मिथ्यात्वं कुरु । मिथ्यात्वकरणे हि स्वयं भवान्धकूपे पतति । अग्रेऽपि स्वपुत्रादेः पितुरनुकरणकरणाद् मिथ्यात्वं गाढतरं भवति, अतस्तेऽपि परम्परया ब्रुडन्ति । यदुक्तं च—

"सम्मत्तं उच्छिंदीय, मिच्छत्तारोवणं कुणइ निअकुलस्स । तेण सयलो वि वंसो, दुग्गइमुहसम्मुहं नीओ ॥१॥
मिच्छत्तं उच्छिंदीय, सम्मत्तारोवणं कुणइ निअकुलस्स । तेण सयलो वि वंसो, सिद्धिपुरीसंमुहं नीओ" ॥२॥

यदि कदापि मिथ्यात्वाचरणेन पुत्रो भवति तदापि देवशर्मद्विजवद् दुःखभाजनं भवति । तद्यथा—

॥ अथ देवशर्मकथा ॥

एकस्मिन् ग्रामे देवशर्मनाम्ना ब्राह्मणेन पुत्रार्थं पाद्रदेवताऽऽराधिता । प्रोक्ता च—'भगवति ! यदि मे पुत्रो भविष्यति तदा ते देवकुलस्य द्वारं भव्यरीत्या करिष्ये, अग्रे च अनेकवृक्षैः शोभितं तटाकं करिष्ये, प्रतिवर्षमेकच्छागस्य बलिं करिष्ये' । इत्युपयाचना-

---

१ ऐहलौकिके कार्ये, सर्वारम्भेण यथा जनः करोति । तस्माद् यदि लक्षांशेनाऽपि परलोके तथा सुखी भवति ॥१॥

२ सम्यक्त्वमुच्छेद्य, मिथ्यात्वारोपणं करोति निजकुलस्य । तेन सकलोऽपि वंशो, दुर्गतिमुखसम्मुखं नीतः ॥१॥

३ मिथ्यात्वमुच्छेद्य, सम्यक्त्वारोपणं करोति निजकुलस्य । तेन सकलोऽपि वंशः, सिद्धिपुरीसम्मुखं नीतः ॥२॥

ऽनन्तरं दैवात् तस्य पुत्रो जातः। हर्षपूरितहृदयेन महोत्सवं कृत्वा तस्य पुत्रस्य 'देवीदत्त' इति नाम दत्तम्। ततो देवशर्मणा भक्त्या देव्या भवनम् उद्धृतम्। तदग्रे तटाकः कारितः, तत्परितः पाल्यां वृक्षाश्चारोपिताः, द्विजांश्चाहूय महतीं पूजां कृत्वा देव्यग्रे छागो हतः, ब्राह्मणाश्च भोजिताः। एवं प्रतिवर्षं कुर्वतस्तस्य पुत्रो यौवनं प्राप्तः, पाणिग्रहणं च कारितम्। क्रमेणायुःक्षये गृह-पुत्रादिचिन्तनाऽऽर्तध्यानो मृत्वा तत्रैव पुरेऽजो जातः। तत्पुत्रेण वर्षप्रान्ते स एव च्छागो द्रव्येण क्रीतः, स्वगृहे समानीतश्च। तस्य स्वगृहं दृष्ट्वा जातिस्मरणमुत्पन्नम्। सर्वं पूर्वस्वरूपं ज्ञातम्। ततो मनसि भीतः सन् देव्यग्रे वधाय नीयमानो न चलति, पुत्रेण बलेनाऽपि नीयमानो न चलति। अस्मिन् समये मार्गे गमनं कुर्वता साधुना ज्ञानेन तत्स्वरूपं ज्ञात्वा तस्य प्रतिबोधनाय एका गाथा प्रोक्ता—

"सयमेव खणाविय तें छगल! ते आरोविय रुक्खइ अ। पवत्तिअ जन्नयद्द अह कां बुंबुइं मुद्ध?" ॥१॥

इति मुनिवाक्यं श्रुत्वा साहसं धृत्वाऽजश्चचाल, तद् दृष्ट्वा सर्वेऽपि लोकाश्चमत्कृताः। ततो [3]विस्मितचित्तेन देवीदत्तेन साधुं प्रत्युक्तम्—'मम च्छागचालनमन्त्रम् अर्पयतु'। साधुनोक्तम्—'किमर्थम्?'। द्विजेनोक्तम्—'पुनरपि ईदृशे कार्ये कार्यमायाति'। साधुराह—'भो भद्र! किमज्ञानवशगः प्रलपसि?'। द्विजः प्राह—'कथम्?'। साधुनोक्तम्—'अयं छागस्तव पिता उत्पन्नजातिस्मरणो मरणं ज्ञात्वा न चलति। पूर्वं हि अनेन मिथ्यात्वश्रद्धयाऽनेके छागा हताः, तेन कर्मणा स्वयमपि च्छागो जातः। अथ मद्वचने यदि तव सन्देहस्तदैनं मुत्कलं मुञ्च यथा तव पित्राऽकथितं यद् द्रव्यं त्वया न प्राप्यते तद् अयमेव दर्शयति; तदा च सत्यमेतद्, नो चेद् न'। इति श्रुत्वा द्विजेन तथा कृते छागेन द्रव्यस्थानं गत्वा खुरिकया खनित्वा दर्शितम्। तदा द्विजस्य साधुवचसि प्रत्ययो जातः।

१ 'पूर्णे जाते' इत्यधिकः पाठः प्र०। २ 'मरणभयेन' अधिकः पाठः। ३ चमत्कृत।

ततो मिथ्यात्वं त्यक्त्वा परमश्राद्धो जातः, धर्मश्चाराधितः। इति देवशर्मकथा।

तस्माद् हे श्रीपते! त्वमपि देवशर्मद्विजवद् मिथ्यात्वसेवनाद् भवगहने भ्रमिष्यसि"।

इति धनमित्रवचसा श्रीपतिर्मिथ्यात्वं त्यक्त्वा मित्रं प्रत्याह–'मित्र! कमुपायं कुर्वे?'। तेनोक्तम्–

"वीतरागसदृशो न हि देवो, जैनधर्मसदृशो न हि धर्मः।
कल्पवृक्षसदृशो न हि वृक्षः, कामधेनुसदृशी न हि धेनुः" ॥१॥

अतः कारणात् त्वं जैनधर्मं दृढतया कुरु'। इति मित्रवचसा तेन श्राद्धधर्मोऽङ्गीकृतः। त्रिकालं जिनपूजनं करोति, सामायिकम् उभयकालं प्रतिक्रमणं च करोति, प्रत्यहं पञ्चपरमेष्ठिमहामन्त्रस्मरणं करोति, सप्तक्षेत्र्यां धनं वपति, दीन-हीनोद्धारं च करोति। एवं कुर्वतः षण्मासा व्यतिक्रान्ताः। ततोऽन्यदा शय्यायां सुप्तः पाश्चात्यरात्रौ प्रतिबुद्धश्चिन्तयति–'अहो! जैनधर्मं कुर्वतोऽपि न फलसिद्धिर्दृष्टा!, किमेष धर्मोऽपि निष्फलः?' इति यावद् विचिन्तयति तावता शासनदेवता प्रोचे–"रे मूढ! लब्धं फलं मा हारय, धर्मे शङ्कां मा कुरु। यतः–

"[1]आरंभे नत्थि दया, महिलासंगेण नासए बंभं। संकाए सम्मत्तं, पव्वज्जा अत्थगहणेण" ॥१॥

अन्यच्च–

"धर्म्मो मङ्गलमुत्तमं नरसुरश्रीभुक्ति-मुक्तिप्रदो, धर्मः पाति पितेव वत्सलतया मातेव पुष्णाति च।

---

१ आरम्भे नास्ति दया महिलासङ्गेन नाश्यते ब्रह्म। शङ्कया सम्यक्त्वं प्रव्रज्याऽर्थग्रहणेन ॥१॥

धर्मः सद्गुणसंभृतेः शुकरिव स्वामीव राज्यप्रदो; धर्मः स्निह्यति बन्धुवद् दिशति वा कल्पद्रुवद् वाञ्छितम्" ॥१॥
अतो हे विचारमूढ ! अन्यो दीन-हीनोद्धरणादिर्लौकिको व्यवहारधर्मो न निष्फलो भवति, तर्हि किमु अगण्यपुण्यैः प्राप्तुं शक्यो लोकोत्तरः सर्वज्ञवीतरागभाषितो धर्म आराधितो निष्फलो भवेत् ?, अपितु न भवत्येव । तव गुणान्वितः पुत्रो भविष्यति, परं धर्मे शङ्काकरणात् पुत्रसौख्यं न लप्स्यसे । अतो धर्मे स्थिरमतिं कुरुष्व" । इत्युक्त्वा शासनदेवी अन्तर्भूता । श्रेष्ठी तच्छ्रुत्वाऽपि हृदि हर्षितश्चिन्तयति–"यदि पुत्रो भविष्यति वयःप्राप्तो भविष्यति च तदा सौख्याऽसौख्यदायी भास्यते, तद्बाल्यकाले जन्मोत्सव–लालन–पालन–मन्मनवचनश्रवण–विविधाभूषणवस्त्रादिपरिधापनादिमनोरथसुखं तु अनुभविष्यामि । तथा 'वन्ध्योऽयम्' इति गालेरुत्तरं तु भविष्यति । तथा मद्गृहे विवाहमेलनादिपरस्परव्यवहारस्थित्या दानग्रहणमहोत्सवे उत्तममनोरथाः सफला भविष्यन्ति । पुनरविच्छिन्नसन्तानपरम्परा वर्धिष्यते । सौख्याऽसौख्यदायिवार्ता तु तदनन्तरं यौवनवयसि प्राप्ते पश्चाद् भास्यते, अर्वाक्फलं तु हस्तगतमेव" । इति चिन्तयन् शेषरात्रिमतिवाह्य, प्रगे श्रीजिननामग्रहणपूर्वकं चैत्यवन्दनादि कृत्वा, प्रत्याख्यानं च संप्रधार्य गृहान्तर्गतः । तदा श्रीमत्यभ्यागत्य प्रणामपूर्वकमित्युवाच–'स्वामिन् ! अद्य रात्रौ मया सुखसुप्तया स्वप्ने पूर्णकलशो मुखे विशन् दृष्टः' । श्रेष्ठिना प्रोक्तम्–'शुभे ! पूर्णस्तव पुत्रो भविष्यति । ममाप्यद्यैव शासनदेवतया एतदर्थसूचकं कथितमस्ति, अतः कोऽप्युत्तमजीवस्तव कुक्षौ अवतीर्णोऽस्ति' । इति श्रेष्ठिगिरं श्रुत्वा सा सम्यग् गर्भस्थितिं परिपालयति । पूर्णदिनेषु पुत्रो जातः । श्रेष्ठिना द्वादश दिवसान् महोत्सवं कृत्वा, स्वजनकुटुम्बादि भोजयित्वा, सर्वसमक्षं 'धर्मदत्त' इति नाम दत्तम् । स च क्रमेण शुक्लद्वितीयायाश्चन्द्रवत् प्रवर्धमानः सप्ताष्टवार्षिको जातः, तदा पित्रा लेखशालायां पठनाय मुक्तः । तेन च स्वकुलोचिताः सर्वा अपि कलाः शिक्षिताः । ततः पित्रा

धर्मकलायां कुशलत्वहेतोः साध्वभ्यर्णे स्थापितः। यतः—

"[1]बावत्तरिकलाकुसला, पंडियपुरिसा अपंडिया चेव। सव्वकलाणं पवरं, जे धम्मकलं न याणन्ति" ॥१॥

अथ धर्मदत्तोऽनुक्रमेण यौवनं वयः प्राप्तः। ततः पित्रा श्रीदेवीनाम्नीं कन्यां महेभ्यपुत्रीं परिणायितः, परं शास्त्रेषु कुशलत्वात् सदा शास्त्ररसे मग्नः क्षणमपि पुस्तकं हस्ताद् न मुञ्चति। स नवनवशास्त्रविनोदेन गतकालमपि न जानाति। कदापि स्त्रीविलासः स्मृतिपथेऽपि नायाति। स्वप्नेऽपि प्रमदाया नामाऽपि न गृह्णाति; शास्त्ररसाऽऽस्वादनेऽतिलम्पटत्वाद्, न तु द्वेषबुद्ध्या। एवं कियत्यपि गते काले तत्सर्वं जनन्याऽवगतम्। तया एकान्ते स्थापयित्वोक्तम्—'वत्स! आत्मीयं गृहं मुख्यम्, इति ज्ञात्वा महेभ्येन स्वकीयपुत्र्याः सांसारिकसुखप्राप्त्यर्थं विवाहः कृतः, अस्माभिश्च परकीया पुत्री समानीता। त्वं तु तस्याः शुद्धिमात्रं न लासि। स्त्रीणां तु सर्वसुखेषु भर्तृमानं प्रथमं सुखम्; तत्सुखं विना सर्वाणि सुखानि भाटकसदृशानि'। इत्यादिभिर्बहुभिः प्रकारैर्विज्ञप्तः, परं मौनमाधाय सर्वं श्रुत्वा 'वरम्, वरम्, हुं' इति कृत्वा पुनः पठनोद्यमे लग्नः। तदा श्रीमत्या भर्त्रे कथितम्—"अयं तव पुत्रः सर्वशास्त्रेषु कुशलोऽपि मूर्ख एव दृश्यते, गृहव्यवहारमूर्खत्वात्। यतः—

"काव्यं करोतु परिजल्पतु संस्कृतं वा, सर्वाः कलाः समधिगच्छतु वाच्यमानाः।
लोकस्थितिं यदि न वेत्ति यथानुरूपां, सर्वस्य मूर्खनिकरस्य स चक्रवर्ती" ॥१॥

अतः कारणाद् अयं पठितमूर्खः साक्षात् शृङ्ग-पुच्छरहितः पशुरेव। यथा लोके वेद-वैद्यक-व्याकरण-प्रमाण-लक्षण-ज्योति-

---

१ द्वासप्ततिकलाकुशलाः, पण्डितपुरुषा अपण्डिता एव। सर्वकलानां प्रवरां, ये धर्मकलां न जानन्ति ॥१॥

विशारदानां गणितशूरणां कथा प्रसिद्धा, तत्तुल्योऽयमपि। अतो यदि पुत्रं मनुष्यगणनायाम् आनेतुमिच्छा भवति तदा स द्यूत-कारेभ्यः समर्प्यः, यथा स्तोकैरेव दिवसैर्निपुणः करिष्यते, नो चेद् हस्ताद् गतो ज्ञेयः"। श्रेष्ठी प्राह–"प्रिये! एषा बुद्धिर्न शोभना, यतः—

"काके शौचं द्यूतकारे च सत्यं, सर्पे क्षान्तिः स्त्रीषु कामोपशान्तिः।
क्लीबे धैर्यं मद्यपे तत्त्वचिन्ता, राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा?" ॥१॥

इत्यादयोऽनेके दोषा द्यूतकारेषु प्रोक्ताः। यत एते दुष्टाः पापिनः कुमार्गगामिनः, एषां सङ्गतिं कारयितुम् अनर्होऽयं स्वच्छो-दकस्वभावः पुत्रः। यादृशो निमित्तसंयोगो योक्ष्यते तदनुरूपोऽयमपि भविष्यति, तदा पुनः शोचनीयो भविष्यति। अधुनाऽयं गुणभाजनमस्ति, तदा पुनरयं दोषाकर आत्मीयगृहविनाशको भविष्यति। प्रिये! पुत्रादीनां कतिचित्पदार्थानां गुण–दोषप्रबलत्वं संसर्गोऽनुरूपं भवति। अत्र तापस–भिल्लगृहीतशुकयुग्मोदाहरणम्। एवं सन्मार्गगामी पुत्रः कुमार्गगामी भविष्यति, ततः कुसङ्गति-जन्यो दोषो न केनापि स्फेटयितुं शक्यः"। एवं श्रेष्ठिना विशदरीत्या बोधिता, तथापि स्त्रीणां तुच्छमतित्वात् तथाभवितव्यतायोगाच्च श्रेष्ठिन्या न मानितम्। सा हि पुनः पुनः प्रेरयति। ततो बहाग्रहेण श्रेष्ठिनापि मानितम्। यतः—

"जे गिरुआ गंभीर थिर, मोटा जेह मरट्ट। महिला ते भमाडिया, जिम कर भरिय घरट्ट" ॥१॥
"रे रे यन्त्रक! मा रोदीः कं कं न भ्रामयन्त्यमूः। भ्रुवः प्रक्षेपमात्रेण कराकृष्टस्य का कथा?" ॥१॥

---

१ प्रियः।

ततः श्रेष्ठिन्या अत्याग्रहात् श्रेष्ठिना द्यूतकारानाहूय प्रोक्तम्–'एष मम पुत्रो मुनिजनसंसर्गात् केवलं धर्मादिशास्त्रश्रवण–पठन–पाठन–परावर्तनादिषु कालं गमयति, परं खान–पान–कौतुकदर्शन–स्त्रीविलासविलसन–वस्त्राभूषणपरिधान–वनोपवनगमन–सरागरसगीतश्रवणादिसांसारिकसुखाऽऽसक्तिलेशमात्रोऽपि नास्ति। प्रतिक्षणं शास्त्रमेवाऽभ्यस्यति। गृहस्थानां तु एकवर्गसाधने गृहस्थधर्मो न निर्वहति, गुरुभिरपि गृहस्थानां त्रिवर्गसाधनमुक्तम्। यूयं निपुणाः स्थ; शास्त्राऽभ्यासच्छलेन अस्य पार्श्वे तिष्ठत, पुनर्यथावसरे वार्तानुकूलकरणादिना अस्य चित्तं संगृह्य वनोपवनगमन–रागरङ्गादिश्रवणादिषु रसिकः कर्तव्यः। यतो यस्य सर्वशास्त्रेषु परिचयो विशदरीत्याऽस्ति स यत्र यत्र स्थाने गृहीत्वा गम्यते तत्र तत्र तस्य चित्तं हार्दग्राहित्वात् प्रमोदमनुभवति, निपुणत्वात्; परम् अग्रेतनाश्चेत् स्वस्वकलायां अतीवकुशला भवन्ति, नान्यथा। किं बहुना ?, अद्यप्रभृति धर्मदत्तो भवदीयहस्ते समर्पितः, येन केन प्रकारेण भोगरसिकः कर्तव्यः। द्रव्ययस्य चिन्ता न कार्या, सर्वमहं पूरयिष्ये'। इति श्रेष्ठिवचः श्रुत्वा दुरोदरिका हृष्टाः, यत 'इष्टं वैद्योपदिष्टम्' इति न्यायेन तेषां समीहितं संजातम्। परस्परं च मन्त्रयितुं लग्नाः–'वयं कुमारम् उद्दामकलाकुशलगृहे नेष्यामः, तदा स इमं महेभ्यपुत्रं ज्ञात्वाऽस्य चित्तावर्जनार्थम् अत्यद्भुतां स्वकलां दर्शयिष्यति, तदा वयमपि द्रव्यव्ययेन अपूर्वाऽपूर्वाणि कौतुकानि दर्शयिष्यामः। द्रव्यव्ययस्तु अस्यैव श्रेष्ठिनो भविष्यति, वयं तु प्राप्तं मानुष्यं फलेग्रहि करिष्यामः। आत्मीयां खान–पानादिप्रवृत्तिं चित्तानुकूलां करिष्यामः। परमो निधिर्हस्ते चटितोऽस्ति, नाऽत्र कस्यापि शङ्का'। इति परस्परमामन्त्र्य, श्रेष्ठ्यादेशं प्राप्य, भव्यवस्त्रादिशोभां कृत्वा, कुमाराभ्यर्णे गत्वा, जोत्कार–प्रणामादिकं कृत्वा स्थिताः प्राहुः–"स्वामिन्! भवतां शास्त्रनैपुण्यकीर्तिं स्थाने स्थाने श्रुत्वाऽस्माकमपि मनोरथो जातो यद्–'वयं कुमारस्याऽभ्यर्णे यामः, यथा शास्त्रस्य किमपि लेशं प्राप्नुमः'।

अतः कर्णान् पवित्रयितुं भवदभ्यर्णे आगताः स्मः, अतो भवान् कृपां कृत्वा कर्णानां पारणकं कारयतु"। इत्युक्त्वा सविनयं कुमारसमीपे स्थिताः। कुमारेणापि शास्त्रार्थिनो ज्ञात्वाऽऽदरः कृतः। कथितं च–'प्रत्यहं सुखेनागम्यताम्'। ततः सर्वेऽपि दुरोदरिका नित्यं कुमारस्य पार्श्वे तिष्ठन्ति। कुमारो यद् यद् वदति तत् तत् सविस्मयं शिरो धुन्वन्तः शृण्वन्ति, श्लाघां च कुर्वन्ति। एवं कुर्वद्भिस्तैः कतिपयदिनैः कुमारस्य चित्तमावर्जितम्।

अथैकस्मिन् दिने सङ्गीतशास्त्रवार्तायां वर्तमानायाम् एकेन दुरोदरिकेणोक्तम्–"भोः कुमार! अस्मिन् शास्त्रे एकोऽद्वितीयो विशारद आगतोऽस्ति। वयं तत्सङ्गीतं श्रुत्वा चित्ते परमाऽऽह्लादमात्रं प्राप्ताः, परं तस्य हार्दं ज्ञातुं वक्तुं चाऽसमर्थाः। तेन सङ्गीतशास्त्रविशारदेनोक्तम्–'अत्र नगरे मर्मज्ञाता कोऽप्यस्ति यो मदुक्तस्य हार्दं गृहीत्वा प्रत्युत्तरं दद्यात्?'। अस्माभिरुक्तम्–'समस्ति'। तेनोक्तम्–'तर्हि तस्य मिलनं कारयन्तु भवन्तः'। अतः श्वोदिने भवदिच्छा भवति चेत् तदा तत्रागम्यताम्। भवांस्तु[1] सर्वशास्त्रार्थपारीणः, परं सोऽपि सज्जनवरोऽस्ति, मनुष्योपलक्षकोऽस्ति, गुणग्राही सभ्यवरोऽस्ति। भवन्तं दृष्ट्वा प्रसत्तिपात्रं भविष्यति। भवानपि ज्ञास्यति यद् अयमपि निपुणाऽग्रणीः"। इति श्रुत्वा शास्त्रविनोदरसिकः कुमारः प्राह–'स कुत्र परिवसति?'। तैरुक्तम्–'अमुकवाटिकायाः समीपेऽस्ति'। कुमारेणोक्तम्–'श्वो गमिष्यामः'। इति श्रुत्वा ते प्रमोदं प्राप्ताः। ततः श्रेष्ठिसमीपे गत्वा तैरुक्तम्–'श्रेष्ठिन्! किञ्चिद् अनुकूलस्तु अस्माभिः कृतः। प्रभाते इमं नेष्यामः, अतो द्रव्यस्याज्ञा दीयताम्। द्रव्यं विना रसरङ्गवार्ता न जायते'। ततः श्रेष्ठिना द्रव्यरक्षकायोक्तम्–'एते यद् मार्गयन्ति तद् दीयताम्'। ततस्तैः कियद् धनं लात्वा, एको राज्ञो माननीयः सङ्गीतशास्त्र-

१ यूयं तु।

विशारदोऽस्ति तत्समीपे गत्वा, किमपि भव्यं वस्तु अग्रे ढौकयित्वोक्तम्–'श्वोऽमुकवाटिकायां भवद्भिरागन्तव्यम्। वयं तत्र नगरमुख्यमहेभ्यपुत्रः सङ्गीतशास्त्रविशारदः पण्डितप्रियोऽस्ति तम् अग्रे कृत्वा भवत्समीपे आनेष्यामः। भवद्भिस्तस्य चित्तमाह्लादनीयम्। आह्लादितः स बहुद्रव्यं दास्यति। अपरिमितधननायकोऽस्ति, किं बहुना ?, जङ्गमः कल्पपादपोऽस्ति'। तेनाप्युक्तम्–'बहु भव्यम् !, शीघ्रमानीयताम्'। पुनस्ते प्रभाते धर्मदत्तस्य समीपमागताः। तत्र विनयवार्तादिना कुमारमाह्लाद्य, अवसरं प्राप्य गतदिनकृतः सङ्केतो ज्ञापितः। कुमारेणोक्तम्–'गम्यते एव'। ततः सेवकैः रथो प्रगुणीकृत्य शीघ्रमानीतः। तस्मिन् रथे द्यूतकारकैः सहाऽश्ववारिकां कृत्वा अनेकसेवकैः परिवृतो नगराश्चर्याणि पश्यन् सङ्गीतकारगृहे गतः। तेनाऽपि बह्वादर–सत्कार–सम्मानं दत्त्वाऽतिरमणीयगृहपश्चाद्भागे वाटिकायां भव्यभद्रासने स्थापितः, पुष्प–ताम्बूलादिकं चाग्रे धृत्वा सपरिकरः सम्मानितः। ततो विविधताल–तान–मान–लय–ग्रह–मात्रा–मूर्च्छनादिभेदभिन्नं अनेकरसाऽलङ्कारगर्भितं गीतगानं कर्तुं प्रवृत्तः। कुमारोऽपि भद्रासनस्थितः शृणोति। अन्तराऽन्तरा गीतगानाऽलङ्कारान् नायक–नायिकाभेदान् स्थायि–सात्त्विकादिरसोत्पत्तिकारकविभावाऽनुभावादिभेदान् वा व्यक्तीकृत्य कथयति, हार्दं च कुमारस्य पृच्छति। कुमारोऽपि शास्त्राऽभ्यासदृढत्वात् तत्स्वरूपं वक्ति, तदा सङ्गीतकारक उत्थाय प्रणामं कृत्वा श्लाघां करोति–'अहो! कुमारस्य बुद्धिकौशल्यम्'। एवं तेन पुनः पुनश्चातुर्यं वर्णयता कुमारस्य चित्तमाह्लादितम्, तेन कुमारः कर्णं दत्त्वा एकतानो भूत्वा सहर्षं शृणोति। एवं प्रहरद्वयं यावत् तेन कला दर्शिता, कुमारोऽपि रञ्जितः। तदा द्यूतकारैः कुमारस्योपकर्णं गत्वोक्तम्–'अस्मै किमपि दातुमुचितम्'। कुमारेणोक्तम्–'बहु भव्यम्, दानं तु प्रथममेवोचितम्'। तदा द्यूतकारैः श्रेष्ठिगृहात् कुमाराऽभिधानं दत्त्वा धनमानीयाऽग्रे धृतम्। कुमारोऽपि चातुर्यप्रियत्वाद् औदार्यगुणत्वाच्च सर्वं तस्मै दत्त्वा 'पुनराग-

मिष्याम' इत्युक्त्वोत्थितः। ततो वाटिकां पश्यन् गृहमागतः। मार्गे द्यूतकारकैः पृष्टम्—'स्वामिन्! कीदृशोऽयम्?'। कुमारेणोक्तम्—'सङ्गीतकलायां भव्यतरोऽस्ति, पुनर्गमिष्यामः'। ततो गृहमागत्य भोजनादिकं कृत्वा कुमार आस्थाने स्थितः। पुनर्दुरोदरिकैः सङ्गीतवार्ता निष्काशिता, कुमारेण श्लाघिता तत्कला। ततो दुरोदरिकैरुक्तम्—'कुमार! एका वरतरुण्यस्ति, साऽपि सङ्गीत-नाटकादिषु वरतराऽस्ति, द्रष्टुं योग्याऽस्ति'। कुमारेणोक्तम्—'कस्मिन्नपि दिने तत्स्थले यास्यामः'। एवं दिनान्तं यावत् कुमार-समीपं स्थित्वा, सन्ध्यायां कुमारस्याज्ञां लात्वा, श्रेष्ठिनीपार्श्वे गत्वा सर्वव्यतिकरः श्रेष्ठिन्यै निवेदितः। साऽपि तत्स्वरूपं ज्ञात्वा हर्षिता परमप्रमोदं प्राप्ता तेभ्यो बहुतरं द्रव्यं दत्त्वा प्राह—'यथेच्छं द्रव्यव्ययं कुरुत, काऽपि शङ्का न कर्तव्या, सर्वमहं पूरयिष्ये, परं पुत्रो भोगरसिकः कर्तव्यः'। तैरुक्तम्—'भवतीनां पुण्यबलेन स्वल्पकालेन भवदीप्सितं भवेत् तदाऽस्माकं मुजरो ज्ञातव्यः'। इत्युक्त्वा स्वस्वगृहे गताः। कुमारोऽपि सुखशय्यायां सुप्तो दिवादृष्टं स्मृत्वा हृष्टचित्तः सङ्गीतग्रन्थगतान् अभिनवभावोल्लेखान् स्वचित्त-क्षयोपशमप्राबल्येन कल्पयामास। इत्यशेषरात्रिमतिवाह्य, प्रगे प्राभातिककृत्यं कृत्वा, स्वाऽऽस्थानस्थाने यावता स्थितस्तावता ते सर्वेऽपि सम्मिल्य आगताः। पुनः कुमारस्य प्रेरणां कृत्वा, सङ्गीतकारकगृहे नीत्वा, घटिकास्तिस्रश्चतस्रो वा तत्र स्थित्वा, पुनः प्रेर्य कुमार उत्थापितः। भणितश्च—स्वामिन्! अद्याऽमुकं पर्वाऽस्ति, अमुकस्थले मेलकोऽस्ति, तत्र महाश्चर्यमस्ति, अतस्तत्र गम्यते'। तदा कुमारः सङ्गीतकारेणाऽप्युत्साहितः। ततो द्यूतकारान् सङ्गीतकारकं च सहादाय नद्यास्तटे लौकिकदेवालयेऽनेकजनवृन्दानि पश्यन्, कुत्रचिद् हास्यरसोत्पादकानि वार्ताविनोदादीनि शृण्वन्, कुत्रचिद् विविधवेषयुक्तनृत्यानि पश्यन्, कुत्रचिद् विविधाऽऽ-

तोद्यवादनपूर्वकम् अङ्गनावृन्दं नृत्यति तस्य हावभावादि विलोकयन्[1], कुत्रचिद् भाण्डी–भाण्डानां चेष्टां पश्यन्, नद्याः प्रवाहे नौकामारुह्य उच्चस्थाने कुमारो[2] निविष्टः। परितो द्यूतकाराः सविनयं स्थिताः। अग्रे सङ्गीतकारेण ताल–तन्त्री–मृदङ्ग–वीणादिवादनपूर्वकं सङ्गीतमारब्धम्, तच्च परितस्तटस्थानि जनवृन्दानि पश्यन्ति। नद्याः प्रवाहे नौका इतस्ततः परिभ्रमति। एकतो वसन्ते प्रस्फुल्लवृक्षाणां शोभां पश्यतः, एकतश्च रसरङ्गोत्पादकान् कोकिलमधुरशब्दान् शृण्वतः कुमारस्य हृदयम् आह्लादमयं जातम्। एवम् अद्भुतरसास्वादमनुभवतः कुमारस्य भोजनावसरेऽग्रतो द्यूतकारैरुक्तम्–'स्वामिन्! अद्य तु महान् रसिकदिनोऽस्ति, भोजनसामग्री अत्रैव कार्यते चेद् भवताम् आज्ञा स्यात्'। कुमारेणोक्तम्–'वरतरम्, सद्यः क्रियताम्'। तदा तैः सहर्षं विविधजातिका रसवती सूपकारैर्निष्पादिता, राजद्रव्यैः सम्मिश्रितान् रम्यरसान् सङ्करीकृत्य स्वादुर्निष्पादिता। वेलाऽपि पूर्णा जाता। मध्याह्नोपरि घटिकाद्वयदिवसे गते क्षुधाऽपि कुमारप्रमुखस्य लग्ना। तदा कुमारेणोक्तम्–'रसवती निष्पन्नाऽस्ति वा न हि?, मम तु क्षुधा बाधते'। तैरुक्तम्–'स्वाम्यादेशमात्रेण निष्पन्ना'। ततः कुमारेणोत्थाय तैः सर्वैः सह विविधरसप्रचुरा रसवती भुक्ता। पुनर्नन्दनवनोपमायां वाटिकायां गत्वा, भव्यस्थाने स्थित्वा, ताम्बूलादिना मुखशुद्धिं कृत्वा पुनर्गीतादिकं प्रारब्धम्। अस्मिन्नवसरे एका वैदेशिकी नृत्यकरणकुशला नर्तकी समागता। तया जनवृन्दैर्दुरोदरिकैश्च प्रेरितया तत्रागत्य कुमारस्य प्रणामं कृत्वाऽग्रतः स्थित्वा नृत्यं प्रारब्धम्। विविधहावभाव–विभ्रम–कटाक्षा–ऽङ्गविक्षेपादिना अत्यद्भुतस्वर–ग्राम–मूर्छनया च कुमारस्य चित्तमावर्जितम्। कुमारोऽपि एकयाऽनिमेषदृष्ट्या पश्यति। एवं मुहूर्तशेषं दिनं यावद् नृत्यं कृतम्। जनवृन्दैश्च श्लाघा कृता–'ईदृशं दिव्यनाटकं श्रेष्ठिपुत्रं विना को दर्शयेत्?'। इति जनश्लाघां श्रुत्वाऽऽ-

१ पश्यन्। २ कुमारं निवेश्य परितो।

नन्दितचित्तः कुमारो घनतरं दानं दत्त्वा, पुनरश्ववारिकां कृत्वा गृहगमनाय चलितः। मार्गे तैरालापितः–'स्वामिन्! अद्य अस्माकं चित्तं तु भवत्प्रसादेन महाह्लादं प्राप्तम्; परं भवतां चित्ते भव्यतरं भासितं न वा?'। कुमारेणोक्तम्–'कथम् ईदृशं नृत्यं चित्तं नाह्लादयेत्?, पुनः कदाचित् कारयिष्यामः'। तदैतेनोक्तम्–'अनया नाटकं तु भव्यं कृतं, परं कामपताकाया नाटकस्य षोडशांशमपि नाऽर्घति'। कुमारेणोक्तम्–'सा क्वाऽस्ति?'। तेनोक्तम्–'आत्मीयपुरे राजमन्दिरसदृशे महावासे परिवसति। स्त्रीणां ये केचन गुणास्ते सर्वेऽपि अस्या अङ्गेऽहमहमिकया परिवसन्ति, यस्या दर्शनमात्रेण देवाङ्गनाभ्रमं चित्तमातनोति। साऽपि भवत्सदृशानां गुणवतामग्रे एव स्वकलां दर्शयति, नान्येषां यत्र तत्रापि। स्वामिन्! किं बहु वर्ण्यते?, भवत्सदृशदर्शकस्याऽग्रे यदा सा नृत्यं करोति, तदा यो रस उत्पद्यते तस्य वर्णनं कः कर्तुं शक्नुयात्?। स्वाम्यपि ज्ञास्यति यद् अस्याः सङ्गः क्षणमात्रोऽपि भवतु'। कुमारेणोक्तम्–'पुरा तस्या नाटकं युष्माभिः कदापि दृष्टमस्ति?'। तैरुक्तम्–'अस्मादृशानां मन्दभाग्यानां कुतो दर्शनाऽवसरः?, परन्तु एकदा वर्षद्वयादर्वाग् राज्ञाऽत्यादरेण नृत्यं कारितं तदा भवादृशानां पुण्यवतां पृष्ठे गत्वा दृष्टम्, तद् अद्यापि न विस्मृतिं याति। अधुना भवच्चरणसेवाप्रसादेन बहुदिनाभिलाषमनोरथपूरणप्रत्ययो जातोऽस्ति, स च स्वामिना पूर्यताम्। साऽपि भवतां चातुर्यं विद्वत्त्वं च दृष्ट्वा परमप्रसत्तिपात्रं भविष्यति। यदि भवतां रुचिः स्यात् तदा श्व एव तद्गृहे गम्यते। भवद्गमनयोग्यं स्थानमस्ति, परं यथा रुचिर्भवताम्'। इति कैतवकृतां वार्तां श्रुत्वा सानन्दः कुमारः प्राह–'श्व एव गमिष्यामः'। तैरुक्तम्–'साधु साधु, महान् प्रसादः, पूर्णा अस्मादृशानां वराकाणां मनोरथाः'। एवमालापं कुर्वन्तो गृहमागताः। रात्रावपि कुमारस्याऽभ्यर्णे स्थित्वा तस्या रूप–सौन्दर्य–चातुर्य–गीतगानकौशल्यादिवर्णनं कृत्वा

१ क्वचिद्दिने।

कुमारस्य चित्तं तस्या मिलनाऽभिमुखं कृतम्। 'प्रगेऽवश्यं यास्याम'इति निश्चित्य सुप्ताः। प्रभाते संजाते प्रातःकृत्यानि कृत्वा कुमारेण स्वयमेवोक्तम्–'रथं सज्जीकुरुत,'। तदैकेन दुरोदरिकेण गृहमध्ये गत्वा श्रेष्ठिने सर्वं निवेदितम्। जल्पितं च–'पश्यतु भवान् सेवकानां प्रयासम्। यो भोगनामाऽपि नाऽगृह्णात् स स्तोकदिनमध्ये भवन्मेलितां सम्पदं सर्वामपि सफलतां नेष्यति, तद् दृष्ट्वा भवदिच्छा-पूर्तिर्भविष्यति, तदा च सेवकानां प्रयासः श्लाघितव्यः'। दम्पती तच्छ्रुत्वाऽतीव हर्षितौ।

अथ दुरोदरिकमध्यात् कैश्चिद् अग्रतो गत्वा कामपताकाया अग्रे निवेदितं यद्–'अद्य नगरश्रेष्ठिनः पुत्रं त्वद्गृहे आनेष्यामः, अतस्त्वया तस्याग्रेऽतीव स्वकलाकौशल्यं दर्शयित्वा तस्य चित्तमावर्जनीयम्। कुमारो यादृशस्तादृशो न; सर्वकलासु कुशलोऽस्ति, सर्व-शास्त्राणां हार्दज्ञोऽस्ति, अतो दत्तावधानतया सर्वकला दर्शनीया। चेत् प्रसन्नो जातस्तदाऽयं जङ्गमकल्पवृक्षोऽस्ति, ईप्सिताद् अधि-कतरदायकोऽस्ति'। तयोक्तम्–'शीघ्रमानीयतां, पश्चात् सर्वे ज्ञास्यन्ति। मुनिमार्गस्थिता मुक्तिपुरप्रवेशार्हा अपि पणाङ्गनाभिः सर्वं त्याजयित्वा काम–भोगैकतानाः कृताः सन्ति, तेषामग्रेऽयं कियन्मात्रः १, अयं तु वणिक्पुत्रः, सर्वं भव्यं भविष्यति'। इत्युक्त्वा ते विसर्जिताः। अथ कुमारो रथे समारुह्य तैः परिवृतस्तस्या आवासे गतः। तयाऽपि कुमारागमनश्रवणमात्रेणोत्थाय, सुवर्ण–रत्न–मुक्ता-फलैरञ्जलिद्वयं भृत्वा, द्वारदेशं यावद् आगत्य, कुमारं वर्धापयित्वा, 'इतः पादोऽवधार्यताम्, भवच्चरणोपासिकाया गृहं पवित्रीक्रिय-ताम्; महती कृपा पूज्यपादानाम्, अद्य ममाङ्गणेऽनभ्रा अमृतवृष्टिः संजाता, अद्य ममाङ्गणे कल्पवृक्षः फलितः, अनाहूता सुरस-रिद् आगता यद् नगरमहेभ्यकुलदीपकेन कुमारवरेण अस्मद्गृहमलङ्कृतम्' इति वचनामृतैः सन्तर्प्य, 'खमा खमा' इति शब्दं कुर्वत्या

१ ततो।

कुमारो गृहान्तर्नीतः। ततः पुनर्मधुरवचनैः सन्तर्प्य उपरितनभूमौ चित्रशालायां देवशयनीयसदृशे तल्पे सबहुमानं निवेशितः। यत्र यत्र पश्यति तत्र तत्र मुकुरादिशोभया साक्षादेव विमानभ्रान्तिमातनोति। तत्र प्रथमतः कामसेनया कस्तूरी—चन्दना—ऽगुर्वादिमहामूल्यैः पदार्थैः कुमारस्य शरीरं सुवासितं कृतं, गुलाबादिकानां गन्धजलाच्छोटनं च कृतम्। ततोऽनेकानि नारङ्गा—ऽऽम्र—दाडिमा ऽञ्जीरादीनि सद्यः परिपक्वानि मधुरस्वादुफलानि अग्रे ढौकितानि। ततो द्राक्षा—ऽक्षोटक—बदामादीनि विविधदेशाऽऽगतानि 'मेवा' इतिसंज्ञकानि अग्रतो मुक्तानि। ततो मादकराजद्रव्य—जातिफला—ऽगुरुकस्तूर्य—भ्रक—काश्मीरज—सितोपलादिनिष्पन्नस्य कामवृद्धि-कारकस्य पाकस्य कटोरको भृत्वाऽग्रे स्थापितः। ततः पुगताम्बूलादिपञ्चसौगन्धिकानि बीटकानि कुर्वती, अन्तराऽन्तरा मिष्टानि प्रीतिवर्धकानि कामोद्दीपकानि वचनानि च वितन्वती, षोडशशृङ्गारभरभारिता हाव—भावांश्च प्रकाशयन्ती मुखाग्रे स्थिता। कुमारोऽपि तस्या हाव—भाव—सेवा—चातुर्यमग्नः स्थितः, तावता सा अतिमिष्ट—ललित—सुकुमार—कोकिलामधुरैर्वचनैः प्रेरयति—'स्वामिन्! इदं गृह्यताम्, इदं भव्यतरमस्ति, इदं तेजस्कृत्, इदं बलकृत्, इदं तु बुद्धिवर्धकम्, इदं हि माङ्गल्यरूपं प्रथमत्वात् शकुनकृत्, इदं तु भोक्तव्यमेव भवति'। एवं मिष्टवचनैः संतृप्यता कुमारेण यथारुचि आस्वादितम्। ततः स्वस्थीभूते नृत्यारम्भो मण्डितः। अनेकराग—ताना—ऽभिनवकामोद्दीपकहाव—भावैः कुमारो रसैकमग्नः कृतः। ततः कुमारस्य प्रथमयौवनोद्भवविकारैः, अतिमादकद्रव्यजनितपाकादिभक्षणेन, अन्तर्धर्मभेदकैः कटाक्षबाणैश्च कामोद्दीपनं संजातम्। पणाङ्गनया तज्ज्ञात्वा भ्रूसंज्ञया सर्वेऽपि दुरोदरिका उत्थापिताः, ते च किमपि मिषं कृत्वा चित्रशालाया बहिर्गताः। ततो विजनत्वाद् यथेच्छम् आलिङ्गनादिस्पर्शसुखं दत्त्वा कुमारो विह्वलीकृतः। ततः कुमारेण सुरतसुखं प्रथमं तत्राऽनुभूतम्। तदनुभवनाच्च कुमारस्य चित्तं पणाङ्गनैकरसिकं संजातम्, तां क्षणमपि उत्थातुं न ददाति,

तामेवैकां पश्यति । ततो वेश्ययाऽवसरं ज्ञात्वा नानाप्रकारविचित्रा दिव्या रसवती कारिता । पुनर्दुरोदरिकाः सर्वेऽपि मिलिताः, परन्तु ते कुमारस्य चित्तेऽन्तरायकृत एव प्रतिभासन्ते । तैः सर्वैरपि ज्ञातम्—कुमारस्य चित्तं वनितापाशे पतितम् . अधुना तु अस्माभिः सह प्रसत्त्या वार्तामपि न करोति । अस्माभिर्यदर्थमुद्यमः कृतस्तत्तु संजातम् । प्रदोषे कुमारोऽत्रैव स्थास्यति, वयं तु श्रेष्ठिने वर्धापनिकां दत्त्वा बहुद्रव्यं ग्रहीष्यामः' । एवं परस्परम् एकान्ते मन्त्रयन्ति तावता पणाङ्गनासेवकैर्विज्ञप्तम्—'रसवती निष्पन्ना' । ततः कुमारः स्नानमण्डपे नीत्वा, शतपाकादितैलेनाऽभ्यङ्गं कारयित्वा, सुगन्ध्युष्णजलेन स्नानं कारयित्वा, चन्दनादिना विलेप्य, भव्यवस्त्रा—ऽलङ्कारैश्च संभूष्य भोजनायोपवेशितः, दुरोदरिका अपि दूरत उपवेशिताः, वेश्याऽपि कुमारसमीपे उपविष्टा । ततः कुमारेण नानासंस्कारनिष्पन्ना नानारसास्वादसंयुक्ता रसवती वेश्यया सह सानन्दमुपभुक्ता, तैर्दुरोदरिकैरप्युपभुक्ता । तदनु पुनश्चित्रशालायां गत्वा स्थितः, ते सर्वेऽप्यागताः । ततस्तया विविधमादकद्रव्यगर्भितानि ताम्बूलबीटकानि यथायोग्यं सर्वेषां दत्तानि, तावता वासरान्तोऽपि प्राप्तुं लग्नः' । ततस्तैः कुमारस्य चित्तपरीक्षणार्थमुक्तम्—'स्वामिन् ! वासराऽवसानो भवितुं लग्नः' । एतद् वचनं कुमारस्य कर्णे तप्तत्रपुसेचनप्रायं लग्नम् । कुमारेण तच्छ्रुत्वा औदासीन्ययुक्तं मुखं कृत्वा न किमपि प्रत्युक्तम् । तैर्ज्ञातम्—'अस्माभिरुक्तं कुमारस्य प्रातिकूलतया लग्नम्, अतोऽधुना एनं विमुच्य गम्यते' । ततस्तैर्वेश्यायै गदितम्—'कुमारस्य चित्तं तु त्वया एकस्मिन्नेव दिने वशीकृतम्, अतस्त्वया विचारपूर्वकं विज्ञप्तिं कृत्वा रक्षणीयः, यतो वयं यामः' । ततस्ते पुनरपि कुमारस्य गृहगमनावसरं ज्ञापयितुं लग्नाः, तदाऽन्तरा सा तत्रागत्य साक्रोशं प्रोक्तुं लग्ना—'कुमारस्तु अत्रैव स्थास्यति, किं सर्वेऽपि मम मारणाय प्रवृत्ताः १ । अधुना तु मां कुमारं

१ मम ।

विना क्षणमात्रं न चलति, यूयं हि दुःखं दातुमत्रागताः। अहं तु प्राणव्ययैरपि एनं न मुञ्चामि। मम प्राणाधारोऽयमेव, अतो यूयं सर्वेऽपि गच्छत। मम जीवितव्यम् अयमेव। कुमारः कदापि भवदुक्त्या गन्तुं मनस्कुर्यात्, परम् अहं कथं गन्तुं ददामि?'। तदा तैः कुमारं प्रत्युक्तम्—'कुमार! इयम् अत्याग्रहं करोति, अधरात्रौ अत्रैव स्थातव्यम्; भवद्वियोगविधुराम् इमां दुःखं दातुं न युक्तं, प्रभाते पुनरेष्यामः'। कुमारेणोक्तम्—'वरम्, गम्यतां तर्हि वयमत्रैव स्थिताः स्मः'। ततो दुरोदरिकाः सर्वेऽपि कुमारं प्रणम्य श्रेष्ठिगृहं गताः, दम्पतिभ्यां च वर्धापनिका दत्ता—'स्वामिनौ! भवतोः कार्यं संजातम्। भवत्पुत्रः[1] स्वेच्छया कामपताकाया गृहे स्थितोऽस्ति, कामभोगवासना तीव्रतरा जाताऽस्ति, अतः कतिपयदिवसान् तत्र रक्षणीयः'। इति श्रुत्वा श्रेष्ठिना तेभ्यो भूरिद्रव्यं दत्त्वा विसर्जिताः। कुमारः सुखभरमग्नस्तत्रैव स्थितोऽस्ति। रात्रौ वेश्याकुमारौ विविधान् भोगान् भुञ्जानौ वैषयिकजागरणोत्सवेन पाश्चात्यरात्रौ निद्रावशं गतौ। प्राभातिकनिद्रा हि अतीव मिष्टा भवति, तेन घटिकाचतुष्टयदिने चटिते तावुत्थितौ। कुमारो देहचिन्तादिकं कृत्वा आलसभृद्देहो गवाक्षे स्थित आवासान्तर्गतवाटिकायां पुष्पादीन् निरीक्षते, तावता सा भव्यझर्झरिकां शुद्धजलेन भृत्वा, दन्तधावनं च लात्वा, कुमारसमीपमागत्य, 'स्वामिन्! दन्तधावनं क्रियताम्' इति सस्मितमुक्त्वा मुखाग्रे स्थिता। तावता कुमारमातृकया गृहसेवकस्तच्छुद्धिनिमित्तं प्रेषितः। तेनागत्य, सुखप्रश्नं चाऽऽपृच्छय, 'किमपि द्रव्यादिना चेत् कार्यं तदा आनयामि' इत्युक्तम्। कुमारेणोक्तम्—'यावद् वयमत्र स्थिताः स्मस्तावद् नित्यं शतं दीनारा आनेतव्याः'। सेवकेन गत्वा मात्रे ज्ञापितम्। तयाऽपि सहर्षं दीनाराः प्रेषिताः। तावता द्यूतकारा अप्यागताः, तदा कुमारो वेश्यया सह सारिकाभिर्दीव्यति, तान् दृष्ट्वाऽपि रङ्गाऽऽधिक्येन

१ युष्मत्पुत्रः।

मर्यादां विहाय क्रीडति, तद् दृष्ट्वा तेऽल्पसमयं तत्र स्थित्वा स्वस्वगृहं गताः। एवं ते प्रतिदिनमागच्छन्ति गच्छन्ति च। कतिपय-
दिवसाऽनन्तरं दुरोदरिका अपि वेश्यया निष्काशिताः। मातापितरौ तु प्रतिदिनं दीनारशतं प्रेषयतः।
एवं कियत्सु दिनेषु गतेषु श्रेष्ठिना जायां प्रत्युक्तम्—'अधुना कुमारम् आकारयामः, यथा गृहस्थितः सुखं भुङ्क्ते; अस्य वधूरपि
प्रसत्तिं भजते, आवामपि कतिपयदिनाद् अदृष्टं तं पश्यावः'। इति ध्यात्वा श्रेष्ठी गृहव्यापाराधिकारिणं महत्तमं प्रैषीत्। तेन तत्र
गत्वा सबहुमानम् आकारणं कृतम्—''स्वामिन्! तातो भवद्दर्शनाऽऽतुरो भवन्तमेवेच्छति, मातापि भवद्दर्शनोत्कण्ठिता प्रतिक्षणं भग-
वन्नामेव भवन्तं जपति। भवदागमनेन गृहशोभा वृद्धिं प्राप्स्यति। मादृशाः सेवका अपि नित्यं भवतां मार्गं पश्यन्ति, 'कदाऽस्म-
त्स्वामी भद्रासनमलङ्करिष्यति?' इति च प्रतिदिनं प्रतीक्षन्ते। लघुश्रेष्ठिन्यपि स्वाम्यागमनं समीहते। अतो गृहागमनं भवताम् अतीव
भव्यतरमस्ति, पश्चात्तु यथा रुचिर्भवताम्''। तदा कुमारेण सामर्षं वक्रदृष्टिं कृत्वा प्रोक्तम्—'वरं वरम्, अधुना त्वं याहि, क्व आग-
च्छति?। अत्र स्थितानामस्माकं कियत्परिमिता बहवो वासरा गता यत् त्वं गृहागमनाय युक्ति-प्रयुक्तिभिः प्रेरयसि?। अतो याहि
याहि, यदाऽस्माकमागमनं भविष्यति तदाऽऽगमिष्यामः। सर्वतस्त्वम् अतिनिपुणो यद् अस्माकं शिक्षां दातुमागतोऽसि!, अतो याहि,
त्वं स्वकार्ये प्रगुणो भव, अस्मदीयं व्ययद्रव्यं शीघ्रं प्रेषय'। इत्युक्त्वा विसर्जितो महत्तमः। सोऽपि निराशो भूत्वा श्रेष्ठिगृहं गतः।
तत्र तेन दम्पतिभ्यामुक्तम्—'तस्य मनस्तु चतुर्भिर्भोगैस्तस्यामेव लुब्धम्, अधुना तु नैव एति'। तच्छ्रुत्वा श्रेष्ठी विषादमापन्नो जायां
प्रवक्तुं लग्नः—'प्रिये! यन्मयोक्तं तद् अग्रे आगतम्। कीदृशोऽपि निपुणः पुरुषश्चेद् वेश्यासक्तो भवेत् तदा सर्वस्वं गुणांश्च हारयति,
दुर्बुद्धिं दुष्कर्म च उपचिनोति'। श्रेष्ठिन्या पुत्रमोहेणोक्तम्—'किं जातम्?' नवीनः शिक्षितोऽस्ति, सद्यो रङ्गे लग्नोऽस्ति, कियत्यपि

दिने आगमिष्यति। मार्गे तु आगतोऽस्ति, सर्वं भव्यं भविष्यति। द्रव्यव्ययभीरवो भवन्तो भयव्याकुला मा भवन्तु, यतोऽस्माभिः द्रव्यं मेलितमस्ति तद् अयमेव विलसति, तत्र का हानिः ?। धनं तु अधुनाऽपरिमितमस्ति, अधुनैव हृदयं सङ्कोच्य किं स्थिताः ?'। एवं श्रेष्ठिन्योक्तं श्रुत्वा श्रेष्ठी मौनं धृत्वा गृहकार्ये प्रवृत्तः। प्रतिदिनं भोगद्रव्यं पूरयति, कुमारस्तु गृहनामाऽपि न गृह्णाति। पुनः कियत्यपि काले गते आकारणाय भव्यजनाः प्रेषिताः, परं पूर्ववद् यद्वा तद्वा सासूयम् उत्तरं दत्त्वा विसर्जिताः। एवं बहुवारम् आकारितोऽपि नागच्छति तदा तु दम्पती उभावपि निराशतां प्राप्तौ, तद्वियोगदुःखेन दुःखितौ दिनानि गमयतः, तथापि पुत्रमोहेन धनं पूरयतः। अन्येद्युः श्रेष्ठिनो देवतावचः स्मृतिमागतम्, तत् श्रेष्ठिन्यै कथितम्—'प्रिये! देवतावचो नान्यथा भवति, अतः पुत्रागमनाऽऽशा नैव कर्तव्या। अधुना तु आत्मचिन्ता कर्तव्या, यथा सद्गतिर्भवेत्'। एवं ध्यात्वा दम्पती धर्मकरणाय समुद्यतौ संजातौ। दानादिधर्मचतुष्काराधनं यथाशक्ति अनुष्ठितम्, सप्तक्षेत्रेषु सद्रूपं वित्तं व्ययितम्। अथ गृहभाराऽऽरोपणाय प्रधानपुरुषा आकारणाय गतास्तथापि नागतः। ततो धर्ममाराध्य पुत्रवियोगसशल्यौ दम्पती मृतौ, प्रेतकार्यकरणाय समस्तं नगरं मिलित, परन्तु धर्मदत्तो नागतः। गृहे तु एकैव धर्मदत्तभार्या स्थिता। तया सुकुलप्रसूतत्वात् कियद्दिनावधि तु धनं पूरितम्। रोकद्रव्ये क्षीणे श्वशुर-पितृसम्बन्धि आभूषणादि प्रेषयति। तस्मिन्नपि क्षीणे रूप्य-ताम्रादिभाजनानि प्रेषयति, यतः कुलजा पत्युः प्रीतित्यागं न करोति। उक्तं च—

"पङ्गुमन्धं च कुब्जं च कुष्ठिनं व्याधिपीडितम्। निःस्वमापद्गतं नाथं न त्यजेत् सा महासती" ॥१॥

अथाऽक्कया भाजनानि दृष्ट्वा ज्ञातम्—'अस्य गृहं धनरिक्तं जातम्, अतो निष्काशनीयोऽयम्!'। इति ध्यात्वा दास्यै शिक्षा

दत्ता–'अयं निर्धनो जातोऽस्ति, तस्माद् रजःक्षेपणमिषेण त्वया निष्काशितव्यः'। दास्यापि गृहप्रमार्जनसमये धर्मदत्तायोक्तम्–'यूय बहिष्प्रदेशे तिष्ठत, गृहं प्रमार्जयामि'। तच्छ्रुत्वा स बहिर्गत्वा स्थितः। दास्यापि शयनगृहं प्रमार्ज्य, प्रमार्जन्या रजः कुमारशिरसि क्षिप्तम्। तदा कुमारेण सकोपं दास्यै प्रोक्तम्–'रे रे कुटिले! अत्र स्थितोऽहं किं त्वया न दृष्टः?, किम् आन्ध्यमागत दृष्टौ?'। दासी प्राह–"मम दृष्टौ नान्ध्यमागतं, परं त्वद्हृदये आन्ध्यमागतं दृश्यते, यतो निर्द्रव्यः पुरुषो वेश्यागृहे विलासमिच्छति स हृदयान्धः। ह्यो दिने त्वद्गृहाद् भाजनान्यागतानि तद् न दृष्टम्?। अतोऽत्र स्थितिकरणाशा निष्फला, यथारुचि गम्यताम्, साम्प्रतम् अत्र रक्षणाग्रहं न कोऽपि करिष्यति। यत उक्तम्—

"वृक्षं क्षीणफलं त्यजन्ति विहगाः शुष्कं सरः सारसा, निर्द्रव्यं पुरुषं त्यजन्ति गणिका भ्रष्टं नृपं मन्त्रिणः।
पुष्पं पर्युषितं त्यजन्ति मधुपा दग्धं वनान्तं मृगाः, सर्वः कार्यवशाज्जनोऽभिरमते तत् कस्य को वल्लभः?"॥१॥

एवं ज्ञात्वाऽपसर इतः प्रदेशात्'। तच्छ्रुत्वा धर्मदत्तो विलक्षो जातः। गृहाच्च निर्गत्य चिन्तयति–'हा! धिग् वेश्यायाः स्नेहम्। यतः—

"अधममध्यमनें तेडें अर्थ लेति नजेडें, तरुणमन खेडें एकस्यूं एक भेडें।
प्रियशिर रज रेडें वेशपाडें खभेडें, विलगें जेह केडें तेहनुं नाम फेडें" ॥१॥

"कः कोपः का प्रीतिर्नट–विटपुरुषहतासु वेश्यासु। रजकशिलातलसदृशं, यासां वदनं च जघनं च" ॥१॥

इत्यादि चिन्तयन् स्वं मुहुर्मुहुर्निन्दति। यथा–'अहं विज्ञातशास्त्रोऽपि मूर्खजडवद् अनया विगोपितः, अस्याः पापिन्या अर्थं

वृद्धसेव्यानां माता-पित्रादीनां सेवा न कृता, लोकव्यवहारोऽपि निर्लज्जीभूय त्यक्तः, केवलम् अपयशोभागी जातोऽहम् । अधुना कथं साधुकाराणां मध्ये मुखं दर्शयामि ?' इति स्वाऽज्ञानं पुनः पुनः स्मरन्, मार्गे श्रीपतिगृहं पृच्छन् गृहमागतः । गेहं शिथिलीभूतं पतितं च पश्यति तावता प्रातिवेश्मिकमुखात् पितरौ मृतौ श्रुत्वाऽत्यन्तं खेदं प्राप्त उदासीनमना गृहान्तर्गतः । तत्र च अग्रत एकप्रदेशे मञ्चिकायां स्थितां प्रियां सूत्रं कर्तयन्तीं ददर्श, यतोऽबलानां प्रियविरहितानाम् इयमेवाऽऽजीविका । ततस्तस्याऽपि तं दृष्ट्वाऽनुमानेन निजपतिमुपलक्ष्य तत्प्रतिपत्तिश्चक्रे । यतः कुलवतीनाम् इमान्येव लक्षणानि—

"प्रहृष्टमानसा नित्यं स्थान-मानविचक्षणा । भर्तुः प्रीतिकरा नित्यं सा नारी न पराऽपरा" ॥१॥

तया सबहुमानं भद्रासनं दत्तम्, तत्र स निविष्टः । पश्चात् सर्वा गृहस्थितिः पृष्टा, तयाऽपि यथाभूतवृत्तान्तस्तस्याऽग्रे प्रोक्तः । तच्छ्रवणेनाऽतिदुःखपूरितश्चिन्तयति—

"सौरभ्याय भवन्त्येके नन्दनाश्चन्दना इव । मूलोच्छित्त्यै कुलस्याऽन्ये वालका वालका इव" ॥१॥

"स एव रम्यः पुत्रो यः कुलमेव न केवलम् । पितुः कीर्तिं च धर्मं च गुरूणां चाऽपि वर्धयेत्" ॥१॥

एवं खेदं कुर्वन्तं दृष्ट्वा प्रिया प्रोचे-स्वामिन् ! अधुना शोकेन किम् ?, यतः—

"का मुण्डिते मूर्ध्नि मुहूर्तपृच्छा ?, गते च जीवे किल का चिकित्सा ? ।
पक्वे घटे का विघटा घटन्ते ?, प्रतिक्रिया काऽऽयुषि बद्धपूर्वे ?" ॥१॥

---

१ मातापित्रादिवृद्धसेव्यानां सेवा । २ सविनयमुत्थाय । ३ कर्णघटा ।

तस्माद् हे प्राणेश ! अद्याऽपि सावधानश्चेद् भवान् सर्वं भव्यं भविष्यति' । पतिः प्राह–'प्रिये ! द्रव्यं विना सावधानः किं करिष्यति ?। यतः—

"धनैर्दुष्कुलीनाः कुलीना भवन्ति, धनैरापदं मानवा निस्तरन्ति ।
धनेभ्यः परो बान्धवो नास्ति लोके, धनान्यर्जयध्वं धनान्यर्जयध्वम्" ॥१॥

सा प्रोचे–'स्वामिन् ! स्नान–भोजनादिकं तु क्रियतां, पश्चाद् उपायं वक्ष्ये' । तेन चिन्तितम्–'इयं किमपि निधानादिकं मे कथयिष्यति' । ततः स स्नानं कृत्वा भोजनं भुक्त्वा स्थितः, क्षणं विमृश्य प्रोचे–'प्रिये ! कथ्यताम् , क उपायः ?' । तदा तया स्वकीयलक्षमूल्याऽऽभरणानां मध्यात् पञ्चाशत्सहस्रमूल्यानि आभरणानि समर्पितानि । तानि दृष्ट्वा हर्षितोऽसौ चिन्तयति–'कुलजानां स्त्रीणां लक्षणानि विपत्समये ज्ञायन्ते । यतः—

"जानीयात् प्रेषणे भृत्यान् बान्धवान् व्यसनागमे । आपत्कालेषु मित्राणि भार्यां च विभवक्षये" ॥१॥

अहो ! अस्या अवितथस्नेहसम्बन्धत्वम् !' । अथ तेन द्रव्येण व्यवसायं कर्तुं प्रवृत्तः, परं कोटिध्वजपुत्रत्वेन स्वल्पद्रव्यव्यवसायकरणे लोकानां वचनानि शृणोति यत्–'अयं धर्मदत्तोऽधुना कीदृशं परिमितव्यापारं करोति ?, द्रव्यनाशे किं कुर्यात् ? । पुरा तु अस्य जनकवारके सत्यङ्कारार्पणे कोटिकोटिमूल्याः क्रय–विक्रया आसन्, अधुना तु अवसराऽनुकूलं करोति' । इत्यादिकां लोकानां वार्तां श्रुत्वा लज्जते यद्–'अहं पितृतोऽतीवहीनपुण्यः स्वदोपेणैव जातः' । अथैकदा उदासीनो भूत्वा गृहे गत्वा प्रियां प्रति प्राह–'प्रिये ! अहं क्रय–विक्रयं कर्तुं समुद्रं गमिष्यामि । यतः–

"इक्षुक्षेत्रं समुद्रश्च जात्यपाषाण एव च। प्रसादो भूभुजां चैव सद्यो घ्नन्ति दरिद्रताम्" ॥१॥

सा प्रोचे–'प्राणेश ! समुद्रगमनम् अतिदुष्करम्। प्राप्तिस्तु पुण्याऽनुसारिणी सर्वत्र भवति, यथा सिन्धौ सिन्धुमानं, सरसि सरःप्रमाणं, घटे च घटमात्रमेव पानीयमागच्छति'। एवं प्रियोक्तं श्रुत्वा धर्मदत्तः प्राह–

"विद्यां वित्तं च सत्त्वं च तावन्नाप्नोति मानवः। यावद् भ्रमति नो भूमौ देशाद् देशान्तरं भृशम्" ॥१॥

अतो देशान्तरं समुद्रं तीर्त्वा गमिष्यामि। भाग्यं हि यद् द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावैर्निबद्धं तत् तथैव, परं द्रव्यादिसंयोगे फलति, नान्यथा। तस्मात् तत्क्षेत्रप्रत्ययिकं कदाचिद् भवेत् तदा इह कथं प्राप्येत ?"। एवं स प्रियां प्रत्युत्तरं दत्त्वा, स्वजनेभ्यः स्वगृहादि-शिक्षां दत्त्वा, तद्देशार्हं पण्यं लात्वा, सज्जीकृतप्रवहणे चटितः। कर्कोटकद्वीपं प्रति प्रवहणं वाहितम्। क्रमेण गच्छति सति अन्यदा प्रतिकूलवायुयोगतः प्रवहणं भग्नम्, परं धर्मदत्तस्य हस्ते एकं फलकं चटितम्, तदाधारेण समुद्रम् अतिक्राम्यन् प्रियाशिक्षां च संस्मरन् कतिपयदिनैस्तटं प्राप्तः। ततो निर्गत्य भीषणं समुद्रं पश्यन् तृषितो बभाषे–

"वेलोच्छालितकल्लोल ! धिक् ते सागर ! गर्जितम्। यस्य तीरे तृषाक्रान्तः पान्थः पृच्छति कूपिकाम्" ॥१॥

इति कथयन् वेलावने परिभ्राम्यन् एकं जलपूर्णं तटाकं विलोक्य हृष्टश्चिन्तितवान्–

"पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि जलमन्नं सुभाषितम्। मूढैः पाषाणखण्डेषु रत्नसंज्ञा विधीयते" ॥१॥

ततो वस्त्रेण गालयित्वा मिष्टं जलं पपौ। तस्यां च पालितरुच्छायायां समुद्रोल्लङ्घनजातश्रमो विविधां चिन्तां कुर्वन् निद्रामुकु-लितनेत्रः सुष्वाप, तावता स केनाप्युत्पाटितः। प्रबुद्धः सन् स्वयं तज्ज्ञात्वा पश्यति तदा तु प्रौढदेहं भयङ्करं राक्षसं दृष्ट्वा भीतः

पुनर्नेत्रे सम्मील्य चिन्तयति–"विचित्रा कर्मणां गतिर्दुर्निवारा। यतः—

"छित्त्वा पाशमपास्य कूटरचनां भङ्क्त्वा बलाद् वागुरां,
पर्यन्ताऽग्निशिखाकलापजटिलाद् निःसृत्य दूरं वनात्।
व्याधानां शरगोचरादतिजवेनोत्प्लुत्य धावन् मृगः;
कूपान्तः पतितः करोति विमुखे किं वा विधौ पौरुषम् ?" ॥१॥

तथा–"खल्वाटो दिवसेश्वरस्य किरणैः सन्तापितो मस्तके, वाञ्छन् देशमनातपं विधिवशात्तालस्य मूलं गतः।
तत्राप्यस्य महाफलेन पतता भग्नं सशब्दं शिरः, प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रापदां भाजनम्" ॥१॥

अतो यदाऽहं समुद्रान्निर्गतस्तदा राक्षसेन गृहीतः !, तत् किं करोमि ?, अतो यद् भाव्यं तद् भवतु, किं भीतेन ?। यतः—

"तावद् भयाद्धि भेतव्यं यावद् भयमनागतम्। आगतं तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्तव्यमभीतवत्" ॥१॥

यद् जिनैर्दृष्टं तद् भविष्यत्येव"। इति दृढचित्तो विचारयति। यावता तु क्वापि स्थाने स्वं मुक्तं ज्ञात्वा नेत्रे उन्मील्य पश्यति तावता तु राक्षसं नाऽपश्यत्, किन्तु वृक्षच्छायाऽऽश्रिताम् एकां दिव्यरूपां कन्याम् अद्राक्षीत्। तां दृष्ट्वा तु विस्मितश्चिन्तयति–'किं राक्षसः कन्यारूपो जातः ?, वाऽन्येयं कन्या काचित् ?'। किमियं पातालकुमारी ?, खेचरी वा ?, अमरी वा काचित् ?'। इति विचिन्तयन् साहसं धृत्वा प्रोचे–'हे बाले ! का त्वम् ?'। तयोक्तम्–'कस्त्वम् ?'। कुमारेणोक्तम्–'मानवोऽहम्'। तयाप्युक्तम्–'मानव्यहम्'। तेनोक्तम्–कुतोऽत्र विषमवने तिष्ठस्येकाकिनी ?'। साऽवादीत्–'दैवी गतिर्विषमा। यतः—

"ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे, विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तः सदा सङ्कटे।
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः, सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे॥१॥
अघटितघटितं घटयति, सुघटितघटितानि जर्जरीकुरुते। विधिरेव तानि घटयति, यानि पुमान्नैव चिन्तयति" ॥२॥

तेनोक्तम्—'कथमीदृग् जातम् ?'। साऽवोचत्—"तर्हि श्रूयताम्—

सिंहलद्वीपे कमलपुरं नाम नगरम्। तत्र यथार्थनामा धनसारः श्रेष्ठी, तस्य धनश्रीः प्रिया, तत्पुत्र्यहं पित्रोः प्राणेभ्योऽप्यतीव-वल्लभा। अहं क्रमेण प्रवर्धमाना यौवनं प्राप्ता। तदा पित्रा विचिन्तितम्—'अस्या अनुरूप इभ्यपुत्रो गवेषयितव्यः। परम् एषा पुत्री तस्यैव दातव्या यस्य जन्मपत्रिका अस्या जन्मपत्रिकया सह राशि-गण-वर्ग-नाडी-स्वाम्यादिभिर्मिलेत्, भाग्योदयवांश्च यो भवेत् तेन सह योजनं करिष्यामि'। एवं विचिन्त्य अन्येषाम् इभ्यपुत्राणां जन्मपत्रिका विलोकयति, परं केनाऽपि सह नवसु स्थानेषु अविरोधगत्या न मिलति। एवं बहूनाम् इभ्यपुत्राणां जन्मपत्रिका विलोकिताः, परं काऽपि न मिलति।

अन्यदा चन्द्रपुराद् एको ज्योतिर्विद् गणक आगतः। तस्य च मत्पित्रा सह मिलनं जातम्। गणकं ज्ञात्वा समीपस्थां माम् उद्दिश्य पित्रा पृष्टम्—'एषा मत्पुत्री, अस्या जन्मपत्रिकया सह सर्वत्र विलोकने विरोधिग्रहादि दृश्यते'। तदा तेन गणकेन तां जन्मपत्रिकां विलोक्योक्तम्—'श्रेष्ठिन्! चन्द्रपुरे श्रीपतिश्रेष्ठीपुत्रो धर्मदत्तनामा, तस्य जन्मपत्रिका मया कृताऽस्ति, तस्य जन्माक्षरैः सह सर्वरीत्या मिलति'। ततो भूर्जपत्रे लिखित्वा दर्शिता, मत्पिताऽपि तां दृष्ट्वा हर्षितः, परं भाग्योदयं नष्टं दृष्ट्वा खिन्नः। तदा तेनोक्तम्—'एष धर्मदत्तः षोडशसुवर्णकोटिस्वामी भविष्यति, नाऽत्र सन्देहः'। तदा श्रेष्ठिनोक्तम्—'तेनैव सह एनां पुत्रीं विवा-

हयिष्ये। यतः—

"कुलं च शीलं च सनाथता च, विद्या च वित्तं च वपुर्वयश्च।
वरे गुणाः सप्त विलोकनीयास्ततः परं भाग्यवशा हि कन्या ॥१॥

मूर्ख–निर्धन–दूरस्थ–शूर–मोक्षाऽभिलाषिणाम्। त्रिगुणाऽधिकवर्षाणामपि देया न कन्यका" ॥२॥

अथ तेन गणकेन लग्नं विलोकितम्; निर्णयं च कृत्वोक्तम्'अस्मिन् वर्षे शुद्धम् अष्टादशदोषरहितं लग्नमेकमेवाऽस्ति माधवशुक्लपञ्चमीदिनेऽर्धाधिकप्रहरद्वयसमये'। तच्छ्रुत्वा श्रेष्ठिनोक्तम्–'तल्लग्नमन्तरा स्तोकदिनाः सन्ति। अथ तस्यामन्त्रणं क्रियेत, स चाऽऽगच्छेत्, एतावानपि समयो नास्ति। भव्यलग्नमपि न मोक्तव्यम्, अतः पुत्रीमादाय वयं तत्र यास्यामः'। इत्युक्त्वा गणकाय प्रीत्या भूरिदानं दत्त्वा विसर्जितः। पोतं च सज्जीकृत्य सकलत्र–पुत्रीयुतः प्रवहणे चटितः। प्रवहणमपि पवनप्रेरितं शीघ्रगत्या चलति। क्रमेणाऽर्धपथे गते दैवयोगात् प्रतिकूलपवनयोगेन प्रवहणं भग्नम्। आयुःसम्बन्धाद् मया हस्ते फलकं लब्धम्, तेनाधारेण तरन्ती सप्तमे दिने तीरं प्राप्ता। वनमध्ये सरोवरपयः पीत्वा श्रमखिन्ना तरुतले यावत् सुप्ता तावता राक्षसेनोत्पाट्य अत्र मुक्ता। ततो मां भयेन कम्पमानाङ्गीं दृष्ट्वा राक्षसेनोक्तम्–'मा भैषीः, सप्तदिनावधि क्षुधितस्याऽपि मम त्वां दृष्ट्वा कृपोत्पन्नाऽस्ति, अतो यावद् अन्यद् भक्ष्यं लप्स्ये तावत् त्वां न भक्षयिष्यामि'। इत्युक्त्वा गतेन तेन त्वं समानीतः। हे सत्पुरुष! त्वां दृष्ट्वाऽहं चिन्तयामि–'हे विधे! कथमहम् अभाग्यवती सृष्टा [१]; पूर्वं हि पित्रोर्वियोगो दृष्टः, साम्प्रतं च अस्य पुरुषस्य विनाशवीक्षणाय स्थापिताऽस्मि"। इत्युक्त्वा

१ विलोक्य

पुनः प्राह–'हे सत्पुरुष ! भवान् कुत्रत्यः ?, सत्यं कथयतु'। इति तयोक्तं श्रुत्वा धर्मदत्तः स्मितपूर्वकं प्राह–'भद्रे ! यस्त्वयोक्तः स तु अहमेव। भद्रे ! मम स्थान–नामादिकं त्वयैव प्रोक्तम्, किमन्यत् कथयामि ?, किं माम् अन्यत् पृच्छसि ?'। इति श्रुत्वा सा सम्भ्रान्ता यावज्जाता तावता तस्या वामभुजः स्फुरितः। तदा च सा प्रमोदं प्राप्ता व्यचिन्तयत्–'एतत् शुभोदयसूचकं चिह्नम्, तेनायम् इष्टसंयोगोऽपि कुशलत्वसूचको भासते, परन्तु हार्दं जिनो वेत्ति'। इति विचिन्त्य धीरत्वं प्राप्ता सती 'एष एव ममेप्सितो धर्मदत्तो धात्रा मेलितः' इति निश्चयं कुर्वती लज्जां लेभे। तदा धर्मदत्तेनोक्तम्–'भद्रे ! यद्यप्यावयोर्योगो दैवेन कथमपि मेलितः, परं विमृश्य कथय–लग्नदिनं कदा प्रोक्तमस्ति ?'। तयापि विमृश्य दिननिर्णयं कृत्वा प्रोक्तम्–'तद्दिनं तु अद्यैव, एषैव वेला'। तेनोक्तम्–'तदा कल्याणवेला कथं मुच्यते ?'। तयोक्तम्–'एवमस्तु'। ततस्तेन सा शुभयोगे परिणीता। अथ तया प्रोक्तम्–'प्राणेश ! पाणिग्रहणं तु कृतं, बहुदिनेप्सितं कार्यं सिद्धम्; परं राक्षसभीतिस्तथैवाऽस्ति'। तेनोक्तम्–'क्वाऽस्ति राक्षसः ?'। तयोक्तम्–'तस्मिन्नेव सरसि स्नानं कृत्वा, खड्गं पार्श्वे विमुच्य, देवार्चां कृत्वा, देवान् स्तुवन्नस्ति। स च सेवां यावद् मरणान्तेऽपि तत्स्थानाद् नोत्तिष्ठति'। तदा धर्मदत्तेनोक्तम्–'अहं तत्र गत्वा राक्षसं हन्मि'। तयोक्तम्–'चेद् ईदृशी धीरता तर्हि एषैव वेलाऽस्ति'। एतच्छ्रुत्वा एष उत्थायाऽग्रे चलितः, पृष्ठतः शनैः शनैः साऽपि गता। अथ धर्मदत्तेन दूरतः सेवां कुर्वन् राक्षसो दृष्टः। ततः शनैः शनैरलक्ष्यतया पादन्यासं कुर्वता तत्पृष्ठतो गत्वा, सहसा तं खड्गं लात्वा, धैर्यं धृत्वा पुरोभूय हक्कितः–'रे रे पापिष्ठ ! बहुजीवघातक ! अद्य तव पातकं समुदितम्; त्वां न मुञ्चामि, हन्म्येव'। इति श्रुत्वा राक्षसः कोपाक्रान्तो यावद् उत्तिष्ठति तावता तेनैव खड्गेन राक्षसो हतः। तद् दृष्ट्वा चमत्कृता धनवती तस्य भुजौ पुष्पैः पूजयामास। ततस्तौ निःशङ्कौ तत्र वने जातानां कदली–द्राक्षा–जम्बीरादिफलानाम् आहारं कुर्वन्तौ

घुगलिनाविव सुखेन तिष्ठतः। अन्येद्युः कान्तयोक्तम्–"प्राणेश! धर्मं विना निरर्थकं जन्म याति। यतः—

"[1]जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तइ। अहम्मं कुणमाणस्स, अहला जन्ति राइओ" ॥१॥

तथा–"येषां न विद्या न तपो न दानं, ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।

ते मृत्युलोके भुवि भारभूता, मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति" ॥१॥

तेन कारणेन निवासभूमौ गम्यते तदा भव्यम्। तत्र गमने देव–गुर्वादीनां दर्शनं भवति। यतः—

"यस्मिन् देशे न सन्मानं न वृत्तिर्न च बान्धवाः। न विद्यागमः कश्चिद् न तत्र दिवसं वसेत्" ॥१॥

ततस्तौ तत्स्थानाच्चलितौ। क्रमेण काश्मीरदेशे चन्द्रपुरासन्नवने प्राप्तौ। अन्यदा सन्ध्यायां वनमध्ये निर्विण्णौ क्वापि विश्रान्तौ अथ धर्मदत्तः पाश्चात्यरात्रिसमये सूर्योदयात् पूर्वं प्रबुद्धो लीलया प्रियां प्रबोधयितुं लग्नः। यथा—

"प्रोज्जृम्भते परिमलः कमलावलीनां, शब्दायते क्षितिरुहोपरि ताम्रचूडः।

शृङ्गं पवित्रयति मेरुगिरेर्विवस्वान्, उत्थीयतां सुनयने! रजनी जगाम" ॥१॥

परं सा हुङ्कारमात्रमपि न ददाति। पुनः क्षणं प्रतीक्ष्य बभाषे—

"एते व्रजन्ति हरिणास्तृणभक्षणाय, चूर्णं विधातुमथ यान्ति हि पक्षिणोऽपि।

मार्गस्तथापि सुवहः किल शीतलः स्याद्, उत्थीयतां प्रियतमे! रजनी जगाम" ॥१॥

---

१ या या व्रजति रजनी, न सा प्रतिनिवर्तते। अधर्मं कुर्वतोऽफला यान्ति रात्रयः ॥१॥

तथापि किमपि न जल्पति। ततः स सम्मुखीभूय जल्पयन् द्रष्टुं लग्नस्तदा तत्र तां न पश्यति स्म। तदा चिन्तयितुं लग्नः—'सा क्व गता?, किमेतत्?, पूर्वमुत्थिता वा लघुबाधादिनिवारणाय गता?'। क्षणं प्रतीक्ष्य शब्दं कुरुते—'प्रिये! समागच्छ समागच्छ'। परं नाऽऽयाता। तत उत्थाय परितो वीक्षितम्, परं न कुत्रापि पश्यति। तत्पदमपि पतितं न पश्यति। ततो मनसि चिन्ता जाता। वनं भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा श्रान्तः, परं सा क्वापि न लब्धा। ततः प्रियावियोगविधुरः स प्रोक्तवान्—'हे हंसा! हे मयूरा! हे हरिणा! हे चम्पक! हे अशोक! हे सहकार! मम प्रियाशुद्धिं कथयत'। इत्यादि स्नेहव्याकुलो जल्पन् पुनः पुनः स्वापस्थानमागत्य पश्यति, यत इह जगति मोहो दुर्जयः। एवं स्नेहग्रथिल इतस्ततः परिभ्राम्यति, विचिन्तयति च—

"यन्मनोरथशतैरगोचरं, यत् स्पृशन्ति न गिरः कवेरपि।
स्वप्नवृत्तिरपि यत्र दुर्लभा, लीलयैव विदधाति तद् विधिः" ॥१॥

"देशाद्देशान्तरं यातु पुण्य-पापमयः पुमान्। पुरः किञ्चित् प्रतीक्षन्ते सम्पदो विपदोऽपि न" ॥१॥

इति विचिन्त्य, 'गृहमेव यास्यामि' इति ध्यात्वा, तच्चन्द्रपुरं प्राप्तः। अथ गोपुरे प्रवेष्टुं लग्नस्तावता पुनर्मनसि चिन्ता समुत्पन्ना—"हा मूढबुद्धे धर्मदत्त! किं करोषि?, क्व यासि?। पुरा प्रथमतो भोगैकलम्पटेन त्वया पितुर्धनं निर्नाशितम्; अहो! तव मूढता, यत् पित्रोर्मरणमपि नाऽवगतम्। पुनस्तया निर्लज्जया निःस्नेहस्वभावया साधारणस्त्रियाऽपमानं दत्त्वा निष्काशितो गृहमागतः। तया च कुलवत्या प्रियया पञ्चाशत् सहस्राणि दत्तानि, तान्यपि स्वकुबुद्ध्या विनाशितानि। अथ पुनर्गृहे गत्वा निजमुखं कथं दर्शयिष्यसि?। चेद् निर्लज्जो भूत्वा गृहे यास्यसि तथापि स्वजनाः परजनाश्च निर्धनं भाग्यहीनं मूर्खशेखरं त्वां हसिष्यन्ति,

तद्वचनानि कथं सहिष्यसे ? । यतः—

"वरं वनं व्याघ्र-गजेन्द्रसेवितं, द्रुमालयः पत्र-फला-ऽम्बुभोजनम् ।
तृणानि शय्या वसनं च वल्कलं, न बन्धुमध्ये धनहीनजीवनम्" ॥१॥

अतोऽधुना वनाश्रयणमेव वरम्" । इति निश्चयं कृत्वा पश्चाद्वलितो वनं गतः । तत्र च फलजलाहारेण प्राणवृत्तिं करोति । एवं वने तिष्ठन् अन्यदा एकेन विद्यासिद्धेन योगिना दृष्टः । तेन सुलक्षणवन्तं ज्ञात्वा प्रोक्तम्—'भ्रातः ! कथं सचिन्त इव दृश्यसे ?' । तेनोक्तम्—'निर्धनानां कुतो निश्चिन्तत्वम् ? यतः—

"निर्द्रव्यो ह्रियमेति ह्रीपरिगतः प्रभ्रंश्यते तेजसा, निस्तेजाः परिभूयते परिभवाद् निर्वेदमागच्छति ।
निर्विण्णः शुचमेति शोकसहितो बुद्धेः परिभ्रंश्यते, निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो ! अधनता सर्वापदामास्पदम्" ॥१॥

"जीवन्तोऽपि मृताः पञ्च व्यासेन परिकीर्तिताः । दरिद्रो व्याधितो मूर्खः प्रवासी नित्यसेवकः" ॥१॥

एवं श्रुत्वा योगिनोक्तम्—"अहं 'दारिद्र्यकन्दकुद्दाल' इति विरुदं वहे, तसाद् अहमेवं चिन्तयामि—

"मयणदेव[1] ईश्वर दद्धो लंक दहि हणुएंण[2] । पांडुउवन अरजुन दहिउ पुण दालिद्द न केण" ॥१॥

तेन ममेदृशीच्छा वर्तते—दारिद्र्यं दहामि" । इति श्रुत्वा हृष्टो धर्मदत्तोऽवदत्—'कथयतु, कथं भवता दारिद्र्यध्वंसनं करिष्यते ?' । योगिनोक्तम्—'स्वर्णपुरुषं साधयामि' । धर्मदत्तेन चिन्तितम्—'जीवहिंसां विना यदि स्वर्णपुरुषः साध्येत तदा तु वरं, नान्यथा' ।

१ कामदेवः । २ हनुमता ।

इति व्याख्योक्तम्—'भो योगीन्द्र! पुरा श्रुतमस्ति यत् स्वर्णपुरुषो जीववधेन निष्पाद्यते, तत् सत्यम् अन्यथा वा?' इति तदुक्तं श्रुत्वा योगी 'हा! धिक् हा धिक्' इति शब्दं कृत्वा, थूथूकारं कुर्वन् प्राह—

"तत् श्रुतं यातु पाताले तच्चातुर्यं विलीयताम्। ते विशन्तु गुणा वह्नौ यत्र जीवदया न हि ॥१॥

ददातु दानं विदधातु मौनं, वेदादिकं चाऽपि विदाङ्करोतु।

देवादिकं ध्यायतु नित्यमेव, न चेद् दया निष्फलमेव सर्वम्" ॥२॥

पुनर्योगी किञ्चर्यातोद्यं करे गृहीत्वा तद्वादनपूर्वकं लोकभाषया गोरखवाक्यानि गातुं लग्नः। तथाहि—

"कंथ जगोटी हाथ लंगोटी, ए नहिं योगीमुद्रा। जीवदया विणुं धर्म नहिं रे, करे पाखंडी मुद्रा ॥

जंपे गोरख सुण रे बाबु! ॥१॥

अथिर एह संसार असारा, देखत सब जग जाइं। पुत्र कलत्र परिवारें मोह्यो, मरण न देखे कांइ ॥जंपे०॥२॥

भार वहो कांइ जटा जनोईं, विण दया धर्म न कोई। जीवदया तुमे पालो बाबु! जिगचें निर्मल होई ॥जंपे०॥३॥

सोनाके पुरुसा क्या कीजे? जो नहिं दया प्रधान। तिण सोंना पहिरें क्या माचे?, जिणसें तुटें कान ॥जंपे०॥४॥

गोरख जंपे सुण रे बाबु!, म गणिस आप पराया। जीवदया इक अविचल पालो, अवर धर्म सवि माया ॥जंपे०"॥५॥ ॥२०१॥

एभिर्वचनैर्धर्मदत्तो हृष्टस्तं योगिनं प्रति जगौ—'तर्हि स्वर्णपुरुषं कया रीत्या निष्पादयिष्यसि?'। योगिनोक्तम्—'रक्तचन्दनका-

१ वाद्यम्।

ष्ठमयं पुरुषप्रमाणं पुत्तलकं कृत्वा, मन्त्रप्रभावेण सर्षपैराच्छोट्य आच्छोट्य कुण्डे पातयिष्यामि; तत उष्ण-शीतलजलाभ्यां सिक्तः सन् स्वर्णपुरुष एव भविष्यति, नाऽत्र सन्देहः' । धर्मदत्तेनोक्तम्-"तर्हि प्रसद्य उद्यमं कुरु, यतः 'परोपकाराय सतां विभूतयः' । अतो हे योगीन्द्र ! स्वर्णपुरुषं निर्मापय, येन ममापि तव प्रसादाद् दारिद्र्यं नश्येत् । यतो गजाऽशनात् पतितो ग्रासलवः कीटिकायाः कुलं पोषयति" । योगिनोक्तम्-'भद्र ! वयं योगिनः, स्वर्णपुरुषेण किं प्रयोजनम् ? । गुरुकृपातो नाऽस्माभिरीदृशं प्रार्थ्यते; केवलं तव दारिद्र्यं दृष्ट्वा मम करुणोत्पन्ना, तेन त्वदर्थमेवोपक्रमं करिष्ये' । इति तस्योक्तं श्रुत्वा धर्मदत्तेनोक्तम्-'सत्यं यूयं वदथ । भवादृशाः परोपकारकरणैकतत्परा भवन्ति । सज्जनाः कूर्पासवत् स्वदेहे दुःखमपि अङ्गीकृत्य परस्योपकुर्वन्ति । यतः—

"कप्पासह सारिच्छडा विरला जणणी जणंत । नियदेह वंफट्टे वि पुण परगुह्यक ढंकंत" ॥१॥

तदा योगिनोक्तम्-'भद्र ! प्रथमतः 'सपादलक्ष' पर्वतमध्यात् शीतोष्णे पानीये आनेतुमवलोक्येते' । ततो द्वावपि चलितौ । तत्र गत्वा शीतोष्णकुण्डयोः पानीये आनीते । ततो रक्तचन्दनकाष्ठमयः पुरुषप्रमाणः पुत्तलको योगिना घटितः । ततः सर्वोऽप्याहुति-संयोगो मेलितः । अथ कृष्णचतुर्दशीरात्रौ द्वावपि श्मशानं गतौ । तत्राऽग्निकुण्डं कृत्वाऽग्निः प्रज्वालितः । ततो योगिना लोहरक्षा-मिषेण खड्गः पार्श्वे स्थापितः, तत्समीपे स्वयं निविष्टः । पुनर्धर्मदत्तस्योक्तम्-तवाऽपि लोहरक्षाऽस्ति ?' । तेनोक्तम्-'अस्ति किञ्चित्, परं भवदीया कृपाऽस्ति तदा रक्षया किं प्रयोजनम् ?' । इत्युक्त्वा, अनागतबुद्धित्वाद् वणिजः, किमपि हृदि विचिन्त्य गुप्तः खड्गो रक्षार्थं समीपे धृतः । अथ योगिना धर्मदत्त आत्मनोऽग्रतः पराङ्मुखो निवेशितः । उक्तश्च-'त्वया पश्चाद् न विलोकनीयम्' । पश्चात् तयोरन्तरे रक्तचन्दनपुत्तलकः स्थापितः । ततो योगी पूर्वं क्रियां कृत्वा प्रान्ते स्वेप्सितफलसिध्यर्थं सर्षपान् अभिमन्त्र्य धर्मदत्तस्य

पृष्ठमेव आस्फोटयति। एवम् आस्फोटयतः कियती वेला लग्ना, तदा धर्मदत्तस्य चित्ते विकल्प उत्पन्नो यद्—"अनेन योगिना हि पूर्वं ममाग्रे उक्तमस्ति यद्—'रक्तचन्दनघटितस्य पुरुषस्य मन्त्रास्फोटनैः स्वर्णपुरुषं निष्पादयिष्यामि!'। अधुना तु काष्ठपुरुषं मुक्त्वा मम पृष्ठमेव आस्फोटयति!, तदा किं ज्ञायते?, ममैव मारणाय तु प्रवृत्तिं न करोति किम्?। अस्य कथनं सत्यं चेद् भवेत् तदा यस्य निष्पाद्यमस्ति तदेव आस्फोटयेत्, परम् अयं तु मामास्फोटयति, अतोऽत्र भव्यं न दृश्यते। 'जटिलस्य विश्वासो न कर्तव्य' इति नीतिशास्त्रेऽप्युक्तमस्ति"। इति विचार्य सर्वापन्निवारणसमर्थस्य सकलश्रुतसारस्य नमस्कारमहामन्त्रस्य—'ॐ नमो अरिहंताणं शिरस्कं शिरसि स्थितम्' इत्यादिना वज्रपञ्जरस्तोत्रेण आत्मरक्षा कृता। सर्वाणि स्वाङ्गानि वज्रपञ्जरस्तोत्रगताऽङ्गन्यासेन अभेद्यानि कृत्वा तदेव ध्यायन् स्थितः। योग्यपि यावद् अष्टोत्तरशतावधि आस्फोटनविधिं समाप्य खड्गं सज्जीकर्तुं लग्नस्तावता कुमारेण वक्रदृष्ट्याऽवलोकनेन खड्गं सज्जयन् दृष्टः। चिन्तितं च—'एष तु मम वधाय निश्चयेन खड्गं प्रगुणीकरोति, नाऽत्र कश्चिद् विलम्बः'। तत उत्पन्नबुद्धिना धर्मदत्तेन झटिति गुप्तरक्षितं खड्गं समादाय संमुखीभूय योग्येव हत्वा कुण्डान्तः पातितः। तदा मन्त्रक्रियाप्रभावेण योगिशरीरस्य स्वर्णपुरुषो जातः, यतो यः परस्य निरपराधस्योपरि दुष्टं करोति स स्वयमेव तद्दुःखसङ्कटे पतति, नात्र सन्देहः। ततो धर्मदत्तेन चिन्तितं यद्—"अनेन पापिना प्रथमत एव कपटकलया धर्ममार्गवचनरचनया चाऽहं विप्रतारितः, परम् अतिपापप्रवृत्त्या स्वशस्त्रं स्वोपघाताय जातम्, अतो धिगस्तु लोभम्। यतः—

"लोभस्त्यक्तो न चेत्तर्हि तपस्तीर्थफलैरलम्। लोभस्त्यक्तो भवेत्तर्हि तपस्तीर्थफलैरलम्" ॥१॥

जीवो लोभवशात् स्वेष्टसिद्ध्यै महान्ति पापानि करोति, परं पुण्योदयं विना स्वचिन्तितात् किमपि विपरीतं भवति। विना धर्मम्

आगतं दुःखं न कोऽपि विफलीकरोति। अयं स्वर्णपुरुषोऽचिन्त्यदैवाज्जातः, अधुना एनं शीतोष्णजलाभ्यां सिञ्चामि"। इति चिन्तयन् पूर्वानीतशीतोष्णजलग्रहणाय रक्षितजलस्थाने गतः। तत्रस्थं जलमादाय यावता कुण्डसमीपमागत्य विलोकयति तावता स्वर्णपुरुषं नाऽपश्यत्। ततस्तदर्थवियोगेन मूर्च्छितो भूमौ पतितः। पवनैः सचेतनीकृतश्चिन्तयति—'अहो! मया पापं कृतं, परं फलं न प्राप्तम्। गमनाऽनर्हं चण्डालपाटकं प्रति गतः, परं स्वोदरपूर्तिरपि न जाता। हा दैव! पश्चाऽमृतभृतं पात्रं क्षुधितस्य हस्ते दत्त्वा, यावता क्षुधितः सहर्षं कवलं कृत्वा मुखे क्षेप्तुं प्रवृत्तस्तावता सर्वं सहसोद्दालितम्; सा गतिर्ममापि जाता। हा दैव! त्वयाऽहमेवोपलक्षितोऽस्मि, पतितस्योपरि लत्ताप्रहारः कृतः। यदि तव मह्यं न दातव्यमभूत् तदा त्वया दर्शयित्वा दुःखस्योपरि दुःखं व्रणे क्षारक्षेप इव कस्माद् दत्तम्?, काऽपि करुणा नागतैव?, मया किं तवाऽपराद्धम्?'। इति विलपता शेषरात्रिर्महता दुःखेन समाप्तिं नीता। प्रगे चिन्तितम्—'जातः स्वर्णपुरुषो वनान्तर्वासिना केनाप्यपहृतः, अतोऽहं राज्ञः समीपे गत्वा पूत्करोमि। यतः—

"दुर्बलानामनाथानां पीडितानां नियोगिभिः। वैरिभिश्चाऽभिभूतानां सर्वेषां पार्थिवो गतिः" ॥१॥

हे नराधिप! सोऽहं श्रीपतिश्रेष्ठिनः पुत्रो धर्मदत्तोऽत्रैव वास्तव्यः। मया च भवत्समीपमागत्य स्वर्णपुरुषसिद्ध्यादिकः सर्वोऽपि वृत्तान्तः कथितः। भवादृशानां सुराजानां राज्ये पितरौ केवलं जन्महेतू, परं समग्रजीवितं यावत् सुखनिर्वाहस्तु सुराजसाद् भवतीति ध्यात्वा भवत्समीपमागतोऽहम्। अधुना तु भवतां यत् शोभते तत् कुर्वन्तु, अतः परम् अन्यत्र कुत्रापि गन्तव्यं नास्ति; यतो नरेन्द्राद् अधिकः कोऽपि नास्ति। उक्तञ्च—

"शठदमनमशठपालनमाश्रितभरणानि राजचिह्नानि। अभिषेकपट्टबन्धो वालव्यजनं व्रणस्यापि" ॥१॥

हे स्वामिन्! अहम् अतीवदुःखाब्धौ पतितो दुःखेन विह्वलीकृतहृदयो योग्याऽयोग्यं यत्तत् प्रलपामि तत् स्वामिना मनसि नानेतव्यम्। यतोऽतिदुःखपीडितानां बुद्धयो विसंस्थुला भवन्ति, 'दुःखिते मनसि सर्वमसह्यम्' इतिवचनात्। अतो दुःखाब्धौ पतितस्य मम त्वमेव गतिः त्वमेव शरणम्, त्वमेवालम्बनम्। भवद्भिः कृपां कृत्वा समुद्धरणीयः"। एवं धर्मदत्तस्य विज्ञप्तिं श्रुत्वा सर्वैः सभ्यजनै राज्ञा च उपलक्षितः, परस्परं च वक्तुं लग्नाः—अहो! श्रीपतिश्रेष्ठिनः पुत्रस्येदृशी अवस्था जाता!, अतो न केनापि धनादिगर्वः करणीयः'। अथ राजा धर्मदत्तं प्रति वक्तुं लग्नः—'भो भद्र! महासिद्धिरूपः स्वर्णनरः केनापि सिद्धेन गन्धर्वेण विद्याधरेण व्यन्तरेण वा हृतो भविष्यति, स कथम् अल्पपुण्यस्य तव हस्ते समायायात्?। पुनरीदृशः को भाग्यशाली दैवत-वलयुक्तः साहसिकशिरोमणिः पुरुषो भवेद् यो वलवतः परस्य हस्ते गतं लात्वा तुभ्यं दद्यात्?। तव दुःखं च द्रष्टुम् अशक्ता वयम्, अतो लक्षं कोटिमानं वा स्वर्णं यथेच्छं याचस्व, तत्परिमितं स्वर्णं स्वकोशाद् अहं ददामि, तल्लात्वा सुखी भव'। धर्मदत्तेनोक्तम्—"देव! स एव स्वर्णनरश्चेत् प्राप्येत तदा मे निर्वृतिः, अन्यत्स्वर्णं तु न गृह्णामि। नाऽहं मार्गणोऽस्मि, अतो 'अन्यद् हाटकं गृहाण' इति पुनर्न वाच्यम्। यदि स्वभुजोपार्जितः स्वर्णनरः परदुःखभञ्जनैकरसिकस्य भवतश्चरणशरणागतेन मया न प्राप्येत तदाऽन्यस्वर्णग्रहणेन किम्?। अतो यद् भावि तद् भवतु, नाऽहम् अन्यस्वर्णं गृह्णामि; अन्यस्वर्णं लात्वा महेभ्यपुत्रविरुद्धं कथं लज्जयामि?। मदीयस्वर्णपुरुषस्तु भवदीयनगरोपवनान्तरेव गतः, नान्यत्र। पूर्वमपि हि परदुःखभञ्जकविरुदवाहकैर्भूपतिभिर्देवतादिहृतानि वस्त्र—कञ्चुका——ऽऽभूषणादीनि साहसधैर्य—बुद्ध्यादिवलेन देवादिपार्श्वादपि आनीय दत्तानि। वर्तमाने तु भवानपि परदुःखभञ्जकः, पितुरधिकं पुत्रवत् प्रजापालको विराजमानोऽस्ति, यदि मां दुःखाब्धेरवतार्य बुद्धिवलेन केनापि च्छलेन वा स्वर्णपुरुषं प्रकटं कृत्वा दापयिष्यति तदा तु

भवच्चरणोपान्ते स्थितः सेवां करिष्यामि, अन्यथा तु स्वस्त्यस्तु भवते, पुनर्देशान्तरं यास्यामि"।

इति तस्योक्तं श्रुत्वा नृपतिश्चिन्तयितुं लग्नः–'अहो! अयं मत्पुरनिवासी दुःखसंतप्तो ममोपान्तमागतः। यद्यस्य दुःखं न भनज्मि तदा ममाग्रे पूत्करणं वृथा भवति, यद्यस्य दुःखं श्रुत्वा वीर्यं न स्फोरयामि तदा मम नायकत्वक्षतिः स्यात्, बन्दिजनसञ्चिंतं च यशो विफलीभवति। दीयमानं धनं तु न लाति, गतं वस्तु पुनर्दैवायत्तम्!, किं करोमि?, विषममापतितम्। अस्यां मम सभायां सहस्रशो भटा धीरा वीराः परोपकारकरणैकरसिकाः सन्ति, अतस्तेषां मध्ये यः कोऽपि कार्यं साधयेत् तथापि ममैव माहात्म्यम्"। इति विचिन्त्य स्वहस्ते वीटकम् उत्पाट्य समस्तसभाया अग्रे उक्तम्–'अस्तीह मम सभायां मातृजातः पुत्रो योऽस्य स्वर्णनरं वालयित्वा स्वकीयां मदीयां सभायाश्च लज्जां रक्षति?, तत्कार्यकरणाय क इदं वीटकं गृह्णाति?'। एवं वदता नृपेण सर्वेषां वीटकं दर्शितम्, परं कोऽपि दुःसाध्यकार्यत्वात् करं न प्रसारयति। तदा चन्द्रधवलकुमारेण चिन्तितम्–'स्वर्णपुरुषस्तु मदायत्तः। पितुर्वीटकं न कोऽपि गृह्णाति, अतो मयैव ग्रहणं युक्तम्, यथा पितुर्महत्त्वहानिर्न भवेत्, अस्य च दुःखं भञ्ज्यात्। पितुर्महत्त्वेऽखण्डिते ममैव महत्त्ववृद्धिः, पितुरपकीर्त्युत्तारणात् सुपुत्रत्वख्यातिश्च'। इति विचिन्त्य कुमारेण प्रणामपूर्वकं वीटकं गृहीतम्। तद् दृष्ट्वा राजा लोकाश्च चमत्कृताः सन्तः परस्परं वावदति–'अहं हि देवादिकृतच्छलस्य अज्ञातव्यतिकरोऽनिर्णीतस्थानसद्भावः केनोपायेन कस्य साहाय्येन वा स्वर्णनरं वालयिष्यति?, कथं च स्वप्रतिज्ञानिर्वाहं करिष्यति?'। एवं महाश्चर्यत्वात् कार्यस्य दुःसाध्यत्वाच्च अनेकगत्या मन्त्रयन्ति। अथ कुमारो वीटकं गृहीत्वा धर्मदत्तेन सह सभातो निर्गतः। कुमारेण चिन्तितम्–'यद्यस्य अधुनैव स्वर्णपुरुषो दीयते तदाऽस्य मनसि काऽपि शङ्कोत्पन्ना भविष्यति, कार्यस्य च दुःसाध्यत्वं न भविष्यति; प्रत्युत विचित्रवादका लोका

असद्भूतोद्भावनं कृत्वाऽभ्याख्यानं दास्यन्ति। अयमपि ममोपकारप्रौढत्वं न श्रद्धास्यति, अत्र महायशःप्राप्तिस्थानेऽल्पप्राप्तिर्भविष्यति। यद् यादृशं कार्यं तत् तदनुरूपाडम्बरपूर्वकमेव कर्तव्यम्, अतो विलम्बकरणमत्र युक्तम्'। इति ध्यात्वा धर्मदत्तायोक्तम्—'स्वर्णनरः कस्मिन् स्थाने कृतः?, तत्स्थलं दर्शय'। ततो धर्मदत्तेन सव्यतिकरं स्थानादि दर्शितम्। राजकुमारोऽपि शिरो धूनयन् धर्मदत्तं प्रत्याह—'भो भद्र! एष तु प्रबलशक्तिमता केनापि देवेन दानवेन विद्याधरेण वा तव स्वर्णनरो गृहीतः, न तु सामान्येन, इति ज्ञायते। अतोऽत्र यदि रात्रौ स्थीयते तदा कयापि रीत्या तत्स्वरूपं ज्ञायते'। धर्मदत्तेनोक्तम्—'यथाऽऽज्ञा भवेत्, अहं तु भवतोऽनुचरोऽस्मि'। कुमारेणोक्तम्—'विना स्वर्णनरप्राप्तिं नगरे न प्रवेक्ष्यामि, अतो माऽधृतिं विधेहि'। इत्यालापं कुर्वन्तौ तौ परिभ्रमणेन दिनपूर्तिं कृत्वा रात्रौ कस्मिंश्चिद् भव्यस्थले सुप्तौ। प्रथमे यामे गते धर्मदत्तस्तु निद्रावशं गतः, कुमारस्तु जागर्ति; तावता दिव्यातोद्यरवः श्रुतः। ततः कौतुकाक्षिप्तचित्तः कुमारो धर्मदत्तं निद्रायमाणं मुक्त्वा, खड्गं करे कृत्वा, मार्गेऽभिज्ञानानि कुर्वन् अग्रतश्चलितः। स्वरानुसारेणैव गच्छता दूरे क्वापि वनान्तरे विस्तीर्णं यक्षभवनं दृष्टम्। तस्मिन् आतोद्यपूर्वकं नाटकभवनं ज्ञात्वा कुमारः साहसं धृत्वा तत्समीपे गतः, परं दत्तकपाटं देवगृहं दृष्ट्वा सविस्मयं बहिः स्थितः। किञ्चिद् विलम्ब्य इतस्ततो विलोकयता कपाटे एकं छिद्रं लब्धम्। तेन च्छिद्रेण पश्यता मध्येऽष्टोत्तरशतदेवकनीवृन्दं नृत्यद् दृष्टम्। तन्मध्ये चैकां रूप—लावण्येन तदधिकतरां दृष्ट्वा विस्मितः, परं तां लक्षणैर्मानुषकनीं निर्धार्य चमत्कृतचित्तश्चिन्तयितुं लग्नः—'एषा मानुषकनी देवकनीभिः सह कथं निवसति?। अहो! विधेर्निर्माणं दृश्यताम्, जात्या मानुष्यपि रूपादिना देवकनीवृन्दम् अधरयति!'। एवं विचारयन्, पुनरपि नैपुण्येन पश्यन्, 'एषा मानुष्येव' इति निर्णयं कुर्वन् घटिकामात्रं तत्र स्थितः। तावता धर्मदत्तः स्मृतिपथमागतः—'अहो! मया तत्र निद्रायमाणं धर्मदत्तं

मुक्त्वाऽत्रागमनं कृतम्, परं तत्र कोऽपि श्वापदादिर्भ्रमन् आगमिष्यति तदा तस्य निद्रायमाणस्य का गतिः ?, ईदृशानि कौतुकानि-तु जगति बहूनि भवन्ति, अतोऽहं शीघ्रं तत्र गच्छामि' इति ध्यात्वा, पश्चाद् अभिज्ञानपूर्वकं पश्यन् धर्मदत्तसमीपं गतः। सोऽपि तत्क्षणमेव प्रबुद्धोऽस्ति। कुमारेणालापितः–'भो भद्र ! त्वया किमपि श्रुतं वा न हि ?'। तेनोक्तम्–'स्वामिन् ! एते शृगालाः शब्दायमाना भैरवी च कलकलायमाना श्रूयते, नाऽन्यत् किमपि'। एवं धर्मदत्तोक्तं श्रुत्वा कुमारेण ईषद् विहस्योक्तम्–'भद्र ! त्वया तु भरनिद्रया रात्रिर्नीता, मया तु जीवितं यावद् अविस्मरणीयं कौतुकं दृष्टम्'। धर्मदत्तेनोक्तम्–'किम् ?, कथम् ?, कदा ?'। कुमारः प्राह–'अद्य एकप्रहरयामिन्यां गतायाम् आतोद्य–गीतादीनां रवः श्रुतः। तदनुसारेणाहं गतः। तत्रैकं देवकुलं पिहितकपाटं दृष्टम्। कपाटच्छिद्रेण मया वीक्षितं तदा तस्मिन् शतमष्टोत्तरं देवकन्यो नृत्यं कुर्वत्यो दृष्टाः। तन्मध्ये चैका देवकन्याजित्वरी मनुष्यकन्या नृत्यन्ती दृष्टा। घटिकामात्रं तत्र स्थित्वा एकाकिनस्तव चिन्तया शीघ्रमागतः, परं तन्नाटकं नाऽधुनापि विस्मरामि'। तच्छ्रुत्वा धर्मदत्तोऽवादीत्–'स्वामिन् ! या मानवी स्त्री भवता दृष्टा सा ममैव प्रिया घटते, अत्र वने मम प्रिया केनापि हृताऽस्ति; अतः शीघ्रं चलत यूयं, तत्र गत्वा तामहं पश्यामि'। ततो द्वावपि चलितौ। यावत्तौ यक्षगृहं प्राप्तौ तावन्नाट्यमपि विसृष्टम्। तद् दृष्ट्वा धर्मदत्तो हस्तौ घर्षयन् राजकुमाराय पुनः पुनरपृच्छत्–'सा कियद्वयोमाना ?, किंवर्णा ?, कीदृशं मुखादिनिर्माणम् ?'। कुमारेणापि यथादृष्टं स्वरूपं निपुणतया प्रोक्तम्। तच्छ्रुत्वा धर्मदत्तेनोक्तम्–'स्वामिन् ! मम स्वर्णपुरुषेणाऽलम्, परं मम प्रियां भवानेव वालयित्वा ददातु'। राजकुमारेणोक्तम्–'मा चिन्तां कुरु, पिण्डे जीवोऽस्ति तावता तां मेलयिष्यामीति प्रतिज्ञा कृता'। अथ प्रभाते संजाते देवार्चकेनागत्य द्वारमुद्घाटितम्। तदा तौ द्वौ मध्ये गतौ, यक्षं च नमस्कृत्य स्थितौ। तदा कुमारेण चिन्तितम्–'मयाऽस्य प्रियाया वाल-

कर्म कं न मोहयति ?। सर्वेऽलब्धजिनागमहार्दा जीवाः कर्मायत्ताः सन्ति, नाऽत्र विस्मयः। अथ कृतप्रतिज्ञापालने क उपायो भवेत् ?'। इति क्षणं विमृश्य निर्णीतम्–'विना तपस्क्रियां नापर उपायः, यतो दुःसाध्यमपि कार्यं तपसा सिध्यति। उक्तं च–

"यद्दूरं यद्दुराराध्यं, यच्च दूरे व्यवस्थितम्। तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्" ॥१॥

इति विचिन्त्य तां यक्षिणीमुद्दिश्य षड् उपवासा निश्चलचेतसा कृताः। पूर्ववद् धैर्यबलेन यक्षिणी कम्पितासना सती प्रत्यक्षीभूय बभाषे–'वत्स ! किमेवं साहसं क्रियते ?'। कुमारेणोक्तम्–'धर्मदत्तस्य प्रियामर्पयतु'। यक्षिण्योक्तम्–'एतां कल्पान्तेऽपि नाऽर्पयामि, परं तवोत्कृष्टं साहसं निषेधयितुमशक्ता'। इत्युक्त्वाऽनिच्छन्त्याऽपि वस्त्राभरणैः सत्कृत्य साऽर्पिता। कुमारेणापि धर्मदत्तमाहूय प्रोक्तम्–'एषा तव प्रियाऽस्ति वा न ?'[1]। सोऽपि दिव्याभरणभूषितां दुकूलैश्चोपशोभितां स्वप्रियां वीक्ष्य हृष्टः सन् कुमारं प्रत्युवाच–'सिद्धं मे समीहितं भवत्प्रसादात्'। पुनः कुमारेणोक्तम्–'चलाऽग्रतोऽधुना, यथा तव स्वर्णनरं समर्पयामि'। इत्युक्त्वा प्रियासहितं धर्मदत्तमादाय श्मशाने गतः। तत्र साऽभिज्ञाना वृक्षासन्नप्रदेशभूमिर्दर्शिता। प्रोक्तं च–'भो भद्र ! अत्र त्वं भूमिं खनय'। तद्वाक्यात्तेन खनिता, तावता तत्रस्थो देदीप्यमानो महान् स्वर्णनरो निर्गतः। तदा धर्मदत्तेन चिन्तितम्–'अहो ! एवंविधो निष्कारणोपकर्ता कुमार एव, नान्यः। अधुना शतश उपकरोमि तथापि सुप्रतीकारो न भवामि, परं[2] यथाशक्ति तस्य सेवायां प्रवर्तितव्यम्। सदा तस्यानुकूल्येन प्रवर्तनं कर्तव्यं, पुनः पुनः स्वमुखेन तस्य स्तुतिः कर्तव्या'। इति क्षणं विमृश्योक्तम्–'भोः कुमार ! त्वया परमोपकारः कृतः, यो हि एकमुखेन शतसहस्रवर्षैरपि वक्तुमशक्यः, अतः परं किं याचेऽहम् ?'। तदा कुमारेणोक्तम्–'ममापि

१ द्वावपि तत्र श्मशाने गतौ। २ तथापि यथाशक्त्या।

कर्म कं न मोहयति ?। सर्वेऽलब्धजिनागमहार्दा जीवाः कर्मायत्ताः सन्ति, नाऽत्र विस्मयः। अथ कृतप्रतिज्ञापालने क उपायो भवेत् ?'। इति क्षणं विमृश्य निर्णीतम्–'विना तपस्क्रियां नापर उपायः, यतो दुःसाध्यमपि कार्यं तपसा सिध्यति। उक्तं च–

"यद्दूरं यद्दुराराध्यं, यच्च दूरे व्यवस्थितम्। तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्" ॥१॥

इति विचिन्त्य तां यक्षिणीमुद्दिश्य षड् उपवासा निश्चलचेतसा कृताः। पूर्ववद् धैर्यबलेन यक्षिणी कम्पितासना सती प्रत्यक्षीभूय बभाषे–'वत्स! किमेवं साहसं क्रियते ?'। कुमारेणोक्तम्–'धर्मदत्तस्य प्रियामर्पयतु'। यक्षिण्योक्तम्–'एतां कल्पान्तेऽपि नाऽर्पयामि, परं तवोत्कृष्टं साहसं निषेधयितुमशक्ता'। इत्युक्त्वाऽनिच्छन्त्याऽपि वस्त्राभरणैः सत्कृत्य साऽर्पिता। कुमारेणापि धर्मदत्तमाहूय प्रोक्तम्–'एषा तव प्रियाऽस्ति वा न ?'। सोऽपि दिव्याभरणभूषितां दुकूलैश्चोपशोभितां स्वप्रियां वीक्ष्य हृष्टः सन् कुमारं प्रत्युवाच–'सिद्धं मे समीहितं भवत्प्रसादात्'। पुनः कुमारेणोक्तम्–'चलाऽग्रतोऽधुना, यथा तव स्वर्णनरं समर्पयामि'। इत्युक्त्वा प्रियासहितं धर्मदत्तमादाय [1]श्मशाने गतः। तत्र साऽभिज्ञाना वृक्षासन्नप्रदेशभूमिर्दर्शिता। प्रोक्तं च–'भो भद्र! अत्र त्वं भूमिं खनय'। तद्वाक्यात्तेन खनिता, तावता तत्रस्थो देदीप्यमानो महान् स्वर्णनरो निर्गतः। तदा धर्मदत्तेन चिन्तितम्–'अहो! एवंविधो निष्कारणोपकर्ता कुमार एव, नान्यः। अधुना शतश उपकरोमि तथापि सुप्रतीकारो न भवामि, [2]परं यथाशक्ति तस्य सेवायां प्रवर्तितव्यम्। सदा तस्यानुकूल्येन प्रवर्तनं कर्तव्यं, पुनः पुनः स्वमुखेन तस्य स्तुतिः कर्तव्या'। इति क्षणं विमृश्योक्तम्–'भोः कुमार! त्वया परमोपकारः कृतः, यो हि एकमुखेन शतसहस्रवर्षैरपि वक्तुमशक्यः, अतः परं किं याचेऽहम् ?'। तदा कुमारेणोक्तम्–'ममापि

१ द्वावपि तत्र श्मशाने गतौ। २ तथापि यथाशक्त्या।

प्रतिज्ञानिर्वाहेण चित्ते महानन्दः संजातः। पुरुषस्य स्वोक्तपालनेनैव पौरुषं श्लाघ्यते। यतः—

"अर्थः सुखं कीर्तिरपीह मा भूदनर्थ एवास्तु तथापि धीराः।
निजप्रतिज्ञामनुरुध्यमाना, महोद्यमाः कर्म समारभन्ते" ॥१॥

तव मनोरथपूर्तौ मया सर्वं लब्धम्'। इत्युक्त्वा विरते कुमारे धर्मदत्तः प्राह–स्वामिन्! इमं स्वर्णनरं भवानेव गृह्णातु। मया तु प्रियाप्राप्तौ शतसङ्ख्यया स्वर्णनराः प्राप्ताः, अतो भवानेव गृह्णातु'। कुमारेणोक्तम्–'किं वातूलोऽसि?, किं वा प्रियादर्शनेन मतिमोहो जातः?, यद् इमं बहुप्रयत्नसाध्यं दुष्प्राप्यं न गृह्णासि!' तदा धर्मदत्तेनोक्तम्–'स्वामिन्! अहं वणिग्मात्रः, तेन नाऽयं मद्गृहे घटते, अतो भवानेव गृह्णातु। मम तु भवत्कृपया भव्यं भविष्यति; भवतामेव योग्योऽयं, नान्यस्य'। कुमारेणोक्तम्–'कुत्रापि तच्छ्रुतं–कष्टं कोऽपि करोति ग्रहीता च कोऽपि भवति?। त्वमेव प्रतिवनं भ्रान्तोऽसि, त्वयैव आतपादि महत्कष्टं सोढं, मरणान्तोपसर्गाद्यतिक्रान्तं कोऽपि करोति ग्रहीता च कोऽपि भवति?। त्वमेव प्रतिवनं भ्रान्तोऽसि, त्वयैव आतपादि महत्कष्टं सोढं, मरणान्तोपसर्गाद्यतिक्र-

मः कृतः, शौर्निष्पादितोऽयं त्वया स्वर्णनरः, स मया कथं गृह्येत?। अतस्त्वया निष्पादितं त्वमेव गृहाण'। धर्मदत्तेनोक्तम्–'स्वामिन्! स्वर्ण-

नरग्रहणयोग्यं मम भाग्यं नास्ति। मम भाग्यं तु मया पूर्वमेव परीक्षितम्, चेद् भाग्ये भवेत् तदा क्षणान्तरमध्ये कस्माद् गच्छेत्?। भवच्चरण-गतोऽप्यसौ त्वया स्ववीर्येण पुण्यबलेन च प्रकटितः, न मया दत्तः। त्वया प्रकटितं त्वमेव गृहाण। मम तु एतद्ग्रहणे भवच्चरण-

शपथोऽस्ति, मया तु अयमुपायनीकृतः'। एवम् अत्याग्रहेण कुमारेण मानितम्। ततः कुमारेणोक्तम्–'भो भद्र! अस्माद् यथेच्छं स्वर्णं गृहाण, येन त्वं व्यापारकरणाय प्रभवेः। त्वया गृहीते मम चित्तम् आनन्दमेदुरं भविष्यति'। तदा धर्मदत्तेन द्वौ पादौ द्वौ करौ

१ तदा धर्मदत्तोऽपि तस्मात् स्वर्णनरात् प्रतिदिनं शीर्षमात्रं मुक्त्वाऽन्यत् स्वर्णं गृह्णाति, एवं कियन्ति दिनानि स्वर्णं ग्रहीत्वा पुनः कुमारं प्रत्युक्तम्।

च छित्त्वा स्वर्णं गृहीतम्। पुनः कुमारं प्रत्युक्तम्–'भवत्कृपया मया व्यवसाययोग्यं स्वर्णं गृहीतम्, अधुना तु भवता तं गृहीत्वा नगरम् अलङ्क्रियताम्'। ततः कुमारोऽत्याग्रहाद् गल–शीर्षादिशेषं स्वर्णनरमुत्पाद्य, क्वापि संगोप्य गृहं ययौ। राज्ञो मिलितः। राज्ञा पृष्टम्–'तस्य दुःखितस्य समीहितं सिद्धम् ?'। कुमारेणोक्तम्–'भवच्चरणप्रसत्तेस्तस्य समीहितं सिद्धम्'। राज्ञोक्तम्–'भव्यं संजातम्'। नाऽन्यत् किमपि पृष्टम्, निर्लोभसुराजस्वभावत्वाद् धनसमृद्ध्यादिपूर्णत्वाच्च। कुमारेणापि प्रस्फुलनभयाद् न किमपि विस्तरेणोक्तम्। ततो राजा कुमारश्च पुनः स्वस्वकार्यकरणाय प्रवृत्तौ।

अथ धर्मदत्तः क्वापि निकटवर्तिनगरे गत्वा भव्यं गृहं गृहीत्वा स्थितः। तत्रस्थस्तेन स्वर्णेन व्यवसायं कर्तुं प्रवृत्तः। अनेकानि मन्त्री–करभ–शकटानि क्रयाणकैर्भृत्वा देशान्तरे प्रेषितानि। तत्र च स्वपुण्यप्राग्भारोदयेन विंशतिगुणमूल्येन विक्रीतानि। पुनस्तत्रत्यं क्रयाणकं स्ववासपुरमानीतम्, तत्रापि दशगुणमूल्येन विक्रीतम्। इत्येवं गमनागमनं कुर्वता स्तोकेनैव कालेन षोडशकोटिधनं मेलितम्। अथाऽन्यदा धर्मदत्तेन चिन्तितम्–'षोडशकोटिधनं प्राप्तम्, अधुनाऽत्र निवसनं न युक्तं, स्वपुरं यामि। तत्र गत्वा पितुर्नाम उद्द्योतयामि, मूलभार्याया मनोरथान् पूरयामि, स्वजनादींश्च तर्पयामि। सुपात्रदान–पूजादिभिः प्राप्तं नरभवं सफलं करोमि'। इति विचिन्त्य, तत्रस्थव्यापारं संहृत्य, महान्तं सार्थं संमेल्य, प्रियां सुखासने निवेश्य, स्वयम् अश्वरथादिवाहने यथेच्छमारूढोऽनेकशतभटैः परिवृतः स्वपुरगमनाय प्रस्थितः। ततः स्तोकैरेव दिवसैः स्वपुरासन्नं प्राप्तः। स्वगृहं प्रति वर्धापनिका प्रेषिता यद्–'धर्मदत्तः श्रेष्ठी बहुधनम् अर्जयित्वा समृद्धियुक्त आगतः'। तच्छ्रुत्वा पूर्वजाया स्वजनेभ्यो वर्धापनिकायां वस्त्र–धना–ऽऽभूषणादिकं

---

१ गलशीर्षमात्रं।

ददौ । ततः स्वजना विविधसुखासन-यान-वाहनाऽधिरूढाः, अनुपमवस्त्राभरणैरलङ्कृताः, विविधातोद्यानि वादयन्तोऽहमहमिकया धावन्तो, योजनं यावत् सम्मुखमागताः । अथ स्वजनादीन् जोत्कारपूर्वकं गाढमालिङ्ग्य मिलितः । परस्परं सुखक्षेमवार्ता पृष्टा । ततः कुलवृद्धान् अतिपरिचितांश्च जनान् सम्मानपूर्वकं स्वरथे संस्थाप्य, अन्यानपि यथायोग्यं वाहना-ऽश्वादिषु अश्ववारिकां कारयित्वा, बहुविधाऽऽडम्बरसहितः, सहस्रसङ्ख्यलोकपरिवृतोऽनेकवादित्रैर्वाद्यमानः, सधवकुलवधूभिर्धवलमङ्गलानि गीयमानः, प्रबलोत्साहपूर्वकं याचकजनेभ्यो दानं ददानः, त्रिपथ-चतुष्पथ-राजपथेषु प्रतिपदं पुरवासिमहाजनैर्जोत्कारं क्रियमाणः स्वगृहमागतः । पूर्वजायया अक्षत-पुष्पादिभिर्वर्धापयित्वा गृहे नीतः । आस्थाने चागत्य स्थितस्तदा स्वजनैरन्यैः परिचिताऽपरिचितैश्चागत्य विविधवस्त्रा-ऽऽभरण-स्वर्ण-रूप्य-नाणकैरुपायनानि कृतानि, तानि च गृहमर्यादया रक्षितुं योग्यानि रक्षितानि । तथा कुमारेणापि विविधदेशोत्पन्नवस्त्रादिभिर्यथायोग्यं ते सत्कृताः । अथ धनवती सुखासनाद् उत्तीर्य बहुविधवस्त्र-द्रव्यादिमोचनपूर्वकं पूर्वजायायाः पादयोः पतिता । तयाऽपि आशीर्वादं दत्त्वा गाढमालिङ्गिता । परस्परं सुख-समाधिपृच्छा कृता । सर्वेऽपि नगरवासिनः पूर्वाश्रितलोका ये यथा जानन्ति ते मिलनायागच्छन्ति, धर्मदत्तोऽपि तान् मधुरालापपूर्वकं सम्मान्य तर्पयति । समस्तेऽपि नगरेऽतीव यशः प्रसृतम्-'दृश्यताम्, श्रीपतिश्रेष्ठिनः पुत्रः कीदृशः ?, पितुर्नाम वर्धितम् । पूर्वं क्षीणो भूत्वाऽपि स्वभुजाबलेन बहुधनमर्जयित्वा आगतः, कुलं च उद्द्योतितम् । सुपुत्रो भवति स कुलमुज्ज्वलयति । यतः—

"एकेनापि सुपुत्रेण जायमानेन सत्कुलम् । शशिना चेव गगनं सर्वदैवोज्ज्वलीकृतम्" ॥१॥

१ परिधापिता: । २ ततो ।

एवं प्रतिगृहं प्रतिमुखं तस्य यशो जल्प्यते। ततो द्वितीयदिने स्वजन–मित्र–ज्ञातिजनान् निमन्त्र्य, अतिसुन्दरसुखभक्षिकादि-रसवत्या भोजयित्वा, पुष्प–ताम्बूलादि दत्त्वा, ते यथायोग्यं वस्त्राभरणैः सत्कृताः। अथ पूर्वजायाया अग्रे प्रवहणारोहणतो यावद् गृहमागतस्तावत्पर्यन्तः सर्वो व्यतिकरः कथितः। साऽपि साश्रुलोचना उक्तवती–'स्वामिन् ! पूर्वजानां धर्मप्रसादेन भवद्दर्शनं जातम्। एतावन्ति दिनानि मया महादुःखेन गमितानि; तद्दुःखं मन एव जानाति, वा जिनो वेत्ति। एतद्दुःखं शत्रोरपि मा भवतु, परं युष्मद्दर्शनेन तत्सर्वं विस्मृतम्। अधुना तु अहं भाग्यवतीनां शिरोमणिर्जाता, सर्वेषां स्वजनानां हर्षसन्तोषः संजातः'। ततः प्रभृति धर्मदत्तः पितृवद् व्यापारकरणाय प्रवृत्तः।

अथ यशोधवलेन राज्ञा मुकुरं वीक्षमाणेन पलितं दृष्ट्वा अद्भुतवैराग्यप्रकर्षेण चन्द्रधवलाय राज्यं दत्त्वा दीक्षा गृहीता। ततो दुस्तरं तपस्तप्त्वा, घातिकर्माणि क्षपयित्वा, केवलज्ञानमुत्पाद्य, पृथिव्यां बहून् भव्यान् प्रबोध्य, अन्ते एकमासं संलेखनां कृत्वा, अघातिकर्माण्यपि योगरोधनपूर्वकं क्षपयित्वा महानन्दपदं प्रपेदे। अथ प्राप्तराज्यश्चन्द्रधवलो न्यायेन राज्यं करोति स्म। तेन च युक्तिभिः पूज्यमानस्य स्वर्णपुरुषस्य हस्तौ पादौ च च्छिन्नावपि अन्वहं प्रादुर्बभूवुः, एवं प्रत्यहं वर्धमानेन हेम्ना तस्य कोशोऽक्षयो जातः। अन्यदा दारिद्र्यपीडितान् लोकान् दृष्ट्वा संजातकरुणश्चन्द्रधवलः स्वर्णपुरुषोत्पन्नस्वर्णेन विश्वम् अदरिद्रीकृत्य, समग्रां पृथ्वीम् अनृणां च कृत्वा, स्वकीयं चन्द्रसंवत्सरं प्रवर्तयामास।

अथ तस्य राज्ञोऽन्यदा पाश्चात्यरात्रौ जागरितस्य राज्यचिन्तां कुर्वतो धर्मदत्तः स्मृतिपथमागतः। 'अहो ! मया प्रमादबहुलेन

१ परिधापिताः।

राज्यमदेन परमोपकारी कृतज्ञचूडामणिः परममित्रं धर्मदत्तो न कदापि स्मृतिपथमानीतः। अतः प्रभाते तस्य शुद्धिं कारयित्वा, सभायाम् आहूय, अत्यादरपूर्वकं सम्मानं दातव्यम्; प्रीतिलता च वर्धनीया'। एवं विचारयति सति प्रभातं संजातम्। ततो राज्ञा शय्यातः समुत्थाय, प्राभातिककृत्यानि कृत्वा, आस्थानमलङ्कृत्य, नगरवास्तव्यानां पृष्टम्—'श्रीपतिश्रेष्ठिनः पुत्रो धर्मदत्तोऽत्रास्ति वा देशान्तरे गतः?'। तैरुक्तम्—'स्वामिन्! तेन तु देशान्तरे गत्वा, बहुद्रव्यमर्जयित्वा, गृहमागत्य पितुर्नाम समुद्द्योतितम्। अधुना तु नगरमध्येऽनेन समानो न कोऽप्यस्ति, नगरमध्ये मुख्योऽयमेवाऽस्ति'। तच्छ्रुत्वा सहर्षं मुख्यमन्त्रिणं सम्प्रेष्य बहुमानपूर्वकम् आकारितः। धर्मदत्तोऽपि अद्भुतोपायनं लात्वा मन्त्रिणा सह रथारूढः सभायां प्राप्तः। राजानं नमस्कृत्योपायनं चाऽग्रे धृतम्। राज्ञाऽपि बहुमानं दत्त्वा स्वसमीपतरवर्तिप्रदेशे स्थापितः, सुख–क्षेमवार्ता च पृष्टा। पुना राज्ञोक्तम्—'यस्त्वया मह्यं स्वर्णपुरुषो दत्त-स्तेन धरित्रीलोका अनृणीकृताः,[1] मम च यशः सर्वत्र प्रवर्तते स तवैवोपकारः'। धर्मदत्तेनोक्तम्—'स्वामिन्! किमर्थं मम प्रस्फुलनं भवान् करोति?। स्वर्णनरस्तु भवता प्रकटीकृतः। मम भाग्यमधिकमभविष्यच्चेत् कथं क्षणान्तरे हस्ताद् अगमिष्यत्?; प्रत्युत भवता तु मम वियोगदुःखं निवारितम्, स्वर्णं च दत्त्वा दारिद्र्यं स्फेटितम्। मनुष्याणां पङ्क्तौ भवतैव रक्षितोऽहम्'। एवं परस्परं सज्जनस्वभावत्वाद् गुणग्रहणं कृतम्। ततो राज्ञा धर्मदत्तस्य नगरश्रेष्ठिपदं दत्तम्। पट्टबन्धपूर्वकं वस्त्राभरणादि बहु दत्त्वा राजकीय-सामन्तैः सर्वमहेभ्यैश्च सह महत्या विभूत्या गीत–नृत्यवन्दिबिरुदपठनादिमहामहेन च गृहं यावद् नीतः। धर्मदत्तेनापि यथायोग्यं ताम्बूल–वस्त्रादि दत्त्वा ते सर्वेऽपि विसर्जिताः[2]। ततः प्रत्यहं राजसभायां याति, राजापि दिने दिने मानवृद्धिं करोति।

१ 'लोकाननृणीकृते च मम यशः'। २ 'नगरे यशोवृद्धिः संजाता' इत्यधिकः पाठः प्र०।

अथाऽन्यदा राज्ञा पृष्टम्–'तव पार्श्वे कियद्धनं वर्तते ?'। धर्मदत्तेनोक्तम्–"स्वामिन्! भवत्प्रसादेन षोडशकोटिधनमस्ति, परन्तु एकं महत्कौतुकमस्ति तच्छ्रूयताम्–पूर्वं हि वनान्तर्भवदादेशेन स्वर्णनरात् स्वर्णं बहुतरं मया यथेच्छं गृहीतम्। ततो भवतः पृथग् भूत्वा तेन स्वर्णेन व्यवसायं कुर्वता मया षोडश कोट्योऽर्जिताः। ततोऽत्रागतः। पुनरत्रापि जल–स्थलपथेषु व्यवसायः कृतः, परं वर्षान्ते लाभशुद्ध्यर्थं नाणकमेलने लेखकरणे च तावत्यः षोडश कोट्य एवाऽदृश्यन्त, नाऽधिकं किञ्चिदपि। न्यूनाधिकव्ययकरणेऽपि एतावत्य एव तिष्ठन्ति। ततो वृद्ध्यर्थं बहुभिः प्रकारैरतिनिपुणतया व्यापारः कृतः, सर्वव्यापारिभिश्च व्यापारबाहुल्यं दृष्ट्वा स्वस्वचित्तेऽनुमितम्–'अस्मिन् वर्षे धर्मदत्तस्य चतसृणां पञ्चानां वा धनकोटीनां वृद्धिर्भविष्यति'; परन्तु मया [1]लेख्यकः कृतस्तदा तु तावत्य एव जाताः, नाऽधिकं किञ्चिदपि। पुनरतिसङ्कुचितव्ययेन कृपणगत्या व्यापारः कृतः, तदापि तावत्य एव। पुनर्महान् व्ययः कृतस्तदाऽपि तावत्य एव। ततो भग्नोद्यमोऽहं यथायोग्यं व्यवसायं करोमि, नाऽधिकम्। एतद् दृष्ट्वा मच्चित्ते महत्कौतुकमस्ति, तद् विनाऽतिशयज्ञानिनं को वक्तुं प्रभवेत् ?"। इत्येवं राज्ञोऽग्रे निर्दम्भवार्तां कुर्वन्नस्ति तावता प्रतीहारेण सहाऽऽगत्य वनपालो राज्ञः प्रणामपूर्वकं विज्ञप्तिं कर्तुं लग्नः–'स्वामिन्! अद्य वसन्तविलासनाम्नि भवदीयोद्याने बहुभिर्वाचंयमैः[2] परिवृत्ताः श्रीमद्धनसागरसूरयः समवसृताः सन्ति, निजाऽतिशयज्ञानेन च भव्यजनानुपकुर्वन्तो विचरन्ति'। इति तदुक्तं श्रुत्वा राजा धर्मदत्तश्च द्वावपि सपरिच्छदौ श्रीगुरून् नन्तुं वने गतौ। गुरवो दृष्टिपथमागतास्तावता पञ्चाऽभिगमपूर्वकं राज्ञा धर्मदत्तेन च श्रीगुरवो वन्दिताः। श्रीगुरुभिरपि धर्मोपदेशो दत्तः। यथा—

१ लेखकरणे तु। २ मुनिभिः।

"दुल्लहं माणुस्सं जम्मं, लध्धूणं रोहणं व रोरेण। रयणं व धम्मरयणं, बुद्धिमया हंदि धित्तव्वं" ॥१॥
"जिण-गुरुभत्ति जत्ता, पभावणा सत्तखित्तधणवावो। सम्मत्तं छयावस्सय, धम्मो सय लद्ध सुहहेऊ" ॥२॥

एवं देशनां सम्यक् श्रुत्वाऽवसरं प्राप्य राज्ञा पृष्टम्–'प्रभो! धर्मदत्तेन महोद्यमेन अतिकष्टसहनेन च स्वर्णनरोऽर्जितः, स स्वर्णनरस्तु अविच्छिन्नोऽपि मद्गृहे समागतः। अस्य च बहुतरेणाऽपि व्यवसायकरणेन पोडश कोट्य एव तिष्ठन्ति, नाऽधिकाः; अत्र को हेतुः?, तत्प्रसादं कुर्वन्तु भवन्तः'। इति राज्ञा कृतस्य प्रश्नस्योत्तरं यावद् गुरवो वदन्ति तावता एका मर्कटी वृक्षादुत्तीर्य गुरून् वन्दित्वा परितः पुनः पुनर्भ्राम्यति, नृत्यति च। तद् दृष्ट्वा राज्ञोक्तम्–'प्रभो! पूर्वप्रश्नवार्ता[3] पश्चात् कथनीया, परन्तु इयं मर्कटी नृत्यं कथं करोति नमस्यति च?, तदुच्यताम्'। ततो गुरुभिरुक्तम्–'राजन्! जगति मोहनीयकर्मगतिर्विषमा, अनिर्वचनीया भवितव्यता। एष पुरःस्थितो धर्मदत्तो मम जामाता, अहम् अस्य श्वशुरः, एषा मर्कटी मम पूर्वभवपत्नी, धर्मदत्तस्य च या स्त्री धनवती साऽस्मत्पुत्री, इयं तस्या माता'। एतावता कोऽपि तत्पार्श्वस्थितस्तच्छ्रुत्वा, उत्थाय च, धावन् नगरान्तर्धर्मदत्तस्य गृहे गत्वा धनवत्यै प्रोचे–'तव पिता धनसागरो गृहीतमुनिवेषः संप्राप्ताचार्यपदोऽत्रागतोऽस्ति, परमातिशयज्ञानवान् अस्ति, सर्वजनानां सन्देहान् निवारयति'। सा पितरं श्रुत्वा तत्क्षणं तत्राऽऽगात्, तावता मुनिभिः पुत्रीविवाहार्थं प्रवहणघटनादिवार्ता कथ्यमानाऽस्ति। ततः सा पितुर्दर्शनाद् अश्रूणि मुञ्चन्ती ववन्दे। अथ धनवत्या पृष्टम्–'किमिदं स्वरूपम्? कथं संजातम्?'। गुरुभिरुक्तम्–"तदेव कथ्यते,

१ दुर्लभं मानुष्यं जन्म, लब्ध्वा रोहणमिव रौरेण। रत्नमिव धर्मरत्नं, बुद्धिमता खलु ग्रहीतव्यम् ॥१॥
२ जिन–गुरुभक्तिर्यात्रा, प्रभावना सप्तक्षेत्रधनवापः। सम्यक्त्वं षडावश्यकं, धर्मः सदा लब्धः सुखहेतुः ॥२॥ ३ षोडशकोटिप्रश्न–।

श्रूयताम्—

यदा प्रवहणं भग्नं तदा मम हस्ते फलकं लग्नम्। तदाधारेण तरता नवभिर्दिनैस्तटं प्राप्तम्। फलकं त्यक्त्वा तटे समुत्तीर्याऽग्रतश्चलितोऽहं तावता पुरमेकं दूरतो दृष्ट्वा तन्नगरसम्मुखं चलितः, तावता मार्गे कोऽप्येको विप्रो मिलितः। अथ विप्रेणाऽग्रत एव मां प्रत्युक्तम्—'हे धनसागर! आगम्यताम् आगम्यतां मद्गृहे'। मयोक्तम्—'कस्त्वम्?, कथं मामुपलक्षयसे?'। तेनोक्तम्—'आगच्छ मद्गृहे, सर्वं निवेदयिष्यामि' इत्युक्त्वाऽऽग्रहेण स्वगृहं नीतः। पश्चात् तेन तैलाभ्यङ्गं तप्तपानीयादिना स्नानं च कारयित्वा मार्गश्रमोऽपनीतः। ततो विविधरसास्वादयुतां रसवतीं निष्पाद्य महत्या भक्त्या भोजितः। तत आचमनं कृत्वा, शुचीभूय, ताम्बूलादिना मुखशुद्धिं विधाय, गृहोपरितनभूमौ सोऽहं च द्वावपि स्थितौ। तदा मया पृष्टम्—'भो द्विजवर! अनुपलक्षितस्य मम किमर्थं सविशेषभक्तिं करोषि?, अहं तु त्वां नोपलक्षये'। तेनोक्तम्—"शृणु विस्मयकृद्वार्ताम्—इदं शङ्खपुराभिधं नगरमस्ति। अत्राहं जिनधर्मवासिताऽन्तःकरणो जिनशर्माभिधानो निवसामि। श्रीमज्जिनाज्ञया यथाशक्ति धर्मे प्रवर्ते। सद्गुरूणां सुसज्जनानां च सेवया शास्त्रगतहार्दानि बहुतराणि लब्धानि। आजीविकाऽपि सुलभा मम; परम् एकः कुलसन्तानविवर्धनकरः पुत्रो नाऽभूत्। तदर्थं मया कुलदेवताऽऽराधिता, साऽपि सेवया प्रत्यक्षीभूयाऽवदत्—'किमर्थमाराधिताऽहम्?'। मयोक्तम्—'पुत्रं देहि'। तयोक्तम्—'वत्स! तवाऽन्तरायकर्मनिकाचितकर्मणामुदयोऽस्ति, तेन तव पुत्रो न भवति'। तदा मयोक्तम्—'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, इति श्रद्धा तु मम नास्त्येव सद्गुरूणां प्रसादात्; सद्गतिस्तु शुद्धपुण्याध्यवसायाद् भवति, नान्यथा। परं मया अनेकोत्तममहापुरुषाणां सेवया चित्तं प्रसत्तिभाजनं कृत्वा अनेकाश्चमत्कारकारिण्यो विद्याः प्राप्ताः सन्ति, ता विच्छेदं यास्यन्ति, एष मे विषादः'। तदा तयोक्तम्—'कमलपुरवासी भग्न-

प्रवहणो धनसागरो वणिग्वरो नवभिर्दिनैरत्र तटे समेष्यति। तं स्वगृहे समानीय त्वया तस्य निःशङ्कं सर्वा विद्या देयाः। स योग्योऽस्ति, यत एकवारं श्रुतं तस्य सर्वं समेष्यति, एवं त्वम् अनृणो भविष्यसि। पात्रस्याऽदाने कुपात्रस्य च दाने महत्प्रायश्चित्तम्, अतो लब्धे पात्रे क्षणमपि विलम्बो न करणीयः। तथा च त्वया स स्वपुत्रिकया सह पाणिग्रहणं कारयितव्यः' । इत्युक्त्वा देवी अदृश्यतां प्राप्ता। सा देव्युक्ता वार्ता सर्वाऽद्य मिलिता, तेन तव भक्तिः क्रियते। अतो हे सज्जन! सङ्कल्पविकल्पं त्यक्त्वा स्वगृहवद् मद्गृहे सुखेन स्थातव्यम्, पोतभग्नत्वादिचिन्तां विहाय स्थातव्यम्। ज्ञानिना यद्दृष्टं तदेव भवति। शुद्धश्रद्धावतां जैनानाम् उदयचिन्ता न प्रबला भवति, यत उदये स्वायत्तत्वं नास्ति तदा चिन्तया किं फलम्?; प्रत्युत आर्तवशात् पापकर्म चिन्वन्ति जीवाः। भव्यैर्बन्धचिन्ता तु प्रतिक्षणं हेयो-पादेयत्वेन सम्यग्रीत्या चिन्त्या एव, यतो बन्धकरणं तु स्वायत्तमेवाऽस्ति, तत्र हेयो-पादेयपरिचयात् प्रायः पापकर्म न बन्धमायाति, पुण्यं च प्रबलं भवति। शुभोपयोगे च पूर्वकृतां कर्मणां रस-बन्धौ मन्दस्थितिकौ[1] भवतः, स्वल्परसकर्मणां तु निर्जरा भवति। अतः शुभोपयोगेनैव कालक्षेपः कर्तव्य इति जिनाज्ञा। भवान् पुनरागमवासितान्तःकरणस्तस्याऽधृतिर्न भवेत्"। इति समाश्वास्य स्वगृहे स्थापितः। अहमपि जिनाज्ञां पुरस्कृत्य कर्मोदयजन्यां चिन्तां संत्यज्य तद्गृहे स्थितः। अथ तेन भव्यदिने मां रहसि संस्थाप्य सर्वाः स्वघटस्थिता विद्याश्चित्तप्रसत्त्या दत्ताः, मयाऽपि विधिवद् गृहीताः। ततः शुभमुहूर्ते दिवसे स्वशक्त्यनुकूलं महं कृत्वा स्वपुत्री परिणायिता, गृहभारं च मयि निवेश्य निश्चिन्तो भूत्वा गृहे एव स्थितो धर्माराधनपरः कालं निर्गमयति। अन्यदा स्वायुःस्थितिं पूर्णां ज्ञात्वा समाधिना विधिपूर्वकं कृताराधनः परलोकं प्राप्तः। अथाऽहं तस्य मृत्युकार्याणि

१ स्थितिरसबंधौ मंदरसस्थितिकौ।

कृत्वा धर्माऽर्थ-कामत्रिवर्गसाधनपरो निवसामि। एवं तत्र मया सह सांसारिकवैषयिकसुखमनुभवन्त्या द्विजपुत्र्या गर्भो धृतः। काले जाते तया पुत्रः प्रसूतः, तस्य 'धनदत्त' इति नाम संस्थापितम्। स पुत्रः प्रतिपाल्यमानोऽष्टवार्षिको जातः। ततस्तस्य विद्यां ग्राहयितुं लग्नः, प्रायेण बह्वो विद्यास्तेन शिक्षिताः। एवं च कियति काले गते सति तत्रैव पुरे श्रीअजितसिंहसूरयः समेताः। जन-मुखात् तच्छ्रुत्वा सपुत्रौ दम्पती वन्दनाय गतौ, पञ्चाभिगमपूर्वकं च वन्दित्वा स्थितौ। तदाऽमृतरसस्यन्दिनीं देशना श्रुत्वा वैराग्य-रङ्गभावितान्तःकरणौ वृद्धौ, गार्हस्थ्यं त्यक्त्वा तस्य सूरेः पार्श्वे पुत्रसहितौ आवां व्रतम् अगृह्णीव[1]। ग्रहणाऽऽसेवनारूपशिक्षाशिक्षितेन मया गुरुप्रसादाद् यथामति अनेकशास्त्रहार्दानि प्राप्तानि। ततो गुर्वभ्यर्णे तपस्क्रियां कुर्वता ज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमेन अव-धिज्ञानं प्राप्तम्। ततः पुनर्गुरुणा कृपां कृत्वा सूरिपदं दत्तम्, अनेकसाधुसमुदायोऽपि दत्तः। सोऽहं पृथिव्यां विहरन् अत्रागतोऽस्मि।

अथ च सा तव माता पोते भग्ने जले निमग्ना, आर्तध्यानेन मृत्वा मत्सी भूता। पुनर्मृता आर्तध्यानेनैषा मर्कटी जाता। यत आर्तेन तिर्यग्गतौ, रौद्रेण नरकगतौ, धर्मेण देवगतौ, शुक्लेन मोक्षगतौ, शुभार्तेन मध्यमपरिणामेन मनुजगतौ गच्छन्ति जीवाः। ततो यदाऽत्रागत्य स्थिता तदाऽस्मान् दृष्ट्वा पूर्वभवस्नेहोदयाद् भ्राम्यति नृत्यति च"।

इति गुरोर्वाक्यानि श्रुत्वा धनवती मर्कटीं वीक्ष्य पुनः पुना रोदिति। 'हा मातः! तव किं जातम्?' इति पुनः पुनर्जल्पन्ती नयनाभ्यामश्रूणि अमुञ्चत्। गुरुभिरुक्तम्—"वत्से! विचित्रा कर्मणां गतिः, दुस्तरो भवजलधिः। यतः—

"न[2] सा जाई न सा जोणी, न तं ठाणं न तं कुलं। न जाया न मुआ जत्थ, सव्वे जीवा अणंतसो" ॥१॥

---

१ जगृहतुः। २ न सा जातिर्न सा योनिर्न तत्स्थानं न तत् कुलम्। न जाता न मृता यत्र सर्वे जीवा अनन्तशः ॥१॥

"घणकम्मपासबद्धो, भवनयरचउप्पहेसु विविहाओ। पावइ विडंबणाओ, जीवो को इत्थ सरणं से ?" ॥१॥

तेन धर्म एव संसारदुःखात् समुद्धर्तुं समर्थो, नान्यः। यतः—'धर्माज्जन्म कुले' इत्यादि। तेन दुर्लभं मनुजभवं प्राप्य यः श्रीजिनधर्मं त्रिशुद्ध्याऽऽराधयति स शीघ्रं जन्म-मरणादिसांसारिकदुःखम् उन्मूल्य सिद्धिगतो चिदानन्दपदमनुभवति"।

तदा मर्कट्याः पुनःपुनर्धनवतीं पश्यन्त्या, गुरूक्तं शृण्वत्याः, पूर्वाऽभ्यस्तधर्मकर्मादिप्रवृत्तिं धनवतीमुखाद् गुरुमुखाच्च शृण्वत्या जातिस्मरणमुत्पन्नम्। ततो धनवतीं स्वधवं च गुरुं समुपलक्ष्य महत्याऽधृत्या विषादं कर्तुं लग्ना। तदा गुरुणा प्रतिबोधिता—'भद्रे ! किमधुना मुधाविषादकरणेन ?; मोहस्य गतिरीदृशी। त्वया मरणसमये पति-पुत्रीचिन्तया आर्तध्यानं कृतं, तेन तिर्यग्गतिः प्राप्ता। स्वात्मदोषेण जीवा दुर्गतिषु भ्राम्यन्ति। सर्वे जीवाः स्वकृतकर्माऽनुगा यथाबद्धम् अनुभवन्ति। पूर्वकर्म विना भुक्त्या विना चोग्रतपसा न कोऽपि क्षपयितुं समर्थः। यो हि संसारस्वरूपं विज्ञाय त्रासितो मुक्त्यर्थमेकान्तेन उत्तिष्ठते सोऽपि नवीनं कर्म न करोति, परं पूर्वबद्धं तु भुक्त्या उग्रतपसा चैव क्षपयति। त्वमपि पञ्चेन्द्रियाऽसि, पञ्चमगुणस्थानकं यावद् प्राप्तुं योग्याऽसि; अतो यथाशक्ति तपोऽङ्गीकुरु, नमस्कारध्यानं चाऽविच्छिन्नगत्या ध्याय, तव दुर्गतिमोक्षो भविष्यति, तेन बीजेन च परम्परया सिद्धिसौख्यं प्राप्स्यसि। इयं तव पुत्री धनवती त्वां प्रतिपालयिष्यति, साहाय्यं च करिष्यति'। एवं गुरुवचः श्रुत्वा मर्कट्या एकान्तरोपवासनियमो गुरुसाक्षिकं गृहीतः। गुरुणापि तत्सर्वं धनवत्यै ज्ञापितम्—'त्वया इमां गृहे रक्षित्वा साहाय्यं करणीयम्। इयं त्वन्माता, अस्याः सुप्रत्युपकारं कर्तुं त्वया कोटिभवैरपि न शक्यते, परं मातुः प्रत्युपकाराऽवसरोऽयम् एक एव यद् धर्माच्च्युता पुनर्धर्मे योज्या।

१ घनकर्मपाशबद्धो, भवनगरचतुष्पथेषु विविधाः। प्राप्नोति विडम्बना, जीवः कोऽत्र शरणं तस्य ? ॥१॥

युवयोः माता-पुत्रीसम्बन्धश्च सफलो भविष्यति'। तदा धनवत्या गुरुवचनमङ्गीकृत्य मर्कटी स्वनिष्ठया रक्षिता। अथ पुना राज्ञोक्तम्-'स्वामिन्! षोडशैव धनकोट्यो धर्मदत्तस्य मिलिताः, नाऽधिकाः, तासां हार्दं भवतोच्यमानं मर्कटीनर्तनान्तर्वार्तया स्थगितं, तद् अधुना प्रसादीक्रियताम्'। तदा गुरुः प्राह-"श्रूयतां तर्हि दत्तावधानेन—

॥ धर्मदत्तस्य चन्द्रधवलस्य च पूर्वभववृत्तान्तः ॥

कलिङ्गदेशे काञ्चनपुरं नगरम्। तत्र लक्ष्मीसागरो नाम व्यवहारी। तस्य लक्ष्मीवती प्रिया। तस्य गृहे लक्ष्मीर्नास्ति, तथापि परम्परया जिनधर्मवासितकुलत्वाद् भक्त्या सर्वज्ञोक्तं धर्मं करोति। एवं तस्य भार्याऽपि इष्टधर्माऽस्ति। श्रेष्ठी उभयसन्ध्यायां प्रतिक्रमणं करोति, पुनर्यथाऽवसरे सामायिकमपि करोति। पर्वसु पौषधं करोति, पारणके संविभागमपि करोति, व्रतं च न मुञ्चति। एवं धर्मं करोति। परं संविभागव्रतम् अन्तराऽन्तरा सातिचारं करोति-कदाचित् शर्करादिकं वस्तु सचित्तवस्तूपरिस्थितमपि 'इदं निर्दोषम्' इति कृत्वा साधुभ्यो ददाति १। कदाचिच्च दातुमनिच्छुः अचित्तमपि कौटिल्येन सचित्तवस्तूपरि स्थापयति २। कदाचित् कालाऽतिक्रमे निमन्त्रयति-यदा गोचर्यां गताः साधवः स्वनिर्वाहयोग्यम् आहारं लब्ध्वा परावृत्य उपाश्रयं प्रति चलन्ति तदा गृहाद् बहिरागत्य तारस्वरेण बहुमानपूर्वकं विविधप्रवृत्त्या निमंत्रयति। तच्छ्रुत्वा लोका जानन्ति-'अहो! अस्य दानरुचिः, साधवस्तु निर्वाहमात्रे लब्धेऽधिकं न गृह्णन्ति, निःस्पृहत्वात्'। कदाचिच्च साधून् आहारकरणानन्तरं निमन्त्रयति ३। कदाचिच्च अदातुमना वक्ति-"इदं आहार्यं वस्तु शुद्धमस्ति, परं परकीयमस्ति। सोऽपि दानरुचिरस्ति, 'दत्तम्' इति श्रुते हृष्टो भविष्यति, अतो यदि भवतां कल्पते तदा सुखेन गृह्यताम्"। तदा जितेन्द्रियाः साधवो वदन्ति-'नेदम् अस्माकं कल्पनीयम्'। तदा स वक्ति-'भवद्भ्योऽदत्त्वाऽहं

कथं भोजनं करिष्यामि ?। यतस्तस्मिन् समागते आग्रहेण मां प्रति दास्यति,तं च निषेद्धुम् अशक्तोऽहं, तदा का व्यवस्था ?'। तदा साधवो वदन्ति—'तव मुत्कलं यथारुचि'। ततः स तद् भुङ्क्ते ४। कदाचिच्च 'अमुको ददाति तदाऽहं किं ततोऽपि हीनः ?' इत्यभिमान–मात्सर्येण परस्येर्ष्यां करोति। यद्वा—'अनीप्सिताः साधवः समागताः, यद्वस्तुयाचनाय साधवो निर्गतास्तद्वस्तु तेषां मुखाग्रे एव पतितमस्ति, दृष्टं वस्तु याचिष्यन्ति तदा कथं दत्तं विना छुट्येत ?। अतो दृष्टौ पातनं न वरम्। साधवस्तु दृष्टमेव याचन्ते, नाऽदृष्टम्' ५। एवं स कदा कदा कृपणतादोषेण मात्सर्येण च सातिचारं संविभागं करोति। ईदृशं धर्मं निर्वहतस्तस्य दिवसा यान्ति।

अथाऽन्यदा तस्मात् पुरतः कोऽपि सार्थो वसन्तपुरं प्रति गन्तुकाम उद्यतोऽभूत्। सर्वे जनाः पन्थसामग्रीं कर्तुं लग्नाः। तदा वसुदेवनाम्ना सुहृदा लक्ष्मीसागरं प्रति प्रोक्तम्—'भो मित्र! अहं वसन्तपुरं गन्तुकामोऽस्मि, तेन त्वमपि सज्जीभव वसन्तपुरगमनाय'। लक्ष्मीसागरेणोक्तम्—'भो मित्र! शकट–बलीवर्दादियोगो मम नास्ति, अतः कथं सज्जो भवामि ?'। वसुदेवेनोक्तम्—'बलीवर्दादियोगम् अहं करिष्यामि। यत् त्वत्तो भवेत् तत् किञ्चित्कर्तव्यम्, अन्यत् सर्वम् अहं मेलयिष्यामि'। इति मित्रेणोत्साहितः सोऽपि सज्जोऽभूत्, तावता सार्थेशश्चलितः। पृष्ठतस्तावपि भृतशकट–बलीवर्दादिकौ चलितौ। क्वापि सतृण–जलप्रदेशे रात्रौ सार्थलोकाः स्थिताः, लक्ष्मीसागरोऽपि भव्यस्थले समुत्तीर्णः। यथावसरे सुप्तः। पाश्चात्यरात्रौ पुनरुत्थितः, निद्रां विहाय सामायिकं च लात्वा परमेष्ठिस्मरणं करोति। तावता स्तोकरात्रिसमयं ज्ञात्वा ये पादविहारिणस्तैः सार्थेशो विज्ञप्तः—'श्रेष्ठिन्! ग्रीष्मकालोऽस्ति, दिवसे चटिते हि आतपे दुःखिनो भविष्यामः, तेन शीतसमये पन्थलङ्घनं वरम्'। तदा सार्थपेन सेवकेभ्य आदिष्टम्—'शीघ्रं सार्थो मार्गे वहमानः क्रियताम्'। तदा सेवकैः पूत्कृतम्—'भोः सार्थलोकाः! सार्थश्चलति, सर्वैरपि उत्थीयताम्'। ततः सर्वेऽपि स्वस्वशकटान्

योजयन्ति स्म। तदा लक्ष्मीसागरेण स्वनियमज्ञापनाय तेषां विलम्बनाय च द्वि–त्रिवारं 'हुं हुं' कृतं, क्षुतश्च कृतः, तथापि तेषु अतिष्ठत्सु तेन वचनेनोक्तम्–'भो भो अमुक अमुक! मम सामायिकमस्ति'। इति श्रुत्वा स्वार्थप्रिया लोकाः केचिद् ऊचुः–'दृश्यतां श्रेष्ठिनो निपुणत्वम्, कीदृशीयं सामायिकवेला गृहीता? । प्रयाणं दूरतोऽस्ति, अरुणोदये आतपः शीघ्रं भविष्यति, लोका वलीवर्दाश्च आतपेन पीडयिष्यन्ते, ते पशवः क्षुधिता भारं वहन्त उत्तारके प्राप्ते आहारं प्राप्स्यन्ति; अयं तु धर्मरसिकत्वविज्ञापनाय सामायिकं लात्वा स्थितः' इति वदन्तः शकटानि नियन्त्र्य चलितुं लग्नाः। केऽपि मुखदाक्षिण्याद् 'भोः श्रेष्ठिन्! न वयं गच्छामः, परन्तु शकटानि योजयित्वा मार्गपतितानि कृत्वा स्थिताः स्मः, सत्वरमागन्तव्यं न विलम्बः करणीयः' इति वदन्तोऽग्रे चलिताः। केचित्तु 'वयमग्रे गत्वा सार्थं स्खलयामः' इति वदन्तो गताः। एवं विविधमिषेण सर्वेऽपि गताः। श्रेष्ठिनः स्वकीयशकट–वलीवर्दादय एव स्थिताः, नाऽन्यः कोऽपि। तदा श्रेष्ठिना चिन्तितम्–"धिगेषां पापमन्त्रिणां मित्रत्वम्, सर्वेऽपि स्वार्थैकनिष्ठा जाताः। वरोऽस्माकं धर्म एव सहायकः, स तु कुत्रापि न गतः। ईदृशैः सह मैत्री न कर्तव्या। यतः–

"सो च्चिय मित्तो किज्जई, जो किर पत्तम्मि वसणसमयम्मि। न हु होइ पराहूओ, सेलसीलघडिअपुरिसुव्व" ॥

तथा–"उत्तमैः सह साङ्गत्यं पण्डितैः सह सङ्कथाम्। अलुब्धैः सह मित्रत्वं कुर्वाणो नावसीदति" ॥१॥

अधुना तु मया 'पुण्योदय एव बलवत्तरो भवति' इति लोकोक्तिरेव मान्या"। ततः पूर्णे सामायिके पारिते सर्वं सज्जीकृत्य यावच्चलनाय प्रवर्तते तावता बुम्बारवोऽभवत्। यावच्च कियद् अग्रे चचाल तावताऽग्रेगतान् सार्थजनान् वस्त्ररहितान् दिगम्बरप्रायान्

१ तदेव मित्रं क्रियते, यत् किल प्राप्ते व्यसनसमये। न खलु भवति पराभूतं, शैलशीलाघटितपुरुष इव ॥१॥

धावमानान् आगच्छतो ददर्श। तान् दृष्ट्वा विस्मितेन श्रेष्ठिना पृष्टम्—'कथम् ईदृश्यवस्था भवताम् ?'। तेऽप्यूचुः—'धन्यस्त्वम्, धन्यस्तव धर्मः, धन्या तवाऽऽस्था। यादृशं तव धर्मे स्थिरत्वं तादृशं पुण्यं फलितं प्रत्यक्षमेव दृष्टम्। वयमुत्सुका भूत्वाऽग्रे चलिताः, गव्यूतार्धमात्रं गतास्तावता कुञ्जगहनाद् धाटी उत्थिता; तैर्धाटीचौरैः ईदृशीकृत्य मुक्ताः। सर्वेऽपि मुषिताः, न कोऽप्युद्धरितः'। तच्छ्रुत्वा श्रेष्ठिना तेभ्यो वस्त्रादीनि दत्तानि; यशोवृद्धिर्जाता। ततः श्रेष्ठिना चिन्तितम्—'अधुनाऽग्रे गमनं न युक्तम्, पुण्येनोद्धरितोऽसि, सर्वत्र पुण्यबलं प्रभवति। चेत् पुण्यबलमस्ति तदा गृहस्थितस्यैव लाभो भविष्यति। अधुना च अद्यप्रभृति शकटादिना देशान्तरगमनेन खरकर्मव्यापारो न कर्तव्यः, यतः शास्त्रे महत्प्रायश्चित्तमुक्तम्। अतोऽस्य व्यापारस्य मम यावज्जीवं नियमः'। एवं नियमं कृत्वा पश्चाद्वलित्वा गृहमागतः। तावताऽस्य पुण्यबलेन तस्मात् काञ्चनपुराद् यद् वसन्तपुरविक्रयणयोग्यं क्रयाणकं गृहीतमस्ति तत् तत्रैव काञ्चनपुरे महार्घं जातम्। श्रेष्ठिना विक्रीते वसन्तपुरप्राप्तव्यलाभादपि अधिकलाभः प्राप्तः। श्रेष्ठिनस्तु लाभ-यशो-धर्मास्त्रयोऽपि वृद्धिं प्राप्ताः। लोकाः प्रशंसां कुर्वन्ति—'धन्य एषः, यादृशी धर्मेऽस्य दृढता तादृशी गृहस्थितस्यापि धनवृद्धिर्जाता'। अथ तेन धनेन प्रचुरं व्यापारं कर्तुं लग्नः, तत्रापि पुण्यबलेन शनैः शनैर्लक्ष्मीर्वृद्धिं प्राप्ता। महेभ्यो जातः। सर्वत्र ख्यातिमान् जातः।

अथ तस्य कियत्यपि काले पुत्रो जातः, तस्य 'लक्ष्मीचन्द्र' इति नाम दत्तम्। क्रमेण प्रवर्धमानः पठनाय स्थापितः। स्तोकेनैव कालेन समस्ता अपि कला अधीताः। पितुः सङ्गत्या धर्मक्रियायां कुशलो रुचिमांश्च संजातः। क्रमेण यौवनं प्राप्तः। व्यापारकर्मणि निपुणत्वाद् लोके आदेयवाक् संजातः। ततः श्रेष्ठी तस्य प्राप्तवयस्त्वं नैपुण्यं च दृष्ट्वा श्रेष्ठिपुत्र्या सह विवाहमेलनं कृत्वा विवाहसामग्रीं कर्तुं लग्नः। ज्ञाति-स्वजन-परिचितजनभोजनार्थं मोदकादीन् प्रचुरान् विविधप्रकारान् कारयित्वाऽग्रतो गृहाऽपवरकाणि भृतानि।

अथाऽन्यदिने श्रेष्ठी जिनपूजाप्रवृत्तिं करोति तावता मध्याह्नसमये श्रेष्ठिनो गृहे कश्चित् साधुसंघाटक एषणीयाहारगवेषणार्थमागतः। देवगृहस्थितेन श्रेष्ठिना 'धर्मलाभ' इति शब्दे श्रूयमाणे प्रोक्तम्–'गृहमध्ये कोऽपि दाता वर्तते ?'। तदाऽधःस्थितेन लक्ष्मीचन्द्रेणोक्तम्–'तात ! अहमेवाऽस्मि'। तदा श्रेष्ठिना प्रोक्तम्–'अत्रागच्छ'। ततो लक्ष्मीचन्द्रः पितुरभ्यर्णे गतः। पित्रोक्तम्–'वत्स ! पृच्छ त्वं, के सूरयः समागताः सन्ति ?, परिवारश्च कियत्परिमितोऽस्ति ?'। ततो लक्ष्मीचन्द्रेण द्वारिकायामागत्य पित्रोक्तं पृष्टम्। साधुभिरुक्तम् –'देवानुप्रिय ! अद्य श्रीधर्मघोषसूरयः पञ्चशतसाधुपरिवृताः समेताः सन्ति, वयं तदीयाः शिष्याः, गुर्वाज्ञया एषणीयाहारगवेषणार्थमागताः स्मः'। ततो लक्ष्मीचन्द्रेण तत्सर्वं श्रेष्ठिने ज्ञापितम्। तदा श्रेष्ठिनोक्तम्–'वत्स ! एते तपोधनाः पञ्चशतपरिमिताः। एषां मध्ये केऽपि वृद्धाः, केऽपि उग्रतपस्विनः, केऽपि बहुश्रुताः, केऽपि प्रतिमाधारिणः, केऽपि जरया जर्जरितदेहाः, केऽपि विविधाऽभिग्रहवन्तः, केऽपि विविधागमाऽभ्यासतत्पराः, केचिच्च ग्लानत्वेऽपि निष्प्रतिकर्मशरीरा भविष्यन्ति। एषां भक्त्या प्रतिलाभिते महत्पुण्यं भविष्यति। यतः—

"पहसन्त–गिलाणेसुं, आगमगाहीसु तह य कयलोए। उत्तरपारणगम्मि य, दिन्नं बहुफलं होई" ॥१॥

अतः कारणाद् हे वत्स ! साधुभ्यः षोडश मोदकान् देहि। साधवो बहवः सन्ति, अतश्चतुष्पञ्चसाधुयोग्यम् आहारं देहि। आत्मीयगृहयोग्यं दानं दातव्यम्"। ततो लक्ष्मीचन्द्र 'ओम्' इत्युक्त्वाऽधो गत्वा व्यचिन्तयत्–'पित्रा तु षोडशमोदकाज्ञा दत्ता,

---

१ प्रश्रान्त–ग्लानेषु, आगमग्राहिषु तथा च कृतलोचे। उत्तरपारणके च, दत्तं बहुफलं भवति ॥१॥

साधवस्तु बहवः सन्ति। मद्विवाहार्थम् अनेकसहस्रसङ्ख्यया मोदकाः कारिताः सन्ति, तांस्तु अविरतयो मिथ्यात्विनश्च संसारिणो जीवा भक्षयिष्यन्ति। एते तु निःस्पृहास्तपस्विनो रत्नपात्रकल्पाः, परमपुण्योदयेन एषां योगो मिलति। साधव आहारं कृत्वा स्वाध्याय–ध्यान–तपो–जपादिषु प्रवर्त्स्यन्ते, संसारिणस्तु स्निग्धं भुक्त्वा विशेषतो विषयादिषु प्रवर्त्स्यन्ते, अतो मद्विवाहार्थं कृता मोदकाः साधुभ्यो मया दीयमाना इह परत्र च ममातीवलाभदायिनो भविष्यन्ति, भक्त्या मयाऽधिकैर्दीयमानैर्ममैव लाभो भविष्यति। वृद्धास्तु प्रायेण कृपणहस्ता भवन्त्येव। अद्य ममैव महान् भाग्योदयो यद् विवाहावसरे मोदकैर्भृते गृहेऽनाहूता जङ्गमसुरद्रुमा इव साधवः कुतोऽपि समागताः। आजन्मरोरगृहे कामधेन्वा आगमनमिवाऽतर्कितलाभस्थानं प्राप्तं कथं मुञ्चामि ?'! इति वीर्योल्लासवृद्ध्या प्रस्फुलितहृदयो रोमाञ्चितशरीरश्च सहर्षम् अगणितमोदकैः सशिखं स्थालमापूर्य, हस्ताभ्यां समुत्पाट्य, साध्वभ्यर्णे समागत्य हसितवदनः प्राह–'स्वामिनः! एते मोदका गृह्यन्ताम्'। तदा साधुभिरुपयोगं दत्त्वा आगमानुसारिणं शुद्धमाहारं ज्ञात्वा प्रोक्तम्–'देवानुप्रिय! एतावन्तः किमर्थमानीताः ?। एतन्मध्याद् यथायोग्यमस्मभ्यं देहि, नाऽधिकैः प्रयोजनम्। कस्याप्यन्तरायो मा भवतु'। लक्ष्मीचन्द्रेणोक्तम्–'स्वामिनः! अन्तरायस्तु अद्यैव त्रुटितो यदा मम वराकस्याङ्गणं युष्मच्चरणन्यासैः पवित्रितम्। अन्यच्च, मम महता भाग्योदयेन बहुभिर्वाचंयमैः सह श्रीधर्मघोषसूरयः समागताः। एते मोदका भवदीयरुच्यनुसारेण आहार्याः, अन्ये पुनरन्यसाधुभ्यो दातव्याः, इति मदीयो हर्षः कृपया पूरणीयः। पात्रं प्रसारयन्तु, मां च निस्तारयन्तु भवन्तः'। एवं तस्यातीवभावोल्लासं ज्ञात्वा, निःस्पृहैरपि मुनिभिः 'भावव्याघातो मा भवतु' इति हेतोः पात्रं प्रसारितम्। ततः कुमारेण स्वहस्ताभ्यां स्थालमुत्पाट्य परमप्रीत्या पात्रे झोलिकायां च वितरणे क्रियमाणे, साधुभिः 'सृतं सृतम्' इत्युच्यमानेऽपि सर्वेऽपि मोदका वितीर्णाः।

कुमारस्य हृदये तु हर्षो न माति, प्रसन्नवदनश्च विज्ञप्तिं कर्तुं लग्नः–'स्वामिभिरद्य मम बालस्योपरि महती कृपा कृता यन्मम भावो न खण्डितः। युष्माकं तु एतत्स्पृहा नास्ति तदहं सम्यग्रीत्या जानामि;साधूनां हि तुपढोकलके घृतपूरे च किमपि न्यूनाधिकत्वं न भवति, केवलं मम बालस्येच्छापूरणाय कृपापरैर्भवद्भिर्विज्ञप्तिरङ्गीकृता, तद्भवदीयोपकारम् आजन्म न विस्मरिष्यामि। पुनरीदृशो दिनः कदा समेष्यति ?'। इति वदता कुमारेण साधवो वन्दिताः। ततः साधवो धर्मलाभं दत्त्वा पश्चाद्वलिताः। कुमारोऽपि सप्ताष्टपदानि पृष्ठतो गत्वा, पुनर्वन्दनां कृत्वा, दानं चाऽनुमोदयन् गृहमागतो गृहकार्यार्थे प्रवृत्तः। कुमारेण तेन भावोल्लासेन बहुतरं पुण्यमुपार्जितम् , यतो दूषणै रहितं भूषणैश्च सहितं दानमनन्तगुणं फलति। दानस्य दूषणानि यथा—

"अनादरो विलम्बश्च वैमुख्यं विप्रियं वचः। पश्चात्तापश्च पञ्चाऽमी सद्दानं दूषयन्त्यहो!" ॥१॥

भूषणानि यथा—

"आनन्दाश्रूणि रोमाञ्चो बहुमानं प्रियं वचः। किञ्चाऽनुमोदना काले दानभूषणपञ्चकम्" ॥१॥

अथ पूजायां पूर्णायां श्रेष्ठिना पृष्टम्–'मदुक्ता मोदका दत्ताः ?'। कुमारेण 'दत्ता' इत्युत्तरं दत्तम्। तदा श्रेष्ठिना परिमितभावत्वेन तावन्मात्रमेव पुण्यमुपार्जितम् , विचित्रा ह्यध्यवसायानां गतिः। पुत्रेण तु अपरिमितभावोल्लासेन पात्रबहुमानेन चाऽमितं पुण्यमुपार्जितम् , गम्भीरतया न न कस्याप्यग्रे कथितम् , यथावसरे पुनरनुमोदितं च। अथ मुहूर्तदिने लक्ष्मीचन्द्रस्य विवाहो जातः। कियन्ति दिनानि भव्यान् प्रतिबोध्य गुरवोऽन्यत्र विहृताः। अथ तौ पिता–पुत्रौ यावज्जीवं धर्मं प्रपाल्य पूर्णमायुर्भुक्त्वा शुभध्यानेन

१ प्रसन्नवदनेन। २ उत्तरो दत्तः।

मृत्वा सौधर्मे देवलोके देवौ जातौ। ततश्च्युत्वा पितुर्जीवः स एष धर्मदत्तोऽभूत्। पूर्वजन्मनि संविभागव्रतेऽन्तराऽन्तरा अतिचारकरणाद् अन्तराऽन्तरा दुःखं प्राप्तम्; पश्चात् षोडशमात्रमोदकदानानुमोदनेन षोडशकोटिस्वर्णनायकोऽभूत्, नाऽधिकः। पुत्रजीवस्तु त्वं भूपतिरभूः पूर्णभक्तिपूर्वकदानेनाऽधिकतरपुण्याद् अक्षयस्वर्णनरः प्रादुर्भूतः।

॥ इति धर्मदत्तस्य चन्द्रधवलस्य च पूर्वभववृत्तान्तः ॥

इति पूर्वभववार्तां श्रुत्वा नृपतिश्चिन्तयितुं लग्नः-'शास्त्रे यदुक्तं तत्तथैव भवद् दृश्यते। यतः-

"धर्म एव सदा येषां दर्शनं प्रतिभूरभूत्। क्वचित् त्यजति किं नाम तेषां मन्दिरमिन्दिरा ?" ॥१॥

यद्यप्येवम्, तथापि मोक्षं विनाऽक्षयसौख्यं न भवति'। इति ध्यात्वा गुरून् प्रत्यूचे-'प्रभो! अपारभवपारावारसंतरणाय चारित्रपोतं मे देहि, भवत्कृपया मत्कार्यं सेत्स्यति। अतोऽहं गृहे गत्वा, जनव्यवहाराऽनुवृत्त्या राज्यचिन्तां कृत्वा, आजीवितं भवच्चरणपर्युपासनां कर्तुमागमिष्यामि, तदा च भवता मम वराकस्योपरि करुणां कृत्वा चारित्रं दातव्यम्'। गुरुभिरुक्तम्-'यथाऽऽत्मनो हितं भवेत् तथा कुरु, परं मा प्रमादोऽनुसर्तव्यः'। राज्ञोक्तम्-'तहत्ति'। ततो राज्ञा गुरुं नत्वा, गृहमागत्य, भोजनं कृत्वा, आस्थाने समेत्य, अमात्यमाहूयोक्तम्—'भो मन्त्रिन्! राज्यं कस्य देयम्?'। तेनोक्तम्—"स्वामिन्! जगति विपरीता विधेर्गतिः। यतः—

"शशिनि खलु कलङ्कः कण्टकः पद्मनाले, जलधिजलमपेयं पण्डिते निर्धनत्वम्।

१ आजन्म।

दयितजनवियोगो दुर्भगत्वं सुरूपे, धनवति कृपणत्वं रत्नदोषी कृतान्तः" ॥१॥

यो य उत्तमः पदार्थः स स एकेन दोषेण दूषितः। यतः शुद्धन्यायप्रवर्तकानां, स्वर्णं दत्त्वा समस्तलोकानां ऋणमुच्छेद्य संवत्सरप्रवर्तकानां, श्रीमज्जिनेन्द्रभाषितधर्मे रतानां, परोपकारकरणैकधुर्याणामपि भवतां पुत्रो नाऽभूत्!। अपरं च–यस्य कस्यापि अनिपुणस्य राज्यदानं न युक्तम्, अतोऽधुना तु भवानेव राज्यमलङ्करोतु यावद् राज्यार्हपुरुषसंयोगो न भवेत्। न्यायैकनिष्ठानां दुष्कर्मविमुखाणां भवादृशानां राज्यपालनेऽपि महत्पुण्यमस्ति, यतः–'शुचिर्धर्मपरो राजा'। इत्यादिश्रुतेः। गृहस्थैरेव अनेकैर्विविधदान–दयादिधर्मकर्माण्युपास्य संसारस्यान्तः कृतः श्रूयते, परम् अयोग्यस्य राज्यं दत्तं न श्रूयते। पुरा गृहस्था एव जिनाज्ञां पालयन्तो जीवन्मुक्तेतिविरुदं प्राप्ताः। तथा सिद्धान्तेऽपि गृहस्थलिङ्गसिद्धा अनन्तसङ्ख्यया श्रूयन्ते, अतोऽन्तरायं यावत् स्वयमेव राज्यं करोतु भवान्। जगति परोपकारकरणसन्निभोऽन्यो धर्मो नास्ति"। इति मन्त्रिवचांसि श्रुत्वा ईषद्विहस्य चन्द्रधवलेन प्रोक्तम्–"मन्त्रिन्! यत्त्वया वचनरचनया राज्यपालनेऽपि धर्मो दर्शितः स कस्य?–यः पञ्चमहाव्रतपालनाऽशक्तो मन्दवीर्यः, शिवकुमार इव वा पित्राद्यननुज्ञातः, पूर्वसञ्चितप्रशस्तभक्तिरागेणाऽतीव्रपुण्यप्रकृतिको वा, अविरतिगर्भितसञ्चितपुण्यप्राग्भारो वा; स धर्मप्रियो गृहस्थितो न्यायेन राज्यं कुर्वाणो जिनाज्ञां पालयति। यच्च त्वयोक्तम्–'गृहस्थलिङ्गसिद्धा अनन्तसङ्ख्यया श्रूयन्ते' तत् सत्यम्, परं तेषां तथाभवितव्यतायोगतः, कारणपरिपाकयोगतः, बहुलभोगकर्मोदयतः, बाधककर्माऽल्पतो वा एवं संजातम्। एष एककपदी मार्गः कादाचित्कः, न तु राजपथः। यत् सिद्धानाम् आनन्त्यं तत् कालबाहुल्यात्। कोऽपि मूर्ख ईदृशं ज्ञातं साध्ये कृत्वा गृहस्थधर्मे रतो मोक्षं समीहते न तस्येप्सितसिद्धिर्भवति। अस्मादृशानां बहुलकर्मस्थितिसत्ताकानां, गुरुकृपया विज्ञातसंसारस्वरूपाणां,

जन्म-जरा-मरण-रोग-शोकाद्यवश्यप्राप्ततया उल्लसितवैराग्याणां शीघ्रं चारित्रादरणमेव श्रेयः, विलम्बकरणं महामूर्खत्वम्, यतो 'धर्मस्य त्वरिता गतिः'। संसारे श्रेयांसि बहुविघ्नानि। कदाचिद् विलम्बकरणे अध्यवसायादिनिमित्तयोगत आयुरपवर्तनकरणबलेन मरणं संजायेत तदा कल्पितो विकल्पो निष्फलः। गत्यन्तरं गतो जीवः पूर्वभवाचीर्णं संयम-तपः-श्रुतादि न किञ्चिदपि जानाति, यस्मिन् कुले समुत्पन्नस्तदेव श्रद्धाति, नान्यत्। कस्यचित्तु सुमङ्गलाचार्या-ऽऽर्द्रकुमारयोरिव कथञ्चित् पूर्वनिबद्धप्रबलाराधकपुण्योदयतः कस्यापि साहाय्यं मिलति तदा तु स पुनः स्मरति, परं नात्मीयस्वभावेन। हस्ताद् गतं पुनरपि प्रापणं दुष्करम्। यत् त्वयोक्तम्-परोपकार-सन्निभोऽन्यो धर्मो नास्ति' तत् सत्यम्; परं प्रथमम् आत्मानं तारयन् अन्यानपि तारयति, एतच्च साधकलक्षणं जिनाज्ञा च ज्ञेया। परन्तु आत्मानं संसारपथे वहन्तं कृत्वाऽन्यस्योपकारकरणे किं दक्षत्वम्?। यथा गृहशिशुषु क्षुधितेषु चतुष्पथे सत्रस्य स्थापनं व्यर्थम्, तच्च मूर्खत्वं सूचयति। अहं तु न मूर्खः, अतो यद् भावि तद् भवतु, परं चारित्रमवश्यं ग्रहीष्याम्येव। यतो जिनेन धर्मे उद्यम एव मुख्यतया ज्ञापितः, औदयिके तु नियतकर्मणो मुख्यत्वं प्रोक्तम्, अतः श्वो निश्चयेन चारित्रं ग्राह्यम्"। इत्युक्त्वा मन्त्रिणं विसर्ज्य संयमग्रहणचिन्तापरः शय्यायां सुष्वाप। तदा पाश्चात्यरात्रौ स्वप्नं ददर्श-काऽपि दिव्यरूपा दिव्याभरणभूषिता स्त्री समेत्य भूपं प्राह-'राजन्! राज्यचिन्तां मा कुरु, तव राज्यं न्यायैकनिष्ठस्य वीरधवलस्य दत्तम्, अतः सोत्साहं सुखेन संयमग्रहणं कुरु। एषा वरमाला संयमश्रीसत्का तव कण्ठे क्षिप्यते'। इत्युक्त्वाऽदृश्यतां प्राप्ता। तदा राजा प्रबुद्धोऽचिन्तयत्-'किमिदम्?, अस्य को भावार्थः?, को वीरधवलः?, तस्य नामाऽपि न श्रुतम्!'। एवं विचिन्तयतः प्रभातं जातम्। तदा मन्त्रिण आहूय स्वप्नोदन्तः पृष्टः-'को वीरधवलः?, पूर्वं कदापि न ज्ञातः, न श्रुतः, स्वकीयराज्ययोग्योऽस्तीति का वार्ता?'। मन्त्रिभिरुक्तम्-'अस्माभिस्तु न ज्ञातः, श्रीगुरवः प्रष्टव्याः'। ततो

राज्ञा स्वल्पपरिच्छदेन गुरोरुपान्ते गत्वा नत्वा च रात्रिगतस्वप्नस्वरूपं पृष्टम्–'स्वामिन्! को वीरधवलः ?, पूर्वं कदापि न ज्ञातो न च श्रुतः'। तदा गुरुभिरुक्तम्–'राजन्! त्वं संयमाय सज्जो भव। यदा त्वं दीक्षाग्रहणाय अत्रागमिष्यसि तदा तस्य पूर्वदिशः समागमो भविष्यति, स तत्र दीक्षोत्सवं करिष्यति'। इति श्रुत्वा निश्चिन्तो भूत्वा गृहं गत्वा यथायोग्यं सेवकादीनां धनं दत्त्वा, धनं च पुष्ट्यधिकरणं मत्वा संयमश्रियं जिघृक्षुर्जिनभवन–जिनबिम्बादिषु सप्तसु क्षेत्रेषु उल्लासेन श्रियम् उप्त्वा, राजा धन्यः कृतकृत्यो जातः। तदा धर्मदत्तोऽपि धनवतीकुक्ष्युत्पन्ने रत्नसिंहाऽभिधपुत्रे गृहभारं समारोप्य धनवतीयुक्तः संयमग्रहणाय सज्जो जातः। ततः सोऽपि स्वजन–परिवारादीनां यथोचितं दत्त्वा, सर्वैः सह क्षामणां कृत्वा, तेषामाशिषं लात्वा सप्रियो निर्गतः। ततो भूपाल–धर्मदत्तौ महोत्सवपूर्वकं सर्वर्द्ध्या गुरुचरणं गतौ। तदा लोकाश्चिन्तयन्ति–'राजा तु दीक्षां लाति!, अस्माकं च पालनाय न कोऽपि राजा स्थापितः, अत्र का गतिर्भाविनी ?'। राजाऽपि–'गुरुभिरुक्तो राज्यार्होऽधुनापि नागतः, श्रीमद्गुरुवचनम् अन्यथा न भवति' एवं यावत् चिन्तयति तावता तु पूर्वदिग्मार्गे दिव्यतूर्याणां रवः श्रुतः। यावता राजा सर्वेऽपि लोकाश्च विस्मिता विलोकयन्ति, 'किमिदं किमिदम् ?' इति वदन्ति च, तावता पूर्वदिशः श्वेतगजाधिरूढो धृतश्वेतच्छत्र उभयतश्चामरैर्वीज्यमानो दिव्याभरणभूषितः कोऽपि दिव्यवादित्र–गीत–नृत्यादियुक्तो बहुदेवर्द्धिसमेतस्तत्रागतः। आगतमात्रः स श्वेतगजादुत्तीर्य सविनयं गुरुं नत्वा उपविष्टः। तदा गुरुभिर्भूपं प्रत्युक्तम्–'राजन्! अयं स वीरधवलः'। राज्ञोक्तम्–'स्वामिन्! कोऽयम् ?, कुत आयातः ?, कथमनेन ज्ञातो मम दीक्षावसरः ?, इति प्रसाद्यताम्'। गुरुभिरुक्तम्–"श्रूयताम् अस्य व्यतिकरः—

॥ वीरधवलवृत्तान्तः ॥

सिन्धुदेशे वीरपुरं नगरम्। तत्र जयसिंहो नाम राजा। तस्य वीरधवलः पुत्रः। स च मृगयाव्यसनी प्रतिदिनम् आखेटकक्रियातत्परोऽन्यदा मृगीमेकां सगर्भां बाणेन विव्याध। तस्या गर्भे तडफडायमानं भूमौ पतितं वीक्ष्य तथाभवितव्यतायोगतः कुमारस्य स्वयमेव करुणा सम्प्राप्ता। स्वं च निन्दितुं लग्नः–"हा! मया सगर्भा हरिणी हता। एते वनजा अनाथा अशरणा अदोषाः पशवोऽस्मादृशैः पृथ्वीनाथैर्निःशङ्कतया हन्यन्ते तदा एते वराकाः कस्याऽग्रे पूत्कुर्युः?। यतः–

"रसातलं यातु यदत्र पौरुषं, कुनीतिरेषाऽशरणो ह्यदोषवान्।
निहन्यते यद् बलिनापि दुर्बलो, हहा! महाकष्टमराजकं जगत्" ॥१॥

तथा–"इक्कस्स कए नियजीवियस्स,बहुयाओ जीवकोडिओ। दुक्खे ठवन्ति जे केवि, ताण किं सासयं जीयं?" ॥१

इति विचारयन्, हिंसायां केवलं दोषाऽपरिमितत्वं दृष्ट्वा दयायां चाऽपरिमितगुणान् दृष्ट्वा, करुणापुष्टया स्वमनसि जीवघातनियमं दृढतया गृहीत्वा निवृत्तो गृहमागतः। मृगीघाते च स्मृतिपथमागते पुनस्तथैव स्वं निन्दता बहुतराणि पूर्वकृतपापकर्माणि क्षपितानि।

अन्यदा पौरा राजसभायां पूत्कुर्वन्त आगताः–'देव! कोऽपि अपूर्वो निपुणश्चौर उत्थितः, पुरं मुषितम्, केऽपि धनवन्तो महेभ्या दरिद्रभावमापन्ना अनिर्वचनीयं कष्टं प्राप्नुवन्ति'। तदा राज्ञा आरक्षकानाहूय प्रोक्तम्–'रे रे आरक्षकाः! किं पुरस्य रक्षा नो

१ एकस्य कृते निजजीवितस्य, बहुका जीवकोटयः। दुःखे स्थापयन्ति ये केऽपि, तेषां किं शाश्वतं जीवितम्? ॥१॥

क्रियते ?'। तैरुक्तम्–'देव ! पुरं महद्, आरक्षकास्तु स्तोकतराः, स्तोकैर्जनैर्दुर्ग्राह्योऽयम्, बहुदुर्बुद्धिभाण्डागारश्चौरः, बहुभिः कृतक्लेशैरपि हस्ते न चटितः'। तदा राज्ञोक्तम्–'अद्याऽहमेव चौरं निगृह्णामि'। इति श्रुत्वा प्रमुदिताः पौराः स्वस्वगृहमागताः। सन्ध्यायां धीरधवलमाहूय प्रोक्तम्–'वत्स ! चौरेण बहवो लोकाः सन्तापिताः, एषा लज्जा आवयोर्लगति। अतोऽद्य सर्वाभिसारेण चतुष्किकायाम् अप्रमादवता मौनेन स्थेयं, यथाऽयं धूर्तो हस्ते चटेत्। अमुकदिशि त्वं गच्छ, अपरदिशि अहं गच्छामि' इति विभागं कृत्वा स्थाने स्थाने चतुष्किका मुक्ता। सर्वेऽपि राजादिष्टस्थाने गुप्तवृत्त्या निलीय स्थिताः। अथ तस्यां रात्रौ स चौरो दैवात् कुमारचतुष्किकायां पतितः। तदा कुमाराज्ञया तद्भृत्यैः खेटकैरेवाच्छादितो यथा बहुभिर्न ज्ञायेत। ततः कुमारेण चिन्तितम्–'प्रात इमं राजा हनिष्यति, पञ्चेन्द्रियवधाच्च निश्चितं मे पापं भावि, तदा च मे गृहीतनियमो मलिनो भविष्यति। पापोद्भूतं यशस्तु दुर्गतिहेतुः। अतः साम्प्रतम् अस्य जीवन्मोचनमेव वरम्'। इति ध्यात्वा स जीवन् मुक्तः। तत्क्षणं नष्टः स चोरः क्वाप्यगमत्। कुमारेण प्रच्छन्नरक्षणाय भृत्यानामग्रे प्रोक्तम्–'युष्माभी राज्ञोऽग्रे मुक्तश्चौरो न वक्तव्यः'। प्रगे राज्ञा सर्वे भृत्या आकारिताः, तदा ते चौराऽप्राप्तिविलक्षा राजानं नत्वाऽग्रे स्थिताः। राज्ञोक्तम्–'भो भटाः ! चौरो हस्ते न चटितः ?'। तैः सर्वैरुक्तम्–'देव ! न चटितः'। ततः सभायां विसृष्टायां केनापि कुमारभृत्येन राज्ञो वल्लभभवनाय राज्ञो दण्डभयाच्च राज्ञोऽग्रे चौरमोचनस्वरूपं सर्वं स्वयमेव ज्ञापितम्। तच्छ्रुत्वा कुपितेन राज्ञा वस्त्राऽऽभूषणादिग्रहणपूर्वकं कुमारस्य देशत्यागः कारितः। स च स्वकर्म निन्दन् मार्गे चलति। चिन्तयति च–"मया पुरा दुष्टभावेन बहूनां पञ्चेन्द्रियजीवानां मारण–ताडनादिकं पापं कृतं, तस्येदृशान्येव फलानि भवन्ति। किम् इयता मात्रेण छुटिष्यामि ?। न जाने किमग्रे भविष्यति !, यतः–'अत्युग्रपुण्य–पापानाम् इहैव फलमाप्यते' इति शास्त्रोक्तेः"। एवम्

आत्मनिन्दां कुर्वन् वने भ्राम्यति। फलादिना प्राणवृत्तिं कुर्वन् कियद्भिर्दिनैर्भ्राम्यन् भद्दिलपुरं प्राप्तः। तदा कुमारः क्षुधया पीडितो भिक्षार्थं पुरे प्रविष्टः। दृश्यतां भव्याः! रुष्टो विधिः किं न करोति?। यतः—

"यस्य पादयुगपर्युपासनाद्, नो कदापि रमया विरम्यते।
सोऽपि यत् परिदधाति कम्बलं तद् विधेरधिकतोऽधिकं बलम्" ॥१॥

अथ तेन कुमारेण तस्मिन् पर्वदिने एकस्माद् महेभ्यगृहात् सक्तु-गुडभिक्षा लब्धा। स तां लात्वा सरस्तीरे गतः। तत्र सक्तुजलेनार्द्रीकृत्य गुडेन मिश्रितः कृत्वा भोक्तुं योग्यो निर्मापितः। ततः कुमारेण चिन्तितम्—"साम्प्रतं कोऽप्यन्नार्थी आगच्छेत् तदा भव्यं भवेत्, किञ्चित् तस्मै दत्त्वा भक्षयामि; 'स्तोकादपि स्तोकमपि देयम्' इति श्रुतेः"। एवं यावता ध्यायति तावता तेन पुण्यप्राग्भारस्योदयात् कोऽपि मासोपवासी साधुर्मार्गे गच्छन् दृष्टः। स च पारणार्थं ग्राममध्ये गोचर्यां गत आसीत्; तत्र प्रथमं प्रासुकं जलं मिलितं, परम् एषणीयाहारो न लब्धः। ततो जलमात्रं गृहीत्वा, 'अलब्धे तपसो वृद्धिः, लब्धे तु देहधारणा' इति ध्यायन् समतैकलीनः सन्तोषामृतभोजनो मुनिर्बहिर्गच्छन्नस्ति। तं दृष्ट्वा कुमारोऽत्यन्तप्रमुदितचित्तो विचिन्तयति—'अहो! अद्यापि मम भाग्यानि जाग्रति, यद् अयमतर्कितो मूर्तिमान् धर्म इव साधुरागतः'। इति ध्यात्वा सप्ताष्टपदानि सम्मुखं गत्वा प्रोचे यत्—

"अद्य पूर्वसुकृतं फलितं मे, लब्धमद्य वहनं भववार्द्धौ।
अद्य चिन्तितमणिः करमागाद्, वीक्षितो यदि भवान् मुनिराजः" ॥१॥

अद्य अनाथस्य मम परमनेता मिलितः। भोः करुणाम्भोधे! मम वराकस्योपरि कृपां कृत्वा पात्रं प्रसारयतु, इमं निर्दूषणं पिण्डं

गृह्णातु, मां च निस्तारयतु'। इति वदन् समग्रमपि पिण्डमुत्पाट्य, साध्वग्रे हस्ताभ्यां धृत्वा स्थितः। तदा साधुनापि एषणीयं ज्ञात्वा प्रोक्तम्–'देवानुप्रिय! अवशेषं ददस्व, न वयं समग्रग्राहिणः'। कुमारेणोक्तम्–'स्वामिन्! यदि अवशेषसंसारदुःखौघरक्षणेच्छा भवेत् तदाऽवशेषं दद्याम्; मम तु समूलसंसारोन्मूलनेच्छाऽस्ति, अतः सर्वमप्यमुं दातुमुत्कण्ठितोऽस्मि। यूयं तु परमोपकारिणो निष्कारणजगदेकवत्सलाः, अतो मम दीनस्योपरि दयां कृत्वा समग्रममुं पिण्डं गृहीत्वा बहुदिनेप्सितदानेच्छां पूरयत यथा मम निरुपाधिकगुरुस्य सत्यङ्कारो भवेत्'। एवं तस्याऽतिभक्तिभरनिर्भरभावोल्लासं ज्ञात्वा तस्य भक्तिखण्डनभयाद् मुनिना पात्रं धृतम्। तदा कुमारेण स समग्रोऽपि पिण्डो दत्तः। तदवसरे कुमारस्य आपादं मस्तकं यावत् समुद्रवेलेव हर्षोल्लासः प्रवृद्धिं गतः, यथा हृदये चित्ते च न माति। हर्षप्रकर्षात् प्रमोदग्रहिल इव भाति, यथा आजन्मदरिद्रेण अकस्मात् कोटिमूल्यं निधानं स्वगृहे लब्धम्। हर्षव्याकुलश्च न वचः प्रोक्तुं प्रभवति। अथ दानावसरे मार्गे गच्छन्ती शासनदेवता कुमारस्याऽतीवदानभक्तिं दृष्ट्वा चित्तेऽतिचमत्कृता। तया च कुमारस्योपरि गुणरागाहृतहृदयतया उदात्तनादेन देवदुन्दुभिर्वादितः। प्रोक्तं च–'धन्यस्त्वं धन्यस्त्वम्, प्रवरं दत्तम्, अतो धर्मद्रुमस्य पुष्परूपं चन्द्रधवलराज्यं तुभ्यं दत्तम्'। इति वरं दत्त्वा देवी तिरोदधे। कुमारस्तु सप्ताष्टपदानि साधुमनुगत्य पुनर्नत्वा स्वस्थानमागतः, परं दानावसरे मिलितहर्षेण पुनः पुनः पुलकितो भवति। कियतीं वेलां चाऽनुमोद्य पुनर्ग्रामान्तर्गत्वा भिक्षया सक्तुकं प्राप्य प्राणवृत्तिं चक्रे। तया शासनदेव्या तत्रापि स्वप्नो दत्तः। पुनर्द्वितीयदिने तया देव्या अतिभक्तिपूर्वकदानधर्मस्य फलप्रापणद्वारेणास्य यशः–कीर्तिविस्तारणार्थं देववर्गैः सह बहुमानपूर्वकमत्रानीतः। राजन्! स एष वीरधवलः"।

ततो राज्ञा सुख–क्षेमवार्तादिशिष्टाचारं कृत्वा, तिलकं कृत्वा सप्ताङ्गं राज्यं दत्तम्। वीरधवलस्य च शिक्षा दत्ता–'राज्यं त्वया

शुद्धपरिणत्या न्यायेन च पालनीयम्, यथा मां न कोऽपि स्मरेत्। तथाऽन्ते च चारित्रम् अनुसरणीयम्, परं श्लेष्मोपलिप्तया मक्षिकयेव न भवितव्यम्'। वीरधवलेन तत् सविनयश्रवणपूर्वकं सर्वमङ्गीकृतम्। ततो वीरधवलेन महोत्सवपूर्वकं चन्द्रधवल-धर्मदत्तादीनाम् अनुमोदनपूर्वकं दीक्षा दापिता। तैः पञ्चमहाव्रतान्यङ्गीकृतानि। विधिपूर्वकं शिक्षां च लात्वा यथार्थं मुनिमण्डल्यां स्थिताः। गुरुभिरुपदेशो दत्तः। यथा—

"चारित्ररत्नान्न परं हि रत्नं, चारित्रलाभान्न परो हि लाभः।
चारित्रवित्तान्न परं हि वित्तं, चारित्रयोगान्न परो हि योगः" ॥१॥

तथा—"न च राजभयं न च चौरभयम्, इहलोकसुखं परलोकहितम्।
नर-देवनतं वरकीर्तिकरं, श्रमणत्वमिदं रमणीयतरम्" ॥१॥

तावद् भ्रमन्ति संसारे पितरः पिण्डकाङ्क्षिणः। यावत् कुले विशुद्धात्मा यतिः पुत्रो न जायते" ॥१॥

इत्यादिधर्मदेशनां श्रुत्वा वीरधवलादिभिर्गृहिधर्मोऽङ्गीकृतः।

अथ जातिस्मरणयुक्ता मर्कटी गुर्वाज्ञया धनवत्या गृहे नीत्वा, स्वपुत्र-वधूभ्यां च पूर्वभवस्नेहसम्बन्धविपाकं श्रावयित्वा प्रोक्तम्—'अस्याः प्रतिपालना कर्तव्या। इयं मर्कटी जातिस्मरणयुक्ताऽस्ति, अतोऽस्या एकान्तरोपवासनियमोचिता युवाभ्यां पारणादिचिन्तावश्यं कर्तव्या। किं बहुना ?, मत्सदृश्येव गण्या, नान्तरं कर्तव्यम्'। इत्युक्त्वा धनवती संयमे सावधानमना बभूव। अथ मर्कट्यपि धर्ममाराध्य स्तोकेनैव कालेन मृत्वा सौधर्मे देव्यभूत्, ज्ञानेनोपकारं स्मृत्वा तेषामेव सूरीणां सान्निध्यकारिणी बभूव।

गुरवोऽपि नव्यदीक्षितसाधुभिः सह पृथिव्यां विजहुः। क्रमेण संयममाराध्य सम्प्राप्तकेवलश्चन्द्रधवलराजर्षिः शिवं प्राप्तः। धर्मदत्तो धनवती च संयममाराध्य कृतमाससंलेखनौ समाधिना मृत्वाऽनुत्तरसुरौ संजातौ, तत्र च त्रयस्त्रिंशत्सागरायुः प्रपाल्य विदेहे मनुजौ भूत्वा शिवं यास्यतः।

अथ वीरधवलो महाविभूत्या नगरं प्रविश्य न्यायघण्टावादनपूर्वकं राज्यं पालयति। कियद्भिर्दिनैस्तस्य पिता तद्वार्तां श्रुत्वा, सहर्षं सबहुमानमाहूय, तस्य राज्यं दत्त्वा आत्मसाधनपरोऽभूत्। एवं वीरधवलो राज्यद्वयं बहुकालं प्रतिपाल्य, अवसरे श्रीदत्ताऽभिधपुत्राय राज्यं दत्त्वा, त्रिधा शुद्ध्या चारित्रमाराध्य शिवं प्राप्तः।

॥ इति धर्मदत्तस्य तदन्तर्गतचन्द्रधवल-वीरधवलयोर्वृत्तान्तः ॥

"तस्माद् भो भव्याः! धर्मदत्तस्य मोहमलिम्लुचकृतविचित्रविपाकगर्भितं परमौदासीन्यजनकं चरितं निशम्य, तज्जयोपायं परमवैराग्यरसशालिनीं संसारभावनां भजत। संसारे हि परिभ्रमणं कुर्वद्भिर्जीवैर्विविधकर्मगत्या चतसृषु गतिषु के के पर्याया न प्राप्ताः?। यथा-भूपतिर्भूत्वा रङ्को भवति, रङ्कोऽपि भूपतिः। दरिद्रो धनपतिः, धनपतिरपि दरिद्रः। देवराजो मृत्वा गर्दभः, गर्दभो देवराजो भवति। कीटिका हस्ती भवति, हस्त्यपि कीटिका भवति। इत्यादयो भवान्तरेऽनेके पर्याया उत्पद्यन्ते। पूर्वभवानुभूतं किमपि न स्मरति जीवः, प्राप्तभवाऽभिमानेन मत्तस्तिष्ठति। ये इहलोकेऽखण्डचण्डशासनो राजा सप्ताङ्गयुक्तो राज्यं पालयन् अक्षिस्फुरणमात्रेण कोटिजीवान् कम्पयति, नित्यं प्रकृष्टबलयुक्तोऽनेकभूपतीन् नमयति, मुखाद् निर्गतं वाक्यं व्यर्थं न भवति, आखेटकक्रियया सह-

१ रोरः। २ यथा।

सशो जीवान् व्यथयति, गीत-नृत्यादिमग्नश्च जगज्जीवान् तृणवद् गणयन् तिष्ठति; स मृत्वा नरकेपूत्पन्न एकाक्येव क्षेत्रवेदनां परमाधार्मिककृतवेदनां परस्परकृतवेदनां च सहते, तत्र कोऽपि तं न रक्षति। असङ्ख्यकालं यावत्र मृत्वा तिर्यक्षूत्पद्यते, तत्रापि अनेकजीवान् हत्वा पुनर्नरकेपूत्पद्यते। एवं क्रमतो भ्राम्यति। अथ परभवस्तु दूरे आस्ताम्, इहैव विचित्रकर्मविपाकोदयेन जीवोऽनेका अवस्था अनुभवति, चक्रिसदृशोऽपि रङ्कवद् रुलितः श्रूयते। यावज्जीवः कर्माधीनस्तावत् संसारे परिभ्रमति। यावत् सुश्रद्धया श्रीमज्जिनवाण्या च कर्मगतिकुशलो भूत्वा मोहनीयं कर्म न क्षपयति तावज्जीवस्य सुखं कुतः?। तत्र यत् सांसारिकं सुखं तत्तु चौरवधवेलामिष्टान्नतुल्यम्। यथाऽत्यन्तमरणभयस्य चौरस्य मिष्टान्नं प्रियं न लगति, एवम् आगमाद् विज्ञातपौद्गलिकसुखास्वादकटुफलनरक-निगोदादिरूपस्य सांसारिकं सुखं न प्रियं लगति, प्रत्युत वैराग्योदयो भवति। यतः—

"मधुरं रसमाप्य स्यन्दते, रसनायां रसलोभिनां जलम्।
परिभाव्य विपाकसाध्वसं, विरतानां तु ततो दृशि जलम्" ॥१॥

इत्येवं पुनः पुनर्वीरदेशनां श्रुत्वा द्विगुणभूतसंवेगः शालिभद्रः प्रभुं नत्वा, वेगतो निजधाम आगत्य, वाहनादुत्तीर्य, गृहस्योपरि गत्वा यत्र माताऽस्ति तत्रागत्य प्राह—'मातः! अद्याहं वीरवन्दनार्थं गतः। तत्रस्थेन मया धर्मदेशना श्रुता, सा देशना मह्यं रुचिता'। माता प्राह—'धन्योऽसि त्वं, कृतपुण्योऽसि पुत्र! त्वम्। भव्यं कृतं त्वया यत् त्वं श्रीमज्जगन्नाथवन्दनार्थं गतः'। तदा शालिभद्रः प्राह—'मातः! तां देशनां श्रुत्वाऽनादिभवभ्रान्तिर्गता, चतुर्गतिकसंसारसंसरणप्रवृत्तिः सहेतुका मया ज्ञाता, परमाऽनर्थदायिनो विषया मया स्पष्टतयाऽवगताः, जन्म-जरा-मरण-रोग-शोकादिभृतोऽयं संसारः सम्यग्रीत्योपलक्षितः; अतोऽधुनाऽत्र

संसारे गतिभावो मम नास्ति, आपातरम्याः कामभोगा अनन्तकालं यावद् दुःखहेतवोऽधुना मह्यं न रोचन्ते। अस्मिन् संसारे जरा–मरणादिदुःखकाले न कोऽपि शरणं ददाति। दुष्कर्मविपाकाऽनुभवसमये एकाक्येव रटन् जीवो यथोदयगतिं गच्छति, कोटिसङ्ख्यया न स्वजन–सेवकवर्गेषु सत्स्वपि एकाक्येव जीवो याति आगच्छति च; तत्र शुभाऽशुभकर्मप्रकृतिं विहाय नान्यः कोऽपि सह याति। यावद् जन्म–मरणादिभयं न गतं तावद् जीवस्य सुखं नास्ति। मधुलिप्तखड्गधारालेहनतुल्या अमी विषया मुखे मिष्टाः परिणामे दुष्टाः, ते च शूलि–दुर्जन–चौरा इवाऽवश्यं दुःखं ददत्येव। अतोऽहं चेत् तवाज्ञा भवेत् तदा जन्मादिसमस्तदुःखौघघातनपरमौषधं चारित्रं गृह्णीय। अनेन परमौषधेन अनन्ता मादृशा जीवाः परमानन्दपदं प्राप्ताः, अतो मम चारित्रग्रहणानुज्ञां देहि"। इति शालेर्वचांसि श्रुत्वा स्नेहग्रथिला माता मूर्च्छया भूमौ पतिता। ततो दासीभिर्वातादिशीतलोपचारैः सञ्जीकृता तदा वियोगदुःखाशया विदीर्यमाणहृदया आक्रन्दं कुर्वती वक्तुं लग्ना–'पुत्र! त्वया कर्णयोस्तप्तत्रपुप्रायं किमिदं जल्पितम्?। तव व्रतस्य का वार्ता?, व्रतं तु तवाऽशुभचिन्तकाः प्रातिवेश्मिका ग्रहीष्यन्ति, तव चारित्रं कीदृशम्?'। तदा शालिः प्राह–'मातः! मैवं वद, ये चारित्रग्राहकास्ते कस्यापि अशुभचिन्तका न भवन्ति। ते तु जगज्जीवानामुपरि मैत्रीभावं गताः सकलजीवानां हितकारका जगद्वन्द्यतां प्राप्ताः'। तदा माता प्राह–'वत्स! तव शरीरम् अतीवकोमलमस्ति, अनेन शरीरेण संयमनिर्वाहो न भवेत्। चारित्रं तु वज्रकठिनं, तव शरीरं तु उत्पलकोमलम्। येऽप्यतिदृढशरीरास्तैरपि भागवत्या दीक्षायाः पालनं दुष्करं तच्च त्वया कथं निर्वक्ष्यते?'। शालिः प्राह–'मत्तोऽतिकोमला भूमिपतय एकातपत्रं राज्यं विहाय, दुष्करं चारित्रं लात्वा श्रीवीरचरणकमलोपासनं कुर्वते'। माता प्राह–'वत्स! मया

१ हृदये।

तु तव शरीरदृढत्वं तदैव ज्ञातं यदा राजा गृहमागतः, त्वं सबहुमानमङ्के स्थापितः, ततो राज्ञा स्नेहेन तव पृष्ठे हस्तस्पर्शनं कृतं तदा तव शरीराद् गिरिनिर्झरणोद्गार इव प्रस्वेदधारा निर्गता, मया च विज्ञप्तिं कृत्वा मोचित आसीत्। ईदृशस्त्वं जिनदीक्षां ग्रहीतुमुत्सुकः कस्य न हास्यास्पदं भवेः ? । मर्कोटको हि गुडगोणीमुत्पाटयितुं समीहते, एतत् कथं सम्भाव्यते ?' । तदा शालिः प्राह–मातः ! द्वीन्द्रियादयो जीवा अतिकोमला अपि उद्यमेन वाञ्छितं काष्ठं शुषिरं कुर्वन्ति, तद्रसं च भुञ्जते । अतोऽत्र कठिन–कोमलयोः कार्य-साधना–ऽसाधने एकान्तेन नियतत्वं नास्ति, किन्तु तीव्रश्रद्धापूर्वकोद्यमेन सर्वं सिध्यति । किञ्च, भूमिपतयः परमसुखास्वादनिमग्नाः, सुखास्वादरसिकाः, छत्रच्छाययाऽऽच्छन्नशरीरा, अतिकोमले सिंहासने स्थिता, अग्रतो गायकगणैरातोद्यैश्च उत्पादितमधुररागमूर्च्छया मूर्च्छितहृदयास्तिष्ठन्ति; भूमौ पदमात्रं न स्पृशन्ति, गृहान्तः सञ्चरन्तो बहुभिः सेवकैः 'खमा खमा' इति शब्देन लाल्यमाना राज्य-सुखं भुञ्जते, ऋतुम् ऋतुं प्रति भिन्नं भिन्नं सुखं भुञ्जाना गतमपि कालं न जानन्ति, तेऽप्युत्पन्ने शत्रुभये सर्वसुखं विहाय, गुरुतर-लोहमयकवचं परिधाय, शिरसि वज्रकण्टकाकीर्णं लोहमयमुकुटं धारयित्वा, अतिवेगवदश्वारोहणं कृत्वा, खड्ग–खेटक–तोमर–धनु-र्बाणादिषट्त्रिंशदायुधैः सन्नह्य, सेनायां शूरताप्रकर्षाद् अग्रतो भूत्वा, ग्रीष्मार्काऽतिचण्डतापतप्तायां छाया–जलवर्जितायां रणभूमौ मरणभयं त्यक्त्वा, चक्रभ्रमण–वेगगमनादिविविधाऽश्ववाहनिकां कुर्वाणाः, वज्रकठिनहृदयाः, अनेकधनुर्बाणादिकलया शत्रून् घ्नन्तः, शत्रुकृतघातांश्च वञ्चयित्वा, शत्रून् निर्जित्य जयमाप्नुवन्ति । एवं संसारिणोऽपि मादृशाः पूर्वं मूर्खतया 'संसारे भोगा एव तत्त्वानि' इति मन्यमानाः, पूर्वकृतपुण्येन लब्धान् भोगान् भुञ्जानाः, परायत्तं स्वायत्तमामनन्ति स्म । ते च अस्थिरं स्थिरवत्, परकीयं स्वकी-

यवद्, आयतिदुःखदं सुखदवद्, औपचारिकं तथ्यवद् मन्यमाना वैद्धेहास्तस्मिन् लीना गतमपि कालं न जानन्ति स्म। ततः पश्चात् कस्यापि कुशलानुबन्धिपुण्यस्योदयात् सद्गुरूणां संयोगः संजातः। तदा दुःखैककारणान् कषायान् सुखप्रापकतया विजानतो, हेयपदार्थान् उपादेयतया मन्यमानान्, पूर्वसञ्चितपुण्यधनलुण्टाकान् विषयप्रमादान् 'अतिवल्लभ-परमहितेच्छव' इति विचारयतो विपरीतश्रद्धानान् सांसारिकजीवान् दृष्ट्वा तेषां निष्कारणपरमोपकारिणां जगदेकबन्धूनां सद्गुरूणां कृपार्द्रं चित्तं संजातम्। ततः 'अहो! एते वराकाः प्रमादैकसेवनतत्परा मा चातुर्गतिकसंसारे परिभ्रमन्तु' इति परमभावदयार्द्रचित्तैस्तैस्तेभ्य हितोपदेशो दत्तः-"भो भव्या! 'एते पञ्चापि प्रमादाः सुखैकहेतवः' इति यूयं जानीथ, परम् एषां सदृशा युष्माकं वैरिणो न सन्ति। एते पञ्चापि जगदेकवैरिणो मोहराजस्य भटाः। पुरा युष्माभिर्यद् यत् चतुर्गतिषु दुःखं प्राप्तं तद् मोहराजाज्ञयाऽमीषां प्रभावेण, अग्रेऽपि चेद् वस्तै[3]स्यैव समीहा तदा तु यथारुचि यच्चित्ते आयाति तत् क्रियताम्। चेत् सुखे समीहाऽस्ति तदाऽमुं चारित्रचिन्तामणिं गृह्णीत, यत्प्रभावात् अनादिशत्रुं सपरिकरं मोहराजं शीघ्रं निर्जित्य जन्म-जरा-मरण-रोग-शोकादिसमग्रदुःखै रहितं परमानन्दपदं साद्यनन्तस्थित्या प्राप्यते; अपुनरावृत्त्या च अकृत्रिमं निरुपाधिकम् अप्रयासं शाश्वतम् अनन्तसुखमनुभूयते'। अतो मातः! अहमपि परमोपकारिगिरवचनाद् ज्ञानहार्दो तथा करिष्ये"। माता प्राह-'वत्स! चारित्रमतिदुष्करम्, वनगहन-गिरिगह्वरादिषु निवसनं, तत्र तव कः सारं करिष्यति?। गृहे तु प्रतिक्षणं सावधानाः सेवकादयो यथानुकूलं कुर्वन्ति, चारित्रे तु न कोऽप्यस्ति, प्रत्युत संयम-श्रुत-तपो-वयोवृद्धादीनां सेवाकरणमापतति'। शालिः प्राह-'मातः! वने मृगादिसुकोमलपशूनां कः सारं करोति?, ततोऽप्यहं तु पुण्य-

१ मदत्यल्पसाः। २ युष्माकम्। ३ चातुर्गतिकदुःखस्यैव। ४ इच्छा।

वानसि, यतः परमकरुणाभृदाचार्यो-पाध्याय-स्थविर-गणावच्छेदक-रत्नाधिकादीनां साहाय्येन मम किं दुःखम् ? । अतः शतवार्तानामेकां वार्तां वच्मि-मयाऽवश्यं चारित्रं तु ग्राह्यमेव, नाऽत्र सन्देहः कश्चित्' । एतच्छ्रुत्वा मात्रा ज्ञातम्-'अनेन वचनेनाऽयं निश्चयेन गृहं त्यक्ष्यति, अतोऽत्र कालविलम्बोऽनुसर्तव्यः' । इति ध्यात्वा शालिं प्रत्याह-'वत्स ! यदि तव चारित्रमवश्यं ग्रहीतव्यमस्ति तदा त्वं साहसं मा कुरु, दश दिवसान् प्रतीक्षस्व । किञ्चित् किञ्चित् त्यागं कुरुष्व यथा स्वशक्तिपरीक्षा भवेत । पश्चात् धर्मे सत्वो मनः कुरु, यथाऽखण्डो निर्वहेत्' । इति मातृवचः श्रुत्वा शालिभद्रश्चिन्तयति-"स्नेहग्रथिला माता सहसाऽऽज्ञां नार्पयति, मातुश्चाऽनुज्ञां विना न कोऽपि चारित्रं ददाति । अतो यद् माता वदति-'दश दिवसान् चारित्रतुलनां कुरु' इति मातृवचनानाङ्गीकरणे माताऽपि प्रसत्तिपात्रं भविष्यति । मया तु यन्मनसि निर्धारितं तत्र चलत्येव, अतो मातृवचनानुकरणं युक्तमेव, चिन्तितम् अवसरे करिष्याम्येव" । इति विचिन्त्य मातरं नत्वा सौधोपरि वासगृहं प्रति चलितः । माताऽपि मुदिता जाता यद्-'अमुना सुपुत्रेण मद्वचनमङ्गीकृतं, न तु लोपितम्' ।

अथ जिनवाण्या परिकर्मितमतिना शालिना संसारस्वरूपचिन्तनपरेण शेषोऽहोरात्रो निर्वाहितः । द्वितीयदिनप्रभाते संजाते प्रथमस्त्रियं प्रत्याज्ञा दत्ता-'त्वम् अतः परम् अधोभूम्यां स्थितिं कुरुष्व, विनाऽऽज्ञामत्र नागन्तव्यम्' । इति श्रुत्वा 'कुलजानां पतिवचनं नोल्लङ्घनीयम्' इति हेतोः सा सविषादम् अधोभूम्यां गत्वा स्थिता । चिन्तयति च-'हा ! मम स्वामिना किं कृतम् ? । निरागा अहं केन हेतुना त्यक्ता ? । किं मां प्रथमं त्यक्तुं प्रथमं पाणिग्रहणं कृतम् ? । लज्जा-विनयायुताऽहं न किमपि प्रश्नयितुं शक्ता, किम-

१ सत्त्वो मनः कृत्वा स्वरागीकृतं करोतु । २ निरपराधा ।

भुना भविष्यति ?, दिन-रात्रिनिर्वाहः कथं भविष्यति ?। सर्वतोऽग्रगाऽहं भर्त्रा क्षणेन गणनाबहिष्कृता, अतोऽनुमानेन ज्ञायते—क्रमेण सर्वासामपि इयमेव गतिर्भाविनी। चेत् कदापि अन्यासां त्यजनं न भविष्यति तदा तु ममैव दुष्कर्मोदयः, अहमेव सर्वासां दुर्भाग्याणामग्रेसरी'। इत्येवं विकल्पकल्पनाकल्लोलकष्टपतितया मुखनिःश्वासमलिनदर्पणेनेव विच्छायवदनया महता कष्टेन दिनरात्रिनिर्वाहः कृतः। तृतीयदिने प्रभाते पुनर्द्वितीयस्या आज्ञा दत्ता—'त्वमपि अद्यदिनात् त्यक्ता, अतो वृद्धायाः समीपं गत्वा स्थितिं कुरुष्व'। ततः साऽपि विच्छायवदना सती तस्याः समीपं गता। साऽपि तामागच्छन्तीं दृष्ट्वा, ईषद्विहस्य, उत्थाय, सम्मुखं गत्वा, हस्ततालिं दत्त्वा वक्तुं लग्ना—"सखि ! आगम्यताम् आगम्यताम् !, त्वमपि मद्गतिं प्राप्ता दृश्यसे। माऽतिचिन्तां कुरु, सर्वासामपि इयमेव गतिर्भाविनी दृश्यते, तदावयोश्चिन्ता निरर्थका, 'न दुःखं पञ्चभिः' इति श्रुतेः"। ततस्तृतीयाऽपि ध्यातुं लग्ना—कल्ये मदीयाप्येवमेव गतिः'। ततः सा यथा यथा दिनकर ऊर्ध्वं चटति तथा तथा चिन्ताशोकसङ्कुलचित्ता न रतिं लभते। अथ चतुर्थे दिने साऽप्याज्ञां दत्त्वा विसर्जिता। एतद्वार्तां भद्रया ज्ञात्वा, शालेरन्तिकमागत्य, विविधस्नेहगर्भिताभिर्वाचोयुक्तिभिः परमदीनवचनैश्च प्रार्थ्यमानोऽपि व्रताशयाद् न व्यरंसीत्। एवमन्वहम् एकैकां स्मरस्य नगरीमिव त्यजति, मोहनीयोत्पत्तिकारणं न ज्ञात्वा तत्स्पर्शमात्रमपि रागं न दधाति।

इतश्च शालिभद्रस्वसा सुभद्रा स्वभर्तुर्धन्यस्य मूर्द्धानं सुगन्धिजलेन प्रक्षाल्य, ततोऽतिसुगन्धितैलादिप्रक्षेपपूर्वकं कङ्कतिकया वेणीं ग्रथ्नाति, अन्या अपि यथास्थानं स्थिताः सन्ति; तदा तस्याः सुभद्राया दृग्भ्यां भ्रातृवियोगदुःखस्मरणात् चित्तस्वस्थताशून्याः

अश्रुपाताः।

कवोष्णा अश्रुबिन्दवो धन्यस्य स्कन्धद्वये पेतुः। तदा धन्येन कवोष्णाऽश्रुबिन्दुस्पर्शनाद् ऊर्ध्वतिर्यग्दृग्भ्यां प्रियामुखं निभाल्योक्तम्—'प्रिये! किमिदमश्रुपातकारणम्?। केन तवाऽऽज्ञाखण्डनं कृतम्?, अथवा केन तव मर्मवचनमुद्घाटितम्?, वा केन नीचामन्त्रणं जल्पितम्?। पूर्वकृतपुण्यप्रभावजन्ये सकलसुखसम्भृते मदीयभवने तवैव दुःखस्योदयः कथं प्रादुरभूत्, यत् तव अकाण्डे एव उत्पातजलदाऽम्बुकणा इव बाष्पविप्रुषः पेतुः?'। तदा सा सगद्गदं प्राह—'स्वामिन्! भवदीयभवने मम दुःखलेशोऽपि नास्ति, किन्तु मदीयः सोदरः शालिकुमारो राज्ञो गृहागमनदिवसाद् उदासीनो जातः। वीरवचनश्रवणात्तु परमवैराग्यवासितान्तःकरणो व्रतं जिघृक्षुः प्रत्यहमेकैकप्रियां त्यजति। मासमात्रेण स सर्वास्त्यक्ष्यति, व्रतं च ग्रहीष्यति, तदा च मम पितृगृहं भ्रातृशून्यम् अरण्यमिवोद्वेगकारणं भविष्यति। भ्रातरि गते प्रतिवर्षं रक्षाबन्धनं कस्य करिष्यामि?, को मम प्रसूतिं पूरयिष्यति?, को मां पर्वणि शुभेऽह्नि चामन्त्रणं करिष्यति?, केन शुभहेतुना सोत्साहा पितृगृहे गमिष्यामि?, कदापि पितृगृहगताया मम प्रत्युत दुःखपूरितहृदयेनाऽऽगमनं भविष्यति। स्त्रीणां हि पितृगृहसुखवार्ताश्रवणात् हृदयम् अमृतपूरितमिव शीतलं प्रसत्तिभाजनं भवति। श्वशुरगृहोदासीनाः स्त्रियः पितृगृहे गत्वा सुखमासादयन्ति, परं निष्पितृका निर्भ्रातृकाश्च कस्य गृहे गच्छेयुः?। अतो भ्रातृवियोगश्रवणाद् मम दृग्भ्यामश्रुपातः संजातः, नान्यत् किमपि दुःखमस्ति'। इति सुभद्राया वचांसि श्रुत्वा ईषद्विहस्य साहसाऽब्धिर्धन्यः स्माऽऽह—"प्रिये! यत्त्वया पितृगृहशून्यतादुःखमुक्तं तत्तु सत्यम्। स्त्रीणां हि पितृगृहसुखोदयवार्तां श्रुत्वा हृदयं प्रोल्लसति, स्त्रियो नित्यं पितृगृहशुभचिन्तनं कुर्वन्ति, प्रत्यहम् आशीर्ददति, एतत्तु युक्तमेव। परं त्वया यदुक्तं 'प्रत्यहमेकैकां त्यजति'; तेन कृत्वा तु मया तवाऽग्रजो महान् कातरो ज्ञातः। प्रिये! कातरो हि धीरपुरुषकृतवार्ताश्रवणात् प्रोल्लसति, धीराचरितं कर्तुं समीहते, आदरणाय सज्जो भवति, परन्तु

पश्चाद् अल्पसत्त्वाद् मन्दो भवति। नो चेत्, श्रीमद्वीरवचनाऽमृतसेचनात् प्रोद्भूतव्रतजिघृक्षुपरिणामाङ्कुरः स कथं मन्दो भवेत् ?। धीराणां तु यत्कर्तव्यं निर्धारितं तत् कर्तव्यमेव, प्राणान्तेऽपि नोज्झन्ति। प्रिये! नृणां प्राणा हि प्रथममदीर्घसूत्रिणः, परन्तु पश्चाद् निःसत्त्वानां प्राणा विलम्बकरणेन कार्यसिद्धिं न कुर्वन्ति; तेभ्यो हि तात्त्विकानां सात्त्विकानां प्राणा निर्विलम्बेन कार्यं साधयन्तो निःसरिष्यन्ते—त्वरितं यथा भवति तथा कुर्वन्ति, न विलम्बयन्ति"। इति स्वपतेर्धनस्य गर्वाध्माता गिरः श्रुत्वा सर्वा अपि शालिवैराग्यनिर्मिता दयिताः स्माऽऽहुः—"हे प्राणेश! सत्त्वाधिकैः स्वपाणिभिः सागरः सुतरः, परम् उम्भितसद्ध्यानैः[1] पुम्भिरपीदं जिनाज्ञानुरूपं तपः पालयितुं दुष्करम्, यतः सर्वाक्षरसन्निपातिनः सर्वज्ञकल्पाश्चतुर्दशपूर्वधारिणोऽपि पतिताः श्रूयन्ते, तदाऽन्येषां का वार्ता ?। इह जगति दुःखिताः सांसारिका आजीविकादिदुःखसन्तप्ताः 'मोक्षसुखैककारणं तपः—संयमौ एव' इत्येवं कथञ्चिद् जानाना अपि कियन्तश्चारित्रं गृह्णन्ति ? परम् अयं तु नरजन्मनि दैवतभोगविलासी, यानि च रत्नखचितस्वर्णाभरणादीनि चक्रवर्तिगृहे त्रैलोक्याऽधिपतिश्रीमदर्हतां गृहेऽपि च उपितपुष्पस्रगादिवद् निर्माल्यतां न जातानि तानि अस्य गृहे नित्यं निर्माल्यतयाऽवगणय्य प्रोज्झ्यन्ते, पुनस्तेषां न कोऽपि शुद्धिं लाति; तानि सुवर्ण—रत्न—देवदूष्याणि च श्लेष्मादिवद् जुगुप्सनीयतया गण्यन्ते। उद्यमवतां जगति परिभ्रमणं कुर्वतां रत्नवणिजां दृष्टिपथे यद् एकमपि रत्नं नागतं तादृशरत्नानां समूहोऽस्य पादाग्रे लोठति, तादृशै रत्नैरस्य गृहस्य भूमितलं निबद्धम्। यस्य तिरस्कृतमेनका—रम्भा—तिलोत्तमारूपसौन्दर्या द्वात्रिंशद् रमण्यः, या हि कृमिरागवत्परिरागरक्ताः, पतिमनानुकूल्येनैव प्रवर्तिकाः, चतुःषष्टिमहिलाकलाढ्याः, प्रतिक्षणं पतिचरणोपासनाशीलाः, यासां हाव—भावविलासैर्देवा अपि

१ पूरितशोभनध्यानैः।

क्लिश्नन्ति, यासामङ्गेषु दोषलेशोऽपि न, सारेण शक्तिसर्वस्वं विभज्य प्रत्यक्षा द्वात्रिंशद् मूर्त्तयो निर्मिताः किमु ?, ईदृशीनां स्त्रीणां मध्यात् प्रत्यहमेकैकां त्यजति । दृश्यतां भवादृशानां निपुणानां ज्ञानम्, तस्याहो कातरत्वेनादिशन्ति भवादृशा अपि निपुणाः ? परं भवन्तः किं कुर्युः ?, अनादिमोहावृतजीवानाम् इयमेव प्रकृतिर्यद् अनाहूता अपि बलाद् विमुह्य परस्यानेकान् गुणान् विमुच्य असन्तमपि दोषमुद्भाव्य वावदूका भवन्ति। इह जगति गृहशूराः क्लीबा जीवाः सहस्रशः स्युः । यतः—

"परोपदेशकुशला दृश्यन्ते बहवो जनाः । स्वयं करणकाले तैश्छलं कृत्वा प्रणश्यते" ॥१॥

परं वीरसंहरणे रणे सम्मुखीभावेन दृढहृदयाः कर्तव्यैकसाध्यास्ते स्वल्पा एव । लौकिकव्यवहारेष्वपि दुष्करकार्यवार्ताकथनवेलायां बहवो दृश्यन्ते, परं तत्करणाऽवसरे एकः कोऽपि न तिष्ठति । तथाऽत्रापि दीक्षाशिक्षादानाय को मानवो न प्रगल्भेत ?, परं हे स्वामिन् ! वह्निपानमिव दीक्षाऽऽदानं तु दुष्करमेवाऽस्ति । शालेर्मात्रा शालिरेवैको जनितोऽस्ति य ईदृग्दुष्करव्रतग्रहणोद्यतो जातः । यदि चेत् तद्व्रतं भवतां हृदि सुकरं प्रतिभाति तदा भोगान् रोगानिव त्यक्त्वा स्वयं तत् किं न सेव्यते ?" ।

इति प्रेयसीनां श्रेयसीर्गिरो निशम्य धन्यः सोत्साहं जगौ–धन्या यूयम्, याभिः स्वोत्तमकुलप्रसूतत्वम् ईदृगवसरोचितशुभवाक्यान्युक्त्वा प्रकटितम् । कुलवतीर्विना का अन्या वक्तुं प्रभवेयुः ? । अहमपि धन्यः, अद्य मे नाम यथार्थं संजातम् । सम्प्रति मे भाग्यान्यजागरुः[1] । अहं शालितोऽपि भाग्याधिकः, यतोऽन्तरायकृत्प्रेयसीवृन्दमपि ईदृक्छिक्षावचोद्धारेण साहाय्यकृत् संजातम् । अहं भवतीनां शुभां गिरमुपश्रुतिमिवादाय व्रतं प्रपद्ये, अतो भोः कान्ताः ! यूयमपि शान्ताशया भवत' । सर्वासां पत्नीनामित्युदीर्य, यो-

१ भाग्यानि मेऽद्य जागर्तीति यतो ।

नवमः
पल्लवः
सुभद्राया
उपालम्भं
निशम्य
धन्यस्य
दीक्षाग्रह-
णेच्छा

गीश्वराणामपि आश्चर्यं यच्छन् असौ सुधीर्धन्यः पत्नीरपि व्रताऽऽदानसावधाना व्यधात्।

अथ धन्यस्य श्रीविस्तराऽनुक्रमो यथा—ऋद्धि—समृद्धिभृतानां ग्रामाणां पञ्चदशशतानि। रथानां पञ्चशतानि। अश्वानां पञ्चशतानि। गृहाणां धवलमन्दिराणां पञ्चशतानि। हट्टानां पञ्चशतानि। सद्बुद्ध्या क्रय—विक्रयादिसमस्तव्यापारक्रियाकरणकुशलानां वणिक्पुत्राणां पञ्चसहस्राणि। समुद्रव्यापारकरणाधिकरणपोतानां पञ्चशतानि। अत्यद्भुतराजमन्दिरविजेतॄणि देवभवनभ्रमदायकानि सप्तभूमगृहाण्यष्टौ। प्रेयस्योऽष्टौ। प्रत्येकप्रेयसीनिश्रया एकैकं गोकुलमिति गोकुलान्यष्टौ। तथा निधिषु व्यापारक्रियासु वृद्धिषु वस्त्रा—ऽऽभरण—भाजनादिसमस्तगृहगताऽधिकरणेषु च प्रत्येकं षट्पञ्चाशत् षट्पञ्चाशत् स्वर्णकोटयः प्रतिष्ठिताः। अष्टानां पत्नीनां प्रत्येकं स्वस्वनिश्रया एकैककोटिः सुवर्णम्, एवं पत्नीसत्का अष्टौ हाटककोटयः। तथा धान्यानां कोष्ठागाराणि शतसहस्रशः, तेषां च अनेकेषु ग्रामेषु दीन—हीन—दुःखितजनोद्धरणाय सत्रागाराणि प्रवर्तन्ते। तथा मनश्चिन्तितानां भोगसम्भोगादीनामिन्द्रियसुखानां यशःकीर्त्यादीनां चैहिकसर्वकामितसुखानां दातृस्वभावश्चिन्तामणिर्मणिर्विद्यते। एवमन्यान्यपि अनर्घ्याणि विविधगुण—स्वभावानि रत्नौषधिप्रमुखाणि वस्तूनि कोटिशः सन्ति। तथाऽनेकदेशान्तरागतानि राजादीनामपि दुर्लभतराणि मणि—रसायनादीनि गणनारहितानि सन्ति। प्रतिदिनं प्रतिमासं प्रत्यब्दं सार्थवाह—महेभ्य—सामन्त—नरेन्द्रादयः प्रीत्या स्वदेश—परदेशतः संगृह्य यानि गवेषणयाऽपि न प्राप्यन्ते तानि वस्तूनि सहर्षं धन्याय प्रयच्छन्ति। तथा स्वजन—मित्रादिसम्पदोऽपि तादृशीरेव सन्ति। अत्युत्कृष्टपुण्योदयलक्षणं चैतत्।

एतादृशं सर्वर्द्धिविस्तरं सत्त्वाधिको धन्यस्तृणवद् अवगणय्य व्रतग्रहणायोद्यतो जातः, यतः सत्त्वाधिका हि उत्तमार्थसाधनाय

न चिरयन्ति। ततो रत्नत्रयार्थसाधने विघ्नध्वंसनार्थं सर्वतीर्थेषु अष्टाह्निकमहं प्रावर्तयत्। प्रभूतं धनं सप्तक्षेत्रेषूप्तम्। कियद्धनं दीन-हीनोद्धरणपुण्यकर्मणि। कियद्धनं स्वजनादिषु उदारभावेन दत्तम्। कियद्धनं नित्यसेवाकारिणाम् आजीवितजीवनार्हं दत्तम्, यथा कस्यापि सेवाकरणं न भवेत्। कियद्धनम् अखण्डयशःस्थापनार्थं शासनोन्नत्यर्थं दत्तम्; कियच्च याचकेभ्यो दत्तम्। कियद्धनम् उचितज्ञातीयवर्गपोषणार्थं व्ययितम्। कियद्धनं राजोपायनादिषु अवसरोचितव्ययप्रवृत्तिदर्शनार्थं प्रमादिजनजागृतिकरणार्थं च व्ययितम्। एवं बहु धनं धर्म–कर्म–पुण्यकर्मो–चितकर्म–यशःकर्मसु व्ययितम्, तथाप्युद्धरितम्; तच्च यथायोग्यं विच्छर्द्य धन्यो निश्चिन्तो बभूव।

अथ सुभद्रयाऽपि स्वाशयो मातुरग्रे ज्ञापितः। तदा मात्रोक्तम्–'पुत्रि! अधुनैव तु पुत्रवियोगवार्तया ज्वलितान्तःकरणाऽस्मि, पुनस्त्वमपि व्रतग्रहणायोद्यता जाता?, एतद्दुःखं क्षते क्षारतुल्यं किं ददासि?। युवयोर्गतयोर्मम किमालम्बनम्?, कः सहायकः?, क आधारः?; सहसा तवाऽपि किं जातम्?'। पुत्र्या निवेदितम्–'मातः! अस्माभिरष्टाभिर्भगिनीभिर्निर्धारितम्–संयमोऽवश्यं ग्रहीतव्यः, एतज्जगत्स्थितिविनिमयेऽपि इमां प्रतिज्ञां नैव मुञ्चामः। योऽस्मान् संयमग्रहणाद् वारयेत् सोऽस्माकं शत्रुरेव ज्ञेयः। कदाप्यसत्स्वामी विलम्बयेत् तथापि वयं न चिरयामः। संयमैकतानो भ्राताऽपि न वारणीयः'। इत्युक्त्वा स्वगृहमागता। भद्रा तु स्नेहग्रथिला यत्र धन्यस्तत्रागत्य प्राह–'भो भद्र! पुत्रस्तु दुःखदानाय सज्जो भवति तावता त्वमप्यग्रतो दग्धायां परिस्फोटकतुल्यो गृहं त्यक्तुं प्रगुणो जातः, परं मदीया चिन्ता न केनापि कृता किं करिष्यतीयं वृद्धा?, कस्याश्रये स्थास्यति?, निर्दोषा निरपराधा इमा द्वात्रिंशत्सुकुलप्रसूता नारीः कः परिपालयिष्यति?'। इति सगद्गदं श्वश्रूवचः श्रुत्वा धन्यः प्राह–"अस्मिन् जगति कः कं परिपाल-

यति ?; सर्वान् स्वकृतं पुण्यं परिपालयति, अन्येषां परिपालनं तु औपचारिकम् । सर्वे संसारिणो हि स्वार्थेन खिद्यन्ति, परं परमार्थाऽपेक्षक एकः साधुरेव, तं विना न कोऽप्यस्ति। यच्च भवती स्वार्थपूरणाय पुत्रस्य व्रतग्रहणे अन्तरायं कर्तुमना अस्ति, परं 'मे पुत्रोऽविरतिनिबन्धेन विषयान् आसेव्य चतुर्गतिभ्रमणं करिष्यति, नरकादिषु चाऽतीवदारुणविपाकान् सहमानः क्लेक्षिष्यते' इति चिन्ता तु न कृता ?। माता-पुत्रयोः सम्बन्धस्तु एकभविकः, तद्विपाकास्तु अनेकभवेषु असङ्ख्यकालं यावत् व्यथयन्ति। अस्मिन् संसारे एतावन्तं कालं परस्परं सर्वे सम्बन्धा विनिमयेनाऽनन्तशो जाताः, बहुशो विषया उपभुक्ताः, तांश्च दृष्ट्वा स च त्वं च परमहर्षं प्राप्तौ; परं तद्विपाकावसरे त्वमेनं समुद्धर्तुं न शक्ताऽभवः, अयं च त्वां समुद्धर्तुं न शक्तोऽभवत्। अस्मिन् जगति अतिवल्लभपुत्रोऽप्ययं त्वया स्वकर्मेनाऽनन्तशो मारितः, अनेन च त्वमपि; अतः किं स्नेहेन खिद्यसे ?। एतादृशो दुःखदायकः स्नेहसम्बन्धस्तु अनन्तशो जातः, परम् ईदृशो जिनचरणाऽरविन्दसनाथचारित्रग्रहणनिमित्तं तवादेशमार्गणसंयोगस्तु न कदापि संजातः; स चाऽधुना युवयोर्भाग्येन संयोगो मिलितः, तं किं न सफलयसि ?। एवं च कथं न विचिन्तयसि यत्-'मया जातः पुत्रोऽर्हत्पर्षदि सुरा-ऽसुर-नरेन्द्रगणेषु पश्यत्सु पञ्चयामिकं चारित्रं गृह्णाति। नाऽहं द्रम्मकवत् सम्मुखागतं राज्यं त्यजामि, परं मम पुत्रः परमाऽभयदातृश्रीवीरस्य स्वहस्तदीक्षितः शिष्यो भवति'। अस्य का भीतिः ?, संसारसागरं हेलया तरिष्यति, अत्र किम् अशुभं भवति यत्त्वं दुःखार्ता खिद्यसे ?। श्रीमज्जिनधर्मविज्ञा भूत्वा ईदृग् अशुद्धवचनं तव मुखात् कथं निर्गच्छति ?। विवाहादिमहास्तु अनन्तशः कृतास्तथापि तेषां तृप्तिर्न प्राप्ता, परम् अस्मिन् भवे युवयोः परमसुखैकहेतुं चारित्रोत्सवं किं न करोषि ?। संसारे हि ये सम्बन्धा धर्माराधने साहाय्यकृतो

१ 'स्वस्वानीअनयेन' इति प्रत्य० ।

जातास्ते तु सफलाः, अन्ये तु विडम्बनारूपा ज्ञेयाः। अतो गृहं गत्वा चित्तप्रसत्त्या पुत्रस्य मनोरथपूरणं कुरु, यथा तवापि प्रतनुः संसारो भवेत्। मया तु चारित्रग्रहणं निर्धारितं, तद् जगत्स्थितिविनिमयेऽपि नान्यथा कर्तुं समीहे। संसारपाशपातनप्रगुणानि तव खेदगर्भितदीनवचनानि श्रुत्वा नाऽहं चलितो भवामि। संसारसुखार्थैकनिष्ठो हि विविधरचनया विलपति, परम् ईदृशो नाऽहं मूर्खो यद् भर्तृत्वस्थापनायोद्यतकल्पवृक्षं छिनद्मि। ते दिवसास्तु गता यद् युष्मादृशां स्नेहवचसा परमानन्दमेदुरोऽभवम्। अधुना तु श्रीवीर-चरणौ एव शरणं, नान्ये केऽपि स्वप्नेऽपि विकल्पाः। अतो याहि शीघ्रं गृहे, पुत्रस्य संयमग्रहणे विघ्नकृद् मा भव"। इति धन्यस्य निश्चलचित्तसूचकानि वचनानि श्रुत्वा निराशभावमापन्ना सुभद्रा गृहमागता।

ततो धन्यो हर्षभरभारितहृदयो महताऽऽडम्बरेण व्रतग्रहणाय प्रतस्थे। तदा यथा पुण्यं श्रियः, सूर्यं रुचः, सत्त्वं च सिद्धयोऽनुगच्छन्ति तथा धन्यं सर्वा अपि पतिव्रताः प्रियाः स्वस्वविभूत्या सुखासनस्थिता अनुजग्मुः। अथैतां वार्ताम् आकस्मिकीं श्रुत्वा स्मेरविस्मयमानसैरभयादिभिः शिरोधूननपूर्वकं धन्यः श्लाघितः। उक्तं च श्रेणिकं प्रति अभयेन अन्यैश्च श्रीमद्भिरपि—'स श्रीमान् कृतव्रतोद्यमो न निवार्यः, अनेन च दीक्षासाहाय्यमपि भवता कृतं भवति'। तदा श्रेणिकेन पुत्रीसुखार्थं पृष्टम्—'सोमश्रीप्रमुखाणां मद्यानां का गतिः?'। तदाऽभयेनोक्तम्—'स्वामिन्! ताः सर्वा अपि धन्यमनुगमिष्यन्ति'। तच्छ्रुत्वा श्रेणिकः सविस्मयं प्राह—'धन्योऽयं सम्बन्धः, सफलोऽमूषां सम्बन्धः, यदेव महिलावृन्दं मोक्षाऽध्वनि विघ्नकारणं तदेव साहाय्यकृत् संजातमिति महाश्चर्यम्'। अथ धन्यो महत्या विभूत्याऽस्खलितं दीनादिभ्यो दानं ददत्, सिंह इव सोत्साहः, वशीकृतेन्द्रियग्रामः प्रियान्वितो निष्क्रान्तः।

१ अनिवार्यः।

मार्गे गच्छन्ति पौराः तस्या दुष्करकरणं दृष्ट्वा विस्मयस्मेरमानसा एवं स्तोतुं लग्ना–"अहो! अस्य वैराग्यरङ्गः, अहो! अस्य निस्सङ्गरङ्गिता, अहो! अस्य धैर्यम्, अहो! अस्य तत्त्वदृष्टिः, अहो! अस्यौदासीन्यम्, अहो! अस्य संसारात् सहसा पराङ्मुखत्वम्, अहो! अस्य संयमे प्रोत्साहप्रागल्भ्यम्, अहो! अस्य गुरुलोकोपमर्दविस्तरे निरभिलाषत्वम्, अहो! अस्य प्रज्ञाकुशलत्वं निरुपमम्, धन्यमस्य जन्म, धन्यमस्य धन्येति सान्वर्थं नाम, धन्याऽस्य युवावस्थायां व्रतादानशक्तिः, धन्योऽमूषां पति-पत्नीनां संयोगः, धन्योऽस्य निर्विघ्नकृद् धर्मोदयः, धन्यमस्य कुशलानुबन्धिपुण्यप्रागल्भ्यम्, धन्यमस्य लोकोत्तरं गतोपमानं भाग्यं यद् जगन्नाथश्रीमहावीरस्वामिना दीक्षां ग्रहीष्यति, धन्यमस्य जीवितम्, धन्योऽद्याऽस्माकं दिवसो जन्म च यद्धर्ममूर्तेर्धन्यस्य दर्शनं संजातम्। ईदृशानां नामग्रहणेनाऽपि पापं विफलतां याति"। इत्येवं स्तुवन्तः पौराः सहस्रशो नमस्कुर्वन्ति। इति पौरैः कृतं प्रशंसनं शृण्वानो धन्यो गुरुधन्यस्वगृहं प्राप्तः। अथ पौराणां गृहमनुजानां च मुखतस्तच्छ्रुत्वा लीलाशालिः शालिः संवेगाद् व्रते औत्सुक्यायत। ततो मातुः समीपमागत्य युक्त्या प्रार्थ्यमाना जननी प्रत्युत्तरं दातुमशक्ता कृता। पूर्वं हि धन्येन वचोयुक्त्या सा तु शिथिलीकृताऽस्ति, पुनः शालिभद्रस्य ग्रहणाभिप्रायं निश्चलं ज्ञात्वा प्राह–'वत्स! यः स्वाशयपूरणे गृहीतहठ एकान्तेन च गृहपराङ्मुखस्तस्याहं किं वदामि?, यद् रोचते तत् कुरु। तव स्वच्छानुकूलस्य नैकागते ज्ञाने मम किं बलम्?। गुरवोऽभिलषिताशयः पूर्यताम्'। इति प्रबुद्धाया मातुरनुज्ञां गृहीत्वा, स्वात् प्रव्रज्याविचारं, निजमिथिलाऽनवद् गेहभोगांश्च विमुच्य व्रतग्रहणोद्यमे सज्जो जातः। ततः श्रीश्रेणिकनरेन्द्रेण गोभद्रेन च कृताऽपूर्वनिष्क्रमणोत्सवः शालिरपि जिनान्तिकमवाप। अथ तौ द्वावपि समवसरणमवाप्य अभिगमपूर्वकं श्रीमज्जिनेश्वरं नत्वा

मायावत्तियं धम्ममाइक्खियं" । एवं सिद्धान्तप्रसिद्धया विज्ञप्त्या विज्ञप्तिः कृता । तदा श्रीमद्वीरेणोक्तम्—'यथाऽऽत्महितं भवेत् तथा
कर्तव्यं, प्रतिबन्धो न कस्यापि कर्तव्यः' । इति जिनाज्ञामवाप्य द्वावपि ईशानकोणेऽशोकवृक्षस्याधो जग्मतुः । तत्र गत्वा च स्वय-
मेवाभरणानि उत्तारयतः, तानि च कुलवृद्धे स्त्रियौ धवलवस्त्रयोर्गृह्णीतः, वदतश्च—'वत्सौ ! युवाम् उत्तमकुलप्रसूतौ स्थः । इदं च व्रत-
पालनम् अतिदुष्करम्, गङ्गाप्रवाहे सम्मुखं गन्तव्यम्, असिधारोपरि चङ्क्रमितव्यम्, लोहमया यवाश्चर्वितव्याः, कुन्ताग्रेणाऽक्षिक-
ण्डूयनं करणीयमस्ति; अतो हे जातौ ! अस्मिन्नर्थे न प्रमादो विधेयः' । इति वदन्त्यौ अश्रूणि मुञ्चन्त्यौ एकान्तमपक्रामतः । ततस्तौ
द्वावपि निजनिजमस्तके पञ्चमुष्टिलोचं स्वयं कुरुतः, तदा श्रीश्रेणिकाभयादिना वेषो दत्तः । तं वेषं परिधाय तौ श्रीवीरान्तिकमागतौ,
तदा श्रीमहावीरेणेमौ द्वावपि दीक्षितौ । तथा सुभद्रादीनामष्टानां दीक्षां दत्त्वा आर्यमहत्तरिकान्तिके मुक्ताः, तत्र च ग्रहणा—ऽऽसेव-
नादिकं शिक्षितुं लग्नाः ।

अथ तौ पञ्चापि महाव्रतानि शिक्षापूर्वकं लात्वा देवेन्द्र—नरेन्द्रश्लाघितौ महामुनी जातौ । श्रीमद्वीरेण सुविहितस्थविराणा-
मन्तिके स्थापितौ । ततः श्रेणिका—ऽभयादिपर्षद् जिनं नत्वा सर्वान् साधून् वन्दित्वा द्वयोर्मुन्योः श्लाघां कुर्वती गता । अथ तौ स्थवि
राणामन्तिके ग्रहणशिक्षाम् आसेवनशिक्षां चाऽप्रमत्तभावेन शिक्षमाणौ स्थविरैः सह चिरं मह्यां विजह्रतुः । ज्ञपरिज्ञया सम्पूर्णैकाद-
शाङ्गीसूत्रार्थाऽध्ययनैकपरायणौ गीतार्थौ जातौ, प्रत्याख्यानपरिज्ञया च तीव्राणि तपांसि तप्यमानौ अचिरेण मुनिपुङ्गवौ जातौ ।
अप्रमत्तभावेन इच्छारोधनपूर्वकम् एक—द्वि—त्रि—चतुर्मासक्षपणादीनि विविधानि तपांसि कुर्वाणौ इमौ मुनी द्वादशाब्दं यावत्
स्थविरैः सह विविधदेशेषु विहृत्य श्रीवीरान्तिकं प्राप्तौ ।

मागावत्तियं धम्ममाइक्खियं"। एवं सिद्धान्तप्रसिद्धया विज्ञप्त्या विज्ञप्तिः कृता। तदा श्रीमद्वीरेणोक्तम्–'यथाऽऽत्महितं भवेत् तथा कर्तव्यं, प्रतिबन्धो न कस्यापि कर्तव्यः'। इति जिनाज्ञामवाप्य द्वावपि ईशानकोणेऽशोकवृक्षस्याधो जग्मतुः। तत्र गत्वा च स्वयमेवाभरणानि उत्तारयतः, तानि च कुलवृद्धे स्त्रियौ धवलवस्त्रयोर्गृह्णीतः, वदतश्च–'वत्सौ! युवाम् उत्तमकुलप्रसूतौ स्थः। इदं च व्रतपालनम् अतिदुष्करम्, गङ्गाप्रवाहे सम्मुखं गन्तव्यम्, असिधारोपरि चङ्क्रमितव्यम्, लोहमया यवाश्चर्वितव्याः, कुन्ताग्रेणाऽक्षिकण्डूयनं करणीयमस्ति; अतो हे जातौ! अस्मिन्नर्थे न प्रमादो विधेयः'। इति वदन्त्यौ अश्रूणि मुञ्चन्त्यौ एकान्तमपक्रामतः। ततस्तौ द्वावपि निजनिजमस्तके पञ्चमुष्टिलोचं स्वयं कुरुतः, तदा श्रीश्रेणिकाभयादिना वेषो दत्तः। तं वेषं परिधाय तौ श्रीवीरान्तिकमागतौ, तदा श्रीमहावीरेणेमौ द्वावपि दीक्षितौ। तथा सुभद्रादीनामष्टानां दीक्षां दत्त्वा आर्यमहत्तरिकान्तिके मुक्ताः, तत्र च ग्रहणा–ऽऽसेवनादिकं शिक्षितुं लग्नाः।

अथ तौ पश्चापि महाव्रतानि शिक्षापूर्वकं लात्वा देवेन्द्र–नरेन्द्रश्लाघितौ महामुनी जातौ। श्रीमद्वीरेण सुविहितस्थविराणामन्तिके स्थापितौ। ततः श्रेणिका–ऽभयादिपर्षद् जिनं नत्वा सर्वान् साधून् वन्दित्वा द्वयोर्मुन्योः श्लाघां कुर्वती गता। अथ तौ स्थविराणामन्तिके ग्रहणशिक्षाम् आसेवनशिक्षां चाऽप्रमत्तभावेन शिक्षमाणौ स्थविरैः सह चिरं मह्यां विजह्रतुः। ज्ञपरिज्ञया सम्पूर्णैकादशाङ्गप्रवाचांऽध्ययनैकपारायणौ गीतार्थौ जातौ, प्रत्याख्यानपरिज्ञया च तीव्राणि तपांसि तप्यमानौ अचिरेण मुनिपुङ्गवौ जातौ। अप्रमत्तभावेन इच्छायोगेनतपूर्वकम् एक–द्वि–त्रि–चतुर्मासक्षपणादीनि विविधानि तपांसि कुर्वाणौ इमौ मुनी द्वादशाब्दं यावत् स्थविरैः सह विविधदेशेषु विहृत्य श्रीवीरान्तिकं प्राप्तौ।

द्वयोर्दीक्षाग्रहणं, विहरणं, भद्रागृहे पारणार्थमागमनं च

श्रीवीरनाथोऽपि भूपीठं पवित्रीकुर्वन् एकदा राजगृहमागतः। देवैरष्टमहाप्रातिहार्यादिविरचनं कृतम्। तद्दिने द्वयोर्मासक्षपणपारणकमस्ति, परम् अनुत्सेकौ अनुत्सुकौ भिक्षासमये भिक्षानुज्ञायै श्रीवीरान्तिकमागत्य तौ विनयेन प्रणेमतुः। तदा श्रीवीरः शालिभद्रं सादरं विलोकयन् जगाद—'हे वत्स! अद्य तव पारणकारणं जननी भाविनी'। एवं श्रीवीरवचः श्रुत्वा श्रीवीरान्तिकाद् निर्गत्य धन्य-शाली राजगृहं प्रविष्टौ। श्रीवीरवचोवशाद् अन्यस्थानं विमुच्य 'श्रीवीरवचसि कः सन्देहः?' इति निर्धारितमनसौ भद्रावासं संप्राप्तौ। तत्र ताभ्यां गत्वा धर्माशीर्ददे, परं नोच्चैर्न च सादरम्। तौ अन्यभिक्षाचरोचितं प्राङ्गणे एव तस्थतुः, परम् एकमपि पदं पुरो नाऽस्थाताम्, अपरं च पदं नाऽख्याताम्, केवलं सर्वार्थसिद्धिदमौनम् अकृपाताम्।

अथ भद्रा तदा चिन्तयति—'मम भाग्यान्यद्यापि अहो जाग्रति यत् सुतः सुतापतिश्चाऽद्य श्रीमज्जिनेन सहागतौ। अतस्तत्र गत्वा नत्वा चातिभक्त्याऽद्य निमन्त्रयिष्ये। तौ चागमिष्यतस्तदा मुदा भक्त-पानैः प्रतिलाभयिष्ये। पूर्वं हि संसारावस्थायां यद् विविधरसद्रव्यसंयोगैर्निष्पन्नया विचित्ररसवत्या पोषणं कृतमभूत् तत्तु ऐहिकमनोरथसाध्यं संसारपरिभ्रमणैकफलम्, अधुना तु यद् भक्त्याऽन्न-पानादिना पोषणं तद् उभयलोकसुखावहं क्रमेण मुक्तिपदप्रापकं भवति'। एवं चिन्तयन्ती भद्रा हर्षाश्रुरुद्धाक्षी तदा तौ नाऽद्राक्षीत्। तपःश्रिया ईर्ष्ययेव परावर्तितरूपत्वात् शालिर्दृष्टिपथस्थितः कान्ताभिरपि नोपलक्षितः। तथापि वीरवचनसत्यापनार्थं क्षणं स्थित्वा, व्रतस्थाचारपारगौ तौ प्रतस्थाते, परम् आकारस्य विकारं नैवाऽदर्शयताम्। अथ श्रीवीरवचने दृढप्रत्ययत्वात् स्थानान्तरनिराकाङ्क्षौ शमाऽन्वितौ तौ मुनी गोचरचर्यायां ववलाते। स्रोत्तारकमागच्छतोस्तयोर्मार्गे एकाऽऽभीरी सम्मुखमागच्छति। सा च ईर्यास-

१ निरहङ्कारौ। २ तथापि ताभ्यामन्यभिक्षाचरोचितं प्राङ्गणे प्रतिक्षणं कृतं वीरवचनसत्यापनाय क्षणं स्थित्वा, पदं नैकं पुरोऽस्थातां।

मौनौ मुनी दृष्ट्वा अतीव हर्षिता परमप्रमोदं प्राप्ता, हृदये हर्षोल्लासो न माति। तया भक्त्या मुनी प्रणम्य प्रीतमनसा स्वभाण्डस्थितदध्नः प्रतिलाभनाय विज्ञप्तिः कृता–'स्वामिनौ ! अस्य शुद्धदध्नो ग्रहणाय पात्रं प्रसारयतां मां च निस्तारयताम्'। एवं तस्या अत्यादरं दृष्ट्वा परस्परं विचारितम्–"श्रीवीरेण 'माता पारणकारणं भविष्यति' इत्येवमुक्तम्, परम् 'अन्यत्र विहरणं न' इति तु न कथितम्। विचित्राशयगर्भिता हि जिनवाणी, आवां च छद्मस्थौ किं जानीवः ?। श्रीवीरचरणे पुनः प्रश्नं करिष्यावः, परम् एषाऽतिभक्त्युल्लासेन दातुमुद्यता, तस्या भावखण्डनं कथं क्रियते ?। तत्र गत्वा आज्ञानुकूलं करिष्यावः"। इति संप्रधार्य पात्रं प्रसार्य दधि विहृतम्। तयापि हर्षेण दत्तं, पुनर्वन्दनां च कृत्वा गता। ततस्तौ द्वावपि स्वस्थानमागतौ। श्रीमज्जिनान्तिकमागत्य, गोचर्यामालोच्य, उत्पन्नसंशयशङ्कुशल्यहृत् शालिभद्रो जिनं नत्वा पृच्छति स्म–" स्वामिन् ! पूर्वं हि गोचर्यागमनसमये स्वामिना यदुक्तम्–'अद्य तव माता पारणकारणं भविष्यति' तत्कथनहार्दं तु मन्दबुद्धिमता मया नाऽवगतम्। आहारविहरणं तु मातृगृहे न प्राप्तम्, परं तद् आहारविहरणं आभीर्या हस्तेन कथं संजातम् ?। इति ममाऽज्ञस्य शङ्काशङ्कुर्निवार्यताम्"। अथ श्रीमत्त्रिजगन्नाथो दिदेश–'भोः शालिभद्रमुने ! यया त्वं दध्ना प्रतिलाभितः सा तव प्राग्जन्मजनन्यस्ति'। इति श्रीमुखाच्छ्रुत्वा चमत्कृतचित्तः पृच्छति–'कथम् ?'। तदा स्वामिना प्राग्भवस्वरूपं सर्वं कथितम्। 'एषा तव पूर्वभवजननी। अस्यास्तु तदेव जन्म, तव तु द्वितीयं संजातम्'। अथ श्रीमज्जिनाख्यातं पूर्वभवस्वरूपं श्रुत्वा क्षालितकश्मलः शालिः संजातद्विगुणसंवेगः प्रभोराज्ञां लात्वा धन्येन सह पारणं व्यधात्। ततो भवविरक्तः शालिभद्रमुनिर्भगवतः श्रीमहावीरस्य मुखोदितां भारतीं संस्मरन् स्वचेतसि एवं चिन्तयामास–"अहो! अस्मिन् संसारे

१ आभीरी।

महाश्चर्यकारि विचित्रकर्मानुभवनम्। तद्यथा—पूर्वजन्मनि मम सदसद्विवेकरहितं ग्रामेयकत्वं क्व ?, पुनरिहजन्मनि गुणगौरं गौरवमन्दिरम् अवसरोचितकरण—भाषणयुक्तमिदं पौरत्वं क्व ?। तथा पूर्वजन्मनि सकलाऽऽपदां निवासः पशुदासोऽहमभूवम्, पुनरिहजन्मनि स एवाऽहं राजानमपि क्रयाणकं जानामि स्म। पूर्वजन्मनि मम जीर्णं खण्डितं शरीराच्छादनसमर्थमपि वस्त्रं दुरापमभूत्, पुनरिहजन्मनि सपादसपादलक्षमूल्या रत्नकम्बला द्विधा कृत्वा प्रियाभ्योऽर्पिताः पादौ लुञ्छयित्वा निर्माल्यकूपिकायां परिष्ठापिताः। पूर्वजन्मनि मम रूप्याद्याभूषणमात्रं नाभूत्, पुनरिहजन्मनि विविधरत्नखचितानि सुवर्णाभूषणानि पुष्पस्रग्वद् निर्माल्यानीतिबुद्ध्या प्रत्यहं त्यक्तानि। पूर्वजन्मनि मया रूप्यादिनाणकमात्रमपि हस्ते न स्पृष्टम्, पुनरिहजन्मनि दीनार—रत्नादीनां पुञ्जानां शुद्धिमपि नाऽकरवम्। अहो ! अहो ! भवनाटकस्य विचित्रत्वम्। अहो ! अस्मिन् भवनाटके कर्मराजस्य शासनात् मोहनटेन एते देहिनो विविधैर्वेपैर्नाट्यन्ते। अवगतजिनागमहार्दं पुरुषं विना न कोऽप्युद्धरति। तस्माद् अहं कृतजगद्द्रोहं मोहम् उत्कटं मल्लमिव पण्डितवीर्योल्लासबलेन जित्वा द्रुतम् अप्राप्तपूर्वां जयपताकिकां गृह्णामि, यथा कृतोद्यमः सर्वः सफलो भवेत्"। एवं विमृश्य महासत्त्वाधिकेन धन्येन सह श्रीमन्महावीरान्तिके गत्वा नत्वा चेति विज्ञपयामास—"स्वामिन् ! अनादिशत्रोः शरीरात् तपस्यादिकार्यं न निःसरति। 'जीवो जीवेन गच्छति' इत्यादि भगवतां सर्वं विदितमस्ति, अतोऽस्य[1] लञ्चादानेन किं प्रयोजनम् ?। चेद् भवतामाज्ञा भवेत् तदा भवदीयकृपया आराधनया जयपताकिकां वृणीवः"। श्रीजिनेनोक्तम्—'यथाऽऽत्महितं भवेत् तथा कर्तव्यं, प्रतिबन्धो न कर्तव्यः'। इति जिनाज्ञां प्राप्य, अष्टचत्वारिंशद्मुनिभिर्गौतमगणधरेण च सह तौ वैभारगिरिम् आरुरुहतुः। तत्र पर्वतोपरि शुद्धं निरवद्यं पर्वत-

१ शरीरस्य।

शिलापट्टं प्रमार्ज्य, आगमनमालोच्य, श्रीमद्गौतमगुरुपार्श्वे विधिपूर्वकं द्वात्रिंशता द्वारैराराधनाक्रियां कृत्वा, तौ द्वावपि मुनी मुदा पादपोपगमनमनशनमाश्रितौ। अष्टचत्वारिंशता मुनिभिः परिकर्मितौ शुभध्यानपरायणौ जीविताशामरणभयविप्रमुक्तौ समतैकलीनचित्तौ समाधिमग्नौ तस्थतुः।

इतश्च भद्रा पुत्र-जामात्रागमनोत्सवे भृत्यैर्द्रुतं स्वस्तिक-तोरण-रत्नवल्ल्यादिरचनया श्रियाऽद्भुतं सौधमकारयत्। ततो भद्रया सह कृशाङ्गभामिनीरजचन्द्रकला इव शालिभद्रप्रियास्त्रिंशं नन्तुं चेलुः। तावता सान्तःपुरः सपरिच्छदो भम्भासारभूपालोऽपि विमलाशयः सकलं श्रीवीरनमस्यार्थं प्राचलत्। पश्चादभिगमपूर्वकं भक्तिभरभारिताङ्गाः सर्वेऽपि जिनं त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य, त्रिवारं पञ्चाङ्गप्रणिपातेन नमस्कृत्य स्वस्वोचितस्थाने स्थिताः। ततः सर्वेऽपि जनाः पापहारिणीमार्हतीं गिरं शुश्रुवुः। तदा भद्रा देशनां शृण्वती इतस्ततः साधुवृन्दानि पश्यति, परं तन्मध्ये धन्य-शाली अदृष्ट्वा विचिन्तयति-'गुर्वाज्ञया कुत्रापि गतौ भविष्यतः, वा कुत्रापि पठन-पाठन-स्वाध्यायादिक्रियापरायणौ भविष्यतः। यतो देशनासमये निकटस्थले स्वाध्यायादिकरणे देशनाव्याघातो भवेत्। देशनासमाप्तौ श्रीजिनमापृच्छ्य, यत्र स्थितौ भविष्यतस्तत्र गत्वा नंस्यामि; आहारार्थं न निमन्त्रयिष्ये'। अथ देशनाविरामे भद्राऽन्तः गेहं गमात्-मुनिभ्यां शून्यां वीक्ष्य श्रीजिनं पृच्छति स-'प्रभो! धन्य-शालिमुनी कथं न दृश्येते?'। इति भद्रया पृष्टे श्रीवीरेणोक्तम्-'भद्रे! अद्य मासक्षपणपारणेऽस्मदाज्ञां लात्वा त्वदीयावासाङ्गणं यावदागतौ। तत्राहारम् अलब्ध्वा त्वदावासाद् वलितौ। मार्गे शालिभद्रप्राग्भवजनन्याऽऽभीर्या धन्यगाऽतिभक्तया दध्ना प्रतिलाभितौ। स्थानमागत्य तौ यथाविधि दध्ना मासक्षपणपारणं

१ [illegible] स्थिताः। २ सभाम्-पर्षदम्।

कृतवन्तौ। ततोऽस्मदुक्तं प्राग्भवस्वरूपं श्रुत्वा वैराग्यरङ्गरक्तः शालिर्धीमता धन्येन सहास्मदाज्ञया इदानीमेव अर्धयामात् प्राग् गौतमादिमुनिभिः सह वैभारगिरौ गत्वा, यथाविधि पादपोपगमनमनशनं श्रितः'। इति श्रीवीरमुखाच्छ्रुत्वा भद्रा शालिभद्रप्रियाः श्रेणिकाऽभयप्रमुखाश्च वज्रघातेनेव अवाच्यदुःखेन सन्तप्ता विदीर्यमाणहृदया आक्रन्दनं कुर्वन्तो वैभारं धरणीधरं प्रापुः। अथ तत्र सूर्यातपतप्तशीलातले तौ शयानौ वीक्ष्य मोहाद् भद्रा भूपीठे लुठन्ती मूर्च्छां गता। शीतवाताद्युपचारेण सञ्जीकृता स्नुषान्विता भद्रा दुःखार्ता परानपि रोदयन्ती तारस्वरेण रुरोद। बहुदिनकृतमनोरथाऽपूरणाद् विलापं कर्तुं लग्ना–"हा! मया पापिन्या गतपुण्यबलया सामान्यभिक्षुकगणनायामपि इमौ न गणितौ। यतो मद्गृहात् प्रायेण न कोऽपि भिक्षुको भिक्षामप्राप्य रिक्तः पश्चाद्गतोऽस्ति, परं मया मूढधिया जङ्गमकल्पद्रुमाविव गृहागतौ सुत–जामातरौ नोपलक्षितौ। प्रत्यहं याचकोऽपि साधुर्भिक्षार्थं समागच्छति तस्याहं सम्मानपूर्वकमाहारं निमन्त्रयामि, तदा स साधुर्निर्दूषणमाहारं गृह्णाति, धर्माशिषं दत्त्वा च याति; तन्मया निर्भाग्यशेखरया मूर्खशिरोमण्या किमपि न दत्तम्। साधुदानोचिताहारे विद्यमानेऽपि हा! हा! मया न दत्तः, न च दापितः। यदि सामान्यसाधुबुद्ध्यापि आहारो दत्तोऽभविष्यत् तदापि 'अचिन्तितं स्थाने पतितम्' इति न्यायेन वरमभविष्यत्, परं तदपि न कृतम्। हा! मया किं कृतम्?। हा! बुद्धिः क्व गता?। हा! मम साधुदर्शनवाल्लभ्यं क्व गतम्?। हा! मम अवसरोचितसम्भापण–सुखप्रश्नालापादिचातुर्यं क्व गतम्?, यद् मया साधुभ्यां किमपि न पृष्टम्। 'युवां कस्य शिष्यौ?, पुरा किंग्रामवासिनौ भवन्तौ?, भवतोः संयमग्रहणे कियद्वर्षाणि जातानि?, अधुना भवतोर्माता पिता भार्या बन्धवो वा सन्ति नवा?, अधुना कुतो ग्रामादागतौ?, युवयोर्मम पुत्रस्य शालिमुनेर्मम सुतापतेश्च धन्यमुनेः परिचयोऽस्ति नवा?' इत्यादिकमपि न पृष्टम्। यद्येवमहं प्रश्नान् अकरिष्यं तदा

गतं विविधमभविष्यत्। हा हा! मम वाक्कौशल्यं क्व गतम्?। हा! मयापि मिथ्यात्वं कृतं यज्जडस्वान्तया गृहागतसाध्वोर्वन्दनापि न कृता, कृतोचितव्यवहारोऽपि विस्मृतः। यदा कोऽप्यङ्गणे क्षणमेव स्थितिं करोति तदा सेवकैः सूचिते सति 'क्षणमेव स्थितिकरणे किमपि गूढकारणं भविष्यति' इति बुद्धिरुदेति, पृष्ट्वा च सर्वं विदितं भवति; परम् अनयोरागमने काऽपि बुद्धिर्नोदिता, किमपि नोचितं कृतं, केवलम् अनादरकरणेन हस्तप्राप्तौ सुरमणी गमितौ। हा! सर्वासां कुलवधूनां मतिकौशल्यं क्व गतं यत् स्वपतिरपि नोपलक्षितः। बहुदिनपरिचितैः सेवकैरपि नोपलक्षितः। एकस्यां वेलायां सर्वेषां मतिव्यामोहो जातः। अयाचितवाञ्छितार्थदायकौ, अनाहूतौ गृहमागतौ, इह-परलोकेप्सितदायकौ, अतुलपुण्यैकनिबन्धनौ, बहुदिनेभ्यो बहुभिर्मनोरथैर्वाञ्छितौ स्वयं सम्मुखमागतौ, नाभाषितौ न वन्दितौ न प्रतिलाभितौ न चोपलक्षितौ पश्चाद्गतौ। मुखागतकवलगमनन्यायेन गोपालहस्तप्राप्तसुरमणित्यजनन्यायेन च सर्वेऽपि मम मनोरथा विफलतां प्राप्ताः। पुनरग्रेतनकाले मम मनोरथकरणाशा नास्ति। याभ्यामनशनं कृतं तयोः काऽवस्था?। मम नत्रागेऽपि हस्ता भूमौ पतिताः। पुनः पुत्रजामात्रोर्मुखं कदा द्रष्टव्यम्?। सर्वासां स्त्रीणां मध्ये निर्भाग्यशेखरत्वेन जाता"।

इत्थं विषादविमूर्च्छितां भद्रां दृष्ट्वा श्रीश्रेणिका-ऽभयौ निर्जवचनपीयूषैः सिक्त्वा सचेतनामतनुताम्। ततोऽभयः प्राह—"मातर्भद्रे! अधुना विषादस्तव न युक्तः, यतो महतां महनीयाऽसि, समस्तमाननीयानां च माननीयाऽसि, अतो वृथा शोकं मा कार्षीः। अस्मिन् लोकेऽनेका नार्योऽनेकान् पुत्रान् प्रसुवते; तेषां पुत्राणां मध्ये केचिद् द्वासप्ततिकलाकुशलाः सम्प्राप्तयौवना बहूनां स्त्रीणां पाणिग्रहणं कुर्वन्ति, पूर्वपुण्येन च धन-धान्यादिसम्पन्ना अप्राप्तपूर्वेष्विव कामभोगेषु मूर्च्छिताः। ते हि भोगैकरसिका भोगान् भुञ्जते,

शालेरनशनेन भद्राविलापः, अभयेन प्रबोधकरणं

क्षणमपि विषयान् न त्यजन्ति; स्वायुःपर्यन्तं भोगान् भुक्त्वा पश्चाद् नरक-निगोदादिषु भ्रमन्ति। ये चाऽन्ये पुण्यरहिता जन्मतो निर्धनास्ते विषयाऽऽशापिपासिता अष्टादशपापस्थानानि सेवन्ते, परं पुण्यैर्विना द्रव्यादि न प्राप्नुवन्ति; ते च बहुतरं पापमुपार्ज्य नरक-निगोदादिषु भ्रमन्ति। परं त्वं तु रत्नकुक्षिधारिकाऽसि, वीरप्रसूरसि; यतस्तव कुलदीपकः पुण्यैकनिधिः पुत्रो जातः। जिनत्व-चक्रित्वोभयपदविभूषितेनाऽपि पुरुषोत्तमेन त्वत्पुत्रसदृशा भोगा न भुक्ताः; यतः स्वर्ण-रत्नानि निर्माल्यानि कृत्वा केनापि त्यक्तानीति कुत्रापि श्रुतं नास्ति, जातमपि नास्ति, तत् तव पुत्रेण निःशङ्कतया कृतम्, यथेप्सितं भोगा भुक्ताः। अवसरं च प्राप्य तृणवत् त्यक्ताः। श्रीवीरपरमेश्वरस्याऽग्रे सुरेन्द्रनरेन्द्रादिकोटिगणैरपि दुर्जयो, जगज्जनानां अपरिमितदुःखदायको मोहनरेन्द्रो हेलया तव पुत्रेण जितः। ईदृशं सामर्थ्यं तव पुत्रस्यैव, नान्यस्य। पुनर्मोहोन्मूलनं कृत्वा, सिंहवच्चारित्रं लात्वा, सिंहवच्च परिपाल्य, निःशेषकर्मकुलोन्मूलनाय आराधनाजयपताकिका गृहीता। श्रीगौतमगणाधीशसाहाय्येन अजरामरपदप्राप्तिर्भविष्यति। अस्य किं दुःखं धारयसि ?। चेत् संसाराऽवटे पतितोऽभविष्यत् तदा तस्य चिन्ता कर्तव्याऽभविष्यत्; अनेन तु समस्तजन्म-जरा-मरण-रोग-शोकादिरहिता सच्चिदानन्दसुखसम्पत्तिः प्राप्ता, तस्य किं दुःखं ध्रियसे ?। त्वत्पुत्रेण श्रीमज्जिनशासनं स्वकुलं चोद्द्योतितम्। पुनस्तव जामाता नामतो धन्यः, उपकारतो धन्यः, सम्यग्बुद्धितो धन्यः, अनुपमधर्माचरणतो धन्यः, दौर्जन्यदोषदुष्टानां स्वबान्धवानाम् अनेकशः कृतमात्सर्याणामपि आत्मीयसौजन्यस्वभावतः सविनयपरिपालनाद् धन्यः। तस्य धन्यस्य किमु धैर्यं प्रशस्यते ?, येन उपदेशादिपुष्टकारणं विना अष्टावपि प्रमदाः समकालं त्यक्ताः, समस्तैहिकसुखसन्दोहपूरणप्रत्यलं च जडमयं चिन्तारत्नं त्यक्त्वा चारित्रचिन्तामणिरत्नं लीलया गृहीतम्; यथा च गृहीतं तथा प्रतिक्षणप्रवर्धमानपरिणामैः परिपालितम्। अथ च निःशेषकर्मसन्ततीर्निहन्तुम् आराधना-

त्रपणाकिका गृहीता। ततोऽयं धन्यो धन्यानां धन्यतमो जातः। योऽस्य मुनेर्नाम स्मरति सोऽपि धन्यो भवति। धन्यः स क्षणो यस्मिन् क्षणेऽस्य स्वरूपं स्मृतिपथमागच्छति। तस्माद् हे वृद्धे! उत्साहस्थाने किं विषादं करोषि ?। पूर्वं तु अनेके माता-पुत्रादिसम्बन्धा जातास्ते सर्वे व्यर्थाः, संसारान्ताऽकरणात्। सत्यो हि अयमेव तव सम्बन्धो यस्या गर्भे आगत्य शालिः सुर-नरेन्द्रादिषु पदस्थेषु मोहशोकोन्मूलनं कृत्वा निर्भयो जातः। अतस्त्वयाऽस्य चारित्रानुमोदनपूर्वकं सहर्षं वन्दन-नमन-स्तवनादिकं बहुमानेन कर्तव्यं, यथा तवापि अर्थसिद्धिर्भवेत्"। एवम् अभयेन निजवचनामृतसेचनेन भद्राया विषममोहविषप्रसरः समुत्तारितः, शोकं च अपहाय भद्रा धर्मोन्मुखीकृता। ततो नृपा-ऽभयौ सस्नुषा भद्रा च भावतस्तौ वन्दित्वा, तयोर्गुणान् स्मरन्तः स्वस्वधाम जग्मुः।

अथ तौ मुनिपुङ्गवौ मासं यावत् संलेखनामाराध्य, अन्ते शुद्धोपयोगलीनचित्तौ समाधिना कालं कृत्वा; अनुत्तरसुखसंभृते सर्वार्थसिद्धनाम्नि पञ्चानुत्तरविमानमुख्ये विमाने त्रिदशोत्तमौ जातौ। तत्र च देवानां त्रयस्त्रिंशत्सागरायुः। त्रयस्त्रिंशत्सहस्रवर्षैराहारार्थिनः समुत्पद्यते तदा तत्क्षणम् अमृतोद्गारः क्षुधाशमनस्वभाव आगच्छति। त्रयस्त्रिंशत्पक्षैरेकं श्वासोच्छ्वासं गृह्णन्ति। यद्येषां मुष्टिग्राह्याः सप्त लवा न्यूनत्वे एतावदायुरधिकमभविष्यत् तदा मुक्तिमगमिष्यन्, अथवा षष्ठं तपोऽधिकमभविष्यत् तदापि मुक्तिं प्राप्स्यन्; यतोऽनुत्तरविमानाधिकं सुखं मुक्तिं विना न कुत्राप्यस्ति। अथ धन्य-शाली तत्रायुःसमाप्तौ सत्यां विदेहेषु सुखभृतयोः कुलयोः समुत्पन्नौ, भुक्तभोगिनौ भूत्वा, यथावसरे सद्गुरुसंयोगे संयममादाय, दुस्तपतपस्क्रियया घनघातिकर्माणि क्षयं नीत्वा, केवलमुत्पाद्य, भविकानामनेकान् प्रबोध्य, अन्ते योगसमाधिं कृत्वा, नाम-गोत्राद्यघातिभवोपग्राहिकर्माणि क्षपयित्वा, पञ्चह्रस्वाक्षरोच्चारणकालमात्रम् अयोगित्वमासाद्य, अस्पृशद्गत्या एकेनैव समयेन पूर्वप्रयोगादिकारणचतुष्कन्यायेन लोकान्ते मुक्तिक्षेत्रमवाप्स्यतः। साद्यनन्त-

भवेन चिदानन्दसुखमनुभविष्यतः ।

इमौ धन्य-शालिभद्रौ अनुत्तरैर्दानादिभिश्चतुर्भिरपि प्रकारैरत्युत्कृष्टपदं प्राप्तौ । तद्यथा–प्रथमं तु अनुत्तरं दानं दत्तम् । यतो गच्छता कालेन धैरेयी स्वयं तपोभीतिमुपाशीत्, पूर्वं साधुदाने कोऽपि अभ्यासोऽपि नासीत् । परं साधुदर्शनाद् जाततीव्रश्रद्धो स्वकीयं सर्वं दुःखं विस्मृत्य भक्तिभरभावितात्मा उत्थाय 'स्वामिन् ! इतः पादौ अवधार्यताम्, इमं शुद्धमाहारं गृहीत्वाऽनुगृह्णातु' । एवं भक्तिवचनपूर्वकं साधुमाहूय स्थालस्थितात् एकयैव हेलया सर्वापि धैरेयी दत्ता । अतिपूर्णमनोरथो साधोश्चरणानि साधुमनुगत्य, पुनः साधुमभिवन्द्य हर्षितहृदयो पुनः पुनरनुमोदनां कुर्वन्तौ, गृहान्तरागत्य स्थालीसमीपे स्थित्वा स्वल्पमात्रेऽप्यवसरे विहाय मात्सीर्यगुणेन च न किमप्युक्तम् । ईदृशं दानं न केनापि दत्तम् १ । तथा द्वितीयं तपोऽस्तपोऽप्यनुत्तरम्, यतो द्वादशवर्षान्तरे गृहमागतौ द्वावपि शालिभद्रः शालिभद्रमातृभिर्नित्यं सेवनप्रवृत्तैश्च सेवकैरपि नोपलक्षितौ, ईदृशं दुष्करं महत्तपस्तप्तम् २ । तृतीयं, शालिना राज्ञो नमस्कृतिकरणमात्रेण आजन्माभिलषिताम् अनिर्वचनीयां भोगलीलां व्यर्थीकृत्य चिन्तितम्–'अधुनाऽपि पारवश्यं न गतम्, पारवश्यसुखं तु दुःखरूपमेव, अतः स्वमानरक्षणाय स्वाधीनसुखाय सकलसुरा-ऽसुर-नरवृन्दवन्दितं चारित्रं गृह्णामि' । एवं धन्योऽपि प्रेयस्यग्रे शालेरेकैकप्रियात्यजनं श्रुत्वा, एकैकप्रियात्यजनं कातरत्वं ब्रुवाणः, प्रियाणां नर्मगिरोऽपि आनुकूल्येन स्वीकुर्वाणो युगपदष्टौ प्रियास्तत्याज । अनर्गलसमृद्धिं च तृणवदवगणय्य चारित्रग्रहणोन्मुखो बभूव । इत्यमपि तयोरनुत्तरं मानम् ३ । चतुर्थम्–अद्यापि लौकिके लोकोत्तरेऽपि च अनयोर्यशःपटहो जागर्ति । यतो यदा कोऽपि धनसम्पदादिकं लब्ध्वा प्रस्फुरति, गर्वं च वहति; तदाऽन्यः सभ्यजनो वक्ति–'त्वं किं धन्यः शालिभद्रो वा जातो येनेदृशम् अन्तर्गडु मानं वहसि ?' । अद्यापि यावत् सर्वेऽपि व्या-

शालिनो दीपालिकापर्वणि वणिक्पुस्तकपूजनावसरे प्रथमम् अनयोरेव नाम लिखन्ति भणन्ति च। ईदृशं यशोऽनयोरेवास्ति, नान्यस्य ४।

तथा शालिभद्रस्याश्चर्यकराणि चत्वारि जातानि। तद्यथा, प्रथमम्—नरभवे स्वर्गभोगभोगित्वम् १। द्वितीयम्—गृहमागतं नृपतिं श्रेणिकमपि शालिना क्रयाणकत्वेन ज्ञात्वा पण्यस्थापनादेशः कृतः, ईदृशं लीलाशालित्वं कस्य भवति ? २। तृतीयम्- स्वर्णरत्नखचितानि अत्यद्भुतानि वस्त्राभरणादीनि प्रतिदिनं सामान्यस्रगादिवद् निर्माल्यत्वेन कृतानि: इदमप्याश्चर्यम् ३। चतुर्थं पुनः—यस्य राजा सम्मुखं विलोक्य 'आगच्छ' इति वचनमात्रं मानलेशं ददाति स पुरुषो मनस्यत्युग्रं प्रस्फुलति—'अहो! अद्य राज्ञाऽहमत्यादरेण जल्पितः, अद्य मम शुभोदयः, मम भाग्यं स्फुरितम्' इति मनसि हर्षितो भवति। अस्य तु राज्ञा स्वयं सपरिकरेण तद्गृहमागत्य अतिशयनवं मानं दत्तं तदनेन अपमानत्वेन चिन्तितम्!—'अहो! अहमधन्यः, मया पूर्वजन्मनि पूर्णं पुण्यं न कृतं तेनान्यस्य सेवकत्वेन जातः। एतावन्ति दिनानि अहमन्तर्गर्वेण प्रस्फुलितो यदहं सर्वतः मुख्योऽस्मि, परम् एतन्मम सर्वसुखं वेधेन नृपतिपारतन्त्र्येण दूषितं सर्वं निष्फलं संजातम्। अहो! अयं कूटरचनामयः संसारः। अत्र यो माद्यति स मूर्खशेखरः, अतोऽहम् इह जन्मनि मृगतृष्णाप्रायान् भोगान् त्यक्त्वा स्वाधीनसुखसाधने उद्यतो भवामि'। इति विचिन्त्य समग्रसांसारिकभोगविलासात् पराङ्मुखो जातः। अन्यस्तु राज्ञो मानं लब्ध्वा जीवितं यावद् माद्यति, शालिस्तु मानभ्रष्ट इव विलक्षो जातः। इदमपि महाश्चर्यं ज्ञेयम् ४।

यद्यपि धन्य-शालिभद्रयोर्दानधर्मस्य विशालितयेऽपि एतयोर्मध्ये धन्यं विशेषतः स्तवीमि, यतोऽस्मिन् धन्येऽद्भुततराः पुण्यप्रभावा जगति बभूवुः। तद्यथा, प्रथमः—अस्य जन्मावसरे नालं छित्त्वा भूमौ निक्षेपणाय भूम्यां खन्यमानायां लक्षाधिकं निधानं

प्रकटितम्, अयम् अनुत्तरः पुण्यप्राग्भारोदयः १। द्वितीयः—कुमारावस्थायां पूर्वं कदापि अकृतव्यापारोद्यमोऽपि अज्ञातक्रय-विक्रयस्वरूपोऽपि प्रथमे दिवसे स्वबुद्धिकौशल्येन लक्षं लात्वा गृहमागतः, अयमप्यनुत्तरः पुण्योदयः २। तृतीयः—पित्रा द्वितीयवेलायां व्यापारकरणप्रेरणायां क्रियमाणायां सामान्यहीनजनोचितहुडव्यवसायं कृत्वा, राजकुमारं जित्वा, द्विलक्षद्रव्यं लात्वा गृहमागतः। कोऽपि स्वप्नेऽप्येवं श्रद्दध्यात्—हुडव्यापारे द्विलक्षद्रव्यं मिलति ? । अयमप्यनुत्तरः पुण्योदयः संभाव्यते ३। चतुर्थः—पित्रा तृतीयवारं व्यापारार्थं प्रेषितो दीनहीनजनोचितं जुगुप्सनीयं मृतकखट्वाव्यवसायं कृत्वा, षट्षष्टिकोटिमूल्यानि रत्नानि लात्वा गृहमागतः। कोऽप्येवं सम्भावयेत्—मृतकखट्वाव्यवसाये षट्षष्टिकोटिमूल्यानि रत्नानि लभ्यन्ते ? । अयमप्यनुत्तरः पुण्योदयः ४। पञ्चमः पुनः—अग्रजान् अनेनैवोपार्जितं धनं यथेच्छं भुञ्जानानपि स्वोपरि ईर्ष्यां कुर्वतो दृष्ट्वाऽयं गृहान्निर्गतः। मार्गे क्षुत्-तृड्बाधितः श्रान्तः क्षेत्रासन्नवटाधः स्थितः, तदा क्षेत्रपतिना सुभगं दृष्ट्वा भोजनाय निमन्त्रितः। अनेनाप्युक्तम्—'नाहं कस्याप्यकृतकार्यो भुञ्जे'। क्षेत्रपतिनोक्तम्—'चेत् तवेदृशी प्रतिज्ञाऽस्ति तदा ममेदं हलं[१] वाहय, अहं देहशुद्धिं कृत्वाऽऽगच्छामि, पश्चाद् भोजनं करिष्यावः'। इत्युक्त्वा हलं दत्त्वा गतः। अनेन सप्ताष्टपदानि यावद् हलं कर्षितं तावता हलं तु स्खलितम्। तदाऽनेन बलं कृत्वा सीरं उत्पाटितस्तावता सहसा पिहितद्वयमपि दूरतः पतिता, विवरं च पतितम्। व्यग्रमुख यावत् पश्यति तावद् भूमिगृहेऽनेककोटिसुवर्णं दृष्टम्। तद्धनं च क्षेत्रपतेरेव दत्तं, परं मनसि लोभो न कृतः। ततो महाग्रहेण भोजनं कृत्वा धनं त्यक्त्वाऽग्रतश्चलितः। इदमपि महता पुण्योदयेन भवति ५। षष्ठः—राज्ञा प्रवहणगतानां निःस्वामिकक्रयाणकानां ग्रहणाय व्यापारिण आह्वा-

१ हलम्। २ तेन सह।

प्रोक्तम्–'इमानि क्रयाणकानि गृह्णीत, ग्रामस्य च भावाऽनुसारेण मूल्यं दत्त'। तदा सर्वैरपि व्यापारिभिरेकत्र सम्भूय मन्त्रणं कृतम्–'नगरगतैः सर्वैर्व्यापारिभिर्विभज्य विभज्य क्रयाणकं गृह्यते'। ततो धनसारगृहेऽपि भागग्रहणायाऽऽमन्त्रणं कृतम्। तदा तैर्भ्रातृगर्वादीर्ष्येण पितरं कथयित्वा भागग्रहणाय धन्यः प्रेषि। धन्योऽपि पित्राज्ञया तत्र गतः। सर्वक्रयाणकानि दृष्टिपथं कुर्वता, तत्र केऽप्यनेककृशनकलशास्तेजमतूर्या भृता अनेन शास्त्रपरिचयेन स्वबुद्धिकौशल्येन चोपलक्षिताः, परन्तु तैः कृतबहुव्यापारैः क्रयाणकानाम् उत्पत्तिनिष्पत्तिक्रयान्तर्विचक्षणत्वमानं वहद्भिरपि नोपलक्षिताः। ते तु तान् कलशान् क्षारमृद्भृतानेव मन्यन्ते स्म। ततस्तान् अनुपलक्ष्य, मत्सरभावेन ईर्ष्यावृत्त्या मिष्टवचनैः सन्तर्प्य ते घटा धन्यशिरसि ढौकिताः। धन्येनापि स्वबुद्धिचातुर्यातिशयात् तेषां मनसां विज्ञाय तथोक्तोत्तरं दत्तम्। ततः सर्वान् प्रसत्तिपात्रं कृत्वा, सर्वेषां व्यापारिणां चक्षुषि धूलिं दत्त्वा, अनेकशतकोटिसुवर्णकान्तिकारकतेजमतूर्याः कलशान् शकटेषु भृत्वा गृहमागतः। इदमप्यत्युत्कृष्टभाग्योदयवतामेव भवति, नान्यस्य ६। सप्तमः–यदा धन्यः शुष्कवाटिकायाम् एकरात्रिम् उषितस्तदाऽस्याऽत्युत्कृष्टपुण्यप्रभावतस्तद्रात्रिमध्ये सा शुष्कवाटिका नन्दनवनसमा सञ्जाता, ततो महती प्रसिद्धिर्जाता। इदमप्याश्चर्यम् अनुत्तरपुण्यसूचकम् ७। अष्टमः–यदा कौशाम्ब्यां गतस्तदा तत्र राजा मणिपरीक्षणार्थं तत्परीक्षकाह्वानार्थं च पटहं दिनत्रयं यावद् वादयति, परं न कोऽपि स्पृशति; सोऽनेन स्पृष्टः। ततो राजान्तिकं गत्वा, तं मणिं लात्वा, शास्त्रपरिशीलनवृत्त्या कौशल्येन चातुर्यातिशयेन च मणेर्जातिं प्रभावं फलं चोक्तम्। तस्य मणेर्महिमाऽपि समग्रसभ्यजनसमक्षं सान्निध्यभूतनद्योपरि वासनमोचनपूर्वकः सप्रत्ययो दर्शितः। सर्वेऽपि सभ्या राजा च चमत्कृताः। इदमप्युग्रपुण्याविर्भावकं ज्ञेयम् ८। इत्थं अनुत्तरपुण्यप्राग्भारा महाश्चर्यकारिणः।

तथेमानि पञ्च महाश्चर्याणि, तद्यथा—यदा कौशाम्बीपुर्यासन्नस्थापितग्रामे स्वस्य पिता त्रयोऽग्रजाश्च मुक्ताः, राज्यं च तत्स्वाधीनं कृत्वा राजगृहगमनार्थं ससैन्यो निर्गतः, तदा मार्गे लक्ष्मीपुरनगरे राजपुत्र्या वने गत्वा स्वबुद्धिचातुर्यातिशयाद् रागेण मृगीमाकृष्य स्वकण्ठाद् हारं निष्काश्य तस्याः कण्ठे परिधापितः। गृहे चागत्य प्रतिज्ञा कृता—'यो नर इमां मृगीं रागेणाकृष्य, तस्याः कण्ठदेशाद् हारं निष्काश्य मम कण्ठे परिधापयेत् स मम भर्ता'। इयं प्रतिज्ञा सर्वत्र विदिता जाता, परं तत्पूरणाय न कोऽपि समर्थो भवति। तदा तत्रागतेन धन्येन वने गत्वा, वीणावादनपूर्वकं रागेण वनगतं समस्तमपि हरिणयूथमाकृष्य, तद् अनेकशतहरिणपरिमितं हरिणयूथं बहुजनसङ्कुलेन चतुष्पथमार्गेण षट्त्रिंशद्राजकुलोपशोभितायाम् अनेकायुधबद्धसहस्रशःसेवकवृन्दैः सेवितायां राजसभायां समानीतम्। ये हरिणाः अतिदूरतः पुरुषमात्रं दृष्ट्वातिदूरतः पलायन्ते तेऽतिजनसम्भृतायाः सभाया मनुष्यैर्दूरतोऽपसार्यमाणा अपि रागैकलीनचित्ता न कुत्रापि गताः। ततस्तन्मध्याऽऽगतायास्तस्या एव हरिण्याः कण्ठदेशाद् हारं निष्काश्य कन्यायाः कण्ठे परिधापितः। तदा तत्क्षणं तया धन्यकण्ठे वरमालाऽऽरोपिता। तदनु तस्मिन्नेव पुरेऽन्यासां तिसृणां कन्यानां पाणिग्रहणं कृतम्। इदम् अतीवकलाकौशल्यम् १। द्वितीयम्—अनेन बाल्येऽपि असहायकेन स्वबुद्धिकुशलत्वेन वचनादिचातुर्येण च अनेकशतकोटिपरिमितं धनमुपार्जितम्, अद्वितीयं राज्यमानं च लब्धम्। धन्योपार्जितं धनं समस्तकुटुम्बं भुङ्क्ते, विशेपतस्तु अग्रजास्त्रयः स्वस्वचित्तानुकूल्येन यथेच्छं निःशङ्कतया भुञ्जते, परं तस्य शल्यलेशोऽपि नास्ति। तथापि ते त्रयोऽपि भ्रातरो धन्यस्योपरि महतीमीर्ष्यां वहमानास्तिष्ठन्ति। तदा ईर्ष्यां कुर्वतो बन्धून् ज्ञात्वा धन्यस्य तेपामुपरि कपायलेशो नागतः, प्रत्युत सज्जनस्वभावत्वाद् धन्येन स्वस्यैव दोषश्चिन्तितः—"अहो! एते ममाऽग्रजा मम पूज्या मां दृष्ट्वा ममैव दुष्कर्मोदयेन ईर्ष्यावन्तो भवन्ति, ईर्ष्यागमने

नाऽन्तःकरणोद्वेगेन ज्वलन्ति, कषायैरन्तर्ज्वलिते मनसि न कुत्रापि रतिर्भवति, अरतिमतां च कुतः सुखम्?। अरे! सर्वत्राऽरतिकारणमहमेव जातः। मम तु एते सेवां कर्तुं योग्याः, एते भक्त्युचितसेवाकरणेन येन केन प्रकारेण प्रसत्तिपात्रं करणीयाः, तत्तु अहं यथाशक्ति करोमि, परन्तु प्रत्युत ईर्ष्याबुद्धिं भजन्ति, ततोऽत्र न कस्यापि दोषो, ममैव दोषः; यतो मद्दर्शने एषामीर्ष्या प्रबलोल्लसति, अत एषां दुःखकारणमहमेव भवामि। पूज्यानां वृद्धानां दुःखैककारणत्वेन गमनं न्यायविदां न घटते, अतोऽत्र मया न स्थातव्यम्। मद्गमनेन हि एते सुखेनात्र स्थास्यन्ति, यतः कारणे गते कार्यं नोत्पद्यते; अतो मया देशान्तरं प्रति गन्तव्यमेव"। इति ध्यात्वा रात्रौ अगणित-धनराशिः सद्गुरुत्या मुनिवद् गृहान्निर्गतः, तत्र मनसि दूनोऽपि न यद् मदीयभुजोपार्जितं धनं भुञ्जाना एते दुर्जना ममोपरि ईर्ष्यां कुर्वन्ति, इत्यादि चिन्तमात्रेऽपि कदापि नाऽऽनीतम्। एतादृशाः सन्तः क भवन्ति?। ततः क्रमेणोज्जयिन्यां गतः। तत्र सर्वगन्तृमनोरञ्जनचातुर्येण महत्पदं लब्धम्। पुनस्तथैव सुखसम्पत्तिलीलालहरी च प्राप्ता। कियता कालेन पितरौ भ्रातरश्च दुष्कर्मोदयेन दीनावस्थामनुभवन्तो भ्रमन्तस्तत्रागताः। अथ धन्येन गवाक्षस्थितेन दृष्टाः। दृष्ट्वा च मनसि अतीवदूनः—'अहो! एते मे पूज्या ईदृशीं दुर्दशां प्राप्ता दुःखमनुभवन्ति'। ततः सेवकैः शीघ्रं गृहान्तरानीय, उत्थाय, स्वपित्रोरग्रजानां च पादपतितः। विनयगर्भितालिङ्गनाश्वासनैस्तान् सन्तर्प्य, स्नानादिशुश्रूषां कृत्वा, पूज्यस्थाने संस्थाप्य, सर्वं धन-धान्यादिकं तदधीनं कृतम्, स्वयं च सेवाकार्यं परिचर्याकारको भूत्वा स्थितः। ईदृशं महाश्चर्यकारिचरितं धन्यस्यैव भवति, नान्यस्य। ईदृशी कषायाणां मन्दता विनयश्च प्रशान्तता महाभाग्येनैव भवति, नान्यस्य। एवं चतुरो वारान् अमितधनं दत्त्वाऽम्लानचित्तो निर्गतः। अयं पुनर्यत्र यत्र याति तत्र तत्राऽमितसम्पत्तिर्भवति। पृष्ठतोऽग्रजाः पुनरापदेकविडम्बिता दुर्दशां प्राप्ता आगच्छन्ति, धन्योऽपि तान् दृष्ट्वा शीघ्रं

समागत्य बहुमानेन गृहे नीत्वा सविनयं सर्वस्वं तेषां हस्ते ददाति। ईदृशं महाश्चर्यकारि निर्मायप्रकृतिकत्वं, क्रोध-मान-माया-लोभै रहितत्वम्, उचितगुणैश्च सहितं भद्रकस्वभावत्वं विना धन्यं न कस्यापि श्रूयते। इति द्वितीयं महाश्चर्यम् २। तृतीयम्-पुण्यैः पञ्चशतग्रामाणामाधिपत्यादिः पूर्वोक्ताऽपरिमिता लक्ष्मीः प्राप्ता, तदुपरि राजमानम्, तदुपरि सर्वसम्पत्तिमतां गर्वहारकं चिन्तारत्नं गृहे विराजति, तथापि सन्तोषगुणबाहुल्यात् श्रीमज्जिनवचःपरिणतमतेस्तस्य मनसि सङ्कल्पमात्रोऽपि कदापि नोदितो यत् 'अहमपि स्वर्ण-रत्नानि निर्माल्यत्वेन करोमि'। शालेस्तु नित्यं त्रयस्त्रिंशन्मञ्जूषाः प्रगे समुत्तरन्ति, अयं पुनः षट्षष्टिमञ्जूषाणां समुत्तारणे समर्थः, परन्तु अनेन आप्तजिनवचनवार्देन सर्वेऽपि पुद्गलविलासाः खगेन्द्रजालवत् निष्फला अवगताः। प्रायेणाऽक्षेपकज्ञानवताम् ईदृशानि चिह्नानि प्रतिभासन्ते। इह जगति ये पूर्वपुण्यप्रबलोदयेन अपरिमितधनं सम्पत्तिं च लभन्ते ते माद्यन्ति, तथा तत्तुल्याऽन्यधनवतो विविधचातुर्यातिशयपरिकलिताऽभिनवभोगान् भुञ्जानान् दृष्ट्वा तेऽपि तदधिकभोगेच्छां कुर्वन्ति, विलसन्ति च; परं शक्तौ सत्यामपि क्षमानुकूलवर्तनं केषाञ्चित् धन्यराजानामेव भवति। यदुक्तम्-

"ज्ञाने[1] मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः[2]"।

इत्यादि महाकुशलानुबन्धिपुण्यवतामेव सम्भवति ३। चतुर्थं महाश्चर्यं यत्-'शतशो विकारहेतुषु सत्स्वपि स्वकीयाऽद्वितीयधैर्यं न त्यक्तम्। 'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः' इति नीतिवाक्यं स्वदृष्टान्तेन दृढीकृतम् ४। पञ्चमं पुनः-

१ ज्ञाने। २ श्लाघाया विपर्ययोऽभावः।

शालिभद्रस्य तु राज्ञः पारवश्येन वैराग्य उदितः । तदनु श्रीवीरवचनाऽमृतसेचनयोगतो वैराग्यः पल्लवितः, तदा प्रबलवैराग्योदयेन चारित्रेप्सुः स प्रत्यहमेकैकां प्रियां त्यक्तुं समुद्यतो जातः । अयं तु सुभद्रामुखात् तद्दुःखवार्तां श्रुत्वा ईषद्विहस्येत्युवाच–'शालिभद्रस्तु अतीवमूर्खो दृश्यते' । प्रियाभिरुक्तम्–'किं मूर्खत्वम् ?' । धन्यः प्राह–"रे रे मुग्धा नार्यः ! चेत्त्यक्तुकामस्तदैकयैव हेलया त्यजनीयाः, प्रतिक्षणं परिणामबाहुल्यात् । निमित्तवशगो जीवः, अतः परिणतिविनिमयं[१] यावद् न विलम्बः करणीयः । ततो यदा शुभपरिणामो जातस्तदा तत्कार्यं तस्मिन्नेव क्षणे कर्तव्यम् । 'धर्मस्य त्वरिता गतिः' इतिवचनाद् धर्मकृत्ये न विलम्बनीयम् । अतो मयाऽयं मूर्ख उक्तः" । तदा प्रियाभिः सविलासं नीतिवाक्यानुसारि वचनमुक्तम्—'स्वामिन् ! इह जगति अत्युग्रकार्यकरणाय वक्तारो बहवो भवन्ति, परं तत्कार्यकरणे प्रवणस्तु कोऽपि मातृजातो भवति, न सर्वे । ईदृशीं सम्पत्तिं नारीश्च त्यक्तुम् अयमेव प्रभवति, नान्यः' । तस्मिन् क्षणे एकया प्रिययाऽग्रे भूत्वा सविलासमुक्तम्–'चेद् हस्ते कङ्कणकं तदा किमादर्शप्रयोजनम् ? । शालेस्तु द्वात्रिंशत्प्रियागणोऽस्ति, युष्माकं तु अष्टावेव प्रियाः सन्तिः चेद् वीरवीरा यूयं तदाऽष्टौ एकहेलया कथं न त्यजथ ?' । एतत् प्रियावाक्यं श्रुत्वा सहर्षं धन्येनोक्तम्–'अहो ! साधूक्तं भवत्या, कुलवतीनामीदृशानि वाक्यानि भवन्ति या अवसरे हितकारि वाक्यं वदन्ति । अतो मयाऽष्टावपि प्रियास्त्यक्ताः' । इत्युक्त्वा तत्क्षणं प्रियास्त्यक्त्वा चारित्रग्रहणायोद्यतो जातः । प्रियाश्च प्रतिबोध्य चारित्रग्रहणोन्मुखीकृताः, शालेर्विलम्बस्त्याजितः । इदमपि महाश्चर्यम् ५ । इति धन्यस्य पञ्च महाश्चर्याणि ।

इत्येवं मया धन्यमुनेः शालिभद्रमुनेश्च चरितं संस्कृताभासजल्पमयं गद्यबन्धेन लिखितं तन्न स्वचातुर्यदर्शनार्थं, न पाण्डित्य-

१ परिणतिविनिमयभवने क्षणं न लगति ।

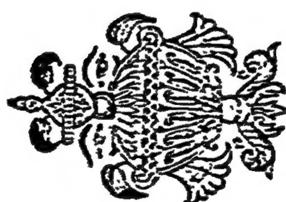
दर्शनार्थं, न चाऽन्येन केनापीर्ष्यादिकारणेन; किन्तु ये आधुनिकाः संयतगणास्तेषां मध्ये ये केचन प्रज्ञावन्तः शब्दादिशास्त्रेषु कुशलास्ते सर्वशास्त्राणां निर्वाहं कुर्वन्ति, परं ते तु स्तोकतराः। ये च केचन किञ्चिदधीत्य किञ्चिन्निशम्य च खण्डपाण्डित्यदक्षास्ते पूर्वाचार्यकृतगद्य-पद्यमयग्रन्थानां यथामत्यनुसारेण कष्टपूर्वकं निर्वाहं कुर्वन्ति। ये चाऽवशेषा बहवस्ते तु पद्यमयं ग्रन्थं द्रष्टुमसमर्थास्तर्हि वाचने का कथा ?, तथा परिपक्वगद्यमयाः पूर्वसूरिग्रन्थास्तेषामपि वाचनेऽसमर्थाः; अथ ते लोकभाषामयबालावबोधकृतग्रन्थान् वाचयितुं लज्जन्ते-'अहो ! एतावन्तो वृद्धा भूत्वा लोकभाषामेव वाचयामः !' इति लज्जमानाः, तेषां शिष्य-प्रशिष्य-गुरुभ्रात्रादीनां प्रार्थनया एतत्सरलरचनामयं चरित्रं कृतम्। बालभद्रका जानन्ति-'एतेऽपि गीर्वाणभाषामयं शास्त्रं व्याख्याने वाचयन्ति'; एतदर्थं मया बालविलसितं कृतम्, न त्वन्यो हेतुः। अतो ये सन्तो भवन्ति तेषां पादानभिवन्द्य प्रार्थनां करोमि-'यदस्मिन् अशुद्धम् अशुद्धतरं भवेत् तन्ममोपरि महतीं कृपां कृत्वा शोध्यं यथा मम बालस्य हास्यं न भवेत्, प्रतिष्ठा च भवेत्। यद्वा प्रार्थनया किम् ?, यतस्ते हि सज्जनाः सज्जनस्वभावतः पुस्तकं हस्ते लात्वा, बालविलसितं दृष्ट्वा, ईषद् विहस्य, स्वयमेव शुद्धं करिष्यन्त्येव। तथा यद् अस्मिन् ग्रन्थसन्दर्भेऽज्ञानवशाद् मिथ्यात्वोदयाच्च जिनाज्ञाविरुद्धं लिखितं भवेत् तत् श्रीमदर्हदादिपञ्चसाक्षिकं त्रिधाशुद्ध्या मम मिथ्यादुष्कृतं भवतु। मया तु भद्रकभक्तिवशाद् मुनिगुणा यथामति गीताः, तत्फलं मम श्रीमज्जिनधर्मे दृढभक्तिरस्तु।

जयः श्रीजैनधर्मस्य श्रीसङ्घस्य च मङ्गलम्। वक्तॄणां मङ्गलं नित्यं श्रोतॄणां मङ्गलं सदा ॥१॥

अथ पद्यमयग्रन्थकारप्रशस्तिपद्यं यथा—

गङ्गैनानि फलानि दिव्यविभवोद्दामानि शर्माण्यहो !,
मानुष्ये भुवनाद्भुतानि बुभुजे श्रीधन्य-शालिद्वयी ।
देवत्वे पुनरिन्दुकुन्दविशदाः सर्वार्थसिद्धे श्रियः,
मोक्षं श्रीजिनकीर्तितो विजयते श्रीदानकल्पद्रुमः ॥

॥ इति श्रीतपागच्छाधिराजश्रीसोमसुन्दरसूरिपट्टप्रभाकरविनेय-श्रीजिनकीर्तिसूरिविरचितस्य पद्यबद्धश्रीधन्यचरित्रशालिनः श्रीदानकल्पद्रुमस्य महोपाध्यायश्रीधर्मसागरगणिसन्तानीये महोपाध्यायश्रीनयसागरगणिप्रपौत्रमहोपाध्याय-श्रीज्ञानसागरगणिशिष्याल्पमतिगणिविरचितगद्यरचनाप्रबन्धे श्रीधन्यनाम्नि राज्यर्द्धिसिद्धिप्राप्तिवर्णनो नाम नवमः पल्लवः ॥



॥ श्रीधन्यचरित्रं समाप्तम् ॥

अ-पू-र्व ग्रं-थ-र-त्नो

श्रीआचारांग सटीक	६-८-०	प्रज्ञापना सटीक	७-६-०	पर्युषणाद्शशतक सटीक	०-१०-०	[illegible]	
श्रीदशपयन्ना (सच्छाया)	३-०-०	प्रवचनपरीक्षा सटीक	१०-०-०	प्रवचनसारोद्धार (उत्तरार्ध)	५-०-०	[illegible]	[illegible]
श्रीविशेषावश्यकभाष्य		प्रकरणसमुच्चय	१-०-०	पंचवस्तुक (सटीक)	[illegible]	[illegible]	[illegible]
(कोट्याचार्यकृतटीकायुक्त)	११-०-०	पयरणसंदोह	१-०-०	पंचाशकादि आठ मूल शास्त्र	[illegible]	[illegible]	[illegible]
विशेषावश्यकगाथानुक्रम	०-५-०	उपदेशमाला (पु० सटीक)	६-०-०	,, [illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	०-८-०	द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका सटीक	०-३-०	[illegible]	[illegible]

અમદાવાદ ઝાંપડાની પોળ નિવાસિ શાહ મોહનલાલ છોટાલાલના સુપત્ની માણેકબાઈએ

કરેલ તપસ્યાના ઉદ્યાપનમાં સ્થાપિત શાસ્ત્ર સંગ્રહ.

दशवैकालिकचूर्णि	४-०-०	तत्त्वार्थसूत्र सभाष्य	१-०-०	[illegible]	०-३-०	[illegible]	[illegible]
नंदिचूर्णि, हारि० वृत्तिश्च	१-१२-०	,, हारि० वृत्ति	६-०-०	[illegible]	०-८-०	[illegible] (प्राकृत)	[illegible]
ऋषिभाषितसूत्राणि	०-३-०	,, कर्तृ निर्णय	०-१०-०	युक्तिप्रबोध	१-१०-०	पूजा प्रकाश (प्रथम [illegible])	
श्रीसंघाचारभाष्यटीका	५-०-०	द्रव्यक्षेत्रलोकप्रकाश	४-८-०	ललितविस्तरा	०-१०-०	[illegible] प्रकाश ,,)	
श्रीश्राद्धदिनकृत्य टीका १ लो	३-१२-०	नवपद प्रकरण बृहद्वृत्ति	४-०-०	पंचाशकवृत्ति	१-४-०	[illegible] प्रकाश	
प्रव्रज्याविधानकुलक सटीक	२-८-०	परिणाममाला	०-१२-०	षोडशकप्रकरण सटीक	१-०-०	श्रीपंचवस्तुक भाषांतर—	[illegible]

प्राप्ति स्थानः—श्रीजैनानंदपुस्तकालय गोपीपुरा—सुरत   मास्तर कुंवरजी दामजी   मोतीकडीयानी शेरी—पालीताणा.